लेखकमंडल :
अकादमीशियन अ० अ० गूबेर,

इतिहास के डाक्टर :

ल० न० कुताकोव, इ० स० क्रेमेर, ल० इ० गीत्सवेर्ग, अ० ओ० चुबार्यान,
अ० व० दविदसोन, ल० न० नेजिंस्की, व० ग० पोल्याकोव, न० म० लाव्रोव,
अ० न० हेइफ़ेत्स

अनुवादक : बुद्धिप्रसाद भट्ट

КРАТКАЯ ВСЕМИРНАЯ ИСТОРИЯ

(В ДВУХ КНИГАХ)

КНИГА II

на языке хинди

К $\frac{10603-705}{014(01)-80}$ 616-80 10603000

विषय-सूची

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पांचवां अध्याय

छठा अध्याय

सातवां अध्याय

आठवां अध्याय

नवां अध्याय

दसवां अध्याय

ग्यारहवां अध्याय

पहला अध्याय

महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति – मानवजाति के इतिहास में नये युग का सूत्रपात

रूस में समाजवादी क्रांति की तैयारियां और विजय

२५ अक्तूबर (वर्तमान तिथिक्रम के अनुसार ७ नवंबर), १९१७ की रात को बोल्शेविकों के नेतृत्व में मज़दूरों, सैनिकों और नौसैनिकों ने पेत्रोग्राद (वर्तमान लेनिनग्राद) में रूस के ज़ारों के भूतपूर्व महल – शीत प्रासाद – पर धावा बोलकर उसपर अधिकार कर लिया और अस्थायी सरकार को, जिसने उसमें शरण ले ली थी, गिरफ़्तार कर लिया।

तीन घंटे बाद मज़दूर, किसान और सैनिक प्रतिनिधियों की सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस ने रूस को सोवियत समाजवादी जनतंत्र उद्घोषित कर दिया। राज्य सत्ता अब जनता के हाथ में आ गयी थी और सर्वहारा, जो और सभी वर्गों से अधिक अकिंचन, शोषित और साथ ही सबसे अधिक क्रांतिकारी तथा सुसंगठित वर्ग था, शासन का कर्णधार बन गया था।

रूस में समाजवादी क्रांति सफल हो गयी थी। इस क्रांति को एक महान ऐतिहासिक मिशन पूरा करना था और यह मिशन था एक नये समाज का निर्माण करना, जिसमें न कोई शोषक होते, न कोई शोषित, न कोई उत्पीड़क होते, न उत्पीड़ित। इस समाज का नाम कम्युनिज़्म है।

समाजवादी क्रांति की वस्तुपरक आवश्यकता

रूस की समाजवादी क्रांति मानवता के समस्त पूर्ववर्ती विकास का तर्कसंगत परिणाम और सभी जनों के हित में थी, हालांकि उस समय सभी जगह न इस बात का बोध था, न इसे समझा ही जा सका।

क्रांति का सबसे पहले रूस में ही होना संयोग की बात नहीं थी। बीसवीं सदी के प्रारंभ में रूस में सामाजिक, राजनीतिक और जातीय अंतर्विरोध बहुत ही गहन तथा उग्र हो गये थे। यहां पूंजीवादी उत्पादन का संकेन्द्रण विश्व के किसी भी अन्य देश की अपेक्षा कहीं अधिक तेज़ी से हो रहा था, जिसके फलस्वरूप विशाल इजारेदारियां स्थापित हो गयी थीं। फिर भी रूस मुख्यतया कृषिप्रधान देश ही था और उसके उद्योगों में आधुनिक मशीनें ग्रेट ब्रिटेन से चारगुना, जर्मनी से पांचगुना और संयुक्त राज्य अमरीका से दस गुना कम थीं। कृषि तो बेहद ही पिछड़ी हुई थी। "...एक ओर सबसे पिछड़ी भूस्वामित्व प्रणाली तथा सबसे जाहिल देहात और, दूसरी ओर, सबसे विकसित औद्योगिक और वित्तीय पूंजीवाद!"–ये थीं व्ला० इ० लेनिन के शब्दों में तत्कालीन रूस की अर्थव्यवस्था की विशेषताएं।

रूसी और विदेशी पूंजीपति–रूस में विदेशियों के भी बहुत से उद्यम थे–मज़दूरों का घोर शोषण करते थे। उत्पीड़ित, अवमानित तथा अधिकारहीन किसान बड़ी मुश्किल से दो जून रोटी जुटा पाता था। सारा मेहनतकश रूस ज़ारशाही के निर्मम दमन का शिकार बना हुआ था, जो स्वतंत्रता की किसी भी प्रकार की आकांक्षा को सहन नहीं कर पाती थी। बहुसंख्य ग़ैर-रूसी लोगों की हालत तो और भी बदतर थी। उन्हें निम्न जाति का मानकर न केवल दबाया-सताया जाता था, बल्कि उन्हें कोई अधिकार भी नहीं थे। उनके लिए ज़ारशाही रूस बाक़ायदा जेल बना हुआ था।

पहले महायुद्ध के वर्षों में ये सभी अंतर्विरोध और भी अधिक उग्र हो गये। युद्ध देश और लोगों के लिए अनगिनत विपदाएं लेकर आया था। जनता अब और अधिक बर्दाश्त न कर सकी। फ़रवरी, १९१७ में पेत्रोग्राद के मज़दूरों और सैनिकों ने सारे रूस के मेहनतकशों के समर्थन से ज़ारशाही राजतंत्र का तख़्ता पलट दिया और १९०५-१९०७ की क्रांति के अपने अनुभव को ध्यान में रखकर क्रांतिकारी सत्ता के नये निकाय–मज़दूर और सैनिक प्रतिनिधियों की सोवियतें–स्थापित करने लगे। सभी मज़दूरों, सैनिकों और किसानों ने सोवियतों का हार्दिक समर्थन किया।

सोवियतें सारी सत्ता अपने हाथों में ले सकती थीं और सरकार बना सकती थीं। किंतु मेंशेविकों और समाजवादी-क्रांतिकारियों की निम्न-बूर्जुआ पार्टियों ने, जिनका सोवियतों में बहुमत था, ऐसा नहीं किया। उन्होंने कैडेट (संवैधानिक-जनवादी) पार्टी और १७ अक्तूबर संघ नामक पार्टी को एक बड़े ज़मींदार प्रिंस ग० ल्वोव के नेतृत्व में तथाकथित अस्थायी सरकार का निर्माण करने दिया और सारी राज्य सत्ता उसे सौंप दी। सोवियतों के पास यही अधिकार बचा रहा कि वे अस्थायी सरकार के कार्यकलाप पर "निगरानी" रख सकती हैं। इस तरह रूस में द्वैध शासन की स्थिति पैदा हो गयी, जिसमें

अस्थायी सरकार तो, ग० ल्वोव के शब्दों में, "शक्ति से वंचित सत्ता थी और मज़दूर प्रतिनिधियों की सोवियतें सत्ता से वंचित शक्ति थीं।"

क्रांति की पहली सफलताओं से मदमत्त निष्कपट जनसाधारण ने इस आशा से बूर्जुआ सरकार का विश्वास कर लिया था कि वह उन बुनियादी सवालों को हल कर लेगी, जिन्हें लेकर क्रांति की गयी थी, यानी यह कि वह साम्राज्यवादी युद्ध ख़त्म कर देगी, ज़मीन किसानों को बांट देगी, मज़दूरों के लिए आठ घंटे का कार्य-दिवस नियत करेगी, जातीय उत्पीड़न का ख़ात्मा करेगी और भुखमरी तथा आर्थिक बर्बादी से जूझेगी।

किंतु अस्थायी सरकार ने इन आशाओं को पूरा करने के लिए कुछ नहीं किया। बेशक ज़ारशाही शासन के ख़ात्मे के बाद से लोग अब काफ़ी आज़ाद थे। मगर नयी सरकार की नीतियां बूर्जुआज़ी और ज़मींदारों के हितों की ही साधक थीं। उसने साम्राज्यवादी युद्ध जारी रखा और ज़ारशाही सरकार ने सैनिक सहयोग की जो संधियां की हुई थीं, उनका पालन करने के अपने वचन को दोहराया। सेना और जनता को युद्ध जारी रखने के लिए बाध्य करने के वास्ते उसने घोषणा की कि युद्ध क्रांति की "रक्षार्थ" लड़ा जा रहा है। मेंशेविकों और समाजवादी-क्रांतिकारियों ने अस्थायी सरकार के इस झूठे नारे का समर्थन किया।

भूमि पर ज़मींदारों का स्वामित्व ज्यों का त्यों बना रहा। अस्थायी सरकार ने उल्टे उसकी रक्षा के लिए अतिरिक्त क़दम भी उठाये। वास्तव में पूंजीपतियों और बैंक-मालिकों की ज़मींदारियों के यथावत् बने रहने में गहन रुचि थी, क्योंकि कोई ६० प्रतिशत भू-संपत्तियां उनके यहां रेहन रखी हुई थीं और इसके अलावा स्वयं कई पूंजीपति भी काफ़ी बड़े ज़मींदार थे। आठ घंटे के कार्य-दिवस का क़ानून भी नहीं बनाया गया। सरकार ने कमरतोड़ महंगाई और चोरबाज़ारी को रोकने के लिए भी कोई क़दम नहीं उठाये। जातीय उत्पीड़न में कुछ नरमी तो आयी, पर उसका अंत नहीं किया गया। अस्थायी सरकार ने पुराने राज्य प्रशासनतंत्र को छुआ तक नहीं।

स्पष्टत: ऐसी नीति जनसाधारण के हितों और समूचे देश के बुनियादी हितों के विपरीत थी। इस स्थिति से निकलने का एक ही रास्ता था और वह यह कि क्रांति को जारी रखा जाये तथा राज्य सत्ता मज़दूरों और किसानों के हाथों में दे दी जाये, यानी समाजवादी क्रांति हो जाये। जैसा कि लेनिन ने १९१७ के वसंत में कहा था, मानवजाति का उद्धार केवल समाजवाद में है।

केवल जन सरकार ही युद्ध का अंत, ज़मींदारियों की ज़ब्ती और उनका किसानों के बीच वितरण और कल-कारख़ानों पर समस्त जनता के स्वामित्व की स्थापना कर सकती थी और इस तरह आर्थिक बदहाली का अंत, राष्ट्रीय

अर्थव्यवस्था का उत्थान, जातीय उत्पीड़न का खात्मा, देश की सभी छोटी-बड़ी जातियों के लिए समान अधिकारों की घोषणा और उनके बीच सौहार्दपूर्ण संबंधों का सूत्रपात कर सकती थी।

इस प्रकार की नीति की आवश्यकता को उस समय रूस में एक ही पार्टी अनुभव करती थी और वह थी कम्युनिस्टों, या जैसा कि तब उन्हें कहा जाता था, बोल्शेविकों की पार्टी। ज़ारशाही काल में भूमिगत रहकर कार्य करने को मजबूर कम्युनिस्ट पार्टी फ़रवरी, १९१७ की क्रांति के बाद वैध पार्टी बन गयी थी। राजनीतिक उत्प्रवासी के रूप में अनेक वर्ष विदेश में रहने के बाद अप्रैल के आरंभ में व्ला० इ० लेनिन रूस लौट आये थे। पार्टी की सदस्य-संख्या तेज़ी से बढ़ने लगी थी और अप्रैल, १९१७ में ८० हज़ार तक पहुंच गयी थी, जो दो ही महीने पहले, फ़रवरी, की तुलना में दोगुना थी। रूस के मज़दूर वर्ग और बुद्धिजीवियों के सर्वोत्तम प्रतिनिधि कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो रहे थे। व्ला० इ० लेनिन के बहुत ही ठीक और सटीक शब्दों में, पार्टी युग का बुद्धि-विवेक, गौरव और ईमान बन गयी थी।

अपने अप्रैल, १९१७ के अखिल रूसी सम्मेलन में कम्युनिस्ट पार्टी ने बूर्जुआ-जनवादी क्रांति से समाजवादी क्रांति में संक्रमण की एक योजना प्रस्तुत की। उसका आधारभूत तत्त्व लेनिन द्वारा प्रस्तावित यह नारा था: "सारी सत्ता सोवियतों को!" इस नारे का मतलब यह था कि राष्ट्रव्यापी पैमाने पर शांतिमय तरीक़े से सारी सत्ता मेहनतकश जनता को, यानी जनवादी ढंग से निर्वाचित मज़दूर, सैनिक और किसान प्रतिनिधियों की सोवियतों को सौंप दी जाये। शासन का कर्णधार बनकर सोवियतों को तुरंत सभी युद्धरत देशों के सामने जनवादी सिद्धांतों पर आधारित शांति का प्रस्ताव रखना था, सारे देश में सामाजिक उत्पादन तथा वितरण पर नियंत्रण स्थापित करना था और इसके लिए आधुनिक अर्थतंत्र की कुंजी – बैंकों – को अपने अधिकार में लेना था, उद्योग की सभी मुख्य शाखाओं का राष्ट्रीयकरण करना था, ज़मींदारों की भूसंपत्तियों को ज़ब्त करके उन्हें किसानों के बीच बांटना था, आठ घंटे का कार्य-दिवस निर्धारित करना था, सभी जातीय प्रतिबंधों व विशेषाधिकारों को तत्काल रद्द करना था, आदि-आदि।

रूस के आम मेहनतकश बोल्शेविकों का साथ तुरंत ही न दे पाये। फ़रवरी क्रांति के बाद कुछ महीने मज़दूरों पर मेंशेविकों की निम्न बूर्जुआ पार्टी का ज़बर्दस्त असर रहा, जो समाजवादी और मज़दूरों की रक्षक होने का दावा करती थी। इसी तरह किसानों पर समाजवादी-क्रांतिकारियों का प्रबल प्रभाव था, जो अपने को ज़मींदारियों समेत सारी ही भूमि किसानों के बीच बराबर-बराबर बांट दिये जाने का पक्षधर बताते थे। फ़रवरी क्रांति के बाद चन्द सप्ताह तक कई बार तो ऐसा भी हुआ कि मीटिंगों में उपस्थित

लोगों ने बोल्शेविक वक्ताओं को बोलने ही नहीं दिया, जो अस्थायी सरकार और उसके समर्थक मेंशेविकों और समाजवादी-क्रांतिकारियों का पर्दाफ़ाश किया करते थे। किंतु अस्थायी सरकार और बूर्जुआ तथा निम्न बूर्जुआ पार्टियों की नीतियों ने अपनी असलियत शीघ्र ही खोल दी। यथार्थ वास्तविकता ने आम लोगों के भ्रमों पर एक के बाद एक कुठाराघात किया, जिसके फलस्वरूप वे अब बोल्शेविकों को अधिकाधिक ध्यान से सुनने, उनके गिर्द एकजुट होने और बूर्जुआ सरकार के विरुद्ध संघर्ष बढ़ाने लगे।

बूर्जुआ सरकार के तीन संकट

अप्रैल, १९१७ में बुनियादी सवाल – युद्ध – के बारे में अस्थायी सरकार की नीति के खिलाफ़ पहला विशाल जन प्रदर्शन हुआ। १९ अप्रैल के समाचार-पत्रों में अस्थायी सरकार के विदेशमंत्री, कैडेट पार्टी के नेता प० न० मिल्युकोव का वह प्रपत्र छपा था, जो उसने एक दिन पहले रूस के मित्रराष्ट्रों को भेजा था। उसमें युद्ध की विजयांतक परिणति तक लड़ने के रूस के संकल्प पर ज़ोर दिया गया था और अधिनहनों, यानी पराये क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा करने और युद्ध हरजाना मांगने की आवश्यकता को प्रच्छन्न रूप से स्वीकार किया गया था।

इस प्रपत्र ने जनता की आंखें खोल दीं। उसे मालूम हो गया कि युद्ध जारी रखने के पीछे असली लक्ष्य क्या हैं। मज़दूर और सैनिक जान गये कि उन्हें धोखा दिया गया है। २०-२१ अप्रैल को १ लाख से अधिक मज़दूर और सैनिक "सारी सत्ता सोवियतों को!", "लड़ाई मुर्दाबाद!" और "क़ब्ज़े की नीति मुर्दाबाद!" के नारे लगाते हुए पेत्रोग्राद की सड़कों पर प्रदर्शनार्थ निकल आये। विशाल प्रदर्शन कई अन्य नगरों में भी हुए। इन कार्रवाइयों ने दिखाया कि अस्थायी सरकार पर आम जनता का विश्वास काफ़ी हद तक उठ गया है। ऐसी स्थिति में सोवियतें शांतिपूर्ण तरीक़ों से सत्ता पर क़ब्ज़ा कर सकती थीं।

किंतु मेंशेविक और समाजवादी-क्रांतिकारी नेताओं ने जनता की मांगों की अवहेलना की और लड़खड़ाती बूर्जुआ सरकार का समर्थन किया। बेशक इसके बदले में उनके भी कुछ प्रतिनिधियों को सरकार में शामिल कर लिया गया। ५ मई, १९१७ को एक नयी संयुक्त सरकार बनायी गयी, जिसमें दस मंत्री बूर्जुआ पार्टियों के थे और छह मंत्री अपने को समाजवादी कहनेवाली निम्न बूर्जुआ पार्टियों के। प्रिंस ग० ल्वोव प्रधानमंत्री पद पर बना रहा।

सरकारी नीतियों में कोई परिवर्तन नहीं आया। ज़मींदारों की एक भी इंच ज़मीन नहीं छीनी गयी, हालांकि कृषि मंत्रालय अब समाजवादी-क्रांतिकारी

नेता व० चेर्नोव के मातहत था। उल्टे, सरकार ने ज़मींदारों की भूमि पर अधिकार जमाने की किसानों की कोशिशों को और भी अधिक कठोरता के साथ कुचलना शुरू कर दिया। श्रम मंत्रालय मेंशेविक नेता म० स्कोबेलेव के हाथ में था, मगर उसने भी आठ घंटे कार्य-दिवस का क़ानून बनाने की दिशा में कोई क़दम नहीं उठाये। पूंजीपतियों और मज़दूरों के झगड़ों में सरकार पूंजीपतियों का पक्ष लेती रही। बढ़ती महंगाई और मुनाफ़ाख़ोरी के ख़िलाफ़ भी कुछ नहीं किया गया।

नये युद्धमंत्री समाजवादी-क्रांतिकारी अ० फ़० केरेन्स्की ने वह काम किया, जिसे करने की हिम्मत उसका पूर्ववर्ती युद्धमंत्री, अक्तूबरवादी गुच्कोव भी नहीं दिखा पाया था: १८ जून, १९१७ को "समाजवादी" मंत्री ने सेना को आक्रमण अभियान शुरू करने का आदेश दे दिया। नये विदेशमंत्री तेरेश्चेंको ने, जो एक बड़ा चीनी मिलमालिक था, मिल्युकोव की नीतियों को जारी रखा।

कहना न होगा कि आम जनता इस प्रकार की नीतियों पर चलनेवाली सरकार का समर्थन नहीं कर सकती थी। १८ जून को पेत्रोग्राद में फिर एक विराट सरकारविरोधी जलूस निकला। इस बार उसमें कोई ५ लाख मज़दूरों और सैनिकों ने भाग लिया। प्रदर्शनकारियों के नारे थे: "सारी सत्ता सोवियतों को!", "दस पूंजीपति मंत्री मुर्दाबाद!", "आक्रमण अभियान मुर्दाबाद!", "खाने-पीने की चीज़ों के उत्पादन और वितरण पर मज़दूर नियंत्रण क़ायम हो!", आदि।

सेना के आक्रमण अभियान का लाभ उठाकर अस्थायी संयुक्त सरकार ने जनवादी स्वतंत्रताओं को सीमित करना और दमनात्मक क़दम उठाना शुरू कर दिया। अनेक क्रांतिकारी रेजीमेंटों को भंग कर दिया गया और बहुत से सैनिक गिरफ़्तार कर लिये गये। बढ़ते हुए किसान आंदोलन को दबाने के लिए सख़्त कार्रवाइयां की गयीं। बूर्जुआ राजनीतिक नेता अगर शुरू में सोवियतों का लिहाज़ करने को बाध्य थे, तो अब उन्होंने तय कर लिया कि सोवियतों को भंग करने और ऐसी तानाशाही स्थापित करने का वक़्त आ गया है, जो सभी क्रांतिकारी शक्तियों को कुचल देगी और युद्ध की विजयांतक परिणति सुनिश्चित कर डालेगी।

अपनी इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए बूर्जुआ मंत्रियों ने एक मामूली से बहाने पर २ जुलाई, १९१७ को इस्तीफ़ा दे दिया। इस तरह वे मेंशेविकों और समाजवादी-क्रांतिकारियों को डराना व उनके सामने दो ही विकल्प छोड़ना चाहते थे – या तो वे बूर्जुआ मंत्रियों के बिना सरकार चलायें या फिर निरंकुश शासन की स्थापना, सोवियतों के विसर्जन और सभी क्रांतिकारी संगठनों के दमन के लिए सहमत हो जायें।

राजधानी के मज़दूर जनसामान्य और सैनिकों ने इस दुरभिसंधि को

ताड़ लिया। उनके सब्र का प्याला लबरेज़ हो उठा। अस्थायी सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए ३ जुलाई को विराट संख्या में मज़दूर और सैनिक पेत्रोग्राद की सड़कों पर निकल आये। किंतु शेष देश की जनता उनकी इस कार्रवाई के समर्थन के लिए अभी तैयार नहीं थी और अधिकांश किसानों तथा सैनिकों की तो बात ही क्या, बहुत सारे मज़दूरों को भी अस्थायी सरकार को उलटने की आवश्यकता का अभी ख़ास अहसास नहीं था। बोल्शेविक पार्टी बड़ी मुश्किल से राजधानी में समय से पहले सशस्त्र विद्रोह का छिड़ना रोक पायी और मज़दूरों तथा सैनिकों की स्वतःस्फूर्त कार्रवाई को "सारी सत्ता सोवियतों को!" के नारे तले शांतिपूर्ण एवं संगठित प्रदर्शन का रूप दे सकी। ४ जुलाई को राजधानी के सभी सर्वहारा और पेत्रोग्राद गैरीज़न के सैनिक सड़कों पर उमड़ पड़े।

अस्थायी सरकार ने इसका जवाब निहत्थे, शांतिमय प्रदर्शनकारियों पर गोलियां चलाकर दिया। ४०० आदमी मारे गये या घायल हुए। उसकी इस नीचतापूर्ण हरक़त को मेंशेविक और समाजवादी-क्रांतिकारी नेताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। ८ जुलाई को समाजवादी-क्रांतिकारी अ० फ़० केरेन्स्की ने प्रिंस ल्वोव की जगह ले ली। केरेन्स्की सरकार ने अनेक क्रांतिकारी मज़दूरों और सैनिकों को गिरफ़्तार कर लिया, मोर्चे पर मृत्युदंड और कोर्ट मार्शल की व्यवस्था फिर से चालू की, प्रारंभिक सैनिक सेंसर लागू किया और अनेक नगरों में दंडात्मक फ़ौजें भेजीं। इस तरह सरकार क्रांतिकारी शक्तियों को कुचलने के लिए सेना का खुले आम सहारा लेने लगी। ऐसी नीति बूर्ज़ुआज़ी की सबसे बड़ी पार्टी – कैडेट पार्टी – के नेताओं को पूर्णतः स्वीकार्य थी। फलस्वरूप वे सरकार में पुनः शामिल होने के लिए राज़ी हो गये। २४ जुलाई को अ० फ़० केरेन्स्की की अध्यक्षता में बूर्ज़ुआ और निम्न बूर्ज़ुआ तत्त्वों की एक नयी मिली-जुली सरकार बनी।

किंतु क्रांति उत्तरोत्तर ज़ोर पकड़ती जा रही थी। बूर्ज़ुआ वर्ग क्रांति के चढ़ते ज्वार को आशंकित नज़रों से देख रहा था। उसे क्रांतिकारी आंदोलन को कुचलने की अस्थायी सरकार की क्षमता में विश्वास नहीं था। "जब तक रूस का शासन सर्वाधिकारप्राप्त किसी तानाशाह के हाथ में नहीं आता, तब तक रूस में क़ानून और व्यवस्था क़ायम नहीं हो सकती," एक घोर प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञ पुरिश्केविच ने उन दिनों कहा था। इधर रूस के युद्धकालीन मित्रराष्ट्र भी तानाशाही की स्थापना की मांग कर रहे थे। अगस्त के अंतिम दिनों में सर्वोच्च सेनाध्यक्ष जनरल कोर्नीलोव ने कई ज़बर्दस्त फ़ौजी टुकड़ियां पेत्रोग्राद भेजकर अस्थायी सरकार को सत्ताच्युत करने का प्रयास किया। सभी कैडेट मंत्रियों ने कोर्नीलोव की सहायता के वास्ते एक साथ त्यागपत्र दे दिया और इस तरह मंत्रिमंडल का संकट पैदा हो गया।

इसके बावजूद षड्यंत्रकारियों से चूक हो गयी – उन्होंने जनता के अपार क्रांतिकारी उत्साह को ध्यान में नहीं रखा था। पेत्रोग्राद और अन्य नगरों के मज़दूर तथा सैनिक और बाल्टिक बेड़े के जहाज़ी बोल्शेविक पार्टी के आह्वान पर कोर्नीलोव के ख़िलाफ़ संघर्ष के लिए उठ खड़े हुए। इस बीच कोर्नीलोव के सैनिकों के बीच किया गया प्रचार भी असर दिखाने लगा था और उन्होंने राजधानी पर चढ़ाई करने से इन्कार कर दिया। प्रतिक्रांतिकारी दुस्साहस विफल होकर रह गया।

कोर्नीलोव के विद्रोह ने लाखों-करोड़ों लोगों को देश की वास्तविक स्थिति से अवगत करा दिया था। उससे स्पष्ट हो गया था कि प्रतिक्रांतिकारी तत्त्व निम्न बूर्जुआ पार्टियों को अपने क्रांतिविरोधी संघर्ष में हथियार के तौर पर इस्तेमाल कर रहे हैं और एकमात्र कम्युनिस्ट पार्टी ही जनता के सच्चे हितों को व्यक्त करती है। फलस्वरूप पार्टी के प्रभाव में तेज़ी से उन्नति हुई। १९१७ के शरद के आरंभ तक अधिकांश मज़दूर, निर्धन किसान, सबसे महत्त्वपूर्ण मोर्चों के सैनिक और बाल्टिक बेड़े के नौसैनिक कम्युनिस्ट पार्टी के हिमायती बन गये। इतना ही नहीं, पेत्रोग्राद और मास्को समेत सभी बड़े नगरों की सोवियतों में लेनिन की पार्टी को बहुमत प्राप्त हो गया। देश भर में करोड़ों मेहनतकशों की ज़बान पर कम्युनिस्ट पार्टी का नारा "सारी सत्ता सोवियतों को!" गूंजने लगा।

फिर भी मेंशेविक और समाजवादी-क्रांतिकारी नेताओं ने, जो अभी भी सोवियतों की केन्द्रीय कार्यकारिणी और अस्थायी सरकार में मुख्य पदों पर आसीन थे, जनता की मांगों की अवहेलना करना जारी रखा। इसके बावजूद कि कैडेटों ने कोर्नीलोव का समर्थन करके अपना क्रांतिविरोधी चेहरा पूरी तरह उघाड़ दिया था, मेंशेविक और समाजवादी-क्रांतिकारी नेताओं ने पुनः उनके साथ मिलकर सरकार बनायी। यह अंतिम संयुक्त सरकार २५ सितंबर को गठित की गयी थी और केरेन्स्की उसमें प्रधान मंत्री थे। इस सरकार का भी मुख्य लक्ष्य मज़दूरों और किसानों के बढ़ते हुए क्रांतिकारी आन्दोलन को दबाना और कुचलना था।

देश
आर्थिक तबाही के कगार पर

इस बीच देश की आर्थिक हालत लगातार बदतर होती जा रही थी। १९१७ में औद्योगिक उत्पादन १९१६ की तुलना में एक तिहाई से अधिक घट गया। अनेक उद्यमपति जानबूझकर उत्पादन रोक रहे थे और मज़दूरों

की छंटनी कर रहे थे, ताकि भुखमरी का डर दिखाकर उनसे घुटने टिकवा सकें। एक प्रमुख उद्योगपति रियाबुशीन्स्की ने पूंजीपतियों को उकसाया कि "अकाल के हड़ियल हाथ" से मज़दूरों का गला पकड़ा जाये। पूंजीपति यही कर भी रहे थे। मार्च और नवंबर के बीच ८०० कल-कारखानों में तालाबंदी की गयी और १,७०,००० मज़दूरों को काम से निकाला गया। वास्तविक मज़दूरी १९१३ की तुलना में लगभग आधी रह गयी। उपभोक्ता मालों की कालाबाज़ारी आसमान छूने लगी। रूबल का मूल्य घटकर युद्धपूर्व के दस कोपेक से भी कम रह गया। १९१७ के शरद में भुखमरी हर मज़दूर परिवार के आगे मुंह बाये खड़ी थी और सरदियां तो और भी भीषण कठिनाइयां लेकर आनेवाली थीं।

अस्थायी सरकार का दमनचक्र और भी तेज़ हो गया। वह अपनी ही जनता से भयभीत थी, जो संपत्तिवान वर्गों की अपराधपूर्ण नीति के खिलाफ़ उत्तरोत्तर दृढ़ता के साथ संघर्ष करने लगी थी। इतना ही नहीं, सरकार ने हथियार डालने और पेत्रोग्राद तथा अन्य महत्त्वपूर्ण नगर जर्मनों के हवाले कर देने की तैयारियां भी शुरू कर दीं। अगस्त में रीगा जर्मनों को सौंप दिया गया। युद्धमंत्री अ० वेर्ख़ोव्स्की ने बेलाग कहा, "अगर देश के अंदर व्यवस्था हम क़ायम नहीं कर सकते, तो यह काम जर्मन संगीनें करेंगी।"

उस समय रूस में मौजूद अमरीकी पत्रकार जॉन रीड ने अपनी पुस्तक 'दस दिन जब दुनिया हिल उठी' में शरद, १९१७ की स्थिति का बहुत ही सजीव और सच्चा वर्णन किया है:

"जाड़ा आनेवाला था... बर्फ़ीले मोर्चे पर आफ़त के मारे निरुत्साह सैनिक पहले ही की तरह फ़ाक़े कर रहे थे और मारे जा रहे थे। रेलों की व्यवस्था टूट रही थी, ख़ुराक की कमी हो रही थी और कारख़ाने बन्द हो रहे थे। निराशा की चरम सीमा पर पहुंचकर जन-साधारण चीख पड़े: पूंजीपति वर्ग ही जनता के जीवन को अन्तर्ध्वस्त कर रहा है, वही मोर्चे पर हार के लिए ज़िम्मेदार है। जनरल कोर्नीलोव ने जब सार्वजनिक रूप से कहा: 'हमें रीगा देकर देश को उसके कर्त्तव्य के प्रति सचेत करने की क़ीमत अदा करनी पड़ेगी,' उसके ठीक बाद ही यह नगर दुश्मन के हवाले कर दिया गया।

"वर्ग युद्ध इतना उग्र हो सकता है, अमरीकियों के लिए यह अविश्वसनीय है। लेकिन मैं ख़ुद उत्तरी मोर्चे पर ऐसे अफ़सरों से मिल चुका हूं, जो साफ़-साफ़ कहते थे कि वे सैनिक समितियों से सहयोग करने की अपेक्षा युद्ध में पराजय को अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। कैडेट पार्टी की पेत्रोग्राद शाखा के मन्त्री ने मुझे बताया कि देश के आर्थिक जीवन को ठप करना क्रांति की साख मिटाने के आंदोलन का ही एक भाग है। एक मित्रराष्ट्र के कूटनीतिज्ञ ने, जिनका नाम प्रगट न करने के लिए मैं वचनबद्ध हूं, इस बात की स्वयं

अपनी जानकारी के आधार पर पुष्टि की। मुझे मालूम है कि खारकोव के नज़दीक की कई कोयले की खानों में उनके मालिकों ने आग लगवा दी और उनमें पानी भरवा दिया, मास्को की कुछ सूती मिलों के इंजीनियर जाते-जाते मशीनों को चौपट कर गये, रेल अधिकारी रेल-इंजनों को तहस-नहस करते रंगे हाथों मज़दूरों द्वारा पकड़े गये ..."

बूर्जुआ वर्ग और ज़मींदारों की सरकार की अपराधपूर्ण नीति ने एक राष्ट्र के रूप में रूस के अस्तित्व को ही खटाई में डाल दिया था। मेहनतकशों ने इसमें निहित खतरे को भांप लिया और उन पार्टियों से मुंह मोड़ लिया, जो इस स्थिति के लिए ज़िम्मेदार थीं और जिन्होंने आसन्न विनाश का सामना करने के लिए मूलगामी क़दम उठाने से इंकार कर दिया था। इसलिए यह बताने की आवश्यकता नहीं कि मज़दूर, किसान, सैनिक और सभी ईमानदार लोग लेनिन द्वारा निदेशित कम्युनिस्ट पार्टी के गिर्द क्यों गोलबंद हुए, जो लोगों को देश को बचाने का एकमात्र रास्ता दिखा रही थी और एक राष्ट्र के रूप में रूस के अस्तित्व के लिए उत्पन्न खतरे के खिलाफ़ लड़ रही थी।

१९१७ के शरद में सारे रूस में मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में एक बहुत ही ज़बर्दस्त क्रांतिकारी लहर दौड़ गयी।

हड़ताल आंदोलन ने खुले क्रांतिकारी संघर्ष का रूप ले लिया था। मज़दूरों ने कल-कारखानों पर क़ब्ज़ा करके पुराने प्रबंधकों को हटा दिया और जिन्होंने इसका विरोध किया, उन्हें गिरफ़्तार कर लिया। उत्पादन का प्रबंध मज़दूर अब स्वयं करने लगे। मज़दूर सभाओं में राज्य सत्ता सोवियतों को सौंपे जाने की अधिकाधिक मांग की जाने लगी। बोल्शेविक पार्टी का प्रभाव लगातार बढ़ता जा रहा था और उसकी सदस्य संख्या अब ४,००,००० तक पहुंच गयी थी। उधर मेंशेविक और समाजवादी-क्रांतिकारी पार्टियों में अंदरूनी मतभेद और विघटन बढ़ते ही जा रहे थे।

ज़मींदारों के खिलाफ़ किसानों की कार्रवाइयां प्रायः विद्रोहों का रूप लेने लगी थीं। किसान समुदाय के बीच समाजवादी-क्रांतिकारियों का प्रभाव शनैःशनैः घटता और बोल्शेविकों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। रूस की उत्पीड़ित जातियां राष्ट्रीय स्वाधीनता और समान अधिकारों के लिए उत्तरोत्तर दृढ़ता के साथ संघर्ष करने लगी थीं।

सैनिकों की मनःस्थिति में भी आमूलचूल परिवर्तन हो गया था: युद्ध से तंग आकर वे अब पूंजीपतियों और ज़मींदारों के हितों की सिद्धि के लिए और नहीं लड़ना चाहते थे। सेना छोड़कर भागनेवालों की संख्या बेहद बढ़ गयी। प्रायः सैनिकों की सभाओं का अंत अस्थायी सरकार में अविश्वास के प्रस्तावों और राज्य सत्ता सोवियतों को हस्तांतरित करने की मांगों के साथ होने लगा। शरद, १९१७ तक सैनिकों और जहाज़ियों की काफ़ी बड़ी



व्लादीमिर इल्यीच लेनिन

बहुसंख्या बोल्शेविकों का साथ देने लग गयी, जिनका युद्ध के सबसे मुख्य मोर्चों – उत्तरी तथा पश्चिमी मोर्चों में और बाल्टिक बेड़े में भी बहुत अधिक प्रभाव था। संक्षेप में, सारे देश में क्रांतिकारी उभार अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया था।

क्रांति की विजय और रूस में सोवियत जनतंत्र की घोषणा

जब शांतिमय तरीक़ों से राज्य सत्ता सोवियतों को हस्तांतरित करने के सभी प्रयास निरर्थक रहे और यह स्पष्ट हो गया कि अस्थायी सरकार राजधानी पेत्रोग्राद को जर्मन सेनाओं के हवाले करने जा रही है तथा उनकी सहायता से जनता को दबाना व क्रांति को कुचलना चाहती है, लेनिन की रहनुमाई में कम्युनिस्ट पार्टी ने मज़दूरों और सैनिकों का बलप्रयोग द्वारा अस्थायी सरकार को सत्ताच्युत करने और सोवियतों का शासन क़ायम करने के लिए आह्वान किया।

२५ अक्तूबर (७ नवंबर), १९१७ का दिन रूस की जनता और समस्त मानवजाति के इतिहास में सदा स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। इस दिन पेत्रोग्राद में न्यूनतम रक्तपात के साथ जनता का विद्रोह विजयी हुआ, मेहनतकश जन का समर्थन खो चुकी अस्थायी सरकार को सत्ताच्युत किया गया और सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस शुरू हुई, जिसमें उपस्थित प्रतिनिधि २ करोड़ से ज़्यादा मतदाताओं द्वारा जनवादी तरीक़े से चुने गये थे और जिसने राजधानी तथा समस्त देश में राज्य सत्ता मज़दूरों, सैनिकों तथा किसानों के प्रतिनिधियों की सोवियतों को हस्तांतरित किये जाने की उद्घोषणा की तथा व्ला० इ० लेनिन की प्रमुखता में सोवियत सरकार – जन कमिसार परिषद – का निर्वाचन किया।

सोवियत सरकार तुरंत ही जनसाधारण की बुनियादी मांगों को पूरा करने लग गयी। २६ अक्तूबर (वर्तमान तिथिक्रम के अनुसार ८ नवंबर)* को सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस ने ऐतिहासिक महत्त्व की शांति आज्ञप्ति अंगीकार की। इस आज्ञप्ति के द्वारा सोवियत सरकार ने सभी युद्धरत देशों और उनकी सरकारों के सामने प्रस्ताव रखा कि न्यायसंगत और जनवादी शांति के लिए, जो शांति पराये प्रदेशों को अपने प्रदेशों में मिलाये जाने तथा

---

* आगे सभी तिथियां वर्तमान तिथिक्रम, अर्थात् ग्रेगोरियन पंचांग के अनुसार दी गयी हैं। – सं०

युद्ध क्षतिपूर्ति की मांग किये जाने पर आधारित न हो, उसके लिए तुरंत वार्ताएं आरंभ की जायें। सोवियत सरकार ने ये शर्तें अल्टीमेटम के तौर पर नहीं रखी थीं, क्योंकि वह युद्धरत देशों द्वारा रखी जानेवाली किन्हीं अन्य शर्तों पर भी वार्ताएं शुरू करने के लिए तैयार थी। शांति आज्ञप्ति के अनुसार गुप्त राजनय को त्यागा जाना था और सभी गुप्त साम्राज्यवादी संधियों को प्रकाशित करके (सोवियत सरकार ने शीघ्र ही उन्हें प्रकाशित करके दिखा भी दिया) उन्हें रद्द घोषित किया जाना था। आज्ञप्ति में घोषणा की गयी थी कि सोवियत सरकार युद्ध का अंत करने और सभी देशों के साथ शांति से रहने को उद्यत है।

उसी दिन कांग्रेस ने भूमि आज्ञप्ति भी जारी की, जिसके अनुसार सभी ज़मींदारों, मठों और गिरजों की भूमि और उससे संलग्न अन्य चल व अचल संपत्ति को बिला मुआवज़ा ज़ब्त कर लिया गया। किसान समुदाय की इच्छा को ध्यान में रखते हुए भूमि पर निजी स्वामित्व का अंत कर दिया गया और सारी भूमि जनता की, राज्य की संपत्ति बना दी गयी। भूमि आज्ञप्ति में एक "किसान भूमि अधिदेश" भी शामिल था, जिसे भूमि सुधार लागू किये जाने के लिए मार्गदर्शक का काम करना था। यह अधिदेश स्थानीय किसान अधिदेशों पर आधारित था और उसमें भूमि वितरण के तरीक़ों, भूमि उपयोग के रूपों, आदि की रूपरेखा दी हुई थी। किसानों को १५,००,००,००० हैक्टर भूमि मुफ़्त आवंटित करके उनकी चिर अभिलाषा को पूर्ण किया गया। अब उन्हें ज़मींदारों से भूमि ख़रीदने या बटाई अथवा लगान पर लेने की आवश्यकता नहीं रह गयी, जिसपर पहले उनके प्रतिवर्ष कोई ७०,००,००,००० स्वर्ण रूबल ख़र्च हो जाते थे। किसानों के कुल मिलाकर ३,००,००,००,००० स्वर्ण रूबल से अधिक के क़र्ज़े भी माफ़ कर दिये गये।

अपनी स्थापना के चौथे दिन सोवियत सरकार ने एक आज्ञप्ति जारी करके ८ घंटे का कार्य-दिवस निर्धारित कर दिया। इसके बाद मज़दूरों और कर्मचारियों के लिए निःशुल्क राज्य बेरोज़गारी तथा स्वास्थ्य बीमा प्रणाली भी लागू की गयी। १५ नवंबर को सोवियत सरकार ने रूस की जनता के अधिकारों का घोषणापत्र प्रकाशित किया, जिसमें जातीय उत्पीड़न के अंत, रूस की सभी जातियों की समानता, सर्वसत्ता, आत्मनिर्णय के अधिकार, जिसमें अपना पृथक राज्य स्थापित करने का अधिकार भी शामिल था, और सभी जातीय व धार्मिक विशेषाधिकारों व प्रतिबंधों के उन्मूलन की उद्घोषणा की गयी थी।

इस घोषणापत्र पर अमल करते हुए दिसंबर, १९१७ में सोवियत सरकार ने फ़िनलैंड की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी, जो अब तक रूस का हिस्सा था। इसी तरह उक्रइना की स्वाधीनता, आर्मीनियों के आत्मनिर्णय के

अधिकार, आदि को भी मान्यता दी गयी। यह एक महान क्रांतिकारी विधिक कार्य था, जिसने मानवजाति के इतिहास में पहली बार जनता के हित में समाज का इतना आमूल पुनर्गठन किया।

यह सोवियत रूस के लिए एक बहुत ही कठिन परीक्षा की घड़ी थी। नवजात सोवियत जनतंत्र के खिलाफ़ सभी प्रतिक्रांतिकारी शक्तियां गोलबंद हो रही थीं। केरेन्स्की ने, जो एक अमरीकी कार में पेत्रोग्राद से भाग गया था, जनरल क्रास्नोव की कज़्ज़ाक सेना को राजधानी पर हमला करने को भेज दिया था। स्वयं राजधानी में कैडेट, समाजवादी-क्रांतिकारी और मेंशेविक प्रतिक्रांतिकारी विद्रोह की तैयारियों में व्यस्त थे। दोन की घाटी, उक्रइन, उराल और अन्य जगहों पर क्रांति द्वारा संपत्तिविहीन किये गये पूंजीपतियों तथा ज़मींदारों, ज़ारशाही सेना के प्रतिक्रियावादी जनरलों और अफ़सरों, ज़ारशाही काल के विशेषाधिकारभोगी उच्चवर्गीय कज़्ज़ाकों और अन्य तत्त्वों ने सोवियत सत्ता के विरुद्ध मोर्चे खोल दिये थे। उन सबको विदेशों से मदद मिल रही थी।

किंतु कम्युनिस्ट पार्टी के आह्वान पर मज़दूरों, ग़रीब कज़्ज़ाकों और लाल गार्ड दस्तों ने, संक्षेप में, जनता ने सभी प्रतिक्रांतिकारियों को धूल चटा दी। रूस के सभी मेहनतकशों और शोषितों को अपने पक्ष में करती हुई सोवियत सत्ता विराट देश के एक कोने से दूसरे कोने तक, सर्वत्र अपनी विजय पताका फहराती चली गयी।

सोवियत राज्य का निर्माण

इस तरह सारे रूस में सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना हो गयी। अब मज़दूर वर्ग समाज का प्रभुत्वशाली वर्ग और राज्य का कर्णधार था। देश में सारी सत्ता क्रांतिकारी मज़दूर वर्ग द्वारा निर्मित निकायों – मज़दूर, किसान और सैनिक प्रतिनिधियों की सोवियतों – के हाथ में आ गयी थी और सोवियत राज्य में नेतृत्वकारी तथा निदेशनकारी भूमिका मज़दूर वर्ग की पार्टी, यानी कम्युनिस्ट पार्टी अदा करने लगी थी। सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस द्वारा निर्वाचित सोवियत सरकार कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधियों से ही बनी थी। नवंबर, १९१७ में कम्युनिस्ट पार्टी और वामपंथी समाजवादी-क्रांतिकारियों की पार्टी, जो उस समय सोवियतों की सत्ता का समर्थन कर रही थी, के बीच वार्ता के परिणामस्वरूप समाजवादी कार्यक्रम के आधार पर एक समझौता हुआ और कुछ वामपंथी समाजवादी-क्रांतिकारियों को भी जन कमिसार परिषद में शामिल कर लिया गया। किंतु सरकार में

बहुमत कम्युनिस्ट पार्टी का ही बना रहा और उसका नेतृत्व भी कम्युनिस्ट पार्टी ही करती रही। मार्च, १६१८ में वामपंथी समाजवादी-क्रांतिकारियों ने जर्मनी के साथ की गयी ब्रेस्त-लितोव्स्क की शांति संधि के विरोध में जन कमिसार परिषद से त्यागपत्र दे दिया।

बूर्जुआ पार्टियों ने चूंकि सोवियतों की सत्ता को न केवल स्वीकार नहीं किया था, बल्कि उसके ख़िलाफ़ घोर संघर्ष भी किया था, इसलिए शीघ्र ही उनपर पाबंदी लगा दी गयी। निम्न बूर्जुआ मेंशेविक और समाजवादी-क्रांतिकारी पार्टियों ने आरंभ में सोवियत सत्ता के सभी निकायों के चुनावों में हिस्सा लिया और उन्हें उनमें प्रतिनिधित्व भी मिला। किंतु शनैःशनैः उनके नेता सोवियत सरकार द्वारा प्रस्तावित क़दमों का विरोध करने लगे और १६१८ के ग्रीष्म में जब विदेशी सशस्त्र हस्तक्षेप शुरू हुआ, तो वे सोवियत राज्य को खुले आम चुनौती भी देने लग गये। नतीजे के तौर पर जनता उनका उत्तरोत्तर कम समर्थन करने लगी और सोवियतों में उनके प्रतिनिधियों की संख्या वर्ष-प्रतिवर्ष घटती गयी। गृहयुद्ध (१६१८-१६२०) के अंत तक दोनों ही पार्टियों का राजनीतिक अवसान हो गया और फिर एक-दो साल में नामोनिशान भी बाक़ी न रहा।

इसके विपरीत, जनता के बीच कम्युनिस्ट पार्टी की प्रतिष्ठा तथा प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ते ही गये और शीघ्र ही वह देश के सभी मेहनतकशों को एकजुट करनेवाली एकमात्र पार्टी रह गयी।

समाजवादी समाज के निर्माण के अपने ऐतिहासिक कार्यभार की पूर्ति के लिए सर्वहारा पुरानी राज्य मशीनरी का इस्तेमाल नहीं कर सकते थे, क्योंकि वह पूर्णतः बूर्जुआज़ी और ज़मींदारों के हितों की ही सिद्धि करती थी। अतः उसे भंग करके एक नयी राज्य मशीनरी स्थापित की गयी। सत्ता का सर्वोच्च निकाय सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस को और उसके अधिवेशनों के बीच की अवधि में अखिल रूसी केन्द्रीय कार्यकारिणी को बनाया गया, जिसका निर्वाचन कांग्रेस ही करती थी। केन्द्रीय कार्यांग और प्रशासनांग का कार्य जन कमिसार परिषद करती थी। भूतपूर्व मंत्रालयों के स्थान पर जन कमिसारियत स्थापित किये गये, जैसे आंतरिक मामलों, वैदेशिक मामलों, श्रम, शिक्षा, वित्त, आदि के जन कमिसारियत। सोवियत सरकार के अंतर्गत जातीय मामलों की समिति भी बनायी गयी, जिसे सोवियत सत्ता द्वारा घोषित सोवियत जनतंत्र की विभिन्न जातियों की समानता व मैत्री की नीति को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। एक अन्य विशेष निकाय प्रति-क्रांतिकारी कार्रवाइयों से जूझने के लिए स्थापित किया गया। यह था अखिल रूसी असाधारण आयोग। पुरानी न्याय प्रणाली का स्थान सोवियतों द्वारा निर्वाचित स्थानीय अदालतों और क्रांतिकारी अधिकरणों ने ले लिया। पुरानी

सेना की जगह पर, जो अब विसर्जित हो गयी थी, २३ फ़रवरी, १९१८ को नयी, मज़दूरों और किसानों की लाल सेना गठित की गयी।

सर्वहारा अधिनायकत्व को बूर्जुआ सत्ता पुनर्स्थापित करने के क्रांति विरोधियों के प्रयासों को निर्ममतापूर्वक कुचलना पड़ा। किंतु साथ ही वह एक नया, उच्च प्रकार का जनवाद – बहुसंख्या के लिए, जनता के लिए जनवाद – भी था।

नये राज्य का निर्माण सत्ताच्युत वर्गों के साथ घोर संघर्ष करते हुए किया गया। अधिकांश पुराने अमला क्रांति को भीतर से विफल बनाने पर तुले हुए थे। बूर्जुआज़ी, मेंशेविकों और समाजवादी-क्रांतिकारियों को विश्वास था कि मज़दूर वर्ग राज्य कार्य का संचालन नहीं कर पायेगा, क्योंकि उसके पास उपयुक्त कर्मचारियों का अभाव था और बूर्जुआ कर्मचारी मज़दूर राज्य के लिए काम न करते। अपने ८ नवंबर, १९१७ के अंक में मेंशेविक पार्टी की केन्द्रीय समिति के मुखपत्र 'रबोचाया गज़ेता' ने भीतरघात अभियान के आरंभिक परिणामों पर टिप्पणी करते हुए प्रकट दुर्भाव के साथ लिखा था, "बोल्शेविकों को विजय की खुशियां मनाते चौबीस घंटे ही हुए हैं और ऐतिहासिक दुर्भाग्य अभी से उनका पीछा करने लग गया है... वे राज्य सत्ता का संचालन करने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। वह उनके हाथ से निकली जा रही है, क्योंकि उनके चारों ओर खुद उन्हीं की पैदा की हुई रिक्तता छायी है। वे सबसे कटे हुए हैं और सभी दफ़्तरी और तकनीकी अमला उनके लिए काम करने से इंकार कर रहे हैं।" किंतु इन "पैगंबरों" को क्या पता था कि वे खुद ही अपने को हंसी का पात्र बना रहे हैं। कम्युनिस्ट पार्टी ने सभी मेहनतकश नर-नारियों से राज्य का संचालन अपने हाथों में लेने की अपील की। १८ नवंबर, १९१७ को मेहनतकशों के नाम एक अपील में व्ला० इ० लेनिन ने लिखा, "याद रखें कि अब राज्य के कर्ता-धर्ता आप स्वयं हैं। अगर आप एकजुट नहीं होते और राज्य का सारा कार्य अपने हाथों में नहीं लेते, तो कोई आपकी मदद नहीं करेगा। आपकी सोवियतें अब से राज्य सत्ता के निकाय और पूर्णाधिकारप्राप्त विधायी संस्थाएं हैं। अपनी सोवियतों के गिर्द एकजुट हों। उन्हें मज़बूत बनायें। काम में जुट जायें। बिल्कुल नीचे से शुरू करें। किसी की प्रतीक्षा न करें।"

रूस के सर्वहारा ने ऐसा ही किया। हर कहीं सोवियतों ने पुराने सत्ता निकायों को हटाकर प्रशासन का सारा काम अपने हाथों में ले लिया। सोवियतों में जिन प्रतिनिधियों ने अपने निर्वाचकों की आशा के अनुरूप काम नहीं किया, उन्हें वापस बुला लिया गया और उनके स्थान पर अधिक योग्य प्रतिनिधि चुने गये। कल-कारखानों के कर्मीदल और ट्रेड यूनियनें अपने सबसे सुयोग्य सदस्यों को राज़कीय संस्थाओं में काम करने के लिए निर्वाचित करते थे।

मिसाल के लिए, वैदेशिक मामलों के जन कमिसारियत में जो लोग पहले-पहल काम करने लगे, वे पेत्रोग्राद की सीमेंस-शूक्केर्त फ़ैक्टरी (वर्तमान 'इलेक्त्रो-सीला' कारख़ाना) के मज़दूरों और बाल्टिक बेड़े के नौसैनिकों में से थे। मार्किन नामक एक नौसैनिक को इस कमिसारियत का कार्य-प्रवंधक नियुक्त किया गया। विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों के सहयोग से उसने ज़ारशाही सरकार द्वारा संपन्न गुप्त संधियों को प्रकाशित किया, जो विदेश मंत्रालय की तिजोरियों में छिपाकर रखी हुई थीं।

इस वीच सरकार ने दृढ़ क़दम उठाकर पुराने अमला के भीतरघात को कुचल दिया और उनमें से अधिकांश अपने काम पर वापस लौट आये। इस प्रकार पुरानी वूर्जुआ राज्य मशीनरी, जो जनता के उत्पीड़न में सहायक थी, ध्यस्त कर दी गयी और उसका स्थान एक नयी राज्य मशीनरी, जनता की अपनी राज्य मशीनरी ने ले लिया।

प्रतिक्रांतिकारी तत्त्वों ने संविधान सभा को भी सोवियत सरकार के विरुद्ध इस्तेमाल करने की कोशिश की। नवंबर, १६१७ में निर्वाचित इस निकाय में समाजवादी-क्रांतिकारियों का बहुमत था। उसने सोवियत सरकार द्वारा उठाये गये सभी क्रांतिकारी क़दमों के ख़िलाफ़ शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाया। और तो और, उसने मेहनतकश और शोषित जनों के अधिकारों के घोषणापत्र की संपुष्टि करने से भी इन्कार कर दिया, जिसमें सोवियत सरकार की अनेक महत्त्वपूर्ण आज्ञप्तियां थीं। संविधान सभा के इस खुले आम प्रतिक्रांतिकारी रवैये को देखते हुए अखिल रूसी केन्द्रीय कार्यकारिणी ने १६ जनवरी, १६१८ को एक आज्ञप्ति जारी करके उसे भंग कर दिया। सर्वत्र जनता ने इस क़दम का स्वागत किया।

अपने पहले ही दिन से सोवियत सरकार ने युद्धरत देशों के बीच आम जनवादी शांति संधि करवाने के लिए भरसक प्रयास किया, ताकि अपराधपूर्ण साम्राज्यवादी युद्ध का अंत हो। किंतु ऐंटेंट राज्यों (मित्रराष्ट्रों) ने शांति की अपीलों पर कोई कान न दिया। ऐसी परिस्थिति में सोवियत सरकार ने महसूस किया कि अगर मज़दूरों और किसानों के राज्य को नष्ट होने से वचाना और रूस के भविष्य को सुनिश्चित करना है, तो उसे अकेले ही जर्मनी तथा उसके मित्र देशों के साथ शांति संधि करनी होगी। फलस्वरूप ३ मार्च, १६१८ को ब्रेस्त-लितोव्स्क में शांति संधि संपन्न की गयी। जर्मनों ने सोवियत रूस पर वहुत ही कठिन शर्तें थोपीं, जिनमें रूस के व्यापक प्रदेशों पर जर्मन सेनाओं का क़ब्ज़ा और हरजाने की अदायगी भी शामिल थी। किंतु सोवियत सरकार के लिए तो यह प्राणरक्षा का सवाल था और उसने संधि पर हस्ताक्षर कर दिये।

शांतिमय निर्माण

क्रांतिकारी उत्साह से ओत-प्रोत सोवियत जनता अब अपनी अर्थव्यवस्था और संस्कृति के शांतिपूर्ण विकास में, नये जीवन के निर्माण में जुट गयी। सोवियत सरकार ने देश को पूर्ण आर्थिक विनाश से बचाने और उत्पादक शक्तियों का विकास करने के लिए तुरंत क़दम उठाने शुरू किये। उसने राज्य बैंक को अपने नियंत्रण में ले लिया और शेष सभी बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। जिन भी उद्यमों में उजरती मज़दूर काम करते थे, उनपर मज़दूरों का नियंत्रण क़ायम किया गया। कतिपय उद्यमपतियों ने इस कार्रवाई का घोर विरोध किया और उत्पादन में बाधा डालने की कोशिशें कीं। इसके जवाब में सोवियत सरकार ने उनके उद्यमों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। इस तरह सैकड़ों उद्यम, जिनमें से कइयों के मालिक विदेशी थे, राज्य की संपत्ति बन गये। रेलवे, जहाज़रानी और प्रमुख अन्नागारों का भी राष्ट्रीयकरण किया गया। विदेश व्यापार पर राज्य का एकाधिकार स्थापित किया गया और पूर्ववर्ती सरकार द्वारा लिये गये सभी विदेशी व घरेलू कर्ज़े मंसूख कर दिये गये। राष्ट्रीयकृत उद्यमों के प्रबंध और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के योजनाबद्ध विकास के लिए एक सर्वोच्च राष्ट्रीय अर्थ-परिषद गठित की गयी।

अब जबकि देश विश्वयुद्ध के चंगुल से निकल गया था, सोवियत सरकार अपना सारा ध्यान शांतिपूर्ण सृजनात्मक कामों पर केंद्रित कर सकती थी। १९१८ के वसंत में व्ला० इ० लेनिन ने आर्थिक विकास का एक ठोस कार्यक्रम बनाया, जिसमें सामाजिक श्रम की उत्पादिता बढ़ाने पर विशेष ज़ोर दिया गया था। लेनिन के मत में इस लक्ष्य को पाने का रास्ता था उत्पादन प्रविधि का निरंतर परिष्कार, मज़दूरों का सांस्कृतिक तथा तकनीकी स्तर ऊंचा उठाना, उत्पादन का समुचित संगठन सुनिश्चित करने के लिए विशेषज्ञों का व्यापक इस्तेमाल करना, प्रोत्साहनमूलक मेहनताना प्रणाली लागू करना, समाजवादी श्रम प्रतियोगिताएं शुरू करना, आदि। लेनिन ने कहा कि सामाजिक श्रम की उत्पादिता बढ़ाकर और जनता के लिए कहीं अधिक मात्रा में भौतिक तथा सांस्कृतिक सुविधाएं उपलब्ध करवाकर ही समाजवाद आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवाद पर विजय पा सकता है।

सोवियत सरकार के निर्देश पर देश के बिजलीकरण की योजना और हर शाखा और हर इलाक़े के विकास की योजनाएं बनायी जाने लगीं। उद्योगों में सैनिक मालों के स्थान पर असैनिक मालों का उत्पादन किया जाने लगा। अनेक नये बिजलीघरों (वोल्खोव, स्वीर, शतूरा, आदि) और कल-कारख़ानों का निर्माण शुरू किया गया।

उद्यमों में श्रम अनुशासन मज़बूत बनाने, उत्पादन का बेहतर संगठन करने और उत्पादिता बढ़ाने के लिए क़दम उठाये गये। राष्ट्रीयकृत प्रतिष्ठानों के मज़दूर अधिकाधिक महसूस करने लगे कि वे अब पूंजीपतियों के बजाय स्वयं अपने लिए ही काम कर रहे हैं। इसलिए वे ख़ुद ही अपने लिए आचार संहिताएं बनाने लगे, जो सर्वहारा आत्मानुशासन के आदर्श प्ररूप थे।

सरकार प्रबंधकों के पदों पर मज़दूर वर्ग के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधियों को ही नियुक्त करती थी। पुराने विशेषज्ञों को भी काम पर लौटने के लिए प्रोत्साहित किया गया। प्रमुख आर्थिक निकायों – सर्वोच्च राष्ट्रीय अर्थ-परिषद और स्थानीय अर्थ-परिषदों – के कार्य में निरंतर सुधार लाया गया। इसकी बदौलत सोवियत सरकार अर्थव्यवस्था की पूरी की पूरी शाखाओं का राष्ट्रीय-करण शुरू कर सकी: मई, १६१८ में चीनी उद्योग का और जून, १६१८ में पूरे तेल उद्योग का तथा अन्य उद्योग शाखाओं के महत्त्वपूर्णतम प्रतिष्ठानों का राष्ट्रीयकरण किया गया। इस तरह अर्थव्यवस्था का समाजवादी क्षेत्र बढ़ता और सुदृढ़ बनता गया।

पहला सोवियत संविधान

जुलाई, १६१८ में सोवियतों की पांचवीं अखिल रूसी कांग्रेस ने पहला सोवियत संविधान अंगीकार किया, जिसका मसविदा व्ला० इ० लेनिन और अखिल रूसी केन्द्रीय कार्यकारिणी के अध्यक्ष य० म० स्वेर्दलोव के निदेशन में तैयार किया गया था। इस संविधान ने समाजवादी क्रांति के पहले आठ महीनों की ऐतिहासिक उपलब्धियों को विधिक रूप दिया, जैसे सोवियत राज्य की स्थापना, संघात्मक राज्य प्रणाली का अंगीकरण, जनवादी स्वतंत्रताएं – अंतःकरण, भाषण, सभा और संगठन की स्वतंत्रताएं – और इन स्वतंत्रताओं को व्यवहार में चरितार्थ करने के लिए आवश्यक परिस्थितियां। उसमें कहा गया था कि श्रम करना जनतंत्र के सभी नागरिकों का दायित्व है और "जो काम नहीं करेगा, वह खायेगा भी नहीं"। जनतंत्र की रक्षा के लिए संविधान ने सबके लिए सैनिक सेवा अनिवार्य घोषित की। किंतु हथियार केवल मेहनतकशों को ही दिये जा सकते थे। जाति, नस्ल, लिंग, शिक्षास्तर और धार्मिक विश्वासों का लिहाज़ किये बिना सभी वयस्क मेहनतकश नागरिकों को सोवियतों के सदस्य चुनने और स्वयं भी चुने जाने का अधिकार दिया गया। शोषकों और शत्रु तत्त्वों को, जिनकी संख्या लगभग नगण्य ही थी, संविधान ने मताधिकार से वंचित कर दिया। यदि कोई प्रतिनिधि मतदाताओं के विश्वास को झुठला दे, तो मतदाताओं को उसे वापस बुलाने, यानी उसका प्रतिनिधि का अधिकार छीन लेने का हक़ था।

पहले सोवियत संविधान के संबंध में व्ला० इ० लेनिन ने कहा था, "अब तक के सभी संविधान सत्तारूढ़ वर्गों के हितों की ही रक्षा करते रहे हैं। एकमात्र सोवियत संविधान ही मेहनतकशों की हितसिद्धि करता है और आगे भी करता रहेगा। वह समाजवाद के लिए संघर्ष का एक प्रबल हथियार है।"

रूस में गृहयुद्ध

रूस ने महायुद्ध के भयंकर कुपरिणामों से निबटना शुरू ही किया था कि वह एक और विनाशकारी तथा रक्तपातपूर्ण युद्ध – गृहयुद्ध – में फंस गया, जो कोई तीन वर्ष चला।

रूस में गृहयुद्ध के लिए उत्तरदायी संयुक्त राज्य अमरीका, जापान, ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस की सरकारें और साथ ही जर्मनी तथा उसके मित्र देशों की सरकारें थीं, जिन्होंने सोवियत रूस के विरुद्ध सशस्त्र अभियान छेड़ा था और देश के अंदर क्रांति के विरोधियों को सोवियत सत्ता से लड़ने के लिए उकसाया था। इन सरकारों को डर था कि रूसी मज़दूरों, किसानों और सैनिकों द्वारा पेश की गयी मिसाल का उनके अपने देश के मेहनतकश भी अनुकरण करने लगेंगे और युद्ध से रूस का निकलना युद्धरत देशों की जनता की, जो युद्ध से आजिज़ आ गये थे, शांति आकांक्षा को बलवती कर देगा। विदेशी साम्राज्यवादियों को यह भी आशा थी कि रूस में बूर्जुआ तानाशाही की पुनर्स्थापना हो जाने से वे अपने राष्ट्रीयकृत कल-कारखाने वापस पा जायेंगे, सोवियत सरकार ने जो कर्ज़े रद्द कर दिये थे, उन्हें उगाह लेंगे और रूस की पहले की तरह लूट जारी रख सकेंगे।

एक स्वतंत्र राज्य के रूप में रूस का अस्तित्व ही खटाई में पड़ गया। १९१८ के आरंभ में अमरीकी साम्राज्यवादियों ने रूस के विभाजन की एक योजना भी बनायी। अमरीकी विदेश विभाग द्वारा तैयार किये गये एक मानचित्र में रूस को मध्य रूस तक ही सीमित दिखाया गया था और शेष देश को कई "स्वतंत्र राज्यों" में विभाजित कर दिया गया था। मानचित्र के परिशिष्ट में कहा गया था कि सारे रूस को बड़ी-बड़ी प्राकृतिक इकाइयों में बांट दिया जाना चाहिये, जिनमें से प्रत्येक का अपना पृथक् आर्थिक अस्तित्व हो और किसी भी इकाई को इतना स्वतंत्र या आत्मनिर्भर नहीं होना चाहिये कि वह शक्तिशाली राज्य बन सके।

सोवियत जनतंत्र पर साम्राज्यवादी आक्रमण और गृहयुद्ध की शुरुआत

साम्राज्यवादी राज्यों ने रूस पर सशस्त्र हमले के बारे में दिसंबर, १९१७ में ही आपस में समझौता कर लिया था। यह भी तय हो गया था कि कौन किन प्रदेशों पर अधिकार करेगा। तुरंत ही इन कुत्सित योजनाओं पर अमल किया जाने लगा। दिसंबर, १९१७ में बूर्जुआज़ी तथा ज़मींदारों द्वारा शासित रूमानिया ने फ़ांस की शह पर बेस्सराबिया पर क़ब्ज़ा कर लिया। मार्च, १९१८ में आसन्न "जर्मन हमले" को रोकने की आवश्यकता के बहाने फ़ांस, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका ने मूर्मान्स्क में अपने सैनिक उतारे। अगस्त में उन्होंने अर्खांगेल्स्क पर भी अधिकार कर लिया, जहां प्रतिक्रांतिकारियों ने सोवियत शासन के विरुद्ध बग़ावत की हुई थी। आक्रामकों और प्रतिक्रांतिकारियों की संयुक्त शक्ति ने नगर में सोवियत सत्ता को उलट दिया। नगर पर आक्रामकों का निर्मम अध्यासी शासन स्थापित हो गया और इलाक़े की संपदा को बेलगाम लूटा जाने लगा।

४ अप्रैल की रात को व्लादीवोस्तोक में जापानी एजेंटों ने दो जापानियों की हत्या कर दी और सुबह, ५ अप्रैल को जापानी सैनिकों ने "विदेशी नागरिकों के जान-माल की रक्षा" के बहाने व्लादीवोस्तोक के समुद्रतट पर उतरकर नगर पर क़ब्ज़ा कर लिया। उसी दिन ब्रिटिश सैनिक भी उतारे गये। अगस्त के मध्य में एक अमरीकी अभियान सैन्यदल भी व्लादीवोस्तोक पहुंचा। शरद तक सारा ही सोवियत सुदूर पूर्व सोवियतों के हाथों से निकलकर आक्रामकों और सफ़ेद गार्डों के क़ब्ज़े में चला गया।

ब्रिटिश फ़ौजें मध्य एशिया में भी भेजी गयीं, जहां उनकी सहायता से स्थानीय राष्ट्रवादी बूर्जुआज़ी, समाजवादी-क्रांतिकारियों और मेंशेविकों ने सोवियत सत्ता को कुचल डाला और प्रतिक्रांतिकारी पार-कास्पियन सरकार क़ायम की। अगस्त में ब्रिटिश फ़ौजें बाकू में घुस आयीं। बाकू कम्यून का गला घोंट दिया गया और उसके २६ नेताओं को शहर के बाहर ले जाकर बिना कोई मुक़दमा चलाये २० सितंबर को गोलियों से भून डाला गया।

साम्राज्यवादी मित्रराष्ट्रों ने सोवियत सत्ता के विरुद्ध अपने अभियान में चेकोस्लोवाक कोर को भी इस्तेमाल किया। यह कोर विश्वयुद्ध के दौरान रूसियों द्वारा बंदी बनाये हुए आस्ट्रो-हंगेरियाई सेना के ६०,००० अफ़सरों और सिपाहियों से बनी हुई थी। ब्रेस्त-लितोव्स्क की संधि के बाद सोवियत सरकार ने चेकोस्लोवाक कोर को व्लादीवोस्तोक के रास्ते विदेश लौटने की अनुमति दे दी थी। किंतु मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधि कोर की कमान को रिश्वत

देकर उसकी मदद से सिपाहियों को सोवियतविरोधी बग़ावत करने के लिए उकसाने में सफल रहे। बग़ावत २५ मई, १९१८ को शुरू हुई और शीघ्र ही पेंज़ा से लेकर व्लादीवोस्तोक तक सारे विशाल इलाक़े में, जहां से चेकोस्लोवाक कोर के सिपाहियों को ले जानेवाली गाड़ियां गुज़र रही थीं, फैल गयी। संयुक्त राज्य अमरीका ने बाग़ियों को १,००,००० से अधिक बंदूकें और हथियार मुहैया किये।

चेकोस्लोवाक कोर के इस विद्रोह ने वोल्गा प्रदेश, उराल क्षेत्र और साइबेरिया में कुलकों, यानी धनी किसानों के विद्रोह के लिए हरी झंडी का काम किया। वोल्गा और प्रशांत महासागर तट के बीच के इलाक़े में हर कहीं सोवियतों की सत्ता उलट दी गयी। समारा, ओम्स्क और येकातेरीनबूर्ग में प्रतिक्रांतिकारी "सरकारें" क़ायम हुईं, जिन्होंने कल-कारख़ाने पूंजीपतियों को और ज़मीन ज़मींदारों को लौटा दी।

मज़दूरों के लिए १० घंटे का कार्य-दिवस निर्धारित किया गया। शहरों और देहातों में ताज़ीरी दस्तों का आतंक छा गया। अनधिकारी "सरकारें" सोवियतों से लड़ने के लिए सेनाएं बनाने लगीं।

बाल्टिक प्रदेशों, अधिकांश बेलोरूस, उक्रइना, दोन प्रदेश, क्रीमिया और जार्जिया पर जर्मनों ने १९१८ के आरंभ में ही अधिकार जमा लिया था। इन इलाक़ों में सर्वत्र सोवियतों का उन्मूलन करके सत्ता बूर्जुआज़ी और ज़मींदारों को वापस लौटा दी गयी थी। सोवियत जनतंत्र ने अपने को चारों ओर से विदेशी अतिक्रमणकारी और सफ़ेद गार्ड सेनाओं से घिरा हुआ और रसद, कच्चे माल तथा ईंधन की सप्लाई के मुख्य स्रोतों से कटा हुआ पाया।

समाजवादी-क्रांतिकारी और मेंशेविक, जिन्होंने आक्रामकों के साथ गुप्त संबंध क़ायम किये हुए थे, जनतंत्र पर घिर आये इस संकट से फ़ायदा उठाने से न चूके। जुलाई, १९१८ में समाजवादी-क्रांतिकारियों ने मध्य रूस के २३ नगरों में सोवियत सत्ता के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़कायी। जुलाई के शुरू में मास्को में वामपंथी समाजवादी-क्रांतिकारियों ने बग़ावत कर दी और जर्मन राजदूत मीरबाख़ को मार डाला, ताकि जर्मनी के साथ युद्ध फिर शुरू हो जाये। समाजवादी-क्रांतिकारी आतंकवादियों ने सोवियत सरकार और कम्युनिस्ट पार्टी के अनेक नेताओं की हत्या के प्रयास भी किये। ३० अगस्त को सोवियत सरकार के प्रमुख व्ला० इ० लेनिन को गंभीर रूप से घायल किया गया।

शरद, १९१८ में प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद तो मित्रराष्ट्रों का सशस्त्र हस्तक्षेप और भी बढ़ गया। सोवियत जनता के ख़िलाफ़ अपराधपूर्ण युद्ध में भाग लेनेवाले विदेशी सैनिकों और अफ़सरों की संख्या ३,००,००० से अधिक हो गयी। १९१९ में इस आक्रामक युद्ध को भड़कानेवालों ने, जिनमें

सर्वोपरि स्थान ग्रेट ब्रिटेन के युद्धमंत्री विंस्टन चर्चिल का था, सोवियतविरोधी अभियान के लिए चौदह देशों का गठबंधन बनाने की कोशिश की। नवस्थापित सोवियत राज्य को एक बहुत ही कठिन और भीषण परीक्षा, सचमुच की अग्निपरीक्षा से गुज़रना पड़ा।

सोवियत देश का
एकीभूत युद्धशिविर में परिवर्तन

कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत सरकार की पुकार पर सारे रूस के मज़दूर और किसान क्रांति की रक्षार्थ हथियार हाथ में लेकर उठ खड़े हुए। मेहनतकश जनता का क्रांतिकारी जोश तो अपने पूरे उभार पर था ही, अतिक्रमणकारियों और सफ़ेद गार्डों के प्रति उसके क्रोध का भी कोई पारावार न था। सोवियत सरकार ने देश को संकटग्रस्त घोषित कर दिया और सारे देश को युद्ध शिविर में परिवर्तित करने के लिए मेहनतकशों का आह्वान किया। समाजवादी मातृभूमि की रक्षा से संबंधित कामों के निदेशन के लिए व्ला० इ० लेनिन की अध्यक्षता में मज़दूर तथा किसान प्रतिरक्षा परिषद गठित की गयी।

बहुत ही कम समय में मज़दूरों और किसानों से एक विशाल सेना – लाल सेना – खड़ी कर दी गयी। लाखों मज़दूर और ग़रीब किसान स्वेच्छा से उसमें भरती हुए। युद्ध में भारी क्षतियों के बावजूद लाल सेना की कतारें निरंतर बढ़ती ही गयीं और १९२० के अंत तक उसमें कोई ५०,००,००० सैनिक थे। हालांकि उसकी रीढ़ कम्युनिस्ट और मज़दूर थे, फिर भी अधिक संख्या किसानों की ही थी। मेहनतकश किसान मज़दूरों के कंधे से कंधा मिलाकर सोवियत सत्ता की रक्षा के लिए लड़े, क्योंकि उसने उन्हें राजनीतिक स्वाधीनता ही नहीं, ज़मीन भी, ज़मींदारों के जुए से मुक्ति भी प्रदान की थी।

मज़दूरों और किसानों में से लाल सेना के लिए कुशल सेनानायक तैयार करने के वास्ते प्रशिक्षण केन्द्रों का व्यापक जाल बिछाया गया। लाल सेना की बटालियनों, रेजीमेंटों, डिविजनों और उनसे भी बड़ी यूनिटों के सैकड़ों कमांडर आम जनता के ही सपूत थे। गृहयुद्ध ने ऐसे माने-जाने सेनानायक पैदा किये, जैसे मज़दूर कम्युनिस्ट वसीली ब्ल्यूख़ेर; वसीली चपायेव, जिसका जन्म एक ग़रीब किसान घर में हुआ था; रेलवे मज़दूर का बेटा निकोलाई श्चोर्स; कज़्ज़ाक सेम्योन बुद्योन्नी, जो शुरू में तो एक छापामार रिसाला दस्ते का नायक था, मगर आगे चलकर दुश्मन को दहशत में डाल देनेवाली सुप्रसिद्ध अश्वारोही सेना का कमांडर बना; और कम्युनिस्ट मिख़ाईल फ्रूंज़े,

जिसने अपना सैन्य जीवन १९१८ में एक मज़दूर दस्ते के नायकत्व से शुरू किया था और साल भर बाद ही एक पूरे के पूरे मोर्चे का संचालन करने लग गया था।

पुरानी सेना के हज़ारों अफ़सरों को लाल सेना के निर्माण तथा प्रशिक्षण में हाथ बंटाने के लिए बुलाया गया। उनमें से अधिकांश ने सोवियत सत्ता की निष्ठापूर्वक सेवा की। कुछ ने तो ऊंचे सैन्य पदों पर पहुंचकर विदेशी हस्तक्षेपकारियों और सफ़ेद गार्डों को हराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभायी, जैसे, मिसाल के लिए, भूतपूर्व ज़ारशाही सेना का कर्नल सेर्गेई कामेनेव, जिसे १९१८ में पूर्वी मोर्चे के कमांडर के पद पर और १९१९ में जनतंत्र की सशस्त्र सेनाओं के प्रमुख सेनाध्यक्ष के पद पर नियुक्त किया गया था, और युवा अफ़सर मिखाईल तुखाचेव्स्की, जिसे १९१८ में एक सेना की और १९२० में पूरे के पूरे पश्चिमी मोर्चे की कमान सौंपी गयी थी।

किन्तु ऐसे पुराने अफ़सरों की भी कमी नहीं थी, जो लाल सेना से विश्वासघात करके दुश्मन से जा मिलते थे। अतः कमांडरों के काम पर नज़र रखना आवश्यक था। यह काम कमिसार करते थे, जो मज़दूर वर्ग के सर्वोत्तम प्रतिनिधि, युद्ध की आग में तपे हुए कम्युनिस्ट और निष्कलंक क्रांतिकारी होते थे। कमिसार लाल सेना की आत्मा और उसे एकताबद्ध बनाये रखने-वाली शक्ति थे। कम्युनिस्ट, लेखक और चपायेव की प्रसिद्ध पचीसवीं डिविजन के कमिसार द्मीत्री फ़ूर्मानोव ने सैनिक कमिसारों के बारे में लिखा था कि वे "आम सैनिकों जैसी ही वरदी पहनते थे, उनके जैसा ही राशन पाते थे, उनकी जैसी ही कठिनाइयां भुगतते थे और लड़ाई में जब गोलियां झेलने का वक़्त आता था, तो अपना सीना सबसे आगे कर देते थे।"

चंडावल में जीवन का मूलमंत्र कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा दिया गया यह नारा था: "सब कुछ मोर्चे के लिए, सब कुछ विजय के लिए!" उद्योगों का पुनर्गठन करके एक बार फिर उनमें हथियारों, गोले-बारूदों और वरदियों के उत्पादन पर ज़ोर दिया जाने लगा। कच्चे माल, ईंधन और रसद की भारी क़िल्लत के बावजूद औद्योगिक उत्पादन सेना की ज़रूरतें पूरा करने के लिए सामान्यतया काफ़ी था। इसका श्रेय मज़दूरों के सर्वव्यापी अनुपम शौर्य व त्याग को जाता है, जिसकी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति सुब्बोत्निकों (स्वैच्छिक शनिवासरीय कम्युनिस्ट श्रमदान) में देखी जा सकती थी। सुब्बोत्निक आन्दोलन की शुरुआत मास्को के रेल मज़दूरों ने १९१९ के वसंत में की थी और शीघ्र ही वह सारे देश में फैल गया।

सोवियत राज्य ने युद्ध में विजय पाने को ही अपनी सारी नीति का एकमात्र लक्ष्य बना दिया। बूर्जुआज़ी की आर्थिक शक्ति को क्षीण करने और सभी उपलब्ध साधन मोर्चे की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एकत्र करने



मास्को के काज़ान रेलवे स्टेशन पर सुब्बोत्निक (१० मई, १६१६)

के उद्देश्य से राज्य ने बड़े ही नहीं, वरन मंझोले और यहां तक कि छोटे उद्योगों को भी अपने हाथ में ले लिया, और बूर्जुआज़ी पर एकमुश्त १०,००,००,००,००० रूवल का आपत्कालीन क्रांतिकारी कर लगाया। बूर्जुआज़ी के सभी बड़े मकान और कोठियां ज़ब्त कर ली गयीं और उनमें ग़रीब मज़दूर परिवारों को बसाया गया। बूर्जुआ वर्ग के सभी लोगों को मेहनत करने को बाध्य किया गया।

उद्योग तथा परिवहन को श्रमशक्ति अधिकाधिक मुहैया करने के वास्ते श्रम सबके लिए अनिवार्य बना दिया गया। उद्योगों का प्रबंध पूर्णतः केन्द्रीकृत किया गया। कोई भी उद्यम अब स्वतंत्र रूप से काम नहीं कर सकता था और उसे अपना सारा उत्पाद राज्य को सौंप देना होता था।

गृहयुद्ध के वर्षों में सोवियत सरकार किसानों से ख़रीदकर या एवज़ में औद्योगिक माल देकर अनाज के पर्याप्त भंडार नहीं बना सकती थी, क्योंकि मुद्रा का अवमूल्यन हो गया था और औद्योगिक माल भी कम ही तैयार किये जाते थे। फलस्वरूप सेना और शहरी आबादी को खाद्यान्न मुहैया करने के लिए सोवियत सरकार असाधारण क़दम उठाने को बाध्य हुई।

जनवरी, १९१९ में उसने फ़ाज़िल अनाज की हुक्मी वसूली की प्रणाली लागू की, जिसके अनुसार किसानों को अपना सारा फ़ाज़िल उत्पादन राज्य को दे देना होता था। इस तरह वसूले गये अनाज की लगभग आधी क़ीमत औद्योगिक मालों के रूप में और शेष काग़ज़ी मुद्रा में अदा की जाती थी, जिसकी क्रयशक्ति कम थी। वास्तव में अनाज का कुछ हिस्सा राज्य उधार के रूप में लेता था। हुक्मी वसूली बेशक एक कठोर क़दम था, पर उसके बिना काम भी नहीं चल सकता था। मेहनतकश किसानों ने उसका समर्थन किया, क्योंकि वे जानते थे कि रसद के बिना लाल सेना सोवियत सत्ता की रक्षा नहीं कर सकती थी।

मुख्य-मुख्य औद्योगिक मालों और खाद्य वस्तुओं के व्यापार पर प्रतिबंध लगा दिया गया और राज्य उनका वितरण सहकारी संस्थाओं के ज़रिये करने लगा। मज़दूरों और बच्चों की ज़रूरतों का सबसे अधिक ध्यान रखा जाता था। चूंकि मुद्रा काफ़ी अवमूल्यित हो गयी थी, अतः मेहनताना जिंस रूप में दिया जाता था। सभी काम करनेवालों को राशन और औद्योगिक माल बराबर-बराबर और जितना जीवन-निर्वाह के लिए अत्यावश्यक है, उतना दिया जाता था।

सोवियत सरकार प्रतिक्रांतिकारियों के आतंक और अनगिनत विध्वंसात्मक षड्यंत्रों का जवाब "लाल आतंक" से देने को बाध्य हुई। अखिल रूसी असाधारण आयोग ने, जिसका अध्यक्ष निष्कलंक व अटल क्रांतिकारी फ़ेलिक्स द्ज़ेरजीन्स्की था, क्रांति के शत्रुओं पर प्रचंड प्रहार किये। उसने विदेशी राजनयज्ञों द्वारा कैडेटों, समाजवादी-क्रांतिकारियों और मेंशेविकों के साथ मिलकर आयोजित कई बड़ी सोवियतविरोधी साज़िशों का पर्दाफ़ाश किया। जनसाधारण से प्राप्त हार्दिक समर्थन व सहयोग ही अखिल रूसी असाधारण आयोग की शक्ति का मुख्य स्रोत था।

.लाल आतंक एक प्रतिरक्षात्मक कार्रवाई थी। १९२० के आरंभ में जब विदेशी हस्तक्षेपकारियों और सफ़ेद गार्डों की अधिकांश सेनाओं को पराजित कर दिया गया, तो केंद्रीय कार्यकारिणी समिति के आदेश पर रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी जनतंत्र (रूसी संघ) में मृत्युदंड देना बंद हो गया।

विदेशी आक्रामक और सफ़ेद गार्ड सेनाओं की पराजय

मज़दूरों और मेहनतकश किसानों के असीम समर्थन से विशाल लाल सेना का निर्माण, चंडावल का सैन्यीकरण और देश की अर्थव्यवस्था व आर्थिक



पेत्रोग्राद रेल मज़दूरों के कम्युनिस्ट दस्ते की पूर्वी मोर्चे पर रवानगी से पहले (१९१८)

नीति को युद्ध की आवश्यकताओं के अनुकूल ढालकर सोवियत सरकार ने विदेशी आक्रमणकारियों और सफ़ेद गार्ड सेनाओं की पूर्ण पराजय को सुनिश्चित कर दिया था।

१९१८ के ग्रीष्म और शरद में जनतंत्र को सबसे बड़ा ख़तरा पूर्व से उत्पन्न हुआ, जहां चेकोस्लोवाक कोर के सैनिकों और सफ़ेद गार्डों ने देश के अत्यंत महत्त्वपूर्ण नगरों के लिए ख़तरा पैदा कर दिया था। संकटग्रस्त नगरों में मास्को भी था, जो मार्च, १९१८ में सोवियत जनतंत्र की राजधानी बन गया था। अधिकांश लाल सेना को और पार्टी लामबंदी की आम योजना के अनुसार बड़ी संख्या में कम्युनिस्टों को पूर्वी मोर्चे पर भेजा गया। सितंबर-अक्तूबर में लाल सेना ने काज़ान, सिंबीर्स्क (वर्तमान उल्यानोव्स्क) और समारा (वर्तमान कूइबिशेव) के पास लड़ाइयों में दुश्मन को करारी मात दी और इन नगरों पर क़ब्ज़ा करके दुश्मन की फ़ौजों को उराल की ओर खदेड़ दिया।

इसके साथ ही वोल्गा पर स्थित त्सारीत्सिन (वर्तमान वोल्गोग्राद) की भी शौर्यपूर्वक रक्षा की गयी। अगस्त और अक्तूबर में, दो बार जनरल



पहली घुड़सवार सेना के सैनिकों की मीटिंग

क्रास्नोव के कज़्ज़ाक गिरोहों ने उसे घेर लिया था। किन्तु त्सारीत्सिन के रक्षक बड़े उत्साह और वीरता के साथ लड़े। "मर जायेंगे, पर नगर नहीं छोड़ेंगे!" – यह उनका नारा था। लाल सेना के साथ कंधे से कंधा मिलाकर नगर के १० हज़ार मज़दूर भी लड़ रहे थे। प्रतिरक्षात्मक लड़ाइयों में शत्रु को पस्तहिम्मत करके सोवियत सेनाओं ने अक्तूबर, १९१८ में निर्णायक प्रत्याक्रमण शुरू कर दिया और शत्रु सेना को दोन के पार खदेड़ दिया। १९१९ के आरंभ में जनरल क्रास्नोव की कज़्ज़ाक फ़ौज का पूरी तरह सफ़ाया कर दिया गया।

वसंत, १९१८ में उक्रइना, बेलोरूस और बाल्टिक क्षेत्र में जर्मन क़ब्ज़ावरों के खिलाफ़ जनयुद्ध शुरू हुआ। जर्मनी की क्रांति के बाद नवंबर, १९१८ में सोवियत सरकार ने ब्रेस्त शांति संधि को रद्द कर दिया और जर्मन साम्राज्यवादियों द्वारा अधिकृत इलाक़ों की जनता की सहायता करने लगी। संयुक्त प्रयासों द्वारा उन्हें खदेड़ दिया गया। उक्रइना, बेलोरूस, एस्तोनिया, लाटविया और लिथुआनिया ने अपने को स्वतंत्र सोवियत जनतंत्र उद्घोषित किया। रूसी संघ की सरकार ने उन्हें तुरंत मान्यता दे दी। किंतु १९१९ के पूर्वार्ध में विदेशी अतिक्रमणकारी और आन्तरिक प्रतिक्रांतिकारी एस्तोनिया,

लाटविया और लिथुआनिया में सोवियत सत्ता का उन्मूलन करके वहां बूर्जुआ तानाशाहियां स्थापित करने में सफल हो गये।

वसंत, १९१९ में सोवियत देश एक साथ छह दिशाओं से शत्रु के हमलों का निशाना बना। पूर्व में हमला करनेवाली मुख्य शक्ति भूतपूर्व ज़ारशाही नौसेना के एडमिरल कोल्चाक की सेना थी, जो आगे बढ़ते हुए वोल्गा के पास तक आ पहुंची थी। दक्षिण से जनरल देनीकिन की सेना का हमला हो रहा था। पेत्रोग्राद पर युदेनिच की फ़ौजें चढ़ी आ रही थीं। पश्चिम से पोलैंड की सेनाएं और उत्तर से अतिक्रमणकारी तथा जनरल मिल्लर की सफ़ेद गार्ड सेनाएं घुस आयी थीं। तुर्किस्तान और पार-काकेशिया में भी विदेशी हमलावर और सफ़ेद गार्ड सक्रिय थे। ऐसी स्थिति में कम्युनिस्ट पार्टी इस नतीजे पर पहुंची कि सबसे पहले कोल्चाक की सेना को रोकने पर ही सारा ध्यान व शक्ति केन्द्रित की जाये। फलस्वरूप बहुत कम समय में ही उसे पूरी तरह कुचल डालने के लिए सभी आवश्यक जन व भौतिक साधन जुटा लिये गये।

वसंतकालीन बाढ़ और कीचड़ के बावजूद २८ अप्रैल, १९१९ को फ्रूंज़े की कमान में पूर्वी मोर्चे की सेनाओं के दक्षिणी दल ने शत्रु पर अप्रत्याशित प्रहार किया और उसे जान-माल की अपार क्षति पहुंचायी। कोल्चाक की फ़ौजों को बेलाया नदी के पार खदेड़ दिया गया। फिर प्रत्याक्रमण में पूर्वी मोर्चे की शेष सेनाएं भी शामिल हो गयीं। जुलाई में कोल्चाक का उराल से सफ़ाया करके उसे साइबेरिया में शरण लेने को मजबूर किया गया। उराली कारख़ानों के मज़दूरों ने लाल सेना की बड़ी सहायता की। उन्होंने शत्रु के संचार साधनों को विनष्ट किया, उसकी अलग-अलग टुकड़ियों पर धावे बोले और नगरों तथा गांवों को शत्रु से मुक्त करने में योग दिया।

अगस्त में सोवियत सैनिकों ने कोल्चाक को साइबेरिया से खदेड़ने का अभियान शुरू किया। इस बीच कम्युनिस्टों के नेतृत्व में छापामार दस्ते कोल्चाक की फ़ौजों की नाकों में दम किये हुए थे। साइबेरिया और सुदूर पूर्व के छापामार दस्तों में कोई डेढ़ लाख मज़दूर और किसान सक्रिय थे। उनकी शौर्यपूर्ण कार्रवाइयों ने साइबेरिया को मुक्त करने में सोवियत सेना की मदद की। ६ जनवरी, १९२० को क्रास्नोयार्स्क के पास कोल्चाक की अधिकांश सेना ने आत्मसमर्पण कर दिया। कोल्चाक को गिरफ़्तार कर लिया गया और इर्कूत्स्क की क्रांतिकारी समिति के निर्णयानुसार मृत्युदण्ड दे दिया गया।

१९१९ के ग्रीष्म में सोवियत सेना के हाथों कोल्चाक की भारी पराजय के बाद ही साम्राज्यवादी शक्तियां सोवियत जनतंत्र के विरुद्ध नये संयुक्त अभियान की तैयारी करने लग गयी थीं। उनकी योजना के अनुसार मुख्य प्रहार दक्षिण से देनीकिन की फ़ौजों ने किया। देनीकिन शरद, १९१९ तक

उक्रइना, कूर्स्क, ओर्योल और वोरोनेज पर क़ब्ज़ा करके तूला के निकट तक पहुंचने में सफल हो गया। मास्को पर एक बार फिर खतरे के बादल मंडराने लगे।

कम्युनिस्ट पार्टी ने अब हर संभव तरीक़े से देनीकिन को रोकने का नया नारा दिया। पार्टी ने कोई २५ हजार कम्युनिस्टों को, युवा कम्युनिस्ट लीग ने अपने २१ हज़ार सदस्यों को और ट्रेड यूनियनों ने ३५ हज़ार मज़दूरों को दक्षिणी मोर्चे पर भेजा। अक्तूबर, १९१९ में दक्षिणी मोर्चे की सेनाओं ने प्रत्याक्रमण शुरू कर दिया। ओर्योल और वोरोनेज के पास घमासान लड़ाइयां हुईं, जिनमें लाल सेना ने देनीकिन की सर्वोत्कृष्ट डिविजनों का बुरी तरह सफ़ाया किया। २० अक्तूबर को ओर्योल और २४ अक्तूबर को वोरोनेज पर लाल सेना का अधिकार हो गया। देनीकिन की सारी सेना के पांव उखड़ गये और वह पीछे हटने लगी। बुद्योन्नी की अश्वारोही सेना ने उसका पीछा करना जारी रखा। मार्च, १९२० तक देनीकिन की भी कमर तोड़ दी गयी। उसके बचे-खुचे दस्ते क्रीमिया में जा छिपे और देनीकिन बैरन व्रांगेल को कमान सौंपकर विदेश भाग गया।

१९१९ के अंत तक जनरल युदेनिच की सेनाओं का भी पूर्ण सफ़ाया कर दिया गया, जो उसी साल वसंत और शरद में पेत्रोग्राद के निकट तक पहुंच आयी थीं। पेत्रोग्राद की प्रतिरक्षा गृहयुद्ध का एक गौरवमय पृष्ठ है। लाल सेना के साथ-साथ मज़दूरों और मज़दूरिनों, सभी कम्युनिस्टों और कोम्सोमोल सदस्यों ने, यानी जो भी हथियार उठाने में समर्थ थे, सबने अपने नगर की रक्षा की थी। सैन्य सामग्री कारखानों के मज़दूर एक क्षण भी दम लिये बिना दिन-रात बंदूकों, तोपों और गोले-बारूदों का उत्पादन करते रहे। इतना प्रबल चंडावल होने से लाल सेना न केवल पेत्रोग्राद की रक्षा कर सकी, बल्कि युदेनिच की फ़ौजों को पूरी तरह धूल भी चटा सकी। उनके जो बचे-खुचे सैनिक रह गये, उन्हें देश की सीमाओं से बाहर खदेड़ दिया गया।

लाल सेना के प्रहारों से और भूमिगत बोल्शेविक संगठन विदेशी सैनिकों के बीच जो क्रांतिकारी प्रचार करते थे, उसके प्रभाव से शीघ्र ही हस्तक्षेप-कारियों की सेनाओं का भी हौसला पस्त होने लग गया। सिपाही रूस के मज़दूरों और किसानों के विरुद्ध लड़ने से इन्कार करने लगे। काला सागर में स्थित फ़्रांसीसी बेड़े के नौसैनिकों ने विद्रोह कर दिया और रूसी क्रांति के समर्थन में लाल झंडा फहराया। वसंत, १९१९ तक सभी आक्रमणकारियों को रूस के दक्षिणी भागों से खदेड़ दिया गया। ग्रीष्म, १९१९ में वे मध्य एशिया और पार-काकेशिया और शरद, १९१९ में उत्तरी रूस छोड़ने को भी मजबूर हो गये। १९२० के आरंभ में संयुक्त राज्य अमरीका ने भी सुदूर

पूर्व से अपनी सेनाओं को हटा लिया। "ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सेनाओं को हमारे देश की धरती छोड़ने को बाध्य करके हमने जो विजय पायी थी," व्ला० इ० लेनिन ने दिसंबर, १९१९ में कहा था, "वह मित्रराष्ट्रों पर हमारी सबसे बड़ी विजय थी। हमने उन्हें उनके सैनिकों से वंचित कर दिया। हमने मित्रराष्ट्रों की अपार सैनिक और तकनीकी श्रेष्ठता का जवाब साम्राज्य-वादी सरकारों के ख़िलाफ़ मेहनतकश जन की एकता के ज़रिये उन्हें इस श्रेष्ठता से वंचित करके दिया।"

इस प्रकार १९२० के आरंभ तक लाल सेना ने गृहयुद्ध में निर्णायक विजय प्राप्त कर ली थी। आंतरिक प्रतिक्रांतिकारी शक्तियों – कोल्चाक, देनीकिन और युदेनिच की सफ़ेद गार्ड सेनाओं – को कुचल डाला गया था और विदेशी अतिक्रमणकारियों की अधिकांश सेनाओं को निकाल बाहर कर दिया गया था। किंतु साम्राज्यवादियों ने तब भी हथियार नहीं डाले और रूस की जनता के विरुद्ध अपने आपराधिक युद्ध को जारी रखा। १९२० के वसंत में बूर्जुआज़ी और ज़मींदारों द्वारा शासित पोलैंड ने बड़े साम्राज्यवादी देशों के उकसावे में आकर सोवियत संघ के विरुद्ध बड़े पैमाने पर युद्ध छेड़ दिया। मई के आरंभ तक कीयेव पर पोल सेनाओं का अधिकार हो गया। जून, १९२० में क्रीमिया से व्रांगेल की फ़ौजें उत्तर की तरफ़ बढ़ने लगीं। पोलैंड और व्रांगेल, ये दो हाथ थे, जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद ने एक बार फिर सोवियत सत्ता का गला घोंटने की कोशिश की।

कई घमासान लड़ाइयों के बाद लाल सेना ने पोल सेनाओं को पूरी तरह हरा दिया और पश्चिम की ओर खदेड़ दिया। हालांकि सोवियत क्षेत्र के एक हिस्से – पश्चिमी उक्रइना और पश्चिमी बेलोरूस – पर पोलैंड का फिर भी अधिकार बना रहा, यह क्षेत्र उस क्षेत्र से कहीं कम था, जो सोवियत सरकार युद्ध को टालने के लिए पोलैंड को देने को तैयार थी।

शरद, १९२० में सोवियत सेना ने व्रांगेल की फ़ौजों को भी कुचल डाला। क्रीमिया के पहुंच-मार्गों पर व्रांगेल ने जो किलेबंदियां की हुई थीं, उनपर चढ़ाई के समय सोवियत सैनिकों द्वारा दिखाया गया शौर्य अप्रतिम था। व्रांगेल के ख़िलाफ़ लड़नेवाली दक्षिणी मोर्चे की सेनाओं के कमांडर मिखाईल फ़्रूंज़े ने व्ला० इ० लेनिन को अपने एक तार में लिखा था, "हमारे वीर पैदल सैनिकों ने सिवाश* और पेरेकोप पर धावा बोलते समय जिस उच्च पराक्रम का प्रदर्शन किया, मैं उसका साक्षी हूं। जानलेवा गोलाबारी के बावजूद उन्होंने तंग रास्तों से आगे बढ़कर दुश्मन द्वारा खड़ी की गयी कंटीले तारों की बाधाओं को पार किया। हमें बहुत ही भारी क्षति उठानी

---

* पेरेकोप स्थलसंयोजी के पूर्व में स्थित समुद्रताल। – सं०

पड़ी है। कुछ डिविजनें तो केवल एक-चौथाई बाक़ी रही हैं। इस आपरेशन में कुल मिलाकर कम से कम १०,००० आदमी हताहत हुए हैं। हमारी सेनाओं ने जनतंत्र के समक्ष अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया है। रूसी प्रतिक्रांति का अंतिम दुर्ग ढह गया है और क्रीमिया में फिर सोवियत सत्ता क़ायम हो गयी है।"

१९२० में मध्य एशिया में भी गृहयुद्ध खत्म हो गया। तुर्किस्तान को विदेशी आक्रामकों और सफ़ेद गार्डों से पूरी तरह मुक्त करा लिया गया। लाल सेना की मदद से ख़ीवा के मेहनतकशों ने स्थानीय ख़ान की सत्ता को और बुख़ारा के श्रमिकों ने अपने अमीर के शासन को उलट डाला। जन प्रतिनिधियों के सम्मेलनों के निर्णयानुसार ख़ीवा और बुख़ारा सोवियत लोक जनतंत्र बन गये, हालांकि सशस्त्र बासमचियों* के गिरोह, जिन्हें अंग्रेज़ों का समर्थन प्राप्त था, इसके बाद भी बहुत सालों तक तुर्किस्तान, ख़ीवा और बुख़ारा की मेहनतकश जनता को आतंकित और त्रस्त करते रहे।

आज़रबैजान (अप्रैल, १९२०), आरमीनिया (नवंबर, १९२०) और जार्जिया (फ़रवरी, १९२१) में भी मज़दूरों और किसानों ने जन-विरोधी बूर्जुआ राष्ट्रवादी तानाशाहियों का तख़्ता उलटकर सोवियत सत्ता की स्थापना की घोषणा कर दी। तीन नये सोवियत समाजवादी जनतंत्र पैदा हुए: आज़रबैजानी, आरमीनियाई और जार्जियाई। उनकी क्रांतिकारी सरकारों के अनुरोध पर वहां लाल सेना के दस्ते भेजे गये, जिन्होंने बचे-खुचे प्रतिक्रिया-वादी और प्रतिक्रांतिकारी तत्त्वों को कुचलने में मदद की।

केवल सुदूर पूर्व में ही जापानी अतिक्रमणकारी १९२२ के अंत तक टिके रह सके। किंतु स्पास्स्क और वोलोचायेव्का के पास हुई निर्णायक लड़ाइयों में जापानी सेना और उसके द्वारा समर्थित सफ़ेद गार्ड दस्तों को ज़बर्दस्त मुंह की खानी पड़ी। २५ अक्तूबर, १९२२ को क्रांतिकारी सैनिकों ने व्लादीवोस्तोक में प्रवेश किया और जापानी आक्रामकों को घर की राह पकड़नी पड़ी।

विदेशी आक्रामकों और प्रतिक्रांतिकारी सेनाओं के साथ तीन वर्ष तक चले युद्ध में सोवियत जनतंत्र द्वारा प्राप्त ऐतिहासिक विजय ने दिखाया कि जनता अगर मुक्ति, स्वतंत्रता पा जाये, तो वह क्या-क्या कर सकती है। यह विजय इसलिए पायी जा सकी कि मज़दूर और किसान अपनी ही सोवियत

---

* उज़्बेकी शब्द "बासमची" का अर्थ डाकू है। बासमची आंदोलन एक प्रतिक्रांतिकारी राष्ट्रवादी आंदोलन था, जो मध्य एशिया में १९१८ से १९२४ तक चला। इसके नेता बाय और मुल्ला-मौलवी हुआ करते थे। बासमची खुले आम राजनीतिक आतंक के ज़रिये मध्य एशिया जनतंत्रों को सोवियत रूस से अलग करके वहां शोषक वर्गों की सत्ता पुनर्स्थापित करना चाहते थे। –सं०

सत्ता की रक्षा, स्वतंत्र और स्वाधीन अस्तित्व के अपने अधिकार की रक्षा कर रहे थे। वे विजयी इसलिए हुए कि एक सुदृढ़, अटूट संघ के रूप में ऐक्यवद्ध हो गये थे और उनके संघर्ष का निदेशन व्ला० इ० लेनिन के नेतृत्व में कम्युनिस्टों की पार्टी कर रही थी।

शांति का ध्वजवाहक सोवियत देश

अनिच्छापूर्वक मान्यता

अव जव सोवियत रूस को शांतिमय निर्माण का अवसर मिल गया, तो बूर्जुआ विश्व के देशों की सरकारों के सामने प्रश्न उठे: क्रांतिकारी रूस के साथ उनके संवंध कैसे हों? क्या उसके साथ व्यापार पुनः शुरू कर दिया जाये? क्या उन्हें अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में उसके प्रतिनिधियों से मिलना चाहिये या उसकी नाकावंदी जारी रखकर उसकी सरकार की पहले की तरह ही अवहेलना की जाये?

सोवियत सरकार अपनी स्थापना के समय से ही स्पष्ट शब्दों में घोषित करती आ रही थी कि वह सभी देशों के साथ शांति और सामान्य राजनीतिक व आर्थिक संवंध चाहती है। वैदेशिक मामलों का जन कमिसार ग० व० चिचेरिन कहा करता था, "अन्य सरकारों के साथ, चाहे वे कैसी भी क्यों न हों, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व हमारा नारा था और अव भी है।" अगस्त, १६१८ से मई, १६१६ के वीच ही सोवियत सरकार ने शांति के वारे में अधिकृत रूप से १० वार प्रस्ताव रखे। उनका कोई उत्तर न मिला। किंतु जव सोवियत जनतंत्र के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष में पराजय के अलावा और कुछ हाथ न लगा, तो बूर्जुआ देशों के प्रमुख राजनेताओं को अपनी मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन करना पड़ा।

नयी प्रवृत्ति सबसे पहले और सवसे अधिक ग्रेट ब्रिटेन में प्रकट हुई, जिसका प्रधानमंत्री उन दिनों लॉयड जॉर्ज था। व्ला० इ० लेनिन ने उसे बूर्जुआ विश्व का एक सबसे चतुर राजनीतिज्ञ कहा था। जहां तक सोवियत रूस के साथ किसी भी प्रकार के समझौते के घोर विरोधियों का सवाल था, तो ये थे: विंस्टन चर्चिल, जिसे रूस से सबसे अधिक नफ़रत थी, लॉर्ड कर्ज़न, जो ब्रिटिश उपनिवेशवाद का एक स्तंभ था, संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति हार्डिंग और फ़्रांसीसी प्रधानमंत्री प्वेंकारे। ये चारों रूस में पुनः हस्तक्षेप करने के पक्ष में थे। वेशक लॉयड जॉर्ज भी सोवियत रूस का

समर्थक न था और उसे आशा थी कि आर्थिक साधनों से रूस का विघटन करवाया जा सकता है।

१६२० के अंत में लंदन में सोवियत-आंग्ल वार्ताएं शुरू हुईं, जिनमें सोवियत पक्ष का प्रतिनिधित्व ल० व० क्रासिन ने किया। वह सोवियत सरकार में कई महत्त्वपूर्ण पदों पर काम कर चुका था। व्ला० इ० लेनिन ने क्रासिन को असामान्य प्रतिभा का धनी कहा था।

लंदन वार्ताओं के दौरान वातावरण वहुत ही तनावपूर्ण वना रहा, क्योंकि प्रतिक्रियावादी तत्त्व उन्हें असफल बनवाने के लिए कोई कसर बाक़ी नहीं छोड़ रहे थे।

१६ मार्च, १६२१ को एक आंग्ल-सोवियत व्यापार समझौते पर हस्ताक्षर के साथ वार्ताएं ख़त्म हो गयीं। यह सोवियत राजनय की बड़ी भारी विजय थी। फिर ऐसा ही समझौता इटली के साथ भी किया गया। सभी देशों के साथ शांतिपूर्ण संबंध क़ायम करने के अपने प्रयासों में सोवियत सरकार ने जिस दृढ़ता व संयम का परिचय दिया था, उसके काफ़ी ठोस परिणाम निकले।

वैदेशिक संबंधों के क्षेत्र में सोवियत रूस की इन आरंभिक सफलताओं ने दिखाया कि बोल्शेविक अपने देश की प्रतिरक्षा के कुशल संगठनकर्त्ता ही नहीं, कुशल राजनीतिज्ञ और राजनयज्ञ भी थे। सारा विश्व और उसकी आवादी के विभिन्न हल्क़े मज़दूरों और किसानों के राज्य में अधिकाधिक मैत्रीपूर्ण रुचि दिखाने लग गये थे।

जेनोआ सम्मेलन

वसंत, १६२२ में पूंजीवादी विश्व के समाचारपत्रों और पत्रिकाओं के पन्नों पर इतालवी नगर जेनोआ का नाम प्रायः प्रकट होने लगा। यहां शीघ्र ही एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होनेवाला था, जिसमें सोवियत रूस को भी भाग लेना था। जेनोआ में बूर्जुआ देशों के प्रमुख राजनीतिज्ञों, मंत्रियों, वड़े पूंजीपतियों, राजनयज्ञों और पत्रकारों का जमघट लग गया। सम्मेलन में अपने को शांति-संवंधी इधर-उधर की वातचीतों और आम बूर्जुआ लफ़्फ़ाज़ी तक सीमित रखने के अलावा उनका इरादा सोवियत रूस पर शांति की वहुत ही कठिन शर्तें थोपना और उसे ज़ारशाही तथा अस्थायी सरकारों द्वारा लिये गये ऋण लौटाने के लिए वाध्य करना भी था। बूर्जुआ थैलीशाह यह भी चाहते थे कि बोल्शेविक इन ऋणों की अदायगी पर नज़र रखने के लिए सैकड़ों विदेशी विशेषज्ञों को अपने देश में आने की अनुमति दें। फ़्रांसीसी और

अंग्रेज़ पूंजीपति इन "विशेषज्ञों" और "सलाहकारों" को सोवियत आर्थिक और वित्तीय विभागों में नेतृत्वकारी पदों पर नियुक्त हुआ देखना चाहते थे। किंतु इन सभी योजनाओं को मात्र हवाई किले ही सिद्ध होना था।

१० अप्रैल, १९२२ को जेनोआ के सान-ज्योर्जियो प्रासाद के लोगों से खचाखच भरे हॉल में सम्मेलन शुरू हुआ। सोवियत प्रतिनिधिमंडल एक निश्चित कार्यक्रम लेकर जेनोआ आया था, जिसे व्ला० इ० लेनिन के प्रत्यक्ष निदेशन में कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति ने तैयार किया था। उसमें सर्वोपरि महत्त्व सोवियत संघ और पूंजीवादी विश्व के बीच आर्थिक और वाणिज्यिक संबंधों की स्थापना को दिया गया था। सोवियत कार्यक्रम शांति और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का कार्यक्रम था।

सोवियत सरकार और सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के निर्णयानुसार प्रतिनिधिमंडल का प्रमुख व्ला० इ० लेनिन को बनना था। किन्तु अशांत अंतर्राष्ट्रीय वातावरण और यूरोपीय देशों में अनगिनत रूसी प्रतिक्रांतिकारियों की उपस्थिति को देखते हुए उनकी विदेश यात्रा खतरे से खाली न थी। अतः प्रतिनिधिमंडल के उपप्रमुख, वैदेशिक मामलों के जन कमिसार ग० व० चिचेरिन को ही प्रमुख के सभी अधिकार दे दिये गये। चिचेरिन, जिसने १९१८ से १९३० तक सोवियत राजनयिक सेवा का नेतृत्व किया, बहुत ही सुसंस्कृत व्यक्ति, अंतर्राष्ट्रीय विधि का प्रकांड पंडित और पार्टी का आस्थावान तथा सिद्धांतनिष्ठ कार्यकर्त्ता था। व्ला० इ० लेनिन ने सोवियत राजनय के संचालन में उसके योगदान का बहुत ऊंचा मूल्यांकन किया है।

सम्मेलन में भाग लेने के लिए चिचेरिन के साथ व० व० वोरोव्स्की, ल० व० क्रासिन, म० म० लित्वीनोव और या० ए० रुद्जुताक गये थे। जेनोआ में एकत्र अधिकांश लोगों का ध्यान सोवियत प्रतिनिधिमंडल पर ही केन्द्रित रहा। रूस से आये ये रहस्यपूर्ण बोल्शेविक कैसे लोग हैं, जिनके बारे में पूंजीवादी दुनिया में इतनी अविश्वसनीय बातें कही जा रही हैं? क्या ये बूर्जुआ विश्व के खुर्राट राजनीतिज्ञों के सामने टिक पायेंगे? ये थे वे कुछ सवाल, जिनमें सम्मेलन में भाग लेनेवालों और पत्रकारों, सबकी रुचि थी।

१० अप्रैल को सारे सम्मेलन हॉल में उत्कट उत्सुकता का वातावरण छाया था। समाजवादी देश का प्रतिनिधिमंडल इतिहास में पहली बार किसी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में जो वक्तव्य देने जा रहा था, सैकड़ों पत्रकार उसे लिख लेने को तैयार बैठे थे। छोटी दाढ़ी और सजीव व तेज़ निगाहोंवाला एक मंझोले क़द का आदमी भाषण-मंच पर आया। यह ग० व० चिचेरिन था। वह रूसी में बोला और स्वयं ही अपने भाषण का साथ-साथ फ़्रांसीसी में अनुवाद भी करता गया। चिचेरिन ने रूसी प्रतिनिधिमंडल का वक्तव्य

उद्घोषित किया, जिसमें समाजवादी देश और पूंजीवादी राष्ट्रों के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया था। "कम्युनिज़्म के सिद्धांतों पर अटल रहते हुए भी रूसी प्रतिनिधिमंडल की मान्यता है," वक्तव्य में कहा गया था, "कि वर्तमान ऐतिहासिक दौर में, जो पुरानी व्यवस्था और जायमान नयी, समाजवादी व्यवस्था के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व संभव बनाता है, विश्वव्यापी आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए स्वामित्व की इन दो प्रणालियों के देशों का परस्पर आर्थिक सहयोग नितांत आवश्यक है।"

वक्तव्य ने शस्त्रास्त्रों में सार्विक कमी और सैन्यवाद का बोझ हल्का करने के सभी उपायों के समर्थन के प्रश्न पर व्यावहारिक रवैया अपनाने की अपील की और कहा कि इन उपायों में सभी राज्यों की सेनाओं में कटौती और विषैली गैसों, हवाई बमबारी और नागरिक आबादी के संहार के साधनों के उपयोग जैसे युद्ध के सर्वाधिक बर्बर तरीक़ों पर पाबंदी भी अवश्य शामिल होनी चाहिए। यह शांति तथा निरस्त्रीकरण का कार्यक्रम था। उसने सभी देशों के मेहनतकशों को दिखा दिया कि सोवियत रूस शांति तथा सार्विक प्रगति के लिए और आक्रमण तथा हथियारों की होड़ की नीति के विरुद्ध संघर्ष करने को कृतसंकल्प है।

सोवियत वक्तव्य ने पूंजीवादी देशों के प्रतिनिधियों में बेहद झल्लाहट और घबराहट ही पैदा की। दिन-रात उनके बीच मंत्रणाएं चलती रहीं। बूर्जुआ राजनयज्ञ अपनी शानदार कारों में कभी यहां, तो कभी वहां के चक्कर काटते रहे। वे रूसी प्रश्न का "संतोषजनक समाधान" ढूंढने और सोवियत प्रतिनिधिमंडल के ख़िलाफ़ संयुक्त कार्रवाइयों के बारे में समझौते पर पहुंचने की कोशिशों में व्यस्त थे।

पश्चिमी राजनयज्ञों ने सोवियत जनतंत्र के प्रस्तावों को ठुकरा दिया। "रूसी प्रतिनिधिमंडल ज्यों ही यह सवाल (निरस्त्रीकरण का सवाल – सं०) उठायेगा," फ़्रांसीसी विदेशमंत्री ने कहा, "उसे फ़्रांसीसी प्रतिनिधिमंडल की चुप्पी या विरोध का ही नहीं, उसके स्पष्ट, दो टूक, अंतिम और दृढ़ इन्कार का भी सामना करना पड़ेगा।" इतालवी प्रधानमंत्री ने इसका समर्थन किया और ब्रिटिश प्रधान मंत्री लॉयड जॉर्ज की प्रतिक्रिया भी लगभग वैसी ही रही।

इस तरह विश्व जनमत के सामने दो दृष्टिकोण पूर्ण स्पष्टता के साथ प्रकट हो गये। सोवियत रूस शांतिपूर्ण सहअस्तित्व तथा निरस्त्रीकरण के पक्ष में था और पूंजीवादी देश सोवियत रूस में बूर्जुआ शासन की पुनर्स्थापना के पक्ष में व निरस्त्रीकरण के विपक्ष में थे। किंतु सोवियत रूस पर दासतामूलक आर्थिक शर्तें थोपने की बूर्जुआ राजनीतिज्ञों की योजनाएं बुरी तरह विफल रहीं। सोवियत प्रतिनिधिमंडल साम्राज्यवादियों की धमकियों में नहीं आया और इससे, उल्टे, सोवियतविरोधी शक्तियों के शिविर में फूट ही पड़ गयी।

१९१४-१९१८ के महायुद्ध के बाद से जेनोआ सम्मेलन पहला अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन था, जिसमें जर्मन प्रतिनिधिमंडल भी उपस्थित था। वर्साई शांति संधि ने जर्मन बूर्जुआज़ी पर भारी बोझ लाद दिया था, जिसे हल्का करने को वह बहुत आतुर था। परिस्थितियों ने जर्मनी के सत्तारूढ़ हल्क़ों में ऐसे तत्त्वों को जन्म दे दिया था, जो सोवियत रूस के साथ आर्थिक और राजनीतिक संबंधों की स्थापना को लाभकर समझते थे। सोवियत प्रतिनिधिमंडल ने इस स्थिति से फ़ायदा उठाकर जर्मन प्रतिनिधियों के साथ बातचीत शुरू की। जहां तक जर्मनों का संबंध था, वे सोवियत रूस के साथ समझौता चाहते भी थे और उससे डरते भी थे।

अप्रैल १५ की सारी रात जेनोआ से कुछ किलोमीटर दूर रपैलो नामक उपनगर में, जहां जर्मन प्रतिनिधिमंडल को ठहराया गया था, जर्मनों की मंत्रणा चलती रही कि रूसियों के साथ वार्ताएं शुरू की जायें या नहीं। २ बजे रात को चिचेरिन ने जर्मन प्रतिनिधिमंडल को टेलीफ़ोन द्वारा सूचित किया कि अगर सोवियत-जर्मन संधि हो गयी, तो जर्मनी को सोवियत रूस के साथ व्यापार में प्राथमिकता दी जायेगी। इस संदेश ने संधि में जर्मनों की रुचि बढ़ा दी। अगले रोज़ जर्मन प्रतिनिधि देर तक टेलीफ़ोन पर बर्लिन से परामर्श करते रहे और १६ अप्रैल, १९२२ की शाम को सोवियत-जर्मन संधि पर हस्ताक्षर हो गये।

यह संधि विभिन्न राजनीतिक प्रणालियोंवाले देशों के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति की अभिव्यक्ति थी। रपैलो संधि की शर्तों के अनुसार सोवियत जनतंत्र और जर्मनी, दोनों ने ही एक दूसरे पर अपने दावे त्याग दिये और सैन्य तथा अन्य खर्चों की अदायगी भी रद्द कर दी। यूरोप के दो सबसे बड़े राष्ट्रों – जर्मनी और रूस – के बीच राजनयिक तथा वाणिज्यदूतीय संबंध पुनर्स्थापित हो गये। दोनों देशों ने परस्पर लाभ के आधार पर वाणिज्यिक व आर्थिक संपर्क क़ायम करने की इच्छा प्रकट की। रपैलो संधि सोवियत जनतंत्र का बहिष्कार करने की साम्राज्यवादी नीति की पराजय की द्योतक थी।

इंगलैंड, फ़्रांस तथा अन्य देशों के सत्तारूढ़ हल्क़ों ने सोवियत-जर्मन संधि पर अपनी नाराज़गी खुलकर ज़ाहिर की। फ़्रांस के प्रधान मंत्री प्वेंकारे ने तुरंत अपने मंत्रिमंडल की बैठक बुलायी, जिसमें संधि पर विरोध प्रकट करने का निर्णय किया गया। लॉयड जॉर्ज ने जर्मनी से संधि रद्द करने की मांग की और कहा कि अगर ऐसा न किया गया, तो जर्मन प्रतिनिधिमंडल को जेनोआ सम्मेलन से निकाल दिया जायेगा। जर्मन इस सारे शोर-शराबे से इतना डर गये कि १९ अप्रैल को उन्होंने सोवियत प्रतिनिधिमंडल से संधि को रद्द कर देने का आग्रह किया। स्पष्ट है कि सोवियत पक्ष ने ऐसा करने से इंकार कर दिया और संधि यथावत लागू रही।

सोवियत प्रतिनिधिमंडल व्ला० इ० लेनिन से सतत निदेशन पाता रहा, यद्यपि मास्को और जेनोआ के बीच संपर्क बनाये रखना बहुत कठिन था। तार लंदन के ज़रिये भेजे जाते थे, जिसकी वजह से किसी भी सूचना को जेनोआ से मास्को पहुंचने में लगभग पूरा दिन लग जाता था। संदेशवाहक को भी रास्ते में पांच-छह दिन लग जाते थे। पश्चिमी प्रेस सम्मेलन की कार्रवाइयों का विकृत विवरण देने में कोई कसर नहीं छोड़ रहा था। फिर भी, इन सब कठिनाइयों के बावजूद, सोवियत प्रतिनिधिमंडल मास्को की मदद को हर क्षण महसूस करता रहा। व्ला० इ० लेनिन सम्मेलन की प्रगति पर पूरी नज़र रखे हुए थे। १८ अप्रैल को पोलिटब्यूरो की बैठक में उन्होंने रपैलो संधि का टेक्स्ट प्रकाशित करने का प्रश्न उठाया और १६ अप्रैल को सोवियत समाचार-पत्रों में उसे प्रकाशित भी कर दिया गया।

जेनोआ सम्मेलन में कोई निर्णय नहीं लिये गये, फिर भी वह सोवियत विदेश नीति और लेनिन द्वारा प्रतिपादित शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धांतों की पहली विजय थी।

सोवियत जनतंत्र द्वारा पूर्वी देशों की सहायता

ज़ारशाही के ज़माने में और अस्थायी सरकार के शासनकाल में भी रूस न केवल अपने निवासियों के लिए कारागार बना हुआ था, बल्कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए अपने पड़ोसी देशों का निर्मम शोषण भी करता था। इस मामले में वह ब्रिटिश, जर्मन, फ़्रांसीसी और अमरीकी साम्राज्यवादियों से किसी भी तरह बेहतर न था।

तुर्की, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान रूस के दक्षिणी तथा दक्षिण-पूर्वी पड़ोसी थे। किसी भी बड़े देश ने इन देशों के साथ समानता तथा न्याय पर आधारित कोई भी संधि या समझौता नहीं किया था। किंतु अक्तूबर (नवंबर), १६१७ के बाद स्थिति बदल गयी।

१७ जनवरी, १६१८ को विदेशी मामलों के जन कमिसारियत ने ईरान के राजदूत असद ख़ां को सूचित किया कि सोवियत सरकार ने ईरानी जनता की स्वाधीनता व स्वतंत्रता से असंगत सभी संधियों और क़रारों को रद्द घोषित कर दिया है। यह समाचार पाते ही सारे ईरान में हर्ष की लहर दौड़ गयी। ३१ जनवरी को तेहरान से सोवियत राजनयिक प्रतिनिधि ने लिखा, "ईरानियों पर इस समाचार का क्या असर हुआ है, इसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। तेहरान सचमुच हर्षोल्लास से झूम उठा है।

एक मिनट भी ऐसा नहीं जाता, जब कोई न कोई शिष्टमंडल या व्यक्ति मेरा अभिवादन करने मेरे यहां न आया हुआ हो। और तो और, सड़कों पर भी लोग मुझे साधुवाद देते हैं।"

१९१८ के वसंत तक सोवियत जनतंत्र ने ईरान से अपने सभी सैनिक हटा लिये और इस तरह ईरान की आज़ादी तथा दोनों देशों के बीच मैत्री संबंधों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

फ़रवरी, १९२१ में मास्को में एक सोवियत-ईरान संधि पर हस्ताक्षर हुए, जिसमें ईरान और ज़ारशाही रूस के बीच संपन्न सभी असमान संधियों, अभिसमयों और क़रारों को रद्द किये जाने की अभिपुष्टि की गयी। उसमें सभी ईरानी क़र्ज़ों को रद्द करने और ज़ारशाही रूस द्वारा हासिल किये गये सभी पट्टों (कंसेशनों) और संपत्तियों को ईरान को वापस दे देने का प्रावधान भी था। यह ईरान द्वारा किसी दूसरे देश के साथ की गयी पहली समान संधि थी और ईरानी जनता के लिए वह बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

ईरान के प्रगतिशील तत्त्वों ने ईरान की जनता के प्रति सोवियत रूस की नीति का ऊंचा मूल्यांकन किया। समाचारपत्र 'रहनुमा' ने इस संबंध में



ईरानी प्रतिनिधिमंडल द्वारा सोवियत-ईरान संधि पर हस्ताक्षर (१९२१)

लिखा था, "हमारे अंधकारमय राजनीतिक क्षितिज पर सहसा बिजली सी कौंधी, जिसने ईरानी राजनीति के घटाटोप अंधेरे में उजाला कर दिया... यह तीव्र दीप्ति उत्तर से आयी थी और उसका स्रोत मास्को था। उसकी चमक इतनी तेज़ थी कि हम जिस अंधकार में रहते हैं, वह तुरंत दूर हो गया।"

सोवियत रूस और तुर्की के संबंधों में भी सुधार हुआ। मुस्तफ़ा कमाल-पाशा, जो तुर्की का एक सबसे बड़ा राजनेता और तत्कालीन सरकार का प्रमुख था, सोवियत रूस के साथ मैत्री के महत्त्व को समझता था। सोवियत सरकार ने तुर्की की बड़ी मदद की। १६ मार्च, १९२१ को सोवियत संघ और तुर्की ने एक संधि संपन्न की, जो तुर्की के इतिहास में समानता पर आधारित पहली संधि थी। इस संधि पर सफलतापूर्वक अमल किया गया।

सोवियत जनतंत्र ने २८ फ़रवरी, १९२१ को अफ़ग़ानिस्तान के साथ और ५ नवंबर, १९२१ को मंगोलिया के साथ भी ऐसी ही संधियों पर हस्ताक्षर किये। इस तरह लेनिनीय राजनय ने पूर्व के देशों के प्रति नयी, सोवियत नीति की नींव रखी। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों का समर्थन, आर्थिक तथा राजनीतिक सहायता और प्रभुसत्ता तथा स्वाधीनता की रक्षा इस नीति के महत्त्वपूर्णतम तत्त्व थे।

दूसरा अध्याय

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति और विश्व का पुनर्विभाजन

पूंजीवाद का आम संकट

१९१७ की महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति ने पूंजीवादी प्रणाली पर ऐसी ज़बर्दस्त चोट की थी कि वह फिर कभी संभल नहीं सकी। इस तरह पूंजीवाद का आम संकट, यानी उसकी अर्थ तथा राज्य प्रणाली, राजनीति और विचारधारा, सभी का अनिवार्य पतन आरंभ हुआ। पूंजीवाद के आम संकट का मुख्य लक्षण है विश्व का दो विरोधी सामाजिक प्रणालियों में विभाजन। रूस की अक्तूबर क्रांति के बाद विश्व में एकमात्र पूंजीवाद का ही बोलबाला नहीं रह गया है – उसके साथ-साथ एक नयी, समाजवादी प्रणाली भी विकास कर रही है और अपनी जड़ें मज़बूत बना रही है। दोनों प्रणालियों के बीच टकराव हो रहा है और यही टकराव पूंजीवाद के आम संकट के युग की मुख्य अन्तर्वस्तु, मुख्य पहचान है।

पूंजीवाद के आम संकट का दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्षण है साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक प्रणाली का विघटन। अक्तूबर क्रांति ने उपनिवेशों और पराधीन देशों में राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों की अत्यन्त प्रबल लहर को जन्म दे दिया था। भूतपूर्व ज़ारशाही रूस के जनों ने राष्ट्रीय दासता और उत्पीड़न की बेड़ियां तोड़कर और स्वतंत्र विकास के पथ पर क़दम बढ़ाकर उपनिवेशों तथा अर्ध-उपनिवेशों के जनों के सामने एक ऐसी मिसाल पेश कर दी थी, जिससे विदेशी साम्राज्यवादी प्रभुत्व के विरुद्ध उनके संघर्ष को बहुत प्रेरणा मिली। उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों के जन अब पुराने ढंग से और नहीं रहना चाहते थे और अपने मुक्ति संघर्ष को उसकी परिणति पर पहुंचाने को कृतसंकल्प थे।

पूंजीवाद के आम संकट के कुछ अन्य विशिष्ट लक्षण हैं: मंडियों, कच्चे माल के स्रोतों और प्रभाव क्षेत्रों को लेकर साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच विरोधों का बढ़ना; पूंजीवादी विश्व के नेतृत्व के लिए प्रतिस्पर्धा; मज़दूर

वर्ग और पूंजीपतियों के बीच संघर्ष में अभूतपूर्व वृद्धि; पूंजीवादी देशों में क्रांतिकारी आन्दोलन का विकास। साम्राज्यवाद लाखों-करोड़ों लोगों को नंगा-भूखा मरने छोड़ देता है, उन्हें उनके वैध अधिकारों से वंचित कर देता है, आर्थिक संकटों का सारा बोझ उनके कंधों पर डालता है और उन्हें युद्ध-जनित अनगिनत विपत्तियां झेलने को मजबूर करता है, हालांकि युद्धों का कारण वह स्वयं होता है। इसीलिए साम्राज्यवादियों के जुए के ख़िलाफ़ मेहनतकशों का संघर्ष उत्तरोत्तर अधिक संगठित और भीषण बनता गया है।

दो प्रणालियों का सहअस्तित्व और संघर्ष

विश्व को समाजवादी और पूंजीवादी, इन दो प्रणालियों में बांटकर अक्तूबर क्रांति ने हमारे युग के मुख्य अंतर्विरोध – मरणोन्मुख पूंजीवाद और विकासोन्मुख समाजवाद के परस्पर विरोध – को अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में भी अन्तरित कर दिया। किंतु इस विचार का प्रतिपादन करते हुए कि विश्वव्यापी समाजवादी क्रांति एक न्यूनाधिक लंबी प्रक्रिया है, सोवियत राज्य के संस्थापक व्ला० इ० लेनिन ने दिखाया कि विभिन्न सामाजिक प्रणालियों का कुछ समय के लिए साथ-साथ बने रहना, यानी उनका सहअस्तित्व अनिवार्य है। इस सहअस्तित्व के लिए ज़रूरी है अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को युद्ध नहीं, वरन वार्ताओं के ज़रिये हल करना, सभी राष्ट्रों की समानता, अन्य राष्ट्रों के घरेलू मामलों में अहस्तक्षेप और परस्पर लाभ के आधार पर राज्यों के बीच सहयोग का विकास। दोनों प्रणालियों की प्रतिद्वन्द्विता के दौरान पूंजीवादी प्रणाली के मुक़ाबले समाजवाद की उत्कृष्टता अधिकाधिक प्रकट होती जायेगी और इस प्रतिद्वन्द्विता या संघर्ष का अंत समाजवाद की पूर्ण विजय में होगा।

शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धान्त केवल विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं-वाले राज्यों के परस्पर संबंधों पर ही लागू हो सकता है। जहां तक साम्राज्य-वादी देशों के आपसी विरोधों या उत्पीड़कों व उत्पीड़ितों के संबंधों, अर्थात् साम्राज्यवादी उपनिवेशवादियों और औपनिवेशिक उत्पीड़न के शिकार राष्ट्रों के संबंधों का सवाल है, यह सिद्धान्त उनपर कतई लागू नहीं होता। इसी कारण सोवियत राज्य बार-बार कहता आया है – और उसने इसकी व्यवहार में पुष्टि भी कर दिखायी है – कि वह सभी प्रकार के मुक्ति संग्रामों का समर्थन और साम्राज्यवादी उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्षरत राष्ट्रों की हर संभव सहायता करता है और आगे भी करता रहेगा।

साम्राज्यवाद अपनी प्रकृति से ही आक्रामक है। वह सोवियत जनतंत्र

के आविर्भाव को न केवल सहन न कर सका, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में उसका विरोध करना अक्तूबर १९१७ से ही विश्व प्रतिक्रियावाद का एक सर्वोच्च लक्ष्य ही बन गया। जैसा कि एक प्रमुख अमरीकी इतिहासकार एफ़० टी० शूमान ने ठीक ही कहा है, सोवियत सत्ता ने अपनी स्थापना के पहले ही दिन पश्चिमी विश्व के सामने शांति का प्रस्ताव रखा, मगर पश्चिम ने युद्ध द्वारा, बड़े पैमाने पर जान व माल का नुक़सान करनेवाले वास्तविक युद्ध द्वारा इस प्रस्ताव का जवाब दिया।

विदेशी हस्तक्षेपकारियों और सफ़ेद गार्डों की सेनाओं को पराजित करके सोवियत रूस की जनता ने साम्राज्यवादी शक्तियों को सोवियत संघ के साथ सहअस्तित्व की नीति अपनाने को बाध्य किया। अधिकांश पूंजीवादी देशों के शासक हल्क़े सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ के साथ राजनयिक संबंध स्थापित करने और कुछ हद तक व्यापारिक व राजनीतिक संपर्क भी बढ़ाने को मजबूर हुए किंतु अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियावाद का सोवियत राज्य को निर्बल तथा विनष्ट करने की अपनी योजनाओं को छोड़ने का कोई इरादा नहीं था। न ही वह सोवियत संघ का आर्थिक तथा राजनयिक बहिष्कार करने और उसके ख़िलाफ़ तरह-तरह के ऐसे गुट व गठबंधन बनाने की कोशिशों से ही बाज़ आया, जिनका सर्वोच्च लक्ष्य सोवियत संघ पर सशस्त्र आक्रमणों का आयोजन करना था। साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने जर्मनी को सोवियत राज्य से टक्कर लेने के लिए उकसाने की विशेष रूप से जी-तोड़ कोशिशें कीं और इस लक्ष्य से उसकी सैनिक व आर्थिक शक्ति बहाल करने में हर तरह की मदद दी।

पूंजीवाद के आम संकट का पहला चरण

१९१४-१९१८ के विश्व साम्राज्यवादी युद्ध (प्रथम महायुद्ध) और १९१७ की अक्तूबर क्रांति ने पूंजीवाद के आम संकट के पहले चरण की शुरुआत की थी। यह चरण दूसरे महायुद्ध के आरंभ तक जारी रहा और इसे निम्न तीन पृथक् दौरों में बांटा जा सकता है।

पहला दौर (१९१७-१९२३)—यह वह क्रांतिकारी दौर था, जिसने पूंजीवाद की नींव ही हिला डाली। पश्चिमी यूरोप और एशिया में इस दौर में जो क्रांतिकारी उफान आया, वह अपनी शक्ति और पैमाने की दृष्टि से सर्वहारा के सभी पूर्ववर्ती जन आंदोलनों से कहीं अधिक ज़बर्दस्त था और उसने अनेक पूंजीवादी देशों में बूर्जुआ वर्ग की जड़ों पर गंभीर प्रहार किया, यद्यपि बूर्जुआ वर्ग अंततः सर्वहारा को हराने में सफल रहा। ऐसा वह क्यों कर पाया, इसकी चर्चा आगे चलकर की जायेगी।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में इस दौर की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी तथाकथित वर्साई-वाशिंगटन संधि-शृंखला, जिसने प्रथम महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों तथा संयुक्त राज्य अमरीका की विजय और विश्व के पुनर्विभाजन को वैध रूप दिया। किंतु यह संधि-शृंखला सोवियत संघ की सहभागिता के बिना तैयार व संपन्न की गयी थी और यही इसका एक सबसे बड़ा दोष था। इतना ही नहीं, वह सोवियत संघ के विरुद्ध लक्षित भी थी। वह न केवल अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के युद्धोत्तर विकास की सुदृढ़ नींव नहीं बन सकती थी, बल्कि अपने गर्भ में अंतर्राष्ट्रीय टकरावों की खतरनाक संभावनाएं भी छिपाये थी, जिनका बीजारोपण क्षेत्रीय तथा अन्य समस्याओं के साम्राज्यवादी समाधानों ने किया था।

दूसरा दौर (१९२४-१९२९) – यह वह दौर था, जिसमें पूंजीवाद में आंशिक स्थिरता आयी थी। इस दौर की विशेषता थी क्रांतिकारी आंदोलन का अल्पकालीन उतार और पूंजीवादी देशों के आर्थिक तथा राजनीतिक तंत्रों का कुछ हद तक सुदृढ़ीकरण। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में इस दौर में वर्साई-वाशिंगटन संधि-शृंखला के भीतरी विरोध अप्रकट रूप से बढ़ते गये, जिससे उसकी नींवें डगमगाने लग गयीं। सोवियत राज्य की निरंतर बढ़ती शक्ति को देखते हुए अधिकांश पूंजीवादी राज्यों को उसे मान्यता देने को बाध्य होना पड़ा, हालांकि सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी हल्कों ने उसे निर्बल करने व सोवियत-विरोधी गुट बनाने के प्रयास फिर भी नहीं छोड़े।

तीसरा दौर (१९२९-१९३९) – यह दशक पूंजीवाद की आंशिक स्थिरता की समाप्ति और नये महायुद्ध की तैयारियों व आरंभ का दौर था। १९२९ में शुरू हुए और १९३३ तक चले विश्वव्यापी आर्थिक संकट ने, जो अपने पैमाने की दृष्टि से अभूतपूर्व था, साम्राज्यवादी प्रणाली के आंतरिक विरोधों को उनकी चरम परिणति पर पहुंचा दिया। इस दौर में पूंजीवादी देशों और उपनिवेशों तथा पराधीन देशों के क्रांतिकारी आंदोलनों में भी काफ़ी उभार आया।

इस दौर में वर्साई-वाशिंगटन संधि-शृंखला अपने भीतरी विरोधों के दबाव और तत्कालीन सर्वाधिक आक्रामक राष्ट्रों – नाज़ी जर्मनी, फ़ासिस्ट इटली तथा सैन्यवादी जापान – के गुट के प्रहारों से चरमराकर टूट गयी। जर्मनी तथा उसके मित्रदेशों द्वारा संभावित आक्रमण से खुद को बचाने और सोवियत संघ को उसका निशाना बनाने को उत्सुक इंगलैंड, फ़्रांस तथा संयुक्त राज्य अमरीका के शासक हल्कों ने फ़ासिस्ट आक्रामकों के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनायी। इसी नीति ने इतिहास में उस बेमिसाल युद्ध – दूसरे महायुद्ध – को जन्म दिया, जो समस्त मानवजाति के लिए अनिर्वचनीय विपत्तियों और करोड़ों लोगों की मृत्यु का कारण बना।

जर्मनी और उसके सहयोगी देशों की पराजय

अगस्त, १६१८ में मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने विशाल संख्या में टैंक और तोपें इस्तेमाल करते हुए सारे पश्चिमी मोर्चे पर आक्रमण शुरू कर दिया था। जर्मनों ने जो ज़बर्दस्त किलेबंदियां की हुई थीं, वे शत्रु की चढ़ाई को रोकने में असमर्थ सिद्ध हुईं। फलस्वरूप जर्मन सेना को पीछे हटना पड़ा। इधर जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी की आम जनता भी, जो चार साल की लड़ाई से तंग आ गयी थी व बेहद थक गयी थी, निरर्थक युद्ध जारी रखने की अपनी सरकारों की नीति से असंतोष खुले आम व्यक्त करने लग गयी थी।

मित्रराष्ट्रों की सेनाओं के प्रहारों से मध्य यूरोपीय शक्तियों (जर्मनी व उसके सहयोगी देशों) का सैनिक व राजनीतिक गठबंधन छिन्न-भिन्न होने लगा। सबसे पहले बुल्गारिया ने २६ सितंबर को आत्मसमर्पण किया। उसके बाद ३० अक्तूबर को तुर्की ने भी लड़ाई से हाथ खींच लिये। मित्रराष्ट्र सेनाओं द्वारा मोर्चा भेद दिये जाने से आस्ट्रिया-हंगरी की सरकार को मजबूर होकर युद्धरत राष्ट्रों से शांति वार्ताएं शुरू करने की अपील करनी पड़ी। बहुराष्ट्रिक आस्ट्रियाई साम्राज्य विघटित होने लगा। उसके भग्नावशेषों पर चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, पोलैंड, आस्ट्रिया और हंगरी के नये स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ। उधर स्वयं जर्मनी में भी क्रांतिकारी विस्फोट की तैयारियां हो रही थीं। इसके बावजूद कि जर्मन सेनाएं अभी भी विशाल प्रदेशों पर क़ब्ज़ा किये हुई थीं, जर्मन साम्राज्यवाद सामरिक महापराजय के कगार पर खड़ा था। जर्मन जनता और लड़ने को तैयार नहीं थी। नवंबर, १६१८ के आरंभ में जर्मनी में क्रांति फूट पड़ी। होहेंज़ोलर्न वंश, जो दो शताब्दियों से ज़्यादा से पहले प्रशा और फिर जर्मनी पर शासन करता आ रहा था, सत्ताच्युत कर दिया गया और जर्मनी गणराज्य बन गया। ११ नवंबर, १६१८ को पेरिस के निकट कोंपियेन के वन में मित्रराष्ट्र सेनाओं के प्रधान सेनाध्यक्ष मार्शल फ़ोश के रेल सैलून में जर्मनी और मित्रराष्ट्रों के बीच युद्धविराम संधि पर हस्ताक्षर हुए और इस तरह प्रथम महायुद्ध समाप्त हो गया।

किंतु जर्मनी की क्रांति से घबराकर पश्चिमी देशों की सरकारों ने जर्मन सेना को पूरी तरह निरस्त्र करने का विचार त्याग दिया और अपनी सेनाओं के बर्लिन में प्रवेश करने का भी आग्रह नहीं किया। मित्रराष्ट्रों की सहमति से जर्मनी ने बाल्टिक प्रदेश में अपनी सेनाएं यथावत् तैनात रखीं और उस इलाक़े में क्रांति को कुचलने में सक्रिय भाग लिया। सोवियत राज्य के प्रति अपनी शत्रुता का खुले आम प्रदर्शन करते हुए एबर्ट की सरकार ने सोवियत रूस के साथ राजनयिक संबंध पुनर्स्थापित करने से इंकार कर दिया, जो जर्मनी द्वारा नवंबर, १६१८ के आरंभ में तोड़ दिये गये थे।

पेरिस शांति सम्मेलन

१८ जनवरी, १९१९ को वर्साई प्रासाद के दर्पण महाकक्ष में जर्मनी के साथ शांति संधि की शर्तें तय करने के लिए एक सम्मेलन शुरू हुआ। उल्लेखनीय है कि यह वही महाकक्ष था, जिसमें ४८ वर्ष पहले जर्मन साम्राज्य की स्थापना की उद्‌घोषणा की गयी थी। सम्मेलन में मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में भाग लेनेवाले २७ देशों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। जर्मनी और उसके सहयोगियों को उसमें निमंत्रित नहीं किया गया था। बाद में सम्मेलन की बैठकें पेरिस में होने लगीं। उनमें भाग लेने के लिए सोवियत रूस को भी नहीं बुलाया गया, हालांकि हर कोई जानता था कि युद्ध में रूसी सेनाओं ने काफ़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। पेरिस सम्मेलन के साम्राज्यवादी भागीदार एक ही साझी इच्छा से निदेशित थे और वह यह कि रूस की सोवियत सरकार को यथाशीघ्र उलट दिया जाये, "बोल्शेविज़्म का पालने में ही गला घोंट" दिया जाये और "रूसी प्रयोग" की अन्य देशों में पुनरावृत्ति न होने दी जाये।

इसके बावजूद कि सम्मेलन में सवा दो दर्जन देश भाग ले रहे थे, उसकी कार्रवाइयों का संचालन-सूत्र वास्तव में तीन प्रमुख साम्राज्यवादी देशों के प्रतिनिधियों के ही हाथों में था। ये थे संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति वुडरो विल्सन, ग्रेट ब्रिटेन का प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज और फ़्रांस का प्रधानमंत्री जॉर्ज क्लीमेंसो। सम्मेलन के शुरू में ही कार्यसूची के मुद्दों, विशेषतः जर्मनी की समस्या को लेकर बड़ी शक्तियों के बीच मतभेद पैदा हो गये।

उद्‌घाटन समारोह में बोलते हुए फ़्रांस के राष्ट्रपति प्वेंकारे ने सर्वथा स्पष्ट कर दिया कि फ़्रांस जर्मन आक्रमण की पुनरावृत्ति न होने देने के लिए जर्मनी के विभाजन पर ज़ोर देगा। फ़्रांसीसी साम्राज्यवादी इस तरह अपने जर्मन प्रतिद्वन्द्वी को राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक दृष्टि से अधिकतम कमज़ोर बना देना चाहते थे। उन्होंने विशेष रूप से आग्रह किया कि जर्मनी के पश्चिमी प्रदेशों को अलग करके वहां तथाकथित राइन गणराज्य स्थापित कर दिया जाये, कोयला भंडारों की दृष्टि से समृद्ध सार प्रांत फ़्रांस को दे दिया जाये और कुछ अन्य प्रदेश भी जर्मनी से अलग कर दिये जायें। फ़्रांस ने युद्ध में हुई क्षति के लिए जर्मनी से अधिकतम हरजाना मांगने का आग्रह भी किया।

किंतु विल्सन और लॉयड जॉर्ज ने जर्मनी के टुकड़े करने और उसे बिल्कुल निर्बल बना देने की फ़्रांसीसी मांगों को ठुकरा दिया। उनके ऐसे रवैये के कारण किसी से छिपे न थे: ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका जर्मनी

को पर्याप्त शक्तिशाली बनाये रखना चाहते थे, ताकि वह यूरोप में फ़्रांस के प्रभाव-विस्तार में रोड़ा बना रह सके और जो सबसे मुख्य बात थी, सोवियत जनतंत्र के ख़िलाफ़, जिससे विश्व साम्राज्यवाद इतना भय खाता था, हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जा सके।

अधिकृत तौर पर सम्मेलन की कार्यसूची में "रूसी प्रश्न", यानी रूस की सर्वहारा क्रांति का मुक़ाबला कैसे किया जाये, यह प्रश्न शामिल नहीं था। इसके बावजूद सम्मेलन के शुरू होते ही यही प्रश्न उसकी समस्त कार्य-वाही का केंद्रबिंदु बन गया। विश्व में मज़दूरों और किसानों के पहले राज्य के प्रति घृणा दिखाने, उसके ख़िलाफ़ सशस्त्र आक्रमण की योजनाएं बनाने, सफ़ेद गार्ड जनरलों को मुक्तहस्त सैनिक, माली व तकनीकी सहायता देने और साथ ही यूरोप के अन्य भागों में भी क्रांतिकारी आंदोलनों के दमन के लिए हर संभव प्रयत्न करने के मामले में साम्राज्यवादी देशों के बीच होड़ मच गयी। किंतु पेरिस में सोवियत रूस के विरुद्ध संयुक्त सामरिक कार्रवाई के बारे में कोई समझौता न हो पाया। पूंजीवादी देशों के आपसी मतभेद और संगीन के बल पर रूस की क्रांतिकारी जनता पर अपनी इच्छा थोपने के प्रयासों की सफलता के बारे में उनमें से कुछ के शासक हल्कों के संदेह आंशिकत: इसका कारण थे। एक अन्य कारण, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी, यह था कि पश्चिम की आम जनता सोवियत रूस पर सशस्त्र आक्रमण के विरुद्ध थी। लॉयड जॉर्ज ने तो साफ़-साफ़ आशंका प्रकट की कि मित्रराष्ट्र सोवियत रूस के ख़िलाफ़ जिस युद्ध की योजनाएं बना रहे हैं, वह संगठित मज़दूरों के बीच अभूतपूर्व पैमाने पर अशांति पैदा कर सकता है।

जर्मन उपनिवेशों और उस्मान साम्राज्य के इलाक़ों के भविष्य को लेकर सम्मेलन में भाग लेनेवालों, विशेषत: बड़े राष्ट्रों के बीच उग्र विवाद छिड़ा। इस संबंध में सबसे अधिक सक्रियता ग्रेट ब्रिटेन ने दिखायी, जिसे आशा थी कि वह इनमें से अधिकांश क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा कर लेगा। किंतु अन्य साम्राज्यवादी देश भी इस लूट में अपना हिस्सा छोड़ने को तैयार न थे। अंतत: सवाल मुख्यतया ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस और जापान के पक्ष में और संयुक्त राज्य अमरीका के शासक हल्कों के हितों के विरुद्ध हल हुआ।

राष्ट्रसंघ प्रसंविदा की तैयारी

पेरिस सम्मेलन की कार्यसूची में एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा राष्ट्रसंघ (लीग आफ़ नेशंस) का प्रश्न था, जिसे विश्व शांति और सुरक्षा की प्रत्याभूति करनेवाला विश्व का पहला अंतर्राष्ट्रीय संगठन होना था। युद्ध के दौरान ही

अनेक देशों में ऐसे संगठन की योजनाएं पेश की जा चुकी थीं। संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और अन्य मित्रराष्ट्र इस मामले में विशेष रूप से सक्रिय थे। ऐसे संगठन की स्थापना वास्तव में समय का तक़ाज़ा थी: लाखों की जान लेनेवाले रक्तपातपूर्ण और विनाशकारी युद्ध के महाभंवर में फंसी विश्व की जनता अपनी सरकारों से ऐसी विश्व व्यवस्था क़ायम करने की मांग कर रही थी, जो भविष्य में ऐसी घोर विपदा की पुनरावृत्ति की संभावना ही न रहने दे। ८ नवंबर, १९१७ को सोवियत सरकार ने सोवियतों की दूसरी कांग्रेस के मंच से ऐतिहासिक शांति आज्ञप्ति की उद्घोषणा की थी, जिसमें अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की एक नयी, जनवादी रूपरेखा प्रस्तुत की गयी थी। यह ऐसी रूपरेखा थी, जिसमें आक्रामक युद्धों को अस्वीकार्य ठहराया गया था, पराये क्षेत्रों का अधिनहन किये बिना और युद्ध हरजाना लिये बिना शांति की स्थापना के विचार की घोषणा की गयी थी और परस्पर सहयोग के आधार पर आपसी संबंध बनाने के लिए सभी राष्ट्रों का आह्वान किया गया था। साम्राज्यवादी देशों ने सोवियत प्रस्तावों का विरोध किया, किंतु स्थायी शांति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के विचार तब तक सारे विश्व के लोगों के मन में घर कर चुके थे। सोवियत शांति आज्ञप्ति के उत्तर में पश्चिमी राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ की योजना बनाने के अपने प्रयास बढ़ा किये। फिर भी हर साम्राज्यवादी सरकार, चाहे वह ब्रिटिश थी या फ़्रांसीसी या अमरीकी, "विश्व शांति" बनाये रखने और "सभी राष्ट्रों" की सुरक्षा की प्रत्याभूति करने की आवश्यकता के बारे में ऊंची-ऊंची बातें करने के बावजूद अपने सहयोगियों पर ऐसी योजना ही थोपने की कोशिश कर रही थी, जो मुख्यतया उसके अपने हितों की पूर्ति तथा अपने प्रभाव के विस्तार में सहायक होती।

संयुक्त राज्य अमरीका, जो प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप और किसी भी देश की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली और समृद्ध हो गया था, अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के युद्धोत्तर ढांचे के निर्धारण में प्रमुख भूमिका का खुले आम दावा कर रहा था। राष्ट्रपति विल्सन ने पेरिस सम्मेलन में राष्ट्रसंघ प्रसंविदा का जो मसविदा पेश किया और जर्मनी के साथ शांति संधि में सम्मिलित करने का प्रस्ताव रखा, वह, स्वयं राष्ट्रपति के मत में, अमरीका की इन्हीं आकांक्षाओं की पूर्ति की ओर लक्षित था। किंतु ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस ने संयुक्त राज्य अमरीका के तत्त्वावधान में अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की अमरीकी राष्ट्रपति की योजनाओं का विरोध किया। राष्ट्रसंघ की स्थापना के विचार को न ठुकराते हुए भी ब्रिटिश तथा फ़्रांसीसी प्रतिनिधियों ने अनवरत संशोधन तथा परिवर्द्धन सुझाकर और प्रसंविदा को शांति संधि में सम्मिलित किये जाने का विरोध करके प्रसंविदा के मसविदे की तैयारी में भरसक

बाधाएं डालीं। मगर साथ ही ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस प्रसंविदा की कतिपय महत्त्वपूर्ण धाराओं के बारे में आपस में सहमति पर भी न पहुंच सके। अंततः एक संयुक्त आंग्ल-अमरीकी मसविदे को, जिसके बारे में निजी वार्ताओं के दौरान सहमति हो गयी थी, राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा के आधार के तौर पर स्वीकार कर लिया गया।

वर्साई की शांति संधि

२८ जून, १९१९ को वर्साई में हस्ताक्षरित शांति संधि के अनुसार जर्मनी ने अल्सास और लोरेन के इलाक़े, जिनपर उसने १८७१ में अधिकार कर लिया था, फ़्रांस को लौटा दिये। फ़्रांस को सार प्रदेश की कोयला खानों का स्वामित्व भी मिल गया, मगर स्वयं प्रदेश का प्रशासन पंद्रह वर्ष तक राष्ट्रसंघ द्वारा किया जाना था, जिसके उपरांत उसके भविष्य के बारे में वहां जनमतसंग्रह होना था। एपेन तथा मालमेडी बेल्जियम को और उत्तरी श्लेज़्विग डेनमार्क को दे दिये गये।

जर्मनी ने पोलैंड की स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया और उससे छीन गये कुछ इलाक़े (पोज़नान और सिलेशिया व पोमेरानिया के कुछ ज़िले) उसे वापस दे दिये। अन्य पोल इलाक़े जर्मनी के ही क़ब्ज़े में रहे, जिससे दोनों देशों के बीच विरोधों का बढ़ना अनिवार्य बन गया। ग्दांस्क (डेंज़िग) को राष्ट्रसंघ द्वारा शासित "स्वतंत्र नगर" बना दिया गया। जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया की स्वतंत्रता को भी मान्यता दे दी और उसके हुलचिन प्रदेश पर अपना दावा छोड़ दिया। वर्साई संधि ने अपने एक विशेष प्रावधान द्वारा आस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाये जाने पर प्रतिबंध भी लगाया। कुल मिलाकर जर्मनी को अपने युद्धपूर्व क्षेत्रफल के आठवें हिस्से और आबादी के बारहवें हिस्से से हाथ धोना पड़ा।

जर्मनी के सभी उपनिवेश भी छिन गये। ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस ने तोगो और कैमरुन को आपस में बांट लिया। दक्षिण-पश्चिम और पूर्व अफ़्रीका के जर्मन-अधिकृत प्रदेशों पर ग्रेट ब्रिटेन, दक्षिण अफ़्रीकी संघ, बेल्जियम और पुर्तगाल का क़ब्ज़ा हो गया। जापान को प्रशांत महासागर के मार्शल, मेरिएनज़ और कैरोलाइन द्वीपसमूह, क्याउचाउ स्थित अड्डा और शानतुंग प्रायद्वीप (चीन) में जर्मनों को प्राप्त पट्टे (कंसेशन) मिले। प्रशांत महासागर में स्थित अन्य जर्मन उपनिवेश आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड के अधिकार में आ गये।

जर्मनी को मित्रराष्ट्रों को हरजाना देना था, जिसकी कुल रक़म बाद में, १९२१ में, १ खरब ३२ अरब स्वर्ण मार्क निर्धारित की गयी।

वर्साई संधि ने जर्मनी की सशस्त्र सेनाओं की सीमा बांध दी। जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा खत्म कर दी जानी थी और राइख़स्वेहर (स्वयंसेवक सेना) के कुल सैनिकों की संख्या १ लाख से अधिक नहीं होनी थी। जर्मनी के पनडुब्बियां, भारी तोपख़ाना और वायुसेना रखने पर पाबंदी लगा दी गयी।

वर्साई शांति संधि में राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा को भी स्थान दिया गया। प्रसंविदा ने अनेक उच्च व उदात्त लक्ष्यों की घोषणा की, जैसे शांति तथा अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा का सुनिश्चितीकरण, राष्ट्रों के बीच मैत्री संबंधों का विकास, अंतर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिमय तरीक़ों से समाधान, आक्रमण के दोषी राज्यों के ख़िलाफ़ अनुशास्तियों का इस्तेमाल, आदि। किंतु आगे चलकर राष्ट्रसंघ के ही कार्यकलापों ने दिखाया कि उसके संस्थापक बड़े साम्राज्यवादी देशों का उसे शांति के सुदृढ़ीकरण तथा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के विकास का कारगर साधन बनाने का कोई इरादा नहीं था। इतना ही नहीं, अपने अस्तित्व के पहले वर्षों में राष्ट्रसंघ विश्व के पहले समाजवादी देश के विरुद्ध साम्राज्यवादी पश्चिमी देशों के सैनिक तथा राजनयिक संघर्ष का एक मुख्य अखाड़ा भी बन गया। आंग्ल-फ़्रांसीसी शासक हल्क़ों के इशारों पर नाचते हुए राष्ट्रसंघ अनेक वर्षों तक सोवियत संघ के सहयोग प्रस्तावों को ठुकराता रहा।

राष्ट्रसंघ ने उपनिवेशवाद की शर्मनाक प्रणाली का समर्थन करके भी अपनी इज़्ज़त पर बट्टा लगाया। विश्वव्यापी विक्षोभ के डर से ब्रिटेन, फ़्रांस, जापान और अन्य साम्राज्यवादी राष्ट्र जर्मनी और तुर्की से छीने गये उपनिवेशों का खुले आम अधिग्रहण करने की हिम्मत नहीं कर पा रहे थे। अतः इस बहाने कि इन क्षेत्रों की जनता अभी स्वयं अपना शासन चलाने में "असमर्थ" है, आंग्ल-फ़्रांसीसी साम्राज्यवादियों ने उनके शासन के लिए राष्ट्रसंघ की अधिदेश पद्धति (मेंडेट सिस्टम) का सहारा लिया और स्वयं ही "अधिदेश-प्राप्त राज्य" (मेंडेटरी पावर्ज़) बन बैठे। अधिदेश पद्धति थोड़े से परिष्कृत रूप में उपनिवेशवाद को शाश्वत बनाये रखने की लगभग नग्न कोशिश ही थी।

व्ला० इ० लेनिन ने वर्साई संधि को लुटेरू संधि कहा था। उसका मित्रराष्ट्रों के नेताओं की "न्यायसंगत शांति" विषयक मीठी-मीठी बातों से कोई ताल्लुक नहीं था। वह विजित पर विजेता की हुक्मशाही थी, ठीक वैसी ही, जैसी कि १६१८ में ब्रेस्त-लितोव्स्क में जर्मन साम्राज्यवादियों ने सोवियत रूस पर थोपी थी। वर्साई संधि ने जर्मनी को असमानता की स्थिति में रखा और जर्मन जनता के बीच गहरे असंतोष को जन्म दिया, जिसे आगे चलकर जर्मन नाज़ियों ने बूर्जुआ-जनवादी सरकार के विरुद्ध अपने संघर्ष में तुरुप के पत्ते की तरह इस्तेमाल किया।

१६१६-१६२० में जर्मनी के भूतपूर्व सहयोगियों – आस्ट्रिया, बुल्गारिया, हंगरी और तुर्की – के साथ शांति संधियां संपन्न की गयीं। अधिकांशतः वर्साई के

ही नमूने की इन संधियों ने आस्ट्रो-हंगेरियाई और उस्मान साम्राज्यों के विघटन के बाद हुए क्षेत्रीय परिवर्तनों और नये राज्यों की स्थापना को वैधता प्रदान की। वर्साई संधि की भांति जर्मनी के भूतपूर्व मित्रदेशों के साथ की गयी संधियां भी प्रत्यक्षतः संबंधित देशों व जनों के महत्त्वपूर्ण हितों पर कुठाराघात करती थीं। मध्य और दक्षिण-पूर्व यूरोप में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सामान्यीकरण में सहायक होने के बजाय वे वर्षों तक इस क्षेत्र के देशों के आपसी संबंधों में तनाव का खतरनाक स्रोत बनी रहीं।

विश्व का नया पुनर्विभाजन सुदूर पूर्व में भी पूरा किया जाना था। इस लक्ष्य से नवंबर, १६२१ में वाशिंगटन में संयुक्त राज्य अमरीका की पहल पर नौ देशों की कांफ़्रेंस बुलायी गयी, जिसमें संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, जापान, फ़्रांस, इटली, बेल्जियम, हालैंड, पुर्तगाल और चीन ने भाग लिया। अपनी बढ़ी हुई आर्थिक तथा वित्तीय शक्ति के सहारे संयुक्त राज्य अमरीका ने प्रशांत क्षेत्र तथा सुदूर पूर्व में अपना ही बोलबाला क़ायम करना चाहा। उसका एक लक्ष्य पेरिस सम्मेलन के कतिपय निर्णयों में परिवर्तन करवाना भी था, जिन्हें वह अपने हितों के लिए घातक मानता था (जैसे शानतुंग प्रायद्वीप को जापान के प्रभाव क्षेत्र में मानने का निर्णय)।

वाशिंगटन कांफ़्रेंस के निर्णय (चीन के प्रति नीति से संबंधित नवराष्ट्र संधि, नौसैनिक शस्त्रास्त्र परिसीमन विषयक पंचराष्ट्र संधि, आदि) मुख्यतया संयुक्त राज्य अमरीका का हितसाधन करते थे और जापान की स्थिति कमज़ोर बनाते थे। चीन को कुछ रिआयतें देने के बावजूद – चीनी जनता के राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के उभार को देखते हुए साम्राज्यवादी राष्ट्र ऐसा करने को मजबूर हो गये थे – वाशिंगटन संधियां उसके मूलभूत हितों के विपरीत जाती थीं और इसलिए सुदूर पूर्व में स्थायी शांति की स्थापना में सहायक नहीं हो सकती थीं।

वर्साई के "शांति के ठेकेदारों" का अनुकरण करते हुए वाशिंगटन कांफ़्रेंस के आयोजकों ने इस बात का भरपूर ध्यान रखा कि सोवियत संघ को उसमें भी न बुलाया जाये, यद्यपि उसमें उठाये जानेवाले प्रश्नों का सोवियत राज्य के हितों से प्रत्यक्ष संबंध था।

यूरोप में जर्मनी तथा उसके साथी राष्ट्रों के साथ की गयी शांति संधियों और सुदूर पूर्व संबंधी वाशिंगटन संधियों द्वारा स्थापित अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रणाली इतिहास में वर्साई-वाशिंगटन प्रणाली के नाम से विज्ञात है। उसका स्वरूप घोर प्रतिगामी और साम्राज्यवादी था। वर्साई तथा उस प्रकार की अन्य संधियों में प्रचुर मात्रा में पायी जानेवाली "साझे हित", "शांति" और "अंतर्राष्ट्रीय सहयोग" विषयक आंडबरपूर्ण तथा लच्छेदार शब्दावली की आड़ में उन लुटेरे देशों के साम्राज्यवादी स्वार्थ ही छिपे

नार्वे
स्टाकहोम
टालिन
वैनर झील
वैटर झील
स्वीडन
उत्तरी सागर
बाल्टिक सागर
कोपेनहेगन
सारेमा द्वीप
एस्तोनिया
लाटविया
लिथुआनिया
कौनस
विलिमुस
मीन्स्क
मोगिल्योव
स्मोलेन्स्क
चेर्नीगोव
कीयेव
द्नेपर नदी
डान्टसिग (फ्री सिटी)
कील
हैम्बर्ग
स्टेटिन
ब्रेमेन
बर्लिन
जर्मनी
ओडर नदी
ब्रेसलाउ
लाइपज़िग
फ्रैंकफर्ट
कोलोन
डुसलडोर्फ
ड्यूसबर्ग
एमस्टर्डम
ब्रुसेल्स
बेल्जियम
लक्जेमबर्ग
स्ट्रासबर्ग
पेरिस
वर्साई
सीन नदी
ल्वार नदी
नान्टिस
बोर्डो
फ्रांस
ल्योन
रोन नदी
मार्सेल्स
मोनाको
बार्सेलोना
लन्दन
पोर्टस्मथ
बर्मिंघम
लिवरपूल
मैन्चेस्टर
लीड्स
ग्लासगो
एडिनबरा
हेलिगोलैंड द्वीप
वारसा
पोलैंड
लोड्ज़
ल्यूब्लिन
क्रैको
ल्वोव
प्राग
ब्रूनो
विएना
आस्ट्रिया
म्यूनिक
बर्न
जेनेवा
लीख्टेनस्टाइन
स्विट्ज़रलैंड
मिलान
पो नदी
वेनिस
ट्रिएस्ट
रियेका (फ्यूमे)
जेनोआ
सैनमेरिनो
इटली
रोम
नेपल्स
कोर्सिका द्वीप
सार्डीनिया द्वीप
सिसिली द्वीप
बेलियारिक द्वीपसमूह
भूमध्य सागर
टिरहीनियन सागर
एड्रियाटिक सागर
आयोनियन सागर
बुडापेस्ट
हंगरी
स्लोवाकिया
चेकोस्लोवाकिया
ट्रांसिल्वानिया
रूमानिया
बुकारेस्ट
बेलग्रेड
सराजेवो
तिराना
सोफिया
बुल्गारिया
सालोनिका
एड्रियानोपल
इस्तांबुल
इज़मिर
एथेन्स
क्रीट द्वीप
काला सागर
ओडेसा
किशिनेव
डेनिस्टर नदी
रिगा पश्चिमी द्विना नदी
नीमन नदी
स्पेन
रियाची अंतरीप
पेचेंगा (पेत्सामो)
मुर्मान्स्क
सोवियत संघ
इनारी झील
स्वीडन
फिनलैंड
इमान्द्रा झील
बारेंट सागर

१९१४ की राज्य सीमायें
लोज़ान संधि (२४ जुलाई, १९२३) के अनुसार राज्य सीमायें
हंगरी — आस्ट्रिया-हंगरी के विभाजन के बाद स्थापित राज्य
वर्साई संधि (२८ जून, १९१९) के अनुसार जर्मनी से पृथक्कृत क्षेत्र
सेंट-जर्मेन संधि (१० सितंबर, १९१९) के अनुसार आस्ट्रिया से पृथक्कृत क्षेत्र
नेयुली संधि (२७ सितंबर, १९१९) के अनुसार बुल्गारिया से पृथक्कृत क्षेत्र
ट्रियानों संधि (४ जून, १९२०) के अनुसार हंगरी से पृथक्कृत क्षेत्र
रियेका (फ्यूमे) — स्वशासित नगर
१४ अक्तूबर, १९२० की संधि के अनुसार सोवियत रूस द्वारा फिनलैंड को अर्पित क्षेत्र
कर्ज़न रेखा
रीगा संधि (१८ मार्च, १९२१) के अनुसार सोवियत रूस और पोलैंड के बीच स्थापित सीमा
जनवरी, १९१८ में रूमानिया द्वारा अधिकृत बेसाराबिया
अक्तूबर, १९२० में पोलैंड द्वारा लिथुआनिया से छीना गया विलनो क्षेत्र

अंकों द्वारा निर्दिष्ट:
१.
२. यूपेन-माल्मेडी
३.
४.
५.
६.
७.
८.

यूरोप (१९१९-१९२३) की संधियों के अनुसार

हुए थे, जो अपने प्रतिद्वन्द्वियों के साथ संघर्ष में विजयी रहे थे।

वर्साई संधि के परिणामस्वरूप विजेताओं और विजितों के परस्पर विरोध लंबे अरसे के लिए स्थायी बन गये। किंतु वर्साई संधि-शृंखला का निशाना जर्मनी और अन्य पराजित देश ही नहीं थे। वह सोवियत राज्य के विरुद्ध भी लक्षित थी। पश्चिमी राष्ट्र सोचते थे कि आगे चलकर वे जर्मनी को सोवियत संघ के साथ सशस्त्र संघर्ष के लिए उकसा सकेंगे और उससे यूरोपीय देशों के क्रांतिकारी आंदोलन भी कुचलवा सकेंगे। इसीलिए उन्होंने पराजित जर्मनी में सैन्यवाद तथा सैन्य-सामग्री उद्योगों का उन्मूलन नहीं किया और उसके द्वारा किये जानेवाले वर्साई संधि के सैनिक प्रावधानों के नियमित उल्लंघनों तथा गुप्त शस्त्रीकरण की ओर से आंखें मूंद लीं। फलस्वरूप प्रतिशोध युद्ध की तैयारियां आसान हो गयीं, जिसका जर्मन सैन्यवादी वर्साई संधि पर हस्ताक्षर किये जाने के दूसरे ही दिन से सपना देखने लग गये थे।

सोवियत राज्य की सीमाओं पर पश्चिमी शक्तियों के प्रभाव में स्थित प्रतिक्रियावादी सरकारों द्वारा शासित छोटे देशों से एक तथाकथित संगरोध घेरा (सेनीटरी कॉर्डन) बनाया गया। आंग्ल-फ़्रांसीसी-अमरीकी प्रतिक्रियावादियों की योजना के अनुसार इन देशों को "कम्युनिज़्मविरोधी दीवार" और सोवियत रूस पर हमले के लिए स्प्रिंगबोर्ड बनना था।

किंतु सोवियत समाजवादी राज्य के प्रति घृणा के मामले में एक होने के बावजूद विजेता देश अभी कई अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर अपने मतभेदों को भुला नहीं पा रहे थे। ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस के बीच यूरोप में प्रमुखता के लिए प्रतिस्पर्धा ज्यों की त्यों चल रही थी और जर्मनी को निर्बल बनाकर उसे अपने प्रभुत्व में लाने की फ़्रांसीसी योजनाओं का ग्रेट ब्रिटेन दृढ़तापूर्वक विरोध करता जा रहा था। संयुक्त राज्य अमरीका, जो ग्रेट ब्रिटेन को मध्य पूर्व में, फ़्रांस को यूरोप में और जापान को प्रशांत क्षेत्र में अपनी स्थिति मज़बूत बनाने से नहीं रोक पाया था, वर्साई संधि और राष्ट्रसंघ प्रसंविदा की अभिपुष्टि करने से इन्कार करता रहा। इटली, जो "लूट" के बंटवारे के मामले में अपने को ठगा हुआ महसूस कर रहा था, और अन्य प्रमुख मित्रराष्ट्रों के बीच भी गंभीर मतभेद पैदा हो गये थे।

वर्साई संधि के निर्माता कहते रहे कि वह युद्धों का सदा-सदा के लिए ख़ात्मा कर देगी। किंतु वास्तव में वर्साई में ही विश्व के पुनर्विभाजन के लिए नये युद्धों की नींव रखी गयी थी।

तीसरा अध्याय

सोवियत संघ में समाजवाद का निर्माण

अर्थव्यवस्था का पुनरुद्धार

युद्धोत्तरकालीन तबाही

शरद, १९२० में सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ लेखक एच० जी० वेल्स ने रूस की यात्रा की थी और फिर एक पुस्तक लिखी थी, जिसका नाम था 'अंधकारग्रस्त रूस'। रूस में जो भयानक तबाही और ग़रीबी छायी हुई है, वेल्स ने लिखा था, अंग्रेज़ या अमरीकी पाठक उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। यह एक कटु सत्य था, क्योंकि सारा देश सचमुच राख और खंडहरों का ढेर बना हुआ था। पहले महायुद्ध और गृहयुद्ध के वर्षों में आबादी में २ करोड़ की कमी हो गयी थी। १९२० में भारी उद्योगों का कुल उत्पादन १९१३ के सातवें हिस्से जितना, सूती कपड़ों का उत्पादन १९ वीं सदी के मध्य जितना और कच्चे लोहे का उत्पादन २०० वर्ष पहले जितना ही रह गया था। परिवहन व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो चुकी थी। कृषि उत्पादन आधा ही रह गया था। सभी आवश्यक वस्तुओं की भारी कमी थी।

इस रोंगटे खड़े कर देनेवाली बरबादी और तबाही के लिए एकमात्र उत्तरदायी अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद और आन्तरिक प्रतिक्रांति थी। एच० जी० वेल्स बोल्शेविकों के सिद्धान्तों तथा आदर्शों से सहमत नहीं था, पर वह ईमानदार था और इसलिए सच पर परदा नहीं डाल सकता था। अपने पाठकों को संबोधित करते हुए उसने लिखा था, "बेशक आप कहेंगे कि यह घोर दुर्गति और मनोबल का ह्रास बोल्शेविक शासन का परिणाम है। किंतु मैं ऐसा नहीं सोचता... रूस की बोल्शेविक सरकार न तो इस दुर्गति के पैदा होने के लिए उत्तरदायी है, न उसके जारी रहने के लिए ही... इस विशाल, चरमराते, दीवालिया साम्राज्य को छह वर्ष लंबे शक्तिहर युद्ध की आग में कम्युनिज़्म ने नहीं, वरन यूरोपीय साम्राज्यवाद ने झोंका था। न ही कम्युनिज़्म

ने इस कष्टभोगी और संभवत: मरणासन्न रूस को बाहर से समर्थित धावों, हमलों और बग़ावतों से सताया है और इसपर अत्यंत नृशंसतापूर्ण नाकेबंदी थोपी है। इन मृत्युकालीन कष्टों के लिए प्रतिशोधी फ़्रांसीसी महाजन और जड़बुद्धि अंग्रेज़ पत्रकार किसी भी कम्युनिस्ट से कहीं अधिक ज़िम्मेदार है।"

आर्थिक कठिनाइयों के अलावा कई राजनीतिक कठिनाइयां भी थीं। गृहयुद्ध ख़त्म हो चुका था और ज़मींदारों के वापस लौटने का ख़तरा भी नहीं रह गया था, अत: किसान फ़ाज़िल अनाज की हुक्मी वसूली यानी अपना बेशी उत्पादन सरकार को अनिवार्यत: दे देने की प्रणाली से असंतोष व्यक्त करने लग गये थे। मांग की गयी कि इस प्रणाली का अंत कर दिया जाना चाहिए और किसान अपना बेशी उत्पादन बाज़ार में बेचने तथा उससे प्राप्त पैसे से औद्योगिक माल ख़रीदने को स्वतंत्र होने चाहिए।

समाजवादी-क्रांतिकारियों ने किसानों के इस असंतोष से भरपूर लाभ उठाया और कई स्थानों पर कुलकों (धनी किसानों) से बलवे क़रवाये, जिन्हें मध्यम श्रेणी के किसानों के बहुसंख्य समूहों का भी समर्थन प्राप्त हुआ। किंतु इन सबसे अधिक ख़तरनाक तो फ़रवरी, १९२१ में क्रोनश्तादत में बाल्टिक बेड़े के उन जहाज़ियों का विद्रोह था, जिनमें पर्याप्त राजनीतिक चेतना न थी और जो समाजवादी-क्रांतिकारियों और मेंशेविकों के उकसावे में आ गये थे।

युद्धजनित भारी कठिनाइयों की वजह से मज़दूरों के एक हिस्से में भी असंतोष फैल गया था। मेंशेविक और समाजवादी-क्रांतिकारी यहां भी पीछे न रहे और उन्होंने मज़दूरों को हड़तालों के लिए उकसाया। इसके अलावा बहुत से मज़दूर रोज़ी-रोटी की खोज में शहर छोड़कर गांव जाने या दस्तकारी के काम करने लगे थे, क्योंकि अधिकांश कल-कारख़ाने ठप्प पड़े थे। मज़दूर वर्ग के बिखराव की यह प्रक्रिया बहुत ही ख़तरनाक थी।

आर्थिक पुनर्निर्माण की योजना

ऐसी थीं वे अत्यंत कठिन और भीषण परिस्थितियां, जिनमें सोवियत जनता को शांतिमय निर्माण का कार्य आरंभ करना पड़ा। जब तक गृहयुद्ध ख़त्म होता, सोवियत सरकार देशव्यापी बिजलीकरण के आधार पर आर्थिक पुनर्निर्माण का एक बृहद् कार्यक्रम बना चुकी थी। उसे १९२० में ऊर्जा-विशेषज्ञों, अर्थशास्त्रियों और प्रविधिज्ञों के एक विशेष आयोग ने बनाया था, जिसका अध्यक्ष ऊर्जा-इंजीनियर, पुराना बोल्शेविक, व्ला० इ० लेनिन का



व्ला० इ० लेनिन अंग्रेज़ लेखक एच० जी० वेल्स से बातचीत करते हुए (१९२०)

घनिष्ठ मित्र ग० म० क्रजिजानोव्स्की था। १९२१ से क्रजिजानोव्स्की को राज्य योजना आयोग का अध्यक्ष भी नियुक्त कर दिया गया। बिजलीकरण की योजना को दिसंबर, १९२० में सोवियतों की आठवीं अखिल रूसी कांग्रेस ने पास कर दिया था। इस योजना के अनुसार अगले १०-१५ वर्षों में देश में कुल १५ लाख किलोवाट क्षमता के, जो तब देश में निर्मित सभी बिजली-घरों की क्षमता से डेढ़ गुना ज़्यादा थी, ३० बड़े बिजलीघर बनाये जाने थे। योजना में पुराने कल-कारखानों में नयी मशीनरी लगाने, उद्योगों का, विशेषत: धातुकर्म, मशीन-निर्माण जैसे भारी उद्योगों का आगे विकास करने का प्रावधान भी रखा गया था। संक्षेप में, यह समाजवादी समाज के माली व तकनीकी आधार के निर्माण की योजना थी।

कल्पनामूलक उपन्यासों का लेखक होने के बावजूद स्वयं एच० जी० वेल्स भी इस योजना के वृहद् पैमाने से दंग रह गया था। "कल्पना भी नहीं की जा सकती," वह लिखता है, "कि एक विशाल, सपाट, वनों से आच्छादित, निरक्षर किसानों के देश में, जहां न जल ऊर्जा है, न तकनीकी कौशल ही, और जहां व्यापार तथा उद्योग भी अंतिम सांस ले रहे हैं, ऐसी साहसिक योजना बनायी जायेगी!" उसने व्ला० इ० लेनिन को "क्रेमलिन का स्वप्न-

द्रष्टा" नाम दिया और कहा कि वह "यूटोपिया के, विजली के यूटोपिया के चक्कर में पड़ गये हैं"। किंतु वेल्स वड़े भारी भ्रम में था। लेनिन की विजलीकरण की योजना नियत समय से पहले ही पूरी कर ली गयी।

नयी आर्थिक नीति

शांतिमय निर्माण में प्रवृत्त होने पर सोवियत राज्य को सबसे पहले जो काम करना था, वह था शहर और देहात के वीच समुचित आर्थिक संवंधों की स्थापना। गृहयुद्ध के वर्षों में ये संवंध नहीं के बरावर रह गये थे। इस समस्या को हल किये विना अर्थव्यवस्था का पुनरुद्धार तथा विकास असंभव ही था। एक ऐसी आर्थिक नीति अपनाये जाने की ज़रूरत थी, जो इस मुख्य समस्या के समाधान में सहायक होती।

नयी आर्थिक नीति के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने से पहले व्ला० इ० लेनिन ने अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में सोवियत सरकार द्वारा उस समय तक उठाये गये क़दमों का सर्वांगीण विश्लेषण किया। जनता की आवश्यकताओं और मनःस्थिति के वारे में जानने के लिए उन्होंने मजदूरों और किसानों से वातें कीं, 'वेद्नोता' (दीन-हीन) समाचारपत्र में प्रकाशित किसानों के पत्रों को मनोयोगपूर्वक पढ़ा। लेनिन किसानों के इन पत्रों को सच्चे मानवीय दस्तावेज़ समझते थे। इन सव सामग्रियों ने उन्हें नयी आर्थिक नीति के आधारों और उसके कार्यान्वयन के तरीक़ों का निर्धारण करने में बड़ी मदद दी।

नयी नीति के अनुसार सबसे पहले फ़ाज़िल अनाज की हुक्मी वसूली वंद करके किसानों पर नियत जिंसी कर लगाया जाना था। एतद्संवंधी निर्णय पहले रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (वोल्शेविक) की दसवीं कांग्रेस (मार्च, १९२१) और फिर अखिल रूसी कार्यकारिणी ने पास किया। नयी कराधान योजना के अंतर्गत कर-संग्रहण हुक्मी वसूली प्रणाली की अपेक्षा ५० प्रतिशत कम हो गया। कर-निर्धारण संपत्ति के परिमाण के अनुसार किया जाता था, यानी ग़रीव किसान से कुछ नहीं, मध्यम श्रेणी के किसान से थोड़ा-वहुत और अमीर किसान (कुलक) से काफ़ी अधिक। टैक्स दे देने के वाद किसान के पास जो फ़ाज़िल उत्पादन वचा रहता, उसे वह वाजार में वेचने को स्वतंत्र था। व्यापार शहर और देहात के वीच आर्थिक संपर्क का मुख्य साधन वन गया। निजी व्यापार की भी अनुमति दे दी गयी। इसके साथ ही राजकीय और सहकारी व्यापार भी विकास करने लगा।

जिंसी कर लागू किये जाने और फ़ाज़िल अनाज वाज़ार में वेचने की अनुमति मिल जाने से किसान उत्पादन वढ़ाने के लिए प्रोत्साहित हुआ। यह किसान और समाज, दोनों के हित में था।

सरकार ने स्वैच्छिकता के आधार पर विभिन्न प्रकार की ग्रामीण सहकारी संस्थाओं के संगठन को भी हर तरह से प्रोत्साहन दिया। इन संस्थाओं को ऋण और कर-माफ़ियां दी गयीं। शनैःशनैः वे किसानी के विकास और शहर तथा देहात के बीच आर्थिक संबंधों की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगीं।

उद्योगों को शीघ्रातिशीघ्र बहाल करने और उपभोक्ता मालों का उत्पादन बढ़ाने के लिए राज्य ने अपनी शक्ति और साधन बड़े उद्यमों के पुनरुद्धार पर संकेंद्रित किये और छोटे उद्यम सहकारी संस्थाओं और निजी उद्यमियों को पट्टे पर दे दिये। कुछ औद्योगिक प्रतिष्ठान पट्टे पर विदेशी पूंजीपतियों को भी दिये गये। निजी उद्यमियों को छोटे औद्योगिक उद्यम स्थापित करने की अनुमति भी मिली।

राजकीय उद्योगों की प्रबंध व्यवस्था का पुनर्गठन करके अतिशय केंद्रीयकरण ख़त्म किया गया और उद्यमों को राजकीय आर्थिक इमदाद बंद करके उनके आत्मनिर्भर बनने पर ज़ोर दिया जाने लगा। उद्योगों को श्रम-शक्ति मुहैया करने के असाधारण उपायों – अनिवार्य श्रम सेवा, श्रम लामबंदी – पर रोक लगा दी गयी और मज़दूरों की रोज़गार दफ़्तरों के ज़रिये भरती की जाने लगी, जो रोज़गार के अभ्यर्थियों का विवरण रखते थे। श्रम के परिमाण तथा गुणवत्ता के अनुसार मेहनताना दिया जाने लगा। फलस्वरूप मज़दूरों की अपनी योग्यता तथा श्रम-उत्पादिता बढ़ाने में रुचि पैदा हुई।

व्यापार के विकास तथा उद्यमों की आत्मनिर्भरता के लिए स्थिर मुद्रा-प्रणाली की ज़रूरत थी। किंतु गृहयुद्ध की वजह से देश की मुद्रा का पूरी तरह मूल्य-ह्रास हो चुका था। अतः १९२२ में स्वर्ण-समर्थित "चेर्वोनेत्स" (दस रूबल के नोट) जारी किये गये। १९२४ में एक और मुद्रा सुधार करके रूबल की विनिमय-दर स्थिर बना दी गयी।

निजी व्यापार, राजकीय प्रतिष्ठान निजी उद्यमियों को पट्टे पर दिये जाने, आदि की वजह से अर्थतंत्र में पूंजीवादी तत्त्वों का कुछ हद तक बढ़ना अनिवार्य था।

फलस्वरूप पूंजीवादी और समाजवादी तत्त्वों के बीच घोर प्रतिस्पर्धा शुरू हुई। दोनों एक दूसरे को दबाना, ख़त्म करना चाहते थे। किंतु अर्थव्यवस्था की मुख्य कुंजियां, जैसे बड़े और मंझोले उद्योग, परिवहन, विदेश व्यापार और भूमि सोवियत राज्य के नियंत्रण में रहे, जो उन्हें सुदृढ़ और विकसित करने के लिए हर उपाय कर रहा था और साथ ही पूंजीवादी तत्त्वों पर सीमाएं लगाने व क्रमशः पूर्ण रूप से ख़त्म कर देने की नीति बरत रहा था। अतः विजय समाजवादी तत्त्वों की ही होनी थी। नयी आर्थिक नीति ने मज़दूर वर्ग और किसान समुदाय के आर्थिक गठबंधन को मज़बूत बनाया,

सोवियत राज्य को सुदृढ़ किया, उत्पादक शक्तियों के समाजवाद की दिशा में विकसित होने में योग दिया और समाजवादी अर्थव्यवस्था के सफल निर्माण की प्रत्याभूति की।

कृषि का पुनरुद्धार

रूस के मज़दूरों और किसानों ने नयी आर्थिक नीति का स्वागत किया और वड़े उत्साह के साथ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण करने लगे। १६२१ में किसानों ने वसंतकालीन बोवाई का अभियान सफलतापूर्वक पूरा किया। किंतु उस साल ग्रीष्म में देश के मुख्य अनाज-उत्पादक इलाक़ों – वोल्गा प्रदेश, उक्रइना तथा उत्तरी काकेशिया – में भयंकर सूखा पड़ा। वोल्गा प्रदेश में तो सारी ही फ़सल वरवाद हो गयी। देश पर भीषण अकाल के वादल मंडराने लगे।

सोवियत सरकार ने अकालपीड़ितों की सहायतार्थ तात्कालिक उपाय किये। सूखाग्रस्त इलाक़ों को हज़ारों टन खाद्यान्न भेजे गये, लोगों के लिए, मुख्यतया वच्चों के लिए, मुफ़्त भोजन की व्यवस्था की गयी। महामारियों का प्रकोप रोकने के लिए वृहद् पैमाने पर चिकित्सा तथा स्वच्छता संवंधी क़दम उठाये गये। "दस की रोटी ग्यारह खायें!" – इस नारे के तहत देशव्यापी सहायता अभियान चलाया गया।

विदेशों में कम्युनिस्ट आंदोलन की एक प्रमुख सदस्य क्लारा ज़ेटकिन के नेतृत्व में अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर सहायता समिति संगठित की गयी। मज़दूरों के चंदों से खाद्य-वस्तुएं और दवाएं ख़रीदी गयीं और अकालग्रस्त प्रांतों में कई वालगृह खोले गये। सुप्रसिद्ध नार्वेजियाई ध्रुवक्षेत्र अन्वेषक एफ़० नानसेन, महान फ़्रांसीसी साहित्यकार आंरी वारव्यूस तथा अनातोले फ़्रांस जैसे प्रगतिशील पश्चिमी वुद्धिजीवियों ने भी रूस के अकालपीड़ितों की सहायता के निमित्त वहुत कुछ किया।

इन सव व्यापक आपात उपायों की वदौलत लाखों जानें वचायी जा सकीं। १६२१ की शरदकालीन वोवाई समय पर पूरी हो गयी और १६२२ तथा १६२३ की भरी-पूरी फ़सलों ने सूखे के कुपरिणामों से जूझने, देश के अन्नागारों की पुनःपूर्ति करने और किसानों की दशा सुधारने में बड़ी मदद की।

सरकार ने किसानों को ज़मीन वटाई पर देने, उजरती मज़दूर लगाने और इच्छानुसार भू-उपयोग का तरीक़ा चुनने की अनुमति दे दी। कृषि-सहायक मशीनों और उपकरणों का उत्पादन करनेवाले उद्योगों के तीव्र विकास के लिए क़दम उठाये गये। १६२४ में लेनिनग्राद का पुतीलोव कारख़ाना और ख़ारकोव का लोकोमोटिव निर्माण कारख़ाना ट्रैक्टर वनाने लगे। विशाल

मात्रा में कृषि मशीनों और उपकरणों का विदेशों से आयात भी किया गया और किसानों को रिआयती शर्तों पर बेचे गये। १६२४ में एक केंद्रीय कृषि बैंक और उसकी कई शाखाएं भी खोली गयीं, जो किसानों को आसान शर्तों पर ऋण देती थीं।

१६२३ में किसानों को अपना माल बेचने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अनाज की कीमतें बहुत गिर गयीं, जबकि औद्योगिक मालों के दाम बढ़ते ही जा रहे थे, क्योंकि उनकी सप्लाई अभी कम ही थी। फलस्वरूप किसानों में असंतोष फैलने लगा।

सोवियत राज्य ने इन आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए निर्णायक क़दम उठाये। औद्योगिक मालों के दाम घटा और अनाज व अन्य कृषि मालों के क्रय मूल्य बढ़ा दिये गये। फलस्वरूप, कृषि का तेज़ी से पुनरुद्धार होने लगा। १६२५ में यह प्रक्रिया सामान्यतः पूरी हो गयी।

उद्योगों का पुनरुद्धार

कल-कारख़ानों, खानों, बिजलीघरों, आदि का पुनरुद्धार भी उत्तरोत्तर तीव्र गति से होने लगा था। फलस्वरूप १६२३ में राजकीय औद्योगिक उद्यम १६२० के मुक़ाबले ३ गुना अधिक मालों का उत्पादन कर सके।

राज्य द्वारा नियंत्रित उद्योगों की बहाली योजनाबद्ध ढंग से हो रही थी। प्राथमिकता सबसे बड़े और महत्त्वपूर्ण उद्यमों को दी गयी और बंद पड़े उद्यमों की मशीनरी, कच्चे माल, ईंधन तथा श्रमशक्ति को उनमें स्थानांतरित कर दिया गया।

राजकीय उद्यमों में उजरत पद्धति लागू की गयी, जिसका मतलब यह था कि अधिक कुशल और अधिक उत्पादक श्रम के लिए अधिक मेहनताना मिलता था। बहुत अच्छा काम करनेवालों को नक़द इनाम दिया जाता था और श्रम-वीर की सम्मान पदवी तथा विशेष रूप से संस्थापित श्रम का लाल पताका पदक से विभूषित किया जाता था।

राजकीय उद्यमों के सुचारु काम के लिए अपने को उत्तरदायी समझते हुए कामगार उनके यथाशीघ्र पुनर्निर्माण तथा विकास के उपाय तथा साधन ढूंढ़ते थे। इस संबंध में उत्पादन बैठकों ने, जिनकी शुरुआत १६२३ में हुई थी, बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी, क्योंकि वे अग्रणी मज़दूरों और इंजीनियरों को अपने उद्यम की उत्पादन समस्याओं पर मिल-जुलकर विचार करने और उत्पादन के तरीक़ों में सुधार के सुझाव रखने का अवसर देती थीं।

१६२४ और १६२५ में एक बहुत ही सफल उत्पादिता-वृद्धि आंदोलन चला। पुरोगामी मज़दूरों ने स्वेच्छा से अपने उत्पादन कोटा बढ़ाये, एक साथ

कई मशीन-यंत्रों पर काम करना शुरू किया, मशीनों के खाली खड़े रहने का समय न्यूनतम करने की कोशिशें कीं और श्रम अनुशासन के उल्लंघनों के विरुद्ध जेहाद छेड़ा।

मज़दूर वर्ग के इन सामूहिक प्रयासों और उत्पादन में अन्य सुधारों की बदौलत श्रम-उत्पादिता निरंतर बढ़ती गयी। जैसा कि सोवियत संघ की सर्वोच्च राष्ट्रीय अर्थ परिषद के अध्यक्ष फ़ेलिक्स द्ज़ेरजींस्की ने १९२५ में कहा था, "अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में दिखाया गया यह पराक्रम हमारे मज़दूरों और किसानों द्वारा युद्ध के मोर्चे पर दिखाये गये पराक्रम से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है।"

मज़दूरों के शौर्यपूर्ण श्रम और सोवियत राज्य के कुशल निदेशन की बदौलत देश के औद्योगिक पुनरुद्धार की प्रक्रिया पांच ही वर्षों में पूरी हो गयी। यह ऐसा चमत्कार था कि पश्चिम भी उसे देखकर दंग रह गया। दो ही वर्ष पहले, १९२३ में संयुक्त राज्य अमरीका के विदेश सचिव ह्यूज़ ने कहा था कि न इसकी कोई आशा ही है और न ऐसा सोचने के लिए कोई आधार ही है कि रूस पुनः अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा। किंतु यह उसका खयाली पुलाव ही था। रूस न सिर्फ़ पुनः अपने पैरों पर खड़ा हो गया, उसने यह पहले महायुद्ध में भाग लेनेवाले कई देशों से कहीं पहले भी कर दिखाया, हालांकि उन देशों में इतना नुक़सान नहीं हुआ था। मिसाल के लिए, फ़्रांस को, जिसका औद्योगिक उत्पादन १९२० में १९१३ के ६२ प्रतिशत के बराबर था (रूस में तो वह कोई १४ प्रतिशत ही रह गया था), युद्धपूर्व के स्तर पर पहुंचने में ६ साल लगे और जर्मनी को ९ साल।

सोवियत जनतंत्रों के औद्योगिक पुनरुद्धार तथा विकास के तीव्रीकरण में इस तथ्य ने भी बहुत महत्त्वपूर्ण योग दिया कि १९२२ के अंत में वे स्वेच्छा से सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ में ऐक्यबद्ध हो गये थे।

बहुजातिक राज्य – सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ की स्थापना

सोवियत सत्ता – ऐक्यबद्धता का आधार

मानवजाति के इतिहास में ऐसे अनेक राज्य हुए हैं, जो विभिन्न जनों के जमघट थे, जैसे कि प्राचीन काल के विशाल साम्राज्य, नेपोलियन का साम्राज्य, आस्ट्रो-हंगेरियाई साम्राज्य, ब्रिटिश साम्राज्य, रूसी साम्राज्य,

आदि। सामान्यतः ये सब राज्य एक जाति या जन के शासक हल्क़ों द्वारा बहुत सी दूसरी जातियों या जनों को जीतने और अपने अधीनस्थ करने के परिणाम थे। इसलिए उनमें जातीय उत्पीड़न अपने चरम रूप में दिखायी देता था। अपनी सत्ता या प्रभुत्व बनाये रखने के लिए यह बहुत ही अल्पसंख्यक शासक तबक़ा प्राचीन रोमन विजेताओं की "बांटो और राज करो" की नीति पर अमल करता था। वह एक उत्पीड़ित जन को दूसरे उत्पीड़ित जन के विरुद्ध भड़काता था, उनमें फूट डालता था और इस तरह उन्हें साझे शत्रु के विरुद्ध संघर्ष के निमित्त एक होने से रोकता था। यही बात बूर्जुआज़ी और ज़मींदारों द्वारा शासित रूसी साम्राज्य पर भी लागू होती थी। इससे ज़ारशाही को बहुसंख्य ग़ैर-रूसी जातियों पर ही नहीं, रूसी मज़दूरों और किसानों पर भी अपना नियंत्रण व प्रभुत्व बनाये रखने में मदद मिलती थी।

सोवियत सत्ता, जो स्वयं जनता की, मज़दूरों और किसानों की सत्ता है, अपनी प्रकृति से ही अत्यंत अन्तर्राष्ट्रीयतावादी है। वह सभी जनों को, सभी जातियों के मेहनतकशों को सहबद्ध, एकजुट हुआ देखना चाहती है, क्योंकि यही उसके अस्तित्व का आधार है। "हम बांटकर नहीं, जैसा कि प्राचीन रोम का क्रूर नियम था, बल्कि सभी मेहनतकशों को जीवंत हितों के, वर्ग चेतना के अटूट बंधनों द्वारा सहबद्ध बनाकर शासन करते हैं," व्ला० इ० लेनिन ने कहा था। सोवियत सत्ता के परचम तले एक सबसे ऐक्यबद्ध, अटूट बहुजातिक राज्य – सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ – क़ायम हुआ है। यह पृथक् होने के अधिकार समेत सभी अधिकारों का समान रूप से उपयोग करनेवाले संप्रभु सोवियत जनतंत्रों का स्वैच्छिक संघ है। उसकी स्थापना के बाद से अब तक अगर एक भी जनतंत्र ने अपने अलग होने के अधिकार का उपयोग नहीं किया है, तो इसका कारण केवल यह है कि संघ की सदस्यता प्रत्येक जनतंत्र के मौलिक हितों के अनुरूप है।

सोवियत जनतंत्रों का सहबद्धता आंदोलन

सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ – सोवियत संघ – की स्थापना १९२२ के अंत में हुई। इससे पहले पांच वर्ष तक विभिन्न सोवियत जनतंत्रों का स्वतंत्र राज्यों के रूप में अपना पृथक् अस्तित्व बना रहा था। इन पांच वर्षों के अनुभव और उनके परस्पर संबंधों के संपूर्ण विकास ने उन्हें सहबद्ध होने की आवश्यकता का क़ायल कर दिया और अंततः उनसे यह क़दम उठवाया भी। इसकी पृष्ठभूमि निम्न थी।

सोवियत सरकार द्वारा १५ नवंबर, १९१७ को प्रकाशित "रूस की

जनता के अधिकारों का घोषणापत्र" के आधार पर भूतपूर्व रूसी साम्राज्य के बहुत से जनों ने अपने को स्वतंत्र सोवियत जनतंत्र घोषित कर दिया था। ये थे उक्रइनी, बेलोरूसी, एस्तोनियाई, लाटवियाई, लिथुआनियाई, आज़र-बैजानी, आरमीनियाई और जार्जियाई जनतंत्र। रूसी सोवियत जनतंत्र की सरकार ने तुरंत उन्हें औपचारिक मान्यता दे दी। फिर जनवरी, १९१८ में रूसी जनतंत्र ने अपने को संघात्मक जनतंत्र घोषित कर दिया, जिसके अस्तित्व के आरंभिक वर्षों में उसके अंतर्गत अनेक स्वायत्त जनतंत्र और प्रदेश पैदा हुए, जैसे तातार, बश्कीर, तुर्किस्तान आदि। इन स्वायत्त जनतंत्रों व प्रदेशों की अपनी विधायी संस्थाएं और कार्यांग थे। स्वायत्त जनतंत्र और प्रदेश आज़रबैजान और जार्जियाई जनतंत्रों में भी गठित हुए।

इस प्रकार जो बहुत सी जातियां ज़ारशाही द्वारा उत्पीड़ित और अपने अधीनस्थ बना ली गयी थीं, उन्हें सोवियत सत्ता काल में जाकर ही राष्ट्रीय राज्यत्व प्राप्त हो सका।

किंतु राष्ट्रीय सोवियत जनतंत्रों ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व शुरू ही किया था कि आंतरिक प्रतिक्रांतिकारियों के साथ मिलकर साम्राज्यवादियों द्वारा आरंभ किये गये गृहयुद्ध व हस्तक्षेप के फलस्वरूप उन पर पराधीनता का घातक ख़तरा पुनः मंडराने लग गया। उससे रक्षा का उपाय था सभी सोवियत जनतंत्रों का घनिष्ठ सैनिक गठबंधन। १९१९ के ग्रीष्म में ऐसा गठबंधन बना लिया गया। उसने एस्तोनिया, लाटविया और लिथुआनिया को छोड़कर, जहां स्थानीय प्रतिक्रांतिकारियों ने विदेशी हस्तक्षेपकारियों के सक्रिय समर्थन से सोवियत सत्ता को उलट दिया था, शेष सभी सोवियत जनतंत्रों की स्वाधीनता की रक्षा में बहुत बड़ी भूमिका निभायी। गृहयुद्ध काल के ऐतिहासिक अनुभव ने सोवियत जनतंत्रों को दिखाया कि उन्हें अपना गठबंधन शांति काल में भी बनाये रखना चाहिये, क्योंकि वही भावी विदेशी आक्रमणों से उनकी रक्षा की गारंटी कर सकता था।

शांतिमय निर्माण का दौर शुरू होने पर स्वतंत्र सोवियत जनतंत्रों के परस्पर आर्थिक संबंधों और सहायता का प्रश्न अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण बनने लगा। सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता उन जनतंत्रों को थी, जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे या अपनी सीमान्त स्थिति के कारण विदेशी हस्तक्षेप और गृहयुद्ध से जिन्हें विशेष रूप से अधिक नुक़सान पहुंचा था। रूसी सोवियत जनतंत्र ने उनकी यथासंभव सहायता की, क्योंकि वही सबसे बड़ा और आर्थिक दृष्टि से सुविकसित था। १९२० के अंत में और १९२१ के पहले कुछ महीनों में सभी सोवियत जनतंत्रों ने रूसी जनतंत्र के साथ संधियां कीं, जिनमें सैनिक गठबंधन और आर्थिक सहबंध, दोनों का प्रावधान था। फलस्वरूप उनके बीच आर्थिक सहयोग का विकास और गहनीकरण हुआ। श्रम का विभाजन और

परिवहन व संचार साधनों का साझा जाल, जो क्रांतिपूर्व काल में ही विकास कर चुके थे, इस सहयोग के आधार बने।

सोवियत जनतंत्र वैसे तो गृहयुद्ध के वर्षों से ही राजनय के क्षेत्र में मिल-जुलकर कार्य करने लग गये थे। मगर गृहयुद्ध के बाद जब पूंजीवादी देशों के साथ राजनयिक व आर्थिक संपर्क क़ायम होने लगे और जब प्रमुख पूंजीवादी राज्यों ने राजनयिक व आर्थिक क्षेत्रों को ही अपने सोवियतविरोधी संघर्ष का मुख्य अखाड़ा बना दिया, तो संयुक्त राजनयिक मोर्चे की आवश्यकता और भी प्रखरता के साथ अनुभव की गयी।

१९२२ में जब जेनोआ सम्मेलन होनेवाला था, सभी सोवियत जनतंत्रों ने रूस के साथ एक राजनयिक सहबंध कर लिया, जिसके अनुसार सम्मेलन में उनका प्रतिनिधित्व और उनके हितों की रक्षा करने का प्राधिकार रूसी प्रतिनिधिमंडल को दे दिया गया। यह राजनयिक सहबंध लोज़ान सम्मेलन (१९२२-१९२३) के दौरान भी काम करता रहा, जिसमें रूसी प्रतिनिधिमंडल ने सभी सोवियत जनतंत्रों की पैरवी की।

सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ का निर्माण

इस प्रकार सोवियत जनतंत्रों के बीच यथानुकूल संधियों पर आधारित सैनिक गठबंधन, आर्थिक सहबंध और संयुक्त राजनयिक मोर्चा अस्तित्व में आ गये थे। फिर भी उनकी अपर्याप्तता और अस्पष्टता अधिकाधिक प्रकट होती जा रही थी। उदाहरण के लिए, सर्वोच्च सत्ता निकायों के परस्पर संबंधों का नियंत्रण करनेवाले विनियम काफ़ी अस्पष्ट थे और योजना-निर्माण तथा वित्तीय निकायों के कार्य में पर्याप्त समन्वय नहीं था, जिससे आर्थिक विकास में बाधा पड़ती थी। मुख्यतया छोटे और पिछड़े जनतंत्रों के हित में इन कमियों को दूर किया जाना आवश्यक था। अतः सोवियत जनतंत्रों के घनिष्ठतर संघ की स्थापना का सवाल उन्होंने ही सबसे पहले उठाया।

किंतु संघ का ऐसा फ़ार्मूला तत्काल न ढूंढ़ा जा सका, जो कि उसके सभी सदस्यों के हितों के अधिकतम अनुरूप होता। कतिपय पार्टी और सरकारी कार्यकर्त्ताओं का सुझाव था कि सभी स्वतंत्र सोवियत जनतंत्रों को स्वायत्त जनतंत्रों का दर्जा देकर रूसी संघ में शामिल कर लिया जाना चाहिये। इस योजना का दोष यह था कि इससे जनतंत्रों के संप्रभु अधिकारों का उल्लंघन हो सकता था।

लेनिन ने इस सुझाव की आलोचना की। उन्होंने पूर्ण समानता पर आधारित नया संघ राज्य बनाने की अपील की। उसमें शामिल होनेवाले जनतंत्रों को अपने कुछ संप्रभु अधिकार, जैसे विदेशी मामलों, राष्ट्रीय सुरक्षा,

वित्त और राष्ट्रीय आर्थिक आयोजना के क्षेत्रों में, संघ राज्य को हस्तांतरित कर देने थे। शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, घरेलू मामलों, आदि के क्षेत्रों में उनकी पूर्ण और समान संप्रभुता बनी रहनी थी। संपूर्ण संघ से संबंधित कार्यों का संचालन अखिल संघीय विधायी तथा कार्यकारी निकायों द्वारा किया जाना था। संघ का सदस्य बननेवाले हर जनतंत्र का अलग होने का अधिकार यथावत बना रहना था।

लेनिन के प्रस्ताव का सभी जातियों के मेहनतकशों ने सोत्साह स्वागत किया। कई महीने तक सोवियतों की कांग्रेसों, पार्टी कांग्रेसों और मेहनतकशों की सभाओं में इस प्रश्न पर बहस चलती रही। अंततः एक विशेष आयोग ने, जिसमें सभी जनतंत्रों के प्रतिनिधि थे, सभी सोवियत जनतंत्रों के एक संघ – सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ – में सहबद्ध होने से संबंधित घोषणापत्र तथा संधि के मसविदे तैयार किये।

३० दिसंबर, १९२२ को मास्को में सोवियतों की एक कांग्रेस हुई, जिसमें रूसी, उक्रइनी तथा बेलोरूसी जनतंत्रों और उसी वर्ष के आरंभ में आज़रबैजान, आरमीनिया तथा जार्जिया के सहमिलन से बने पार-काकेशियाई फ़ेडरेशन के प्रतिनिधि उपस्थित थे। कांग्रेस ने सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ के निर्माण का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया और संबंधित घोषणापत्र व संधि की संपुष्टि की। इन्हीं दस्तावेज़ों के आधार पर आगे चलकर एक विशेष आयोग ने सोवियत संघ का संविधान बनाया। सभी जनतंत्रों में उसपर ध्यानपूर्वक विचार किया गया और अंततः जनवरी, १९२४ में सोवियत संघ की सोवियतों की दूसरी कांग्रेस में उसे अंगीकार कर लिया गया।

सोवियत संघ का यह पहला संविधान संघ के अधिकारों और उसके सदस्य जनतंत्रों के हितों की हर प्रकार से रक्षा करता था। संघ के सर्वोच्च विधायी निकाय के जातीय सदन का उद्देश्य ही संघ के सदस्य जनतंत्रों के विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करना था। संविधान प्रत्येक जनतंत्र को संघ से जब चाहे तब अलग होने का अधिकार और सभी मौजूदा व भावी सोवियत जनतंत्रों को संघ में निर्बाध सम्मिलित होने का अवसर देता था। बाद में बननेवाले अनेक सोवियत समाजवादी जनतंत्रों ने इस अवसर से लाभ उठाया।

नये जनतंत्रों की स्थापना और सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ में उनका सम्मिलन

जब सोवियत संघ की स्थापना हुई थी, मध्य एशिया में तुर्किस्तान स्वायत्त सोवियत समाजवादी जनतंत्र के अलावा, जो रूसी संघ का अंग था, बुख़ारा और ख़्वारज़्म के लोक सोवियत जनतंत्र भी थे। वे उस समय सोवियत



भूमिहीन किसानों को ज़मीन और मवेशियों पर मिल्कीयत के पट्टे दिये जा रहे हैं (फ़रगना इलाक़ा, १९२५)

संघ में शामिल नहीं हुए, चूंकि वे समाजवादी जनतंत्र नहीं थे। किंतु शरद, १९२३ में ख़्वारज़्म ने और साल भर बाद बुख़ारा ने भी विकास का समाजवादी पथ अपना लिया।

अब मध्य एशिया में राष्ट्रीय सोवियत राज्यों का निर्माण किया जा सकता था और ऐसा करना ज़रूरी भी था। उज़्बेक, ताजिक और तुर्कमान जातियों के लोग अब तक तीन राज्यों – तुर्किस्तान स्वायत्त सोवियत समाजवादी जनतंत्र, बुख़ारा सोवियत समाजवादी जनतंत्र और ख़्वारज़्म सोवियत समाजवादी जनतंत्र – में बंटे हुए थे। यह पुरानी ज़ारशाही उपनिवेशवादी नीति का ही एक अवशेष था। १९२४ के शरद में मध्य एशिया की जनता की पहल पर और जातियों के आधार पर क्षेत्रीय पुनर्विभाजन किया गया, जिसके फलस्वरूप उज़्बेक सोवियत समाजवादी जनतंत्र, जिसके क्षेत्र में उज़्बेक जाति की विशाल बहुसंख्या आ जाती थी, तुर्कमान सोवियत समाजवादी जनतंत्र, जिसमें लगभग सभी तुर्कमान आ गये, ताजिक स्वायत्त जनतंत्र, जो उज़्बेक जनतंत्र का अंग था, और कई पृथक स्वायत्त प्रदेश बने। बुख़ारा, ख़्वारज़्म सोवियत समाजवादी जनतंत्रों और तुर्किस्तान स्वायत्त सोवियत समाजवादी जनतंत्र को भंग कर दिया गया।

फ़रवरी, १९२५ में उज़्बेक और तुर्कमान सोवियत समाजवादी जनतंत्रों की सोवियतों की कांग्रेसों ने सोवियत संघ में शामिल होने के प्रस्ताव पास किये। १३ मई, १९२५ को सोवियतों की तीसरी अखिल संघीय कांग्रेस में इन जनतंत्रों की प्रार्थना पर विचार किया गया और उन्हें सोवियत संघ में सम्मिलित कर लिया गया। १९२९ में ताजिक स्वायत्त जनतंत्र ने, जो तब तक अर्थव्यवस्था और संस्कृति के क्षेत्र में महती उपलब्धियां हासिल कर चुका था, अपने को स्वतंत्र सोवियत समाजवादी जनतंत्र घोषित कर दिया और एक संघीय जनतंत्र के तौर पर सोवियत संघ में शामिल हो गया। १९३६ में कज़ाख़ और क़िर्गिज़ जनतंत्र, जो तब तक रूसी संघ के अंतर्गत स्वायत्त जनतंत्र थे, और आज़रबैजान, आरमीनिया तथा जार्जिया, जो पार-काकेशियाई संघ के अंग थे, स्वतंत्र होकर संघीय जनतंत्रों के नाते सोवियत संघ में सम्मिलित हो गये। १९४० में मोल्दाविया, एस्तोनिया, लाटविया और लिथुआनिया के सोवियत समाजवादी जनतंत्र भी सोवियत संघ के पूर्णाधिकारप्राप्त सदस्य बने।

सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ की स्थापना ने उन सभी जनों के समक्ष सर्वांगीण विकास की अभूतपूर्व संभावनाएं प्रस्तुत कीं, जिन्होंने मिलकर यह संघ राज्य बनाया था। सोवियत संघ के निर्माण ने इन जनों के बीच भ्रातृत्व तथा मैत्री के संबंध सुदृढ़ बनाये और देश के आर्थिक पुनरुद्धार तथा समाजवादी निर्माण के लिए उन्हें अतिरिक्त शक्ति तथा साधन प्रदान किये।

लेनिन के निर्देश

लेनिन रोगशय्या पर

सोवियत संघ की स्थापना लेनिन के प्रत्यक्ष निदेशन में प्राप्त अंतिम महती उपलब्धि थी। लेनिन को सामान्य मानव की क्षमता से भी बढ़कर जो अत्यधिक मेहनत करनी पड़ी थी, उसने उनके स्वास्थ्य को जर्जर बना दिया था। इसके अतिरिक्त, अगस्त, १९१८ में लगी दो विषाक्त गोलियों के गहरे घाव भी अपना असर दिखा रहे थे। १९२१ की सरदियों से डाक्टर बार-बार उन्हें काम छोड़कर कुछ समय के लिए आराम करने को मजबूर करते आ रहे थे।

मई, १९२२ में प्रमस्तिष्क रक्तस्राव के कारण लेनिन के दायें हाथ व पैर को हल्का पक्षाघात हो गया और बोलने में भी कुछ दिक्कत होने लगी। चिकित्सा और विश्राम के लिए वह मास्को से कुछ दूर गोर्की नामक स्थान पर चले गये। चंगे होने पर अक्तूबर, १९२२ के आरंभ में वह मास्को लौट

उन्हें लंबे समय के लिए शय्याग्रस्त कर दिया। लेनिन भली भांति जानते थे कि उनकी बीमारी किसी भी क्षण जानलेवा साबित हो सकती है। इसलिए ज्यों ही तबीयत कुछ सुधरी, यानी १९२२ के अंत और १९२३ के आरंभ में, उन्होंने कई पत्र और लेख बोलकर लिखवाये, जिनमें सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण का सिंहावलोकन और भावी कार्यभारों का निर्धारण किया हुआ था। ये पत्र और लेख ही पार्टी और जनता को व्ला० इ० लेनिन की राजनीतिक वसीयत और दित्सापत्र थे।

औद्योगीकरण — समाजवाद का आर्थिक आधार

लेनिन समझते थे कि देश को एक ऐसी प्रबल औद्योगिक शक्ति में बदलना ही समाजवाद के निर्माण की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शर्त है, जो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सभी शाखाओं को आधुनिकतम मशीनरी मुहैया करने और देश की आर्थिक स्वाधीनता तथा प्रतिरक्षा क्षमता सुनिश्चित बनाने में समर्थ हो। उन्होंने उत्पादन साधनों का निर्माण करनेवाले भारी उद्योग के विकास पर और देशव्यापी बिजलीकरण की भूमिका पर विशेष रूप से ज़ोर दिया।

लेनिन ने इस कार्यभार की पूर्ति में पड़नेवाली भीषण बाधाओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया। पूंजीवादी देशों का आर्थिक इतिहास दिखाता था कि पिछड़े हुए देश अधिक उन्नत देशों से मिले दीर्घावधि और बड़े ऋणों की बदौलत ही अपने भारी उद्योग का विकास कर सके थे। किंतु सोवियत संघ को ऐसे ऋण कहीं से नहीं मिल सकते थे, अतः उन्होंने कहा कि उसे अपने भारी उद्योग के विकासार्थ पूंजी घरेलू बचतों से ही जुटानी होगी। सरकारी कर्मचारियों की संख्या में यथासंभव कटौती करके और यहां तक कि स्कूलों का खर्च घटाकर भी किफ़ायत करना, मगर राज्य बजट में भारी उद्योग के पुनरुद्धार तथा विकास के लिए साधन ढूंढ़ना आवश्यक था। "अगर हम उन्हें मुहैया नहीं कर सकते," लेनिन ने लिखा था, "तो समाजवादी राज्य तो क्या, सभ्य राज्य के रूप में भी हमारा विनाश निश्चित है।" लेनिन को पक्का यक़ीन था कि सोवियत जनता कठिनाइयों पर पार पा सकेगी और देश का औद्योगीकरण करके रहेगी।

लेनिन की सहकारिता योजना

लेनिन मेहनतकश किसानों द्वारा बड़े पैमाने की सामूहिक कृषि पद्धति अपनाये जाने को समाजवाद निर्माण की दूसरी सब से महत्त्वपूर्ण शर्त मानते थे। उन्होंने कहा कि यह किसानों के लिए सबसे अधिक बोधगम्य, आसान और लाभकर तरीक़े से, यानी सहकारिता के ज़रिए किया जाना चाहिए। *शुरू में गांवों में सबसे सामान्य क़िस्म की सहकारी संस्थाएं क़ायम की जानी* चाहिये, क्योंकि उनसे किसानों को कुछ निश्चित आर्थिक लाभ होंगे, सामूहिक कारोबार के फ़ायदों का पता चलेगा, आर्थिक मामलों के सामूहिक प्रबंध की शिक्षा मिलेगी और इस तरह उनके आधुनिक मशीनें तथा उपकरण इस्तेमाल करनेवाली बड़ी उत्पादन सहकारी संस्थाओं (सामूहिक फ़ार्मों) में शनैःशनैः तथा स्वेच्छया संगठित होने में सहायता प्राप्त होगी।

लेनिन ने बारंबार आगाह किया कि "सर्वहारा राज्य को सामूहिक कृषि में संक्रमण केवल अत्यंत सावधानी के साथ व क्रमिक ढंग से, मिसालें पेश करके और मध्यम तबके के किसानों के साथ ज़ोर-जबर्दस्ती किये बिना करना चाहिये" और "मूल्य केवल उन्हीं संस्थाओं का होता है, जिन्हें किसानों ने स्वयं अपनी इच्छा से, अपनी पहल पर स्थापित किया होता है और जिनके फ़ायदे वे व्यवहार में देख चुके हैं।" लेनिन ने किसानों के सहकारी संस्थाओं में संगठित होने को सब तरह से प्रोत्साहित करने और उन्हें हर संभव राजकीय सहायता देने का आह्वान किया।

लेनिन के मत में सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण की, जिसमें किसानों का बड़े पैमाने की सामूहिक कृषि के पथ पर संक्रमण भी शामिल था, एक और अत्यंत महत्त्वपूर्ण शर्त थी सांस्कृतिक क्रांति। इसका मतलब था देश में निरक्षरता का पूर्ण उन्मूलन, सभी जातियों की भाषाओं में सार्विक तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था, सच्चे जन-बुद्धिजीवी समुदाय का निर्माण, जनता का समाजवादी सिद्धांतों की भावना में पालन और विज्ञान, साहित्य तथा कला का अधिकतम मुकुलन।

सोवियत राज्य – समाजवाद के निर्माण का मुख्य साधन

लेनिन मज़दूरों और किसानों के अटूट सहबंध पर आधारित सोवियत राज्य को समाजवाद और कम्युनिज़्म के निर्माण का सबसे निर्णायक राजनीतिक कारक मानते थे। इसलिए उन्होंने इस सहबंध को उत्तरोत्तर सुदृढ़ बनाने और

आंख की पुतली की तरह उसकी रक्षा करने का आह्वान किया। वह मज़दूरों और किसानों के सहबंध को समाजवाद और कम्युनिज़्म की पूर्ण विजय की प्रत्याभूति मानते थे।

सोवियत राज्य की शक्ति और अटूटता उसके विभिन्न जनों की परस्पर मैत्री, विश्वास तथा एकता में भी निहित थीं। अतः लेनिन सोचते थे कि इस मैत्री को बनाये रखना और उसका निरंतर विस्तार करते जाना भी समाजवाद के सफल निर्माण की एक अत्यावश्यक शर्त है।

लेनिन प्रशासन तंत्र को बेहतर व कमखर्च बनाने, जनता के साथ उसके संपर्कों में और अधिक घनिष्ठता लाने और राज्य कार्यों के संचालन में मज़दूर व किसान जनसामान्य को अधिकाधिक सहभागिता देने को अपार महत्त्व देते थे। इस संबंध में पार्टी और सरकारी नियंत्रण के समुचित संगठन को बहुत ही बड़ी भूमिका निभानी थी। व्ला० इ० लेनिन का सुझाव था कि केंद्रीय और स्थानीय, दोनों ही तरह के पार्टी व सरकारी नियंत्रण निकायों को मिला दिया जाये और मेहनतकशों के व्यापकतम हल्क़ों को उनके काम में भाग लेने के लिए प्रेरित किया जाये।

यदि समाजवाद निर्माण के संघर्ष में सोवियत राज्य को मज़दूर वर्ग का मुख्य हथियार बनना है, लेनिन ने लिखा, तो उसका नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी के हाथों में होना चाहिये, जो कि मज़दूर वर्ग की हरावल है, और यदि कम्युनिस्ट पार्टी को सोवियत राज्य की निदेशनकारी और पथप्रदर्शक शक्ति बनना है, तो उसे अपनी कतारों में पूर्ण एकता बनाये रखनी होगी, जनता के साथ अपने संपर्क सूत्रों को मज़बूत करते जाना होगा, उसे सिखाना और ख़ुद भी उससे सीखना होगा और लाखों-करोड़ों मेहनतकश लोगों को कम्युनिज़्म के निर्माण में प्रवृत्त करना होगा।

ये थे सोवियत संघ में समाजवाद निर्माण के संबंध में व्ला० इ० लेनिन द्वारा दिये गये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निर्देश। समाजवादी निर्माण के तब तक अर्जित अनुभव के आधार पर लेनिन ने सिद्ध किया कि पूर्ण समाजवादी समाज की रचना के लिए सोवियत संघ के पास सब कुछ है। उन्होंने दृढ़ विश्वास व्यक्त किया कि "...एक दिन में नहीं, मगर कुछ वर्षों में तो अवश्य ही हम सब मिलकर इस कार्यभार को पूरा कर लेंगे और तब नयी आर्थिक नीति का रूस समाजवादी रूस बन जायेगा।"

लेनिन के बिना
लेनिन के पथ पर

१० मार्च, १९२३ को लेनिन की बीमारी तीसरी बार उभर आयी। इस बार वह पहले से कहीं अधिक गंभीर थी। वाक्शक्ति बिल्कुल जाती रही और दायां हाथ व पैर भी लगभग निष्क्रिय हो गये। १४ मार्च से समाचारपत्रों में उनके स्वास्थ्य की बुलेटिनें छापी जाने लगीं, जिन्हें सारा राष्ट्र बड़े चिंताकुल मन से पढ़ता था। देश के सभी भागों से लेनिन को शीघ्रातिशीघ्र स्वास्थ्य-लाभ की कामना का संदेश लानेवाले पत्रों और तारों का तांता बंध गया। जनता के मन में लेनिन के लिए अगाध और असीम प्यार था। उनके स्वास्थ्य-लाभ के लिए लाखों लोग अपना जीवन तक न्यौछावर करने को तैयार थे।

सर्वोत्तम डाक्टर लेनिन का इलाज कर रहे थे। मई में ज्यों ही कुछ सुधार नज़र आया, उन्हें गोर्की ले गये। वह अपूर्व दृढ़ता के साथ अपनी बीमारी से जूझते रहे और इसका सुपरिणाम भी निकला – वह पुनः चलने-फिरने और पढ़ने लगे और बायें हाथ से लिखने का अभ्यास करने लगे। १८ अक्तूबर को वह मास्को आये और अपने क्रेमलिन स्थित निवास तथा कार्यालय में गये। दूसरे दिन उन्होंने कृषि प्रदर्शनी देखी और फिर गोर्की वापस चले आये।

सर्वत्र यही आशा की जा रही थी कि लेनिन शीघ्र ही अपने काम पर लौट आयेंगे। १९ जनवरी, १९२४ को जब मिख़ाईल कालीनिन ने सोवियतों की ग्यारहवीं अखिल रूसी कांग्रेस में घोषणा की कि लेनिन के डाक्टरों को उनके शीघ्र ही राजकीय कार्यों का बोझ फिर से संभाल लेने की आशा है, तो तालियों की गड़गड़ाहट से सारा सभाभवन गूंज उठा था।

किंतु २१ जनवरी को लेनिन की हालत एकाएक बेहद बिगड़ गयी और प्रमस्तिष्क रक्तस्राव से शाम के ६ बजकर ५० मिनट पर वह चल बसे। सोवियत जनता के शोक का पारावार न रहा। उसका प्यारा नेता और मित्र उससे छिन गया था। "सर्वहारा के महान मुक्ति आन्दोलन ने मार्क्स के बाद अपने सारे इतिहास में हमारे दिवंगत नेता, शिक्षक और मित्र जैसी और कोई महान विभूति नहीं पैदा की है," रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की केंद्रीय समिति ने पार्टी और सभी मेहनतकशों के नाम अपने शोक संदेश में कहा। "सर्वहारा में जो कुछ भी वास्तव में महान व उदात्त है – निर्भीक चिंतन, लौह, अनम्य, अटल और सर्वजयी संकल्प, दासता व उत्पीड़न से शाश्वत घोर घृणा, पर्वतसम बाधाओं को भी कुछ न समझनेवाला क्रांतिकारी आवेग, जनता की सृजनशक्ति में अगाध विश्वास और विपुल संगठनात्मक प्रतिभा – लेनिन इन सबके भव्य मूर्तिमान रूप थे, जिनका नाम पूर्व से लेकर

पश्चिम और उत्तर से लेकर दक्षिण तक नये विश्व का प्रतीक बन गया है।"

२३ जनवरी को व्लादीमिर इल्यीच लेनिन का पार्थिव शरीर गोर्की से मास्को ले आया गया और संघ भवन के स्तंभ महाकक्ष में रख दिया गया। पांच दिन और पांच रात लेनिन के अंतिम दर्शनार्थ शोकसंतप्त मज़दूरों और किसानों, पुरुषों और नारियों, लाल सैनिकों और युवाओं का तांता बंधा रहा। देश का ऐसा कोई कोना न था, जहां से मेहनतकशों के प्रतिनिधिमंडल महान लेनिन को श्रद्धांजलि अर्पित करने मास्को न आये हों।

२६ जनवरी को सोवियतों की दूसरी अखिल संघीय कांग्रेस की विशेष बैठक हुई, जिसमें मिखाईल कालीनिन, नदेज्दा क्रूपस्काया, जोज़ेफ़ स्तालिन, क्लारा ज़ेटकिन, आदि बोले। उनके भाषणों में सोवियत जनता की, जो अनाथ हो गयी थी, अथाह शोकपीड़ा व्यक्त हुई। मज़दूरों और किसानों की ओर से, अमर लेनिन द्वारा स्थापित कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से उन्होंने शपथ खायी कि लेनिन ने जो कार्य शुरू किया है, उसे विजयांतक परिणा. पर पहुंचाकर रहेंगे। लेनिन की स्मृति को शाश्वत बनाने के लिए कांग्रेस ने पेत्रोग्राद का नाम बदलकर लेनिनग्राद रखने, देश के सभी बड़े नगरों में लेनिन की प्रतिमाएं स्थापित करने और उनकी रचनाएं प्रकाशित करने का प्रस्ताव पास किया। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस ने यह निर्णय भी किया कि क्रेमलिन की दीवार के पास, क्रांति के शहीदों की सामूहिक क़ब्र के समीप एक समाधि बनायी जाये, जिसमें लेनिन का संलेपित शरीर रखा जायेगा और जो जनता के दर्शनार्थ खुली रहेगी।

२७ जनवरी, १९२४ को ४ बजे अपराह्न में लेनिन का अंत्येष्टि संस्कार संपन्न हुआ। पांच मिनट के लिए सारे देश में सभी कार्य रोक दिये गये: ट्रेनें ठहर गयीं, कल-कारखानों में काम बंद हो गया, फ़ैक्टरियों और इंजनों के भोंपू बज उठे। सारा राष्ट्र अपने महान नेता से अंतिम विदा ले रहा था। लेनिन की अंत्येष्टि के समय सारे विश्व के मज़दूर वर्ग ने पांच मिनट के लिए काम रोक दिया। पूंजीवादी देशों का सर्वहारा और उत्पीड़ित जनसामान्य भी लेनिन के निधन को अपनी महान क्षति समझ रहा था।

विश्व भर में लेनिन की स्मृति में सभाएं और प्रदर्शन हुए। चीनी जनता के अगाध शोक को शब्दों में व्यक्त करते हुए कैंटन की एक सभा में विख्यात चीनी जनवादी और क्रांतिकारी सुन यात-सेन ने कहा, "विश्व इतिहास में, विभिन्न युगों में ऐसे हज़ारों नेता और विद्वान हुए हैं, जिन्होंने ऊंची-ऊंची बातें कही थीं, मगर वे जीवन में चरितार्थ कभी नहीं हो पायीं। लेनिन, तुम इसके अपवाद थे। तुमने कहा ही नहीं, सिखाया ही नहीं, बल्कि अपने शब्दों को व्यवहार में चरितार्थ भी किया। तुमने एक नये देश को जन्म दिया ... तुमने हमें मिल-जुलकर संघर्ष करने का रास्ता दिखाया ... तुम महापुरुष

थे और उत्पीड़ित जनों के मन में तुम्हारी याद चिरकाल तक बनी रहेगी।"

लेनिन के निधन ने सोवियत संघ के मज़दूरों को कम्युनिस्ट पार्टी के गिर्द और अधिक एकजुट होने के लिए प्रेरित किया। हज़ारों-लाखों मज़दूर पार्टी की सदस्यता के लिए प्रार्थनापत्र देने लगे और पार्टी की केन्द्रीय समिति ने अग्रगामी मज़दूरों की इस पहल का स्वागत करते हुए सदस्यता अभियान छेड़ दिया। तीन ही महीनों में २,४०,००० से अधिक अग्रणी मज़दूर पार्टी में भरती हुए।

लेनिन नहीं रहे थे, किंतु उनका ध्येय युग-युगों तक जीवित रहनेवाला था। लेनिनीय पार्टी के नेतृत्व में और लेनिन की महान शिक्षाओं से मार्गदर्शन पाते हुए सोवियत जनता और भी उत्साह तथा दृढ़ निश्चय के साथ नये जीवन का निर्माण करती रही। सोवियत संघ के मज़दूर और किसान लेनिन के विना, लेनिन के पथ पर चलते रहे और इस तरह समस्त मानवजाति को समाजवाद की महादिशा दिखाते रहे।

सोवियत संघ का औद्योगिक राष्ट्र में रूपांतरण

औद्योगीकरण की राह पर

समाजवाद की दिशा में सोवियत जनता की प्रगति में कई महत्त्वपूर्ण पड़ाव आये हैं। ऐसा एक पड़ाव कम्युनिस्ट पार्टी की चौदहवीं कांग्रेस थी, जो दिसंबर, १९२५ में हुई थी। लेनिन के निर्देशों पर चलते हुए कांग्रेस ने देश के औद्योगीकरण को पार्टी की महानीति और जनता का मुख्य कार्यभार घोषित किया।

ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा कार्यभार हाथ में लेने का समय आ गया था। देश का औद्योगिक उत्पादन अपने युद्धपूर्व स्तर पर पहुंच चुका था। मगर यह स्तर क्या था? क्या उसी से संतुष्ट रहा जा सकता था? देश फिर भी कृषिप्रधान ही था: राष्ट्रीय उत्पादन में दो तिहाई योगदान कृषि का था। उद्योग केवल एक तिहाई राष्ट्रीय उत्पादन देते थे और वह भी मुख्यतः उपभोक्ता मालों के रूप में ही। उत्पादन के औज़ारों और साधनों का उत्पादन वहुत कम विकसित था। रसायन, मोटरगाड़ी, ट्रैक्टर, मशीन यंत्र और भारी मशीन-निर्माण जैसे उद्योगों का तो सर्वथा अभाव था। अधिकांश औद्योगिक प्रतिष्ठानों की मशीनरी पुरानी पड़ चुकी थी, वेकार हो गयी थी।

१९१७ में ही लेनिन ने लिखा था, "या तो मर जाना है, या फिर

आर्थिक रूप से उन्नत देशों के बराबर पहुंचना और उनसे आगे निकल जाना है।" बाद के वर्षों में भी उन्होंने बारंबार इस बात पर ज़ोर दिया था कि बड़े उद्योगों, विशेषतः भारी उद्योगों के बिना, बिजलीकरण के बिना रूस न केवल समाजवाद का निर्माण न कर सकेगा, बल्कि एक स्वतंत्र राज्य के रूप में अपना अस्तित्व ही गंवा बैठेगा। अतः ज्यों ही अर्थव्यवस्था की बहाली पूरी कर ली गयी, कम्युनिस्ट पार्टी ने औद्योगीकरण अभियान के आरंभ की घोषणा कर दी। उसका मुख्य लक्ष्य, जैसा कि पार्टी ने कहा, कृषिप्रधान, मशीनों और उपकरणों के आयातकर्त्ता सोवियत संघ को मशीनों और उपकरणों के उत्पादनकर्त्ता औद्योगिक राष्ट्र में बदलना था। निश्चय ही यह एक अत्यंत जटिल और कठिन कार्यभार था। इसके लिए सबसे पहले तो देश के अंदर ही विशाल मात्रा में पूंजी जुटाने की ज़रूरत थी, क्योंकि सोवियत संघ बाहर से बड़े ऋण पाने की उम्मीद नहीं कर सकता था।

दूसरी कठिनाई यह थी कि औद्योगीकरण कार्यक्रम अपेक्षया स्वल्प अवधि में ही पूरा किया जाना था, क्योंकि शांति का दौर देश के शत्रुओं द्वारा किसी भी समय भंग किया जा सकता था। नहले पर दहला यह कि देश में कुशल मज़दूरों, तकनीशियनों और इंजीनियरों की भारी कमी थी। फिर जो थोड़े बहुत पुराने विशेषज्ञ काम भी कर रहे थे, उनका भी एक भाग सोवियत-विरोधी भावनाएं रखता था और औद्योगीकरण में सहायक होने के बजाय, उल्टे, बाधक ही बन रहा था, उसे हर तरह से हानि पहुंचाने, विफल बनाने की कोशिश ही कर रहा था।

कम्युनिस्ट पार्टी ने खुले आम और ईमानदारी से जनता को इन और अन्य कठिनाइयों से अवगत कराया। मगर साथ ही उसने कहा कि उनपर विजय पायी जा सकती है और उसका रास्ता भी दिखाया। स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी में कुछ ऐसे अपेक्षया छोटे गुट थे, जो किसानों की क़ीमत पर बड़े उद्योगों का विकास करने की घातक नीति पार्टी पर लादने की कोशिश कर रहे थे (मिसाल के लिए त्रोत्स्की और ज़िनोव्येव के गुट) या फिर तीव्र औद्योगीकरण और भारी उद्योगों के विकास को प्राथमिकता देने के विरुद्ध थे (बुख़ारिन और रीकोव के गुट), हालांकि देश की प्रतिरक्षा क्षमता तथा स्वतंत्रता भारी उद्योगों के शीघ्र विकास पर ही निर्भर करती थीं। पार्टी ने लेनिन की नसीहतों के विरुद्ध जानेवाली इन भ्रामक नीतियों को ठुकरा दिया और जनता ने भी पार्टी में अपनी आस्था प्रकट करते हुए उसके द्वारा निर्दिष्ट लेनिनीय पथ का ही अनुगमन किया।

देश का औद्योगीकरण भली भांति तैयार की गयी दीर्घावधि तथा वार्षिक योजनाओं के अनुसार किया जाने लगा। १९२९ में सोवियतों की पांचवीं अखिल संघीय कांग्रेस ने सोवियत संघ की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास की

पहली पंचवर्षीय योजना स्वीकार की। यह वस्तुतः वृहद् पैमाने की योजना थी: उसके अनुसार समस्त राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में पूर्ववर्ती पांच वर्षों की अपेक्षा ढाईगुना और उद्योगों में चारगुना अधिक पूंजी लगायी जानी थी। इसके वाद दूसरी पंचवर्षीय योजना (१६३३-१६३७) आयी, जो पहली से भी वड़ी थी। इसमें १,३३,४०,००,००,००० रूबल पूंजी लगाने का प्रावधान था, जबकि पहली पंचवर्षीय योजना में केवल ५०,५०,००,००,००० रूबल ही लगाये गये थे। जहां तक तीसरी पंचवर्षीय योजना (१६३८-१६४२) का सवाल था, तो वह पहली और दूसरी योजनाओं को मिलाकर भी उनसे बड़ी थी। औद्योगीकरण की समस्त प्रक्रिया का निदेशन पार्टी और सोवियत सरकार के हाथों में था। वे निर्भीकता और दृढ़तापूर्वक सभी कठिनाइयों, कमियों और ग़लतियों का पता लगाती थीं, जो इतने विशाल पैमाने के कार्य में लगभग अनिवार्य सी होती हैं, मज़दूरों, तकनीशियनों और इंजीनियरों को उन्हें दूर करने के लिए प्रेरित करती थीं, औद्योगिक प्रबंध प्रणाली को निरंतर बेहतर वनाती जाती थीं, औद्योगीकरण के वित्तीयन के लिए अतिरिक्त साधन खोजती थीं, कुशल मज़दूरों व तकनीकी कर्मियों के प्रशिक्षण में तेज़ी लाने से संबंधित क़दम उठाती थीं, आदि, आदि।

कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत सरकार अपने सर्वोत्तम कार्यकर्त्ताओं को उद्योगों में प्रबंधकीय पदों पर नियुक्त करती थीं। देश के सर्वोच्च आर्थिक निकाय – सर्वोच्च राष्ट्रीय अर्थ परिषद – का अध्यक्ष १६३१ तक एक प्रमुख पार्टी कार्यकर्ता और प्रवंध संबंधी मामलों का विशेषज्ञ व० व० कूइबिशेव था। १६३१ में उसे राजकीय योजना आयोग का प्रमुख वना दिया गया, जो अव पहले से वड़ी भूमिका अदा करने लगा था। सर्वोच्च राष्ट्रीय अर्थ परिषद में कूइबिशेव का स्थान अब ग० क० ओर्जोनिकिद्ज़े ने ले लिया, जो औद्योगीकरण के ध्येय को समर्पित एक असामान्य संगठनकर्त्ता था। उसे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से संवंधित मामलों की वहुत अच्छी समझ थी। वह विभिन्न औद्योगिक प्रतिष्ठानों और निर्माण परियोजनाओं से घनिष्ठ संपर्क बनाये रहता था और अनेक प्रमुख मज़दूरों और इंजीनियरों से निजी तौर पर परिचित था। व्यवसाय प्रवंध के क्षेत्र में एक अन्य प्रमुख विशेषज्ञ अ० इ० मिकोयान था, जिसने खाद्य सामग्री और हल्के उद्योगों के विकास में विशेषतः बड़ी भूमिका निभायी। इस तरह कम्युनिस्ट पार्टी ने अनेक प्रतिभावान औद्योगिक संगठनकर्त्ता पैदा किये, जिनमें से अधिकांश ने अपना जीवन मज़दूर की हैसियत से शुरू किया था।

औद्योगीकरण के लिए वित्त की व्यवस्था

योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था के जो लाभ हैं, उनकी बदौलत सोवियत सरकार को औद्योगीकरण के लिए वित्तीय साधन जुटाने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत उद्योग, परिवहन तथा व्यापार से होनेवाली आय थी। फिर उत्पादिता में निरंतर वृद्धि और उत्पादन लागतों तथा ऊपरी ख़र्चों में कटौती से भी पूंजी संचय में तेज़ी लाने में मदद मिली। कृषि मालों के मुक़ाबले औद्योगिक मालों के दाम कुछ ज़्यादा करके और टैक्स लगाकर सरकार ने किसानों के संचयों को देश के औद्योगीकरण के वित्तीयन के लिए इस्तेमाल किया। क्रांति से पहले किसानों को ज़मीन ख़रीदनी या बटाई पर लेनी पड़ती थी। अब सोवियत सरकार ने ज़मीन मुफ़्त देकर उन्हें इस ख़र्च से छुटकारा दिला दिया था। क्रांति से पहले की तुलना में टैक्स भी कम कर दिये गये थे। इन सब बातों को देखते हुए राज्य राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्रों में आय का कुछ समय के लिए पुनर्वितरण कर सकता था, ख़ास तौर से इसलिए भी कि देश के औद्योगीकरण में किसानों की भी बड़ी रुचि थी।

औद्योगीकरण के लिए वित्तीय साधन जुटाने का एक अन्य स्रोत निजी बचतें थीं। सरकार ने बचत बैंकों, राज्य ऋणपत्रों, राज्य बीमा, आदि के ज़रिये इस स्रोत का भरपूर इस्तेमाल किया। १९२७ में जारी किये गये कुल २०,००,००,००० रूबल मूल्य के पहले औद्योगीकरण ऋणपत्र जनता द्वारा एक ही पखवाड़े में ख़रीद लिये गये। १९२८ के दूसरे औद्योगीकरण ऋणपत्र, जिनका कुल मूल्य ५०,००,००,००० रूबल था, और भी जल्दी बिक गये। पहली पंचवर्षीय योजना के दौरान कुल मिलाकर ५,००,००,००,००० रूबल मूल्य के ऋणपत्र बिके। आगामी वर्षों में भी इस प्रकार के ऋणपत्र राज्य की आय का एक मुख्य स्रोत बने रहे।

औद्योगीकरण की सफलता में विदेश व्यापार पर राज्य के एकाधिकार ने भी काफ़ी बड़ी भूमिका निभायी। आयात और निर्यात, दोनों की योजना औद्योगीकरण की ज़रूरतों को ध्यान में रखकर बनायी जाती थी। विदेशों से बड़ी मात्रा में मशीनें, मशीन-यंत्र तथा अन्य उपकरण आयात किये गये। पहली पंचवर्षीय योजना में कुल मिलाकर ७,००,००,००,००० रूबल मूल्य की मशीनों तथा उपकरणों का आयात हुआ। इतनी अधिक ख़रीदों की क़ीमत चुकाने के लिए आवश्यक था कि सोवियत मालों – काष्ठ, मैंगनीज़, पेट्रोलियम तथा कृषि उत्पादों – का निर्यात बढ़ाया जाये। देश में खाद्य-पदार्थों की भारी किल्लत के बावजूद सरकार अनाज, मक्खन, अंडे, आदि निर्यात करने को बाध्य हुई। रोटी और अन्य खाने-पीने की चीज़ों का राशनिंग किया गया।

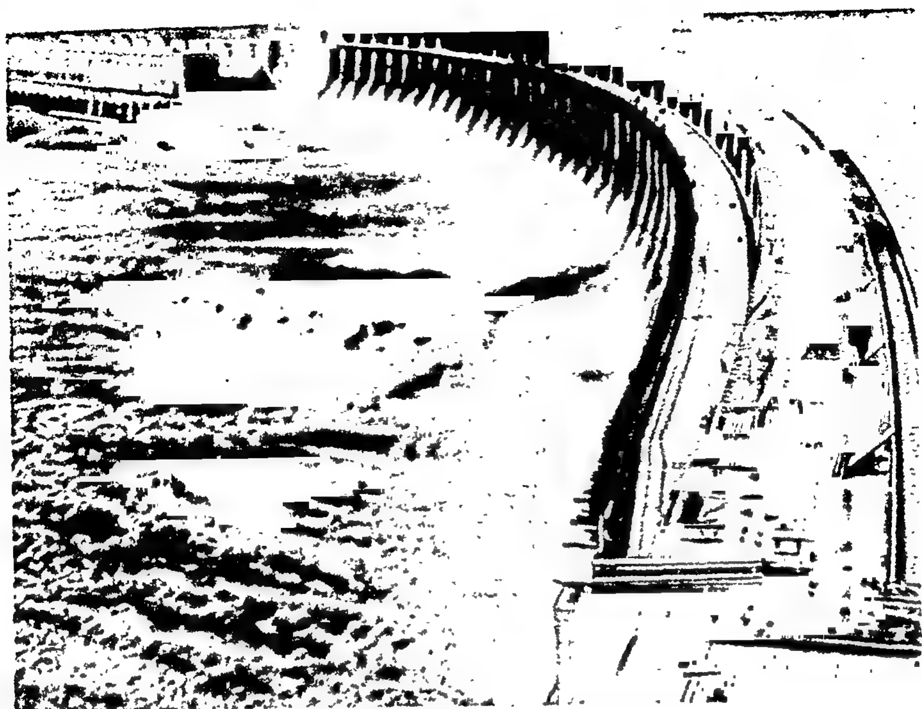
लोग जानते थे कि इसके बिना काम नहीं चल सकता और वे इन किल्लतों को सहने को तैयार थे, ताकि औद्योगीकरण शीघ्रातिशीघ्र हो सके, जो कि देश की आर्थिक व तकनीकी आत्मनिर्भरता का आधार था।

उस काल में मज़दूरों की मनःस्थिति का उन्हीं में से एक ने इन शब्दों में बहुत ही सटीक वर्णन किया है: "हम कैसे जी रहे हैं? मुश्किलों के बीच... किसी भी औरत से पूछ लीजिये: बच्चे को जन्म देना क्या आसान है? इससे पहले कि बच्चा जन्म ले, मां को न जाने कितनी तकलीफ़ों से गुज़रना होता है। फिर जब तक वह पैरों पर खड़ा नहीं हो जाता, आदमी नहीं बन जाता, चिंताएं, परेशानियां लगी ही रहती हैं। मगर हम रूसी सर्वहाराओं ने तो एक नयी दुनिया को ही जन्म देने की सोची थी – अपने लिए ही नहीं, आप और हम जैसे सबके लिए। आप क्या सोचते थे कि वह तुरंत ही पैरों पर खड़ी हो जाती? तकलीफ़ों और परेशानियों के बिना ही?

"ज़रा ग़ौर से देखिये, कुछ ही साल की होने के बावजूद यह नयी दुनिया कैसे जमकर खड़ी है, कैसे दौड़ रही है, पुरानी दुनिया से होड़ ले रही है और अपने ट्रैक्टर कारखानों, इस्पात कारखानों से उसे नया ही रूप देने पर तुली हुई है।"

अभूतपूर्व पैमाने पर बुनियादी निर्माण

पहली पंचवर्षीय योजना के पहले ही वर्ष (१९२९) में औद्योगिक निर्माण के मोर्चे पर अद्‌भुत सफलताएं पायी गयीं। सारे देश में नये औद्योगिक प्रतिष्ठान खड़े हो रहे थे, जैसे स्तालिनग्राद (वर्तमान वोल्गोग्राद), खारकोव और चेल्याबिन्स्क में ट्रैक्टर कारखाने, सरातोव और ज़ापोरोज्ये में कंबाइन-हार्वेस्टर कारखाने, रोस्तोव-आन-दोन में कृषि यंत्र कारखाना, मास्को और नीज्नी नोवगोरोद (वर्तमान गोर्की) में मोटरगाड़ी कारखाने, उराल क्षेत्र में मग्नीत्नाया पहाड़ की तलहटी में और साइबेरिया में कुज़्नेत्स्क में विराटाकार धातुकर्म कारखाने, गोर्लोव्का, क्रमातोर्स्क और स्वेर्दलोव्स्क में भारी मशीन निर्माण कारखाने, बेरेज़्निकी, सोलीकाम्स्क और बोब्रिकी में रासायनिक कारखाने, द्नेप्र नदी पर यूरोप का विशालतम पनबिजलीघर, लगभग १५०० किलोमीटर लंबी तुर्किस्तान-साइबेरिया रेलवे लाइन, वग़ैरह-वग़ैरह। इतने वृहद पैमाने पर बुनियादी निर्माण पहले कभी किसी देश में नहीं किया गया था। सारा सोवियत संघ एक प्रकार का भीमकाय निर्माणस्थल बन गया था, जहां चौबीसों घंटे और बारहों मास विशाल औद्योगिक परियोजनाओं पर काम चल रहा था। उन वर्षों में यंत्र और उपकरण बहुत कम उपलब्ध थे।



द्नेप्र पनविजलीघर का वांध (१६३२)

निर्माताओं को अधिकांशतः वेलचों और इकपहिया हथगाड़ियों से ही काम चलाना पड़ता था। किंतु इन आदिम औज़ारों से भी सोवियत मज़दूरों ने चमत्कार कर दिखाया।

स्तालिनग्राद ट्रैक्टर कारख़ाने के निर्माताओं ने परियोजना को सरकार द्वारा निर्धारित तिथि से एक वर्ष पहले पूरा कर लेने की प्रतिज्ञा की थी। प्रतिज्ञा पूरी हुई और कारख़ाना जून, १६३० से ही कार्य करने लग गया। तुर्किस्तान-साइवेरिया रेलवे का निर्माण भी नियत अवधि से एक वर्ष पहले पूरा किया गया और १६३० में उसपर आवागमन शुरू हो गया। द्नेप्र पनविजलीघर के निर्माता तुर्किस्तान-साइवेरिया रेलवे के निर्माताओं के साथ समाजवादी प्रतियोगिता कर रहे थे। उन्होंने कंक्रीट बिछाने का नया विश्व कीर्तिमान क़ायम किया और इतिहास में पहली वार सरदियों में भी कंक्रीट बिछाकर दिखाया। समाजवादी प्रतियोगिता के प्रेरणादायी प्रभाव की वदौलत द्नेप्र पनविजलीघर १६३२ में ही, यानी सरकार द्वारा निर्धारित अवधि से एक वर्ष पहले ही विजली का उत्पादन करने लग गया।

मग्नीतोगोर्स्क और कुज़्नेत्स्क में निर्माणाधीन यूरोप के विशालतम धातुकर्म कारख़ाने वनानेवालों ने अद्भुत श्रम-पराक्रम का परिचय दिया। देश के

पूर्वी भाग में स्थित इस नये कोयला और धातुकर्म उद्योग केंद्र का निर्माण कड़े साइबेरियाई शीत के बावजूद सरदियों में भी चलता रहा। कुज़्नेत्स्क परियोजना के मुख्य इंजीनियर इ० प० बार्दिन ने उन दिनों की याद करते हुए लिखा है, "देश के सभी कोनों से लोग हमारे यहां काम करने आ रहे थे। रूसी, उक्रइनी, कज़ाख़, आदि सभी जातियों के लोग साथ-साथ काम कर रहे थे। इन भूतपूर्व अनपढ़ लोगों का श्रम-पराक्रम, जिन्होंने पहले कभी जाना भी न था कि असली कारखाना क्या होता है, देखते ही बनता था... खुदाई मज़दूर कभी-कभी दस दिन का काम एक ही पारी में पूरा कर लेते थे। बड़ी ऊंचाई पर रिवट लगानेवाले कोम्सोमोल सदस्यों को ५० डिग्री सेंटीग्रेड शीत से भी कोई डर नहीं लगता था। एक आदमी एक पारी में १५ टन तापसह ईंटें चिन लेता था। धमनभट्ठी को शीघ्रातिशीघ्र ढलवां लोहा तैयार करता देखने की साझी आकांक्षा से प्रेरित निर्माताओं के श्रमोत्साह को आंधी या वारिश, कुछ भी ठंडा न कर सकता था। धमनभट्ठी के निर्माण का निदेशन पार्टी और कोम्सोमोल सदस्य कर रहे थे और यह सफलता की पक्की गारंटी थी।" मग्नीतोगोर्स्क कारखाने ने फ़रवरी, १९३२ में और कुज़्नेत्स्क कारखाने ने अप्रैल, १९३२ में उत्पादन शुरू कर दिया।

पहली पंचवर्षीय योजना के दौरान कुल मिलाकर १५०० नये, प्रथम कोटि के बड़े औद्योगिक उद्यम स्थापित किये गये। इसके साथ ही पुराने उद्यमों का पुनर्निर्माण तथा आधुनिकीकरण भी किया गया। दूसरी पंचवर्षीय योजना में पूंजीगत निर्माण का पैमाना और बढ़ा: १९३३ और १९३७ के बीच ४,५०० कल-कारख़ाने तथा बिजलीघर बनाये व चालू किये गये। तीसरी योजना के पहले साढ़े तीन वर्षों में, यानी १९३८-१९४१ में कोई ३००० नये औद्योगिक प्रतिष्ठानों का निर्माण हुआ। इस तरह दूसरे महायुद्ध से पहले के तेरह वर्षों में नवीनतम मशीनों से सज्जित कुल मिलाकर कोई ९००० विशाल उद्यम चालू किये गये थे। मोटरगाड़ियां, ट्रैक्टर, रसायन, भारी मशीनरी, मशीन-यंत्र, बाल-बियरिंग, हार्वेस्टर तथा बहुत से दूसरे औद्योगिक मालों का उत्पादन तो सोवियत संघ में पहली बार ही शुरू हुआ था।

कुशल कर्मियों का प्रशिक्षण

इतनी कम अवधि में इतने अधिक औद्योगिक उद्यमों का निर्माण एक शानदार उपलब्धि थी। किंतु प्रश्न निर्माण का ही नहीं, उनका ठीक से संचालन सीखने, यानी नयी मशीनों के साथ काम में महारत हासिल करने, उनका सुचारु काम सुनिश्चित करने और उनकी प्रायोजित क्षमता को पूरी तरह इस्तेमाल में लाने का भी था। इस जटिल और कठिन कार्यभार की पूर्ति तुरंत

नहीं की जा सकी, क्योंकि देश में कुशल मज़दूरों, इंजीनियरों और तकनीशियनों की भारी कमी थी। फिर भी नये कल-कारखानों का निर्माण तब तक के लिए स्थगित तो किया नहीं जा सकता था, जब तक कि आवश्यक तकनीकी कर्मियों को प्रशिक्षित न कर लिया जाता। समाधान यह निकाला गया कि स्वयं निर्माताओं को ही नये पेशे सिखाये जाने लगे, आधुनिक मशीनों पर काम करने के लिए प्रेरित किया जाने लगा।

साथ ही सोवियत सरकार ने यथाशीघ्र कुशल कर्मी प्रशिक्षित करने के लिए सभी आवश्यक क़दम उठाये। अनेक कल-कारखानों के अंतर्गत अप्रेंटिस ट्रेनिंग स्कूल खोले गये और साक्षरता तथा व्यावसायिक योग्यता का स्तर ऊंचा उठाने के लिए अध्ययन मंडलों तथा कोर्सों का व्यापक जाल बिछाया गया। मज़दूर बड़ी रुचि और उत्साह के साथ मशीनों और उपकरणों का अध्ययन करने लगे, क्योंकि वे जानते थे कि मशीनें मेहनत को आसान बनाती हैं, उत्पादिता बढ़ाती हैं, रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठाती हैं और देश की प्रगति में सहायक होती हैं।

इंजीनियरों और तकनीशियनों के प्रशिक्षण की समस्या का समाधान भी खोज लिया गया। औद्योगीकरण अभियान के साथ-साथ अनेक नयी उच्च और माध्यमिक तकनीकी शिक्षा संस्थाएं खोली गयीं। हर साल हज़ारों मज़दूर उनमें भरती होते थे, जिनमें काफ़ी बड़ी संख्या कम्युनिस्टों और कोम्सोमोल सदस्यों की भी थी। उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश के लिए तैयार करनेवाले दिवा तथा सांध्य मज़दूर संकायों, यानी स्कूलों का जाल बढ़ाया गया।

इंजीनियरों और कुशल मज़दूरों के भारी अभाव के कारण सोवियत संघ औद्योगीकरण के आरंभिक वर्षों में विदेशों से विशेषज्ञ तथा अति कुशल मज़दूर आमंत्रित करने को बाध्य हुआ था। चौथे दशक के आरंभ में देश में उनकी संख्या कोई ६००० थी। इनमें से अधिसंख्य ने अपने क़रारों की शर्तों का ईमानदारीपूर्वक पालन करते हुए पनबिजलीघरों, ट्रैक्टर, मोटरगाड़ी व रसायन कारखानों, आदि के डिज़ायनिंग, निर्माण और संचालन में वस्तुत: महत्त्वपूर्ण सहायता दी। उनमें से कई को उनके बहुमूल्य योगदान के लिए सोवियत संघ के पदक और तमग़े देकर सम्मानित भी किया गया। मिसाल के लिए, अमरीकी इंजीनियर कूपर को, जो द्नेप्र पनबिजलीघर परियोजना में सलाहकार था, लेनिन पदक प्रदान किया गया था। किंतु कई विदेशी विशेषज्ञ ऐसे भी थे, जिन्होंने भीतरघात करने की कोशिशें कीं। मिसाल के लिए, ब्रिटिश फ़र्म 'मेट्रोपोलिटन-वाइकर्ज़' के कुछ कर्मचारियों को सबसे बड़े पनबिजलीघरों के विध्वंस की साज़िशें रचते हुए पकड़ा गया था।

अपने ही कुशल कर्मी तैयार करने के वृहद प्रयासों की बदौलत शीघ्र ही सोवियत संघ को विदेशी विशेषज्ञों की सेवाओं की आवश्यकता नहीं रह गयी।

मजदूर वर्ग का महान कारनामा

सोवियत संघ के औद्योगीकरण की सफलता का सबसे अधिक श्रेय मज़दूर वर्ग को है। कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा औद्योगीकरण का राष्ट्रीय लक्ष्य घोषित किये जाने के पहले दिन से ही मज़दूर वर्ग ने इस ऐतिहासिक कार्यभार को अपना निजी काम बना लिया था, क्योंकि उनमें इतनी चेतना आ चुकी थी कि इसके बिना देश के पिछड़ेपन का खात्मा, उसकी प्रतिरक्षा क्षमता की वृद्धि, उस समय फैली हुई बेरोजगारी का अंत और जनता के रहन-सहन के स्तर में बुनियादी सुधार नहीं हो सकता।

महान विचार महान श्रम-पराक्रम को जन्म देते हैं। औद्योगीकरण के विचार ने भी सोवियत जनता में, विशेषत: मज़दूर वर्ग में श्रम-उत्साह की अपूर्व लहर दौड़ा दी थी। वह उत्पादन लक्ष्यों की पूर्ति और अतिपूर्ति के लिए समाजवादी प्रतियोगिता के जनव्यापी आन्दोलन के रूप में साकार बनी, जिसकी शुरुआत १६२६ में हुई थी। २० जनवरी, १६२६ को लेनिन का लेख 'प्रतियोगिता कैसे संगठित की जानी चाहिए?' प्रकाशित हुआ, जिसे उन्होंने दिसंबर, १६१७ में लिखा था और जिसमें उन्होंने बल देते हुए कहा था कि इतिहास में पहली बार समाजवाद ने ही "अधिकांश मज़दूरों को ऐसे श्रम के क्षेत्र में वस्तुत: खींचने" की संभावना दी है, "जहां वे अपनी योग्यताओं का प्रदर्शन, अपनी क्षमताओं का विकास और उन प्रतिभाओं का उद्घाटन कर सकते हैं, जो जनता में इतनी विपुल मात्रा में विद्यमान हैं और जिन्हें पूंजीवाद ने हज़ारों-लाखों की तादाद में दबाया, कुचला तथा निरुद्ध किया हुआ था।" इससे निष्कर्ष निकालते हुए लेनिन ने आगे कहा था, "अब चूंकि समाजवादी सरकार शासन में आ चुकी है, हमारा काम प्रतियोगिता आयोजित करना है।"

लेनिन के लेख में निहित अपील की देश के सारे मेहनतकश जन में अत्यंत अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। अलग-अलग मज़दूरों, टोलियों, विभागों और उद्यमों के कर्मीदलों ने आपस में समाजवादी प्रतियोगिता के क़रार किये और उत्पादन लक्ष्यों की अतिपूर्ति करने, उत्पादिता बढ़ाने, लागतें योजना द्वारा निर्धारित स्तर से भी कम करने के दायित्व लिये। उल्लेखनीय है कि प्रतियोगिता में भाग लेनेवाले पक्ष अपने को आपस में प्रतिस्पर्धी नहीं, अपितु सहयोगी मानते थे और एक दूसरे की मदद को सदा तैयार रहते थे। समाजवादी प्रतियोगिताओं के विजयी मज़दूरों को तूफ़ानी कार्यकर्ता की सम्मान उपाधि प्रदान की जाती थी।

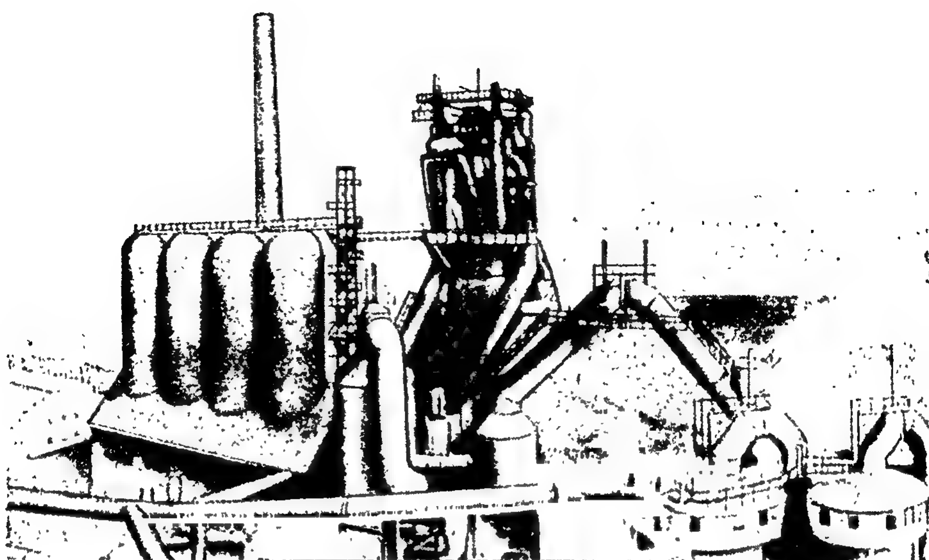
दिसंबर, १६२६ में हुई तूफ़ानी टोलियों की अखिल संघीय कांग्रेस में "पंचवर्षीय योजना चार वर्षों में!" का नारा दिया गया, जो कि शीघ्र

ही सारे औद्योगीकरण अभियान का मुख्य नारा बन गया। मज़दूरों की पहल-क़दमी ने समाजवादी प्रतियोगिता के नये-नये रूपों को जन्म दिया, जैसे मशीनों व उपकरणों के बेहतर संचालन, कच्चे मालों की किफ़ायत, आदि पर आधारित जवाबी उत्पादन योजनाएं बनाने का आन्दोलन। इसकी बदौलत कई उद्योगों ने (पेट्रोलियम, विद्युत-इंजीनियरी, मशीननिर्माण, कंफ़ेक्शनरी और मछली टिनबंदी) पहली पंचवर्षीय योजना के उत्पादन लक्ष्य १९३१ में, यानी दो वर्ष पहले ही पूरे कर लिये। समूचे तौर पर औद्योगिक क्षेत्र ने योजना को पांच वर्ष के बजाय सवा चार वर्ष में पूरा किया।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में समाजवादी प्रतियोगिता ने और भी कमाल दिखाया। निरंतर बढ़ते पैमाने पर नयी मशीनों के प्रयोग और मज़दूरों द्वारा उनके कुशल संचालन की बदौलत १९३५ में उत्पादन नवाचारकों का शानदार आन्दोलन पैदा हुआ। नवाचारक उन मज़दूरों को कहा जाता था, जो प्राविधिक मानदंडों के आधार पर योजना द्वारा निर्धारित कोटा से कई गुना अधिक उत्पादन करते थे। यह आन्दोलन दोनेत्स कोयला क्षेत्र के खदान मज़दूरों द्वारा शुरू किया गया था और उनमें से एक मज़दूर अलेक्सेई स्तख़ानोव के नाम पर इतिहास में स्तख़ानोव आंदोलन के नाम से मशहूर हुआ। ३१ अगस्त, १९३५ को त्सेंत्राल्नोये ईरमिनो ख़ान में अलेक्सेई स्तख़ानोव ने अपनी छह घंटे की पारी में १०२ टन कोयला खोदा था, जो उसके कोटा से साढ़े चौदह गुना ज़्यादा था।

दोनेत्स्क के मज़दूरों के कारनामों का समाचार बिजली की तरह सारे देश में फैल गया। उससे निर्धारित उत्पादन कोटाओं की अतिपूर्ति करने और उत्पादिता को कहीं ऊंचे स्तर पर पहुंचाने के लिए नयी प्रेरणा प्राप्त हुई। स्तख़ानोवपंथी शारीरिक शक्ति के बूते पर नहीं, बल्कि नयी मशीनों के कुशल उपयोग और श्रम के सुचारु संगठन के आधार पर अधिक उत्पादन करने की कोशिश करते थे। इस तरह गोर्की मोटरगाड़ी कारख़ाने के लोहार अलेक्सांद्र बुसीगिन ने एक पारी में ६७५ क्रैंक-शैफ़्टों के बजाय, जितना कि कोटा था, १०५० क्रैंक-शैफ़्ट गढ़े। वीचुगा कपड़ा मिल में काम करनेवाली येव्दोकीया और मरीया विनोग्रादोवा बहनों में से हर कोई १६-२४ के बजाय पहले ७०-१०० और फिर १४४ करघों को एक साथ चलाने लगीं। दोनेत्स्क कोयला खनन क्षेत्र का इंजन-ड्राइवर प्योत्र क्रिवोनोस अपनी रेलवे मालगाड़ियों को सामान्य से दोगुनी रफ़्तार पर चलाने लगा।

कम्युनिस्ट पार्टी ने स्तख़ानोव आंदोलन का समर्थन किया और उसे सर्वव्यापी बनाने के लिए आवश्यक क़दम उठाये। उद्योगों में उत्पादिता तेज़ी से बढ़ने लगी। दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंत तक उसमें योजना में निर्धारित ६३ प्रतिशत के बजाय ८२ प्रतिशत वृद्धि हो गयी। फलस्वरूप उत्पादन योजनाओं

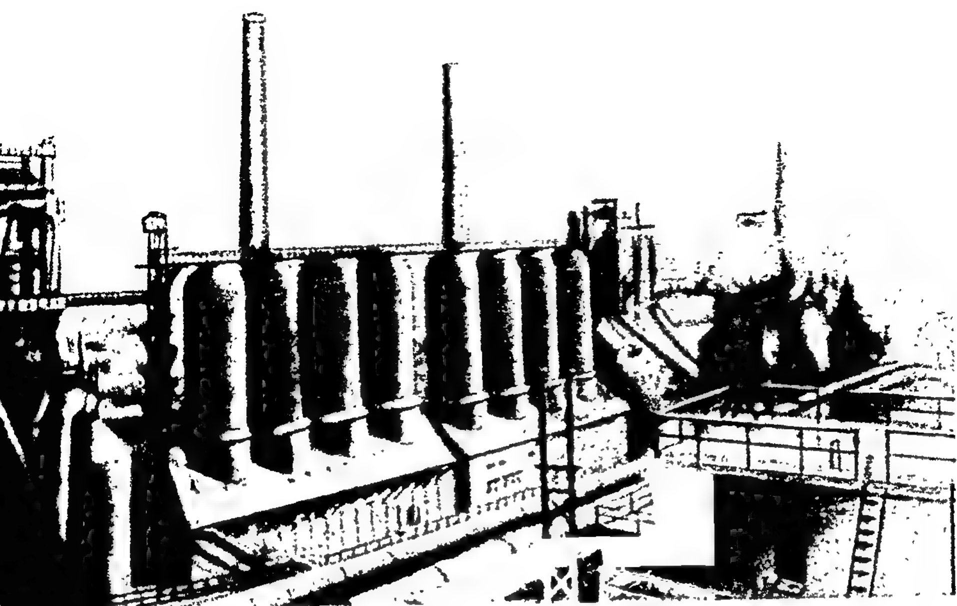


कुज़्नेत्स्क धातुकर्म

को नौ महीने पहले ही पूरा कर लिया गया। यह सोवियत मज़दूर वर्ग की नयी और महत्त्वपूर्ण सफलता थी।

पूंजीवादी देशों के सर्वहारा सोवियत मज़दूरों की श्रम-उपलब्धियों को प्रशंसा की निगाहों से देख रहे थे। उनके लिए स्तख़ानोव आंदोलन श्रम की समाजवादी प्रणाली की अपार उत्कृष्टता का प्रमाण था। पूंजीवादी देशों में इस तरह का आन्दोलन कभी पैदा नहीं हो सकता था, क्योंकि उससे स्वयं मज़दूरों के गलों पर ही छुरी चलती। इस विचार को बेल्जियम के खदान मज़दूरों के एक दल ने अलेक्सेई स्तख़ानोव को लिखे अपने पत्र में बड़े उपयुक्त ढंग से व्यक्त किया था। इन बेल्जियन मज़दूरों ने लिखा था, "हम आपके तरीक़े को यहां लागू करने की सोच भी नहीं सकते। शाही खानों में बेरोज़गारी बहुत ज़्यादा है। अगर हममें से हर कोई सामान्य से दोगुना कोयला खोदने लगेगा, तो ख़ुद हमारे ही साथी मारे जायेंगे।"

महान फ़्रांसीसी लेखक रोमां रोलां ने स्तख़ानोव आंदोलन के बारे में कहा था: "स्पष्टतः यह श्रम के क्षेत्र में मानव चेतना के महान जागरण का परिचायक है। यह एक सच्चे समाजवादी समाज में ही संभव है, जहां मज़दूर



कारख़ाना (१६३४)

अपने को शोषित नहीं, अपितु मालिक अनुभव करता है, जहां वह उस वर्ग की समृद्धि के लिए नहीं, जो उसका शत्रु है और उससे अधिकतम फ़ायदा उठाने की फ़िराक़ में ही रहता है, अपितु पूरे ही समाज के लिए काम करता है और जहां मज़दूर को उचित ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। आत्मगरिमा और गौरव की यह अनुभूति निश्चय ही रोमांचकारी है!"

तीसरी पंचवर्षीय योजना के काल में समाजवादी प्रतियोगिता के और भी नये रूप पैदा हुए। ऐसा एक रूप था एक ही मज़दूर द्वारा कई लेथों या मशीनों पर एक साथ काम करना, जिसकी बदौलत उत्पादिता बहुत बढ़ जाती थी। इसके अलावा अग्रणी मज़दूरों द्वारा दो या दो से अधिक पेशे सीखने का भी व्यापक प्रचलन हुआ। इस तरह, मिसाल के लिए, फ़िटर साथ ही बिजली मिस्तरी का भी काम कर सकता था और ख़रादी अपनी ख़राद की मरम्मत, फ़िटिंग, आदि भी कर सकता था।

संक्षेप में, सोवियत संघ का मज़दूर वर्ग बड़े उत्साह और दृढ़संकल्प के साथ अपनी मातृभूमि की औद्योगिक शक्ति को सुदृढ़ बना रहा था।

सोवियत संघ – एक प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र

ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही छोटे काल-अंतराल में सोवियत संघ ने पिछड़ेपन से आर्थिक प्रगति की ओर ऐसी अभूतपूर्व छलांग लगायी और ऐसी औद्योगिक क्रांति कर दिखायी कि उसका चेहरा अब पहचाना ही न जा सकता था। उसका युग-युगांतर से चला आनेवाला पिछड़ापन अतीत के गर्भ में समा गया। १९४० में बड़े उद्योगों का सकल उत्पादन १९१३ की अपेक्षा १३ गुना था। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में प्रभुत्वशाली स्थिति अब उद्योग की हो गयी थी और कुल राष्ट्रीय उत्पादन में तीन-चौथाई से अधिक योगदान उसी का था। कुल औद्योगिक उत्पादन में भारी उद्योगों का अंशदान दो-तिहाई से अधिक था। सबसे असामान्य परिणाम तो मशीन-निर्माण उद्योग के क्षेत्र में पाये गये, जिसका उत्पादन अब (१९४० में) १९१३ की अपेक्षा ३५ गुना अधिक था। इस उद्योग की विस्मयकारी प्रगति की बदौलत अब राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सभी शाखाओं का तकनीकी दृष्टि से आधुनिकीकरण किया जा सकता था। एक शक्तिशाली ऊर्जा आधार भी बनाया जा चुका था: १९४० में देश में ४८,००,००,००,००० किलोवाट-घंटे से अधिक विद्युत-ऊर्जा उत्पादित की गयी, जबकि १९१३ में २,००,००,००,००० किलोवाट-घंटे से भी कम का उत्पादन हुआ था।

भारी उद्योगों की प्राथमिकता और तीव्र विकास सुनिश्चित कर लेने के बाद देश अब उन उद्योगों के विकास पर भी ध्यान देने लगा था, जो उपभोक्ता मालों का उत्पादन करते हैं। १९४० में इन उद्योगों ने १९१३ की अपेक्षा ४.६ गुना अधिक उत्पादन किया, हालांकि योजना में निर्धारित लक्ष्य पूरी तरह नहीं पाये जा सके थे।

उद्योगों का भौगोलिक वितरण भी आमूलतः बदल गया था। क्रांति-पूर्व रूस में धातुकर्म उद्योग का एक ही केंद्र था – उक्रइना। आरंभिक पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत एक और विशाल धातुकर्म केंद्र स्थापित किया गया। यह पूर्व में स्थित था। क्रांति से पहले कोयले का केवल एक स्रोत था – दोनेत्स क्षेत्र। चौथे दशक के अंत तक दोनेत्स, कुज़्नेत्स्क, क़ारागंदा और मास्को प्रदेश के कोयला क्षेत्रों समेत आठ स्रोत देश को कोयला सप्लाई करने लग गये। वोल्गा और उराल के बीच एक नया तेल उत्पादन केंद्र विकसित किया गया, जो "दूसरा बाकू" कहलाने लगा। देश के पूर्वी भागों में ऊर्जा, मशीन-निर्माण तथा अन्य उद्योगों के महत्त्वपूर्ण केंद्र बनाये गये।

सुविकसित औद्योगिक आधार ने सोवियत संघ को तकनीकी और आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः आत्मनिर्भर बना दिया था। रेल इंजनों, मोटरगाड़ियों, ट्रैक्टरों, कृषि मशीनों, धमन भट्ठी उपकरणों, टर्बाइनों, बिजली भट्ठियों, मापन-

यंत्रों, आदि का आयात पहली पंचवर्षीय योजना के अंत में ही बंद कर दिया गया था। दूसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान देश ने मशीन-यंत्रों की अपनी ६० प्रतिशत आवश्यकता को अपने उत्पादन द्वारा ही पूरा किया था। १६३६ में सोवियत संघ के सभी बिजलीघरों में स्वदेशी टर्बाइनें ही लगी थीं। वह ट्रैक्टरों, कृषि मशीनों, मोटरगाड़ियों, सिलाई मशीनों और बहुत से दूसरे मालों का निर्यात भी करने लग गया था।

विश्व अर्थव्यवस्था में सोवियत संघ का स्थान भी बदल गया था। १६१३ में रूस कुल उत्पादन की दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका, जर्मनी, ग्रेट-ब्रिटेन और फ़्रांस से पीछे था। विश्व औद्योगिक उत्पादन में उसका योगदान ४ प्रतिशत से कुछ ही अधिक था। किंतु १६३७ के आते-आते सोवियत संघ यूरोप की पहली और विश्व की दूसरी—संयुक्त राज्य अमरीका के बाद—सबसे बड़ी औद्योगिक शक्ति बन गया और विश्व औद्योगिक उत्पादन में उसका योगदान भी १४ प्रतिशत तक पहुंच गया। वाष्प इंजनों, हार्वेस्टर कंबाइनों, कृषि मशीनों और कृत्रिम रबड़ के उत्पादन में तो वह सबसे आगे ही निकल गया था।

समाजवादी व्यवस्था की उत्कृष्टताओं (उत्पादन के औज़ारों तथा साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व, योजनाबद्ध अर्थप्रणाली, मज़दूरों का श्रम-पराक्रम, आदि) की बदौलत समाजवादी उद्योग पूंजीवादी देशों के उद्योग के मुक़ाबले कहीं तेज़ी से विकास कर रहा था। १६३०-१६४० में सोवियत संघ में बड़े उद्योगों का उत्पादन १८ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा, जबकि संयुक्त राज्य अमरीका में यह दर १.२ प्रतिशत और ग्रेट ब्रिटेन में २.१ प्रतिशत ही थी। श्रम उत्पादिता भी पूंजीवादी देशों की अपेक्षा ३-४ गुना तेज़ी से बढ़ी थी।

ग्रामीण क्षेत्रों में समाजवादी रूपांतरण

कृषि सामूहिकीकरण की पृष्ठभूमि

सबसे कठिन और साथ ही सबसे महत्त्वपूर्ण समाजवादी सुधार व्यक्तिगत, छोटे पैमाने के कृषि उत्पादन से बड़े पैमाने के सामूहिक, समाजवादी कृषि उत्पादन में संक्रमण था। यह संक्रमण पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान पूरा किया गया, मगर देश में समाजवादी निर्माण की प्रक्रिया और ग्रामीण क्षेत्रों के प्रति सोवियत सत्ता की नीति उसका आधार पहले ही तैयार कर चुकी थीं।



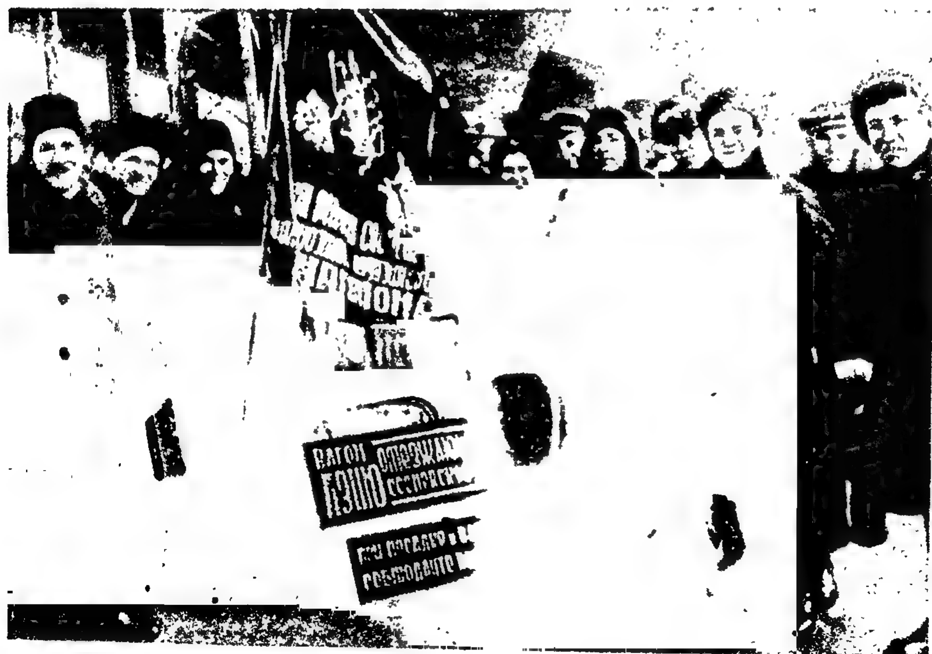
कोम्मुनार कारखाने, ज़ापोरोज्ये, में पहले हार्वेस्टिंग कम्बाइन की असेंबली (१६३०)

क्रांति के तुरंत बाद भूमि आज्ञप्ति जारी करके, जिसके अनुसार ज़मींदारों, मठ-मंदिरों और पूंजीपतियों की भूमि को ज़ब्त करके किसानों की इच्छा के मुताबिक उनके बीच बराबर-बराबर बांट दिया गया था, सोवियत सरकार ने रूसी किसानों की एक चिरकालीन आकांक्षा पूर्ण कर दी थी। इसके फलस्वरूप कृषि के क्षेत्र में छोटी जोतों की संख्या एकाएक बहुत बढ़कर तीसरे दशक के उत्तरार्ध में २.४-२.५ करोड़ तक पहुंच गयी थी। ज़मीन, खेती के औज़ार और मवेशी पाकर, जिन्हें ज़मींदारों और कुछ हद तक कुलकों – मालदार किसानों – से छीना गया था, लाखों दरिद्र किसान और खेत मज़दूर अब मध्यम तबक़े के किसान बन बैठे थे और उनकी हालत सुधर गयी थी।

किंतु कुल मिलाकर मेहनतकश किसानों का जीवन-स्तर अभी भी काफ़ी नीचा था। इसका कारण था मुख्यतया हस्त और पशु श्रम पर आधारित छोटे पैमाने की कृषि की न्यून उत्पादिता। छोटी जोतों में न केवल ट्रैक्टरों का इस्तेमाल नहीं हो सकता था, जिनसे उत्पादिता काफ़ी अधिक बढ़ जाती, बल्कि कभी-कभी तो उनसे घोड़ा रखने पर होनेवाला ख़र्च भी वसूल नहीं हो पाता था। छोटे किसानों के पास इतने भी साधन न थे कि अच्छा हल ख़रीद

सकें। तीसरे दशक में गांवों में ५०,००,००० लकड़ी के हल थे, जबकि कोई एक तिहाई किसानों के पास तो जुताई का कोई भी साधन न था। १९२८ में १० प्रतिशत वसंतकालीन जुताई लकड़ी के हलों से, ७५ प्रतिशत ज़मीन पर बोवाई हाथ से और कोई ५० प्रतिशत अनाज की फ़सल की कटाई हंसियों तथा दरांतियों से और मंडाई मूसलों या अन्य बाबा आदम के ज़माने के तरीक़ों से की गयी थी। इसीलिए अधिकांश किसानों का रहन-सहन का स्तर नीचा था। रोज़ी-रोटी की तलाश में हर साल लाखों किसान गांव छोड़-कर शहर चले जाते थे, जहां बेरोज़गारों की तादाद वैसे भी कोई कम न थी।

सोवियत सत्ता ने किसानों को ज़मींदारों की ग़ुलामी से पूर्ण मुक्ति दिला दी थी और कुलकों द्वारा शोषण भी कम कर दिया था, हालांकि वह पूरी तरह ख़त्म नहीं हो पाया था। ग़रीब तथा कम ख़ुशहाल मझोले किसानों का थोड़ा बहुत शोषण फिर भी जारी था, क्योंकि घोड़े और कृषि औज़ार किराये पर लेने के लिए उन्हें कुलकों की ही शरण में जाना पड़ता था। बहुत से किसान अपने पास पर्याप्त औज़ार और जुताई के लिए घोड़े न होने की वजह से अपनी ज़मीन कुलकों को पट्टे पर देने को बाध्य हो जाते थे। कई ग़रीब



इवानोवो-वोज़्नेसेन्स्क के मज़दूरों का दल सामूहिक फ़ार्म क़ायम करने जा रहा है (१९३०)

किसान कुलक फ़ार्मों में मज़दूरी करने को भी मजबूर होते थे, क्योंकि उनकी अपनी जोतें उनके जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त न थीं। निजी अनुभव ने किसानों को दिखाया कि लेनिन द्वारा १९१७ में कहे गये ये शब्द कितने सही थे कि "यदि हम पहले की तरह छोटी जोतों से ही चिपके रहे, चाहे स्वतंत्र ज़मीन पर स्वतंत्र काश्तकारों के तौर पर ही क्यों न सही, हमारे सर पर अनिवार्य तबाही का ख़तरा ज्यों का त्यों मंडराता रहेगा।"

किसानों की छोटी जोतें देश की बढ़ती हुई अनाज व अन्य कृषि मालों की आवश्यकता और उद्योग की कृषि कच्चे मालों की आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकती थीं। जोतों के टुकड़ों-टुकड़ों में बंट जाने और स्वयं किसानों के बढ़ते उपभोग की वजह से क्रांति के बाद के पहले दशक में कृषि की विक्रय-योग्य वेशी पैदावार कोई ५० प्रतिशत घट गयी थी।

इन सबका समाधान था जोतों का पैमाना बढ़ाना। जोतें या फ़ार्म बड़े होते, तो ट्रैक्टर तथा दूसरी मशीनें ख़रीदना, उनका समुचित उपयोग करना, रासायनिक खादें इस्तेमाल में लाना, बहुक्षेत्रीय सस्यावर्तन (कुल ज़मीन को कई हिस्सों में बांटकर उनमें बारी-बारी से विभिन्न फ़सलों की काश्त) लागू करना, नयी वैज्ञानिक खोजों से कृषि में लाभ उठाना, कृषि श्रम की उत्पादिता और विक्रययोग्य वेशी उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि करना, देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करना और किसानों का रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठाना – यह सब उनके लिए संभव हो जाता। उच्चतर उत्पादिता हासिल करने और विक्रययोग्य वेशी माल के अधिक उत्पादन के साधन के तौर पर बड़े पैमाने की कृषि किसान समुदाय और समस्त समाज, दोनों के हितों को देखते हुए अत्यावश्यक थी। किंतु प्रश्न था: यह कैसे किया जाये? बड़े पैमाने की कृषि में संक्रमण कैसे हो?

सोवियत सरकार कुलक जोतों जैसे बड़े निजी फ़ार्मों का समर्थन और विकास तो नहीं कर सकती थी, जैसा कि न० बुख़ारिन, अ० रीकोव, आदि ने सुझाया था। इसका मतलब अधिकांश मेहनतकश किसानों के गले पर छुरी चलाकर कुलकों को और मालदार बनाना ही होता। ऐसा समाधान किसानों की विशाल बहुसंख्या और मज़दूर वर्ग, दोनों को ही अस्वीकार्य होता, क्योंकि इससे देहाती पूंजीवादी तत्त्वों की जड़ें मज़बूत बनतीं और समाजवादी निर्माण विफल हो जाता। लेनिन की सहकारिता योजना मेहनतकश किसानों को बड़े पैमाने के फ़ार्म बनाने का एक दूसरा तरीक़ा सुझाती थी। यह था स्वैच्छिक सदस्यता के आधार पर उत्पादन सहकारी संस्थाओं की स्थापना। किसानों के लिए यही एकमात्र स्वीकार्य और लाभकर तरीक़ा था, क्योंकि उससे उनकी तबाही नहीं, बल्कि उनके जीवन-स्तर का उत्थान ही होता।

दिसंबर, १६२७ में कम्युनिस्ट पार्टी की पंद्रहवीं कांग्रेस हुई। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि कृषि के पिछड़ेपन की वजह से औद्योगीकरण और जनता के जीवन-स्तर में उत्थान के लिए किये जा रहे प्रयासों में अवरोध उत्पन्न हो रहा है, उसने कृषि के सामूहिकीकरण और तकनीकी पुनर्गठन को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का निर्णय किया। कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत सरकार ने देशव्यापी सामूहिकीकरण की तैयारी के वास्ते व्यापक आन्दोलन छेड़ दिया।

सामूहिकीकरण की तैयारियां

सरकार ग्रामीण क्षेत्रों को अधिकाधिक ट्रैक्टर और कृषियंत्र मुहैया करने लगी। किंतु जब एक किसान के खेत ऐसे बंटे हों कि उनके बीच में दूसरे किसान के खेत आ जाते हों, तब तो ट्रैक्टर का इस्तेमाल नहीं हो सकता था। अत: भूमि की बड़े पैमाने पर चकबंदी आवश्यक थी और इस बात ने किसानों को परस्पर सहयोग के लिए प्रेरित किया। १६२८ में विशाल अनाज-उत्पादक राजकीय फ़ार्म क़ायम किये जाने लगे। अनाज उगाने के अलावा वे यंत्रीकृत उत्पादन के संगठन की शिक्षा भी देते थे और उनके अनुभव से किसानों को बड़े पैमाने की खेती के फ़ायदों की जानकारी मिलती थी। हज़ारों किसान उनमें प्रशिक्षण पाने आते थे। इस तरह आधुनिक मशीनों से सज्जित राजकीय फ़ार्मों ने सामूहिकीकरण आन्दोलन में बड़ा योग दिया। एक ही मिसाल दें। ओदेस्सा प्रदेश के बेर्योज़ोव्का इलाक़े के कई गांवों के ग़रीब किसान अपनी ज़मीन कुलकों को बटाई पर देने को बाध्य हो गये थे, क्योंकि अपने पास घोड़े और आवश्यक खेती के औज़ार न होने से वे स्वयं उसकी काश्त नहीं कर सकते थे। १६२७ में उक्रइनी राजकीय फ़ार्म संगठन के एक प्रतिनिधि ने ट्रैक्टरों द्वारा उनकी ज़मीन जोत देने का प्रस्ताव उनके सामने रखा। पहले तो किसानों ने इसे संदेह की दृष्टि से देखा। कुलकों ने भी घबराकर किसानों को खूब डराया: "बेवकूफ़ो, क्या फिर ग़ुलाम बनना चाहते हो? पुरानी कृषिदास प्रथा फिर से लादी जा रही है। तुम्हारे खेतों की मेड़ें नहीं रहेंगी, तो खेत भी कहां रहेंगे।"

किंतु कुलकों की चालाकीभरी बातों का कोई असर न पड़ा और किसानों ने एक राजकीय फ़ार्म के साथ क़रार कर लिया। उस साल उन्होंने आसपास के किसानों के मुक़ाबले डेढ़ गुना फ़सल बटोरी और जुताई तथा बोवाई पर ख़र्च भी ३०-४० प्रतिशत कम आया। ग़रीब किसानों को यंत्रीकृत श्रम के फ़ायदों के बारे में भरपूर यक़ीन हो गया। "ट्रैक्टरों का काम देखकर," उन्होंने 'इज़्वेस्तिया' समाचारपत्र के नाम अपने पत्र में लिखा, "हमारी

छोटे पैमाने की खेती पर से आस्था उठ गयी है और हमने सामूहिकीकृत फ़ार्म बनाने का फ़ैसला किया है, जिसमें ट्रैक्टर काम करेंगे और अलग-अलग, छोटे-छोटे खेतों के लिए कोई जगह नहीं होती। तरास शेव्चेंको राजकीय फ़ार्म ने हमारे लिए ऐसा फ़ार्म संगठित करने का दायित्व ले लिया है और हम उसके साथ इस बारे में एक क़रार भी कर चुके हैं।"

इस प्रयोग की सफलता से प्रोत्साहित होकर सरकार ट्रैक्टरों तथा अन्य कृषि मशीनों के बेहतर व अधिक कारगर इस्तेमाल के लिए मशीन तथा ट्रैक्टर स्टेशन क़ायम करने लगी, जिनका काम क़रारों में निर्धारित शर्तों के मुताबिक गांवों और सामूहिक फ़ार्मों को जुताई-बोवाई, आदि में सहायता प्रदान करना होता था। इस प्रकार का पहला स्टेशन शेव्चेंको फ़ार्म के साथ मिलकर नवंबर, १९२८ में बनाया गया था। अगले साल १५९ स्टेशन क़ायम किये गये और फिर तो उनकी संख्या निरंतर बढ़ती ही गयी। शीघ्र ही वे सामूहिकीकरण आन्दोलन का मुख्य अवलंब भी बन गये।

सोवियत सरकार ने सामूहिक फ़ार्मों को दी जानेवाली सहायता बढ़ा दी। इस सहायता के कई रूप थे, जैसे बड़ी-बड़ी राशियां ऋण में देना, सुविधाजनक शर्तों पर कृषि मशीनें तथा रासायनिक खादें बेचना, कृषि कर में काफ़ी रिआयतें देना और सामूहिक फ़ार्म संगठकों तथा प्रबंधकों के प्रशिक्षण की व्यापक व्यवस्था करना। सबसे सामान्य क़िस्म की सहकारी संस्थाओं को हर प्रकार का प्रश्रय दिया गया, क्योंकि ये संस्थाएं सामूहिक कृषि के पथ पर किसानों के अग्रसर होने में मदद करती थीं। विद्यमान सामूहिक फ़ार्मों को सुदृढ़ बनाने और नये फ़ार्म व बड़े पैमाने का उत्पादन संगठित करने के काम में किसानों की सहायता के वास्ते शहरों से हज़ारों मज़दूर दल ग्रामीण इलाक़ों में भेजे गये। औद्योगिक नगरों ने खेतिहर प्रदेशों को अपने संरक्षण में लेकर संगठन कार्यों में उनकी मदद के लिए अपने मज़दूरों को स्थायी तौर पर वहां नियुक्त किया। १९२९ के अंत में कम्युनिस्ट पार्टी के आह्वान पर २५,००० अग्रणी मज़दूर नये, सामूहिक जीवन के निर्माण में किसानों की सहायता करने के लिए देहातों में गये। उन्होंने सामूहिक फ़ार्मों के विकास में बहुत बड़ा योग दिया।

देशव्यापी सामूहिकीकरण की तैयारियों के साथ-साथ एक वर्ग के रूप में कुलकों के खात्मे के लिए भी क़दम उठाये गये। सरकार ने उनके द्वारा खेत मजदूरों और ग़रीब किसानों का शोषण किये जाने पर अधिकाधिक प्रतिबंध लगाये और उनपर टैक्स बढ़ा दिये। उन्हें सभी प्रकार की सहकारी संस्थाओं में मत देने के अधिकार से वंचित कर दिया गया। वे अब ट्रैक्टर नहीं खरीद सकते थे और जो ट्रैक्टर उनके पास थे, उन्हें भी १९२८ में वापस खरीदकर सहकारी और सामूहिक फ़ार्मों को दे दिया गया।

गांवों में वर्ग संघर्ष वहुत उग्र हो गया। कुलक इस आशा से अनाज की सरकारी ख़रीद में वाधाएं डालने लगे कि अकाल पैदा हो जायेगा और तव सरकार की आर्थिक नीति विफल होकर रह जायेगी। सामूहिकीकरण आंदोलन को रोकने के लिए उन्होंने सामूहिक फ़ार्मों की इमारतों व उनके सदस्यों के घरों को आग लगायी, सामूहिक फ़ार्मों के मवेशियों को मार डाला और सामूहिक फ़ार्मों के अधिकारियों, प्रगतिशील लोगों, सरकारी अधिकारियों और कम्युनिस्टों की हत्याएं कीं। सोवियत सरकार ने इन आपराधिक कार्रवाइयों के जवाव में दृढ़ क़दम उठाये। जो अपना अनाज छिपा लेते थे, उनपर मुनाफ़ाख़ोरी के जुर्म में मुक़दमे चलाये गये। ग़रीव और मध्यम तवक़े के किसानों ने सरकार के कुलकविरोधी क़दमों का समर्थन किया, क्योंकि देहातों में कुलकों के प्रति विक्षोभ वढ़ता ही जा रहा था।

देहात में नये युग का आरंभ

पंद्रहवीं पार्टी कांग्रेस के वाद से सामूहिक फ़ार्मों की संख्या वड़ी तेज़ी से वढ़ने लगी। दो वर्ष वाद देश में पहले से चारगुना अधिक सामूहिक फ़ार्म और पांचगुना अधिक संयुक्त जोतें थीं। १९२९ के उत्तरार्ध के आंकड़े तो इस संवंध में वहुत ही प्रभावोत्पादक हैं: जुलाई में सामूहिक फ़ार्मों के सदस्य किसान परिवारों की संख्या १०,००,००० थी, जवकि पहली अक्तूवर तक वह २०,००,००० तक पहुंच गयी। इस तरह दो-तीन महीनों में ही उसमें पहले १२ वर्षों जितनी वृद्धि हुई। १९२९ के अंतिम तीन महीनों में और २७,००,००० किसान परिवार सामूहिक फ़ार्मों में शामिल हुए।

५ जनवरी, १९३० को कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति ने सामूहिकीकरण की रफ़्तार और सामूहिक फ़ार्मों के विकासार्थ सरकारी सहायता के वारे में अध्यादेश जारी किया। उसके अनुसार देशव्यापी सामूहिकीकरण पहली पंचवर्षीय योजना के अंत, यानी १९३३ तक पूरा कर दिया जाना था। उत्तरी काकेशिया और मध्य तथा निचले वोल्गा प्रदेश जैसे महत्त्वपूर्ण अन्न-उत्पादक इलाक़ों में, जहां तव तक वहुत से सामूहिक तथा राजकीय फ़ार्म और मशीन व ट्रैक्टर स्टेशन क़ायम हो चुके थे, वसंत, १९३१ तक और शेष अन्न-उत्पादक इलाक़ों में वसंत, १९३२ तक सामूहिकीकरण पूरा हो जाना था। इस संवंध में केंद्रीय समिति ने विशेष रूप से चेतावनी दी थी कि सामूहिक फ़ार्मों में प्रवेश के मामले में स्वेच्छा सिद्धांत का किसी भी भांति उल्लंघन न हो। सोवियत सरकार ने १९३० में सामूहिक फ़ार्मों के विकास के लिए ५०,००,००,००० रूवल की राशि अनुदानस्वरूप दी।

किसानों को सलाह दी गयी कि वे कृषि आर्तेल या संयुक्त कृषि संगठन स्थापित करें, अर्थात् अपनी ज़मीनों, मवेशियों और बुनियादी कृषि औज़ारों को साझा बनाकर और अपने ही चुने हुए एक प्रबंधकमंडल की देखरेख में साझी खेती शुरू करें। इस साझी खेती को ही उनके जीवन-निर्वाह का मुख्य साधन होना था। किंतु साथ ही फ़ार्म का हर सदस्य अपना एक छोटा-सा ज़मीन का टुकड़ा, उसकी काश्त के लिए आवश्यक औज़ार, एक गाय, कोई दूसरा मवेशी और कुछ मुर्ग़े-मुर्ग़ियां भी रख सकता था। जिन इलाक़ों में पूर्ण सामूहिकीकरण किया जाना था, उनमें स्थानीय सोवियतों को कुलकों से उनकी ज़मीन, कृषि औज़ार, मवेशी और शोषण द्वारा प्राप्त अन्य संपत्ति छीन लेने का अधिकार दिया गया। इस तरह एक वर्ग के तौर पर कुलकों का नामोनिशान मिटा दिया जाना था।

देश में सर्वत्र किसानों की सभाएं हुईं, जिनमें इस महत्त्वपूर्ण समस्या पर विचार किया गया कि उन्हें संयुक्त होकर सामूहिक फ़ार्म बनाना है या आगे भी पुराने ढंग से ही रहना है। कुलक सामूहिक फ़ार्मों को बदनाम करने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे थे, क्योंकि वे जानते थे कि सामूहिक कृषि प्रणाली उन्हें शोषण के सभी अवसरों से वंचित कर देगी। किंतु पहले से स्थापित सामूहिक फ़ार्मों के सदस्यों ने इन सभाओं में आकर किसानों को अपने अनुभवों से सामूहिक कृषि के फ़ायदों से अवगत कराया।

१९३० के आरंभ तक २५,००० मज़दूर नये जीवन के पथ पर निर्भीकता-पूर्वक अग्रसर होने में किसानों की सहायता के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में पहुंच चुके थे। वे किसानों का विश्वास जीतने में सफल रहे और हर रोज़ नये-नये सामूहिक फ़ार्म क़ायम होने लगे।

सारा देश सामूहिकीकरण आन्दोलन की सफलता पर हर्ष मना रहा था। किंतु शीघ्र ही कुछ-एक इलाक़ों से सामूहिक फ़ार्मों के निर्माण में स्वैच्छिकता के लेनिनीय सिद्धान्त के उल्लंघनों के चिंताजनक समाचार मिलने लगे। मध्य एशिया और पार-काकेशिया के जनतंत्रों और रूसी संघ के कतिपय केंद्रीय औद्योगिक इलाक़ों के प्रमुख सरकारी अधिकारियों ने पूर्ण सामूहिकीकरण निर्धारित अवधि से एक-दो वर्ष पहले, यानी वसन्त, १९३० में ही पूरा कर लेने का फ़ैसला कर लिया था, हालांकि इसके लिए आवश्यक ज़मीन तैयार नहीं की गयी थी। ये अधिकारी किसानों को समझाने और कायल करने के बजाय अनुशासनात्मक कार्रवाइयों, कुलकों जैसे उनकी भी संपत्ति छीनने, मताधिकार से वंचित करने, आदि की धमकियां देकर सामूहिक फ़ार्मों में शामिल होने के लिए मजबूर करने लगे थे। सोवियत संघ जैसे विशाल देश के पैमाने पर लाखों-करोड़ों किसानों को कृषि की नयी, सामूहिक पद्धति स्वीकार करने के लिए तैयार करना चूंकि मानवजाति के सारे इतिहास में एक सर्वथा



रूस के काली ज़मीनवाले मध्यवर्ती प्रदेश में दरिद्र किसानों की सामूहिक फ़ार्म में भरती (१९२९)

नवीन प्रयोग था, अतः उसमें कुछ ग़लतियां हो जाना स्वाभाविक ही था। कुछ इलाक़ों में उत्पादन के बुनियादी साधनों का ही नहीं, रिहायशी घरों, छोटे मवेशियों और मुर्ग़े-मुर्ग़ियों का भी बलात् समाजीकरण किया गया। कुछ जगहों पर बाज़ारों, गिरजों आदि को बंद कर दिया गया। कभी-कभी कुलकों की भांति ख़ुशहाल मंझोले किसानों और उन मंझोले किसानों का भी स्वत्वहरण किया गया, जो सामूहिक फ़ार्मों में शामिल होने को तैयार नहीं थे।

इससे किसानों में गंभीर असंतोष पैदा हुआ। कुलकों ने उससे तुरंत लाभ उठाया और पहले से भी ज़्यादा ज़ोर-शोर से सामूहिकीकरण तथा सोवियत सत्ता के ख़िलाफ़ प्रचार करने लगे। उनके मवेशी सामूहिक फ़ार्मों के हाथ न लग पायें, इसलिए वे अपने घोड़ों, गायों, सूअरों, आदि को मारने लगे। उनकी बातों में आकर कई मंझोले किसानों ने भी ऐसा ही किया, जो अन्यथा सामूहिक फ़ार्मों में शामिल होने को तैयार थे। फलस्वरूप कृषि को भारी नुक़सान पहुंचा।

कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत सरकार ने सामूहिकीकरण की नीति में उत्पन्न इन विकृतियों को दूर करने के लिए आवश्यक क़दम उठाये। सामूहिक

फ़ार्मों में स्वेच्छा से भरती होने और सामूहिक खेती का मनपसंद तरीक़ा चुनने के लेनिनीय सिद्धांत के उल्लंघनों पर कठोर प्रतिबंध लगा दिया गया।

नवस्थापित सामूहिक फ़ार्म शीघ्रातिशीघ्र अपने पैरों पर खड़े हो सकें, इसके लिए सरकार ने उन्हें पहले से अधिक वित्तीय इमदाद, मवेशी टैक्स से दो साल छूट, बीज ऋण, आदि के रूप में व्यापक सहायता प्रदान की। मशीन-ट्रैक्टर स्टेशनों के निर्माण में तीव्रता लायी गयी। इन सब कार्रवाइयों का किसानों पर अनुकूल असर पड़ा और उनके बीच व्याप्त असंतोष ख़त्म होने लगा।

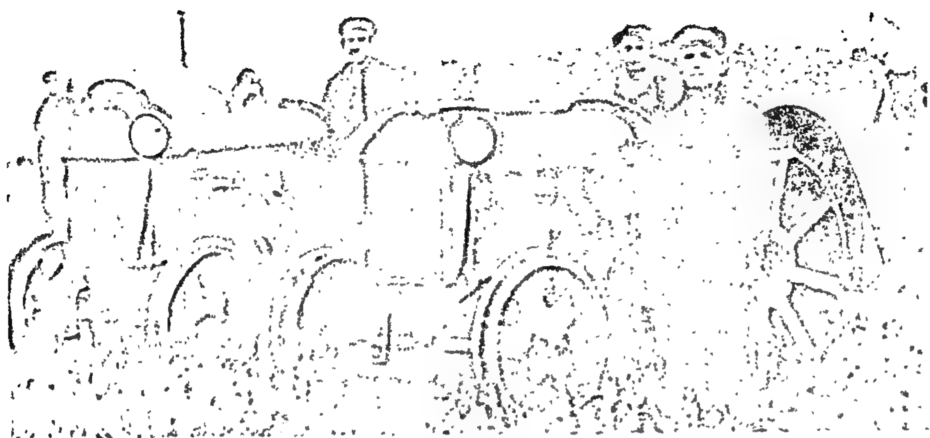
नवीन जीवन पद्धति की ओर किसानों का झुकाव बढ़ता ही गया। देहात में नये युग का आरंभ हो चुका था। लाखों-करोड़ों किसान नये, समाजवादी पथ पर अग्रसर होने लग गये थे। जैसी कि लेनिन ने पूर्वकल्पना की थी, अधिकांश किसानों ने सामूहिक कृषि प्रणाली को अपना लिया था।

पहली पंचवर्षीय योजना के दौरान १,५०,००,००० किसान परिवार (कुल परिवारों का ६१.५ प्रतिशत) २,१०,००० सामूहिक फ़ार्मों में संगठित हुए थे। सभी अन्न-उत्पादक इलाक़ों में और जिन इलाक़ों में अधिकांशतः नक़द फ़सलें उगायी जाती थीं, उनमें भी पूर्ण सामूहिकीकरण संपन्न हो गया था।

सामूहिक फ़ार्मों का सुदृढ़ीकरण

सामूहिकीकरण आंदोलन के इतने तीव्र विकास से कुछ कठिनाइयां भी पैदा हुईं। नवस्थापित सामूहिक फ़ार्म संगठन और प्रबंध के मामले में स्पष्टतः पिछड़े हुए थे। काम के संगठन, उपकरणों के इस्तेमाल और आय के वितरण में गंभीर कमियां थीं। कुछ फ़ार्मों में श्रम अनुशासन का स्तर काफ़ी नीचा था। बड़े सामूहिक उद्यमों के लिए जिस प्रबंध कुशलता की आवश्यकता होती है, उसके अनुभव का अभी अभाव था। कई जगहों पर, विशेषतः उत्तरी काकेशिया और उक्रइना में, भूतपूर्व कुलक और शत्रु तत्त्व सामूहिक फ़ार्मों में घुस आये थे और विभिन्न तरीक़ों से उनकी अर्थव्यवस्था को भीतर से कमज़ोर बनाने लगे थे, जैसे उनकी संपत्ति चुराना, मवेशियों को मार डालना, साज़सामान को नुक़सान पहुंचाना, श्रम अनुशासन को दुर्बल बनाना, राज्य के प्रति दायित्वों की पूर्ति में विघ्न डालने की कोशिशें करना, आदि।

अतः सामूहिक फ़ार्मों को सबसे पहले संगठन और प्रबंध के मामले में मज़बूत बनाना बहुत ज़रूरी था। इसके बिना वे बड़े पैमाने की सामूहिक,



प० न० अंगेलिना की ट्रैक्टर टोली (१९३२)

समाजवादी कृषि की विराट संभावनाओं से भरपूर लाभ नहीं उठा सकते थे। श्रम संगठन और आय वितरण के सर्वोत्तम तरीक़े सामूहिक फ़ार्मों द्वारा अपने व्यावहारिक अनुभव के आधार पर ख़ुद ही खोजे गये। सभी फ़ार्मों में ऐसी उत्पादन टोलियां वनायी गयीं, जिनके सदस्य स्थायी थे। हर टोली को कुछ निश्चित खेत, औज़ार और मवेशी सौंप दिये गये। सभी सामूहिक फ़ार्मों में कार्य-दिवस इकाइयों के रूप में आंके जानेवाले श्रम के आधार पर आय वितरण का तरीक़ा अपनाया गया। इससे उत्पादन बढ़ाने में सामूहिक फ़ार्म सदस्यों की माली दिलचस्पी पैदा हुई।

सामूहिक और राजकीय फ़ार्मों की अर्थव्यवस्था को शीघ्रातिशीघ्र सुदृढ़ करने और उन्हें उच्च उत्पादनशील उद्यम वनाने के उद्देश्य से १९३३ की सरदियों में कम्युनिस्ट पार्टी ने मशीन-ट्रैक्टर स्टेशनों और राजकीय फ़ार्मों के अंतर्गत राजनीतिक विभागों की स्थापना की। उनमें काम करने के लिए पार्टी की केन्द्रीय समिति ने २५,००० सर्वोत्कृष्ट पार्टी कार्यकर्त्ताओं को भेजा। राजनीतिक विभागों को सामूहिक किसानों के बीच राजनीतिक प्रचार करना था, उन्हें अपना काम ईमानदारी से करने और ईमानदारी से ही सार्वजनिक

संपत्ति की रक्षा व उपयोग करने की शिक्षा देना था और उनके बीच समाजवादी प्रतियोगिता को प्रोत्साहित करना था। मशीन-ट्रैक्टर स्टेशनों और राजकीय फ़ार्मों के अंतर्गत स्थापित इन विभागों ने अपने अस्तित्व के दो वर्षों में ही सामूहिक फ़ार्मों के सुदृढ़ीकरण के लिए बहुत बड़ा काम कर दिखाया।

समाजवादी नगर के अनुकरण पर देहात में भी नवाचारकों का आंदोलन, अर्थात ट्रैक्टर, हार्वेस्टर कंबाइनों व अन्य कृषि मशीनों के बेहतर उपयोग और अनाज, चुकंदर, कपास, आदि की बेहतर पैदावार का आन्दोलन शुरू हो गया। इसमें सामूहिक फ़ार्मों की बढ़ती शक्ति, आधुनिक कृषि मशीनों और उनके संचालन के लिए नियुक्त विशेषज्ञों की बढ़ती संख्या और सामूहिक किसानों की बढ़ी हुई समाजवादी चेतना जैसे कारकों ने बड़ा भारी योग दिया था। ग्रामीण नवाचारक आन्दोलन में सबसे अधिक नाम प्रास्कोव्या अंगेलिना ने कमाया, जो पहली महिला ट्रैक्टरचालक और एक ट्रैक्टर टोली की मुखिया थी। १९३५ में उसकी टोली के हर ट्रैक्टर ने ३०० हैक्टर के निर्धारित कोटा के स्थान पर १,२३० हैक्टर ज़मीन की जुताई की थी। उसका अनुकरण दूसरों ने भी किया। कोन्स्तान्तिन बोरिन नामक एक कंबाइनचालक ने ७८० हैक्टर फ़सल की कटाई की, जबकि निर्धारित कोटा केवल १६० हैक्टर था। उसकी देखादेखी कई अन्य कंबाइनचालकों ने भी नये कीर्तिमान स्थापित किये।

कीयेव प्रदेश के कोमिंटर्न सामूहिक फ़ार्म की मरीया देमचेंको और उसकी टोली ने १९३५ में प्रति हैक्टर ५२४ क्विंटल चुकंदर उगाकर चुकंदर उत्पादन के क्षेत्र में नये कीर्तिमान स्थापित किये। लगभग इतनी ही ऊंची पैदावार म० ग्नातेंको, अ० श्वीद्को, अ० कोशेवाया, आदि के खेतों में भी हुई थी।

सामूहिक कृषि प्रणाली की पूर्ण विजय

दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंत तक सारे सोवियत संघ में सामूहिक कृषि प्रणाली विजयी हो चुकी थी। १९३७ में १,८५,००,००० किसान परिवार (कुल संख्या का ९३ प्रतिशत) सामूहिक फ़ार्मों के सदस्य थे। ९९ प्रतिशत कृषि भूमि सामूहिक फ़ार्मों के पास थी। इसका मतलब था कि सामूहिकीकरण की प्रक्रिया लगभग पूर्ण हो चुकी है।

पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि क्षेत्र की तकनीकी पुनर्सज्जा मोटे तौर पर पूरी हो गयी थी। १९३७ में ५८१८ मशीन-ट्रैक्टर स्टेशन सामूहिक फ़ार्मों को तकनीकी सेवाएं मुहैया कर रहे थे। कृषि क्षेत्र के पास अब कुल

मिलाकर ४,५६,००० ट्रैक्टर, लगभग १,२६,००० हार्वेस्टर कंवाइनें, १,४६,००० ट्रक और वहुत सी दूसरी मशीनें थीं।

सोवियत संघ वड़े पैमाने की कृषिवाला देश वन चुका था।

महान सांस्कृतिक क्रांति

सोवियत सत्ता और संस्कृति

क्रांतिपूर्व रूस ने अनेक महान वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, संगीतकारों, चित्रकारों और कलाकारों को जन्म दिया था। मानव संस्कृति के विकास में उनका योगदान मूल्यवान माना जाता है। किंतु इसके वावजूद देश सांस्कृतिक दृष्टि से कुल मिलाकर नितांत पिछड़ा हुआ ही था। १८६७ की जनगणना के अनुसार ६ वर्ष और इससे अधिक आयु की ७६ प्रतिशत आवादी और ८८ प्रतिशत नारियां निरक्षर थीं। मध्य एशिया जैसे इलाक़ों की ग़ैर-रूसी आवादी में तो साक्षरों को अंगुलियों पर गिना जा सकता था। ज़ारशाही रूस में रहनेवाली ४० से अधिक जातियों की अपनी लिखित भाषा तक न थी। लगभग यही स्थिति अक्तूवर क्रांति की पूर्ववेला में भी थी। श्रमजीवी परिवारों के ८० प्रतिशत वच्चों के लिए स्कूलों के द्वार वंद थे और शेष २० प्रतिशत में से भी उच्च शिक्षा इने-गिनों को ही मयस्सर हो पाती थी।

महान अक्तूवर क्रांति ने रूस के सांस्कृतिक उत्कर्ष का पथ प्रशस्त कर दिया। उसने सवसे पहले उस प्रतिक्रियावादी राजनीतिक शासन का अंत किया, जो जनता का आर्थिक तथा राजनीतिक दमन करने के अलावा शिक्षा के मार्ग में अवरोध भी वना हुआ था। अक्तूवर क्रांति ने अल्पसंख्यक जातियों के उत्पीड़न का ख़ात्मा किया, जो उनकी राष्ट्रीय संस्कृतियों का विकास नहीं होने दे रहा था। उसने विभिन्न श्रेणियों में समाज के विभाजन का उन्मूलन किया, नारियों को पुरुषों जैसे अधिकार दिये और चर्च को राज्य से और शिक्षा को चर्च से पृथक् किया। संक्षेप में, उसने ज्ञान की राह में पड़नेवाली सभी वाधाओं को हटा दिया। इतिहास में पहली वार किसी राज्य सत्ता ने शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति को समस्त जनता की पहुंच के भीतर लाने का, सभी मेहनतकश जनों को शिक्षित तथा सुसंस्कृत वनाने का कार्यभार अपने सामने रखा था और उसे पूरा करके भी दिखाया। यह राज्य सत्ता सोवियतों की थी।

सोवियत क्रांति ने मेहनतकश जनता को स्वतंत्र ऐतिहासिक सृजन के लिए उत्प्रेरित किया और उसकी उन वहुरूप प्रतिभाओं तथा योग्यताओं को जागृत

किया, जिन्हें पुरानी व्यवस्था ने जानबूझकर प्रसुप्त और दमित ही रहने दिया था। सोवियत सत्ता की स्थापना के पहले महीनों में ही मेहनतकश लोग नगरों तथा गांवों में जन शिक्षा परिषदें, सांस्कृतिक केंद्र, क्लव, पुस्तकालय, वाचनालय, जन विश्वविद्यालय, व्याख्यान केंद्र, इत्यादि की स्थापना और स्कूल भवनों का निर्माण करने लग गये। जो साक्षर थे, वे निरक्षरता उन्मूलन अभियान में योग देने लगे। १९१८ के वसंत में लेनिन ने इस बात पर हर्ष व्यक्त किया था कि समाज के सोवियत पुनर्गठन की बदौलत जनसामान्य में शिक्षा और संस्कृति के प्रति आकर्षण निरंतर बढ़ता ही जा रहा है। सोवियत सरकार ने इस आकर्षण को हर प्रकार से प्रोत्साहित किया। सांस्कृतिक विकास सोवियत राज्य का एक सबसे महत्त्वपूर्ण कार्यभार बन गया।

सोवियत सत्ता को आरंभिक वर्षों में इस क्षेत्र में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विदेशी सशस्त्र हस्तक्षेप और गृहयुद्ध की वजह से देश की स्थिति विषम तो थी ही, ऊपर से पुराने बुद्धिजीवी समुदाय का एक काफ़ी बड़ा भाग, जो बूर्जुआज़ी से घनिष्ठतः संबद्ध था, सोवियत सत्ता के प्रति या तो शत्रुतापूर्ण रवैया अपना रहा था या फिर दुविधा की हालत में था और शनैःशनै ही जनता का साथ देने लगा। इसके बावजूद क्रांतिपूर्व बुद्धिजीवी समाज के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि, जैसे क० अ० तिमिर्याज़ेव, इ० प० पाव्लोव, न० ये० जुकोव्स्की, इ० व० मिचूरिन, अ० अ० ब्लोक, व० य० ब्रूसोव, व० व० मयाकोव्स्की, व० ए० मेयरहोल्द, आदि शुरू से ही सोवियत सत्ता के साथ थे। अधिकांश अध्यापकों, सस्यविज्ञानियों और ग्रामीण डाक्टरों ने भी जनता का ही पक्ष लिया था। फिर इस बीच स्वयं मज़दूरों और किसानों के बीच से भी एक नया बुद्धिजीवी समुदाय उभरने लगा था।

कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने सर्वश्रेष्ठ कार्यकर्त्ताओं – सर्वाधिक शिक्षित और सुयोग्य संगठनकर्त्ताओं – को सांस्कृतिक मोर्चे पर काम करने भेजा। शिक्षा का पहला जन कमिसार अ० व० लुनाचार्स्की को नियुक्त किया गया, जो अपने सर्वतोमुखी ज्ञान और लेखन तथा वक्तृत्व प्रतिभा के लिए विख्यात था। चौथे दशक के आरंभ में जब वह इस पद को छोड़ राजनयिक सेवा में चला गया, तो एक पुराने बोल्शेविक और जाने-माने इतिहासकार अ० स० बूबनोव को शिक्षा का जन कमिसार बनाया गया। लेनिन की जीवनसंगी और सहयोद्धा नदेज्दा क्रूप्स्काया सोवियत सत्ता के आरंभकाल से लेकर अपने अंतिम दिनों तक (१९३९) शिक्षा के क्षेत्र में ही काम करती रही। ज्ञान-विज्ञान के विकास में और सांस्कृतिक कार्यकर्त्ताओं को सोवियत सत्ता के पक्ष में लाने में मक्सिम गोर्की का योगदान सदा याद किया जायेगा।

पूर्ण साक्षरता का अभियान

संस्कृति के क्षेत्र में सबसे तात्कालिक कार्यभार था निरक्षरता का उन्मूलन। "कम्युनिस्ट समाज निरक्षर देश में नहीं बनाया जा सकता," व्ला० इ० लेनिन ने लिखा था। गृहयुद्ध के कठिनाइयों से भरपूर वर्षों में ही सारे देश में अनगिनत साक्षरता केन्द्र चालू कर दिये गये थे। उनमें पढ़नेवालों को काम से दो घंटे की सवेतन छुट्टी दी जाती थी। १६१७-१६२० की अवधि में कोई ७०,००,००० निरक्षर लोगों ने, जिनमें से ४०,००,००० नारियां थीं, लिखना-पढ़ना सीखा।

शांतिमय निर्माण के काल में, विशेषतः युद्धपूर्व की पंचवर्षीय योजनाओं के वर्षों में तो निरक्षरता उन्मूलन के अभियान में और भी शानदार सफलताएं पायी गयीं। सोवियत लोगों ने इस उदात्त कार्यभार की पूर्ति में हर तरह से सरकार से सहयोग किया। १६२३ में उन्होंने निरक्षरता विनाश समाज नामक एक स्वयंसेवी संगठन की स्थापना की, जिसकें सदस्यों की संख्या १६३२ में ५०,००,००० से ऊपर थी। ये मुख्यतः वे लोग थे, जो वयस्कों को साक्षर बनाने में सक्रिय हिस्सा ले रहे थे। सोवियत युवाओं, विशेषतः युवा कम्युनिस्ट लीग के सदस्यों ने गांवों में और ट्रेड यूनियनों ने मज़दूरों के बीच शिक्षा और संस्कृति के प्रसार के लिए बड़ा काम किया। सरकार और जनता के संयुक्त प्रयासों के अच्छे परिणाम निकले: १६२६ से १६३६ तक की अवधि में ८,७०,००,००० से अधिक निरक्षर और अल्पसाक्षर लोग पूर्ण साक्षर बने।

इस बीच माध्यमिक शिक्षा का भी व्यापक प्रसार हो रहा था। स्कूलों और विद्यार्थियों की संख्या, जो गृहयुद्ध के वर्षों में ही बढ़ने लग गयी थी, शांतिमय निर्माण के वर्षों में और भी तेज़ी से बढ़ी, विशेषतः ग़ैर-रूसी इलाक़ों में। १६३० तक सोवियत सरकार के लिए विभिन्न जातीय भाषाओं में प्राथमिक शिक्षा को सार्विक तथा अनिवार्य घोषित करना संभव हो गया। फिर सातवीं कक्षा तक की शिक्षा भी सार्विक तथा अनिवार्य बना दी गयी। १६४०-१६४१ में सामान्य स्कूलों में पढ़नेवालों की संख्या १६१४ के ६६,५६,००० के मुक़ाबले ३,५५,५२,००० और पढ़ानेवालों की संख्या १६१४ के २,८०,००० के मुक़ाबले १२,३८,००० थी। चौथे दशक के अंत तक देश में निरक्षरता का लगभग पूर्ण उन्मूलन हो चुका था।

कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत सरकार ने शैक्षणिक विधियों में सुधार के प्रश्न पर बहुत ध्यान दिया और शिक्षा को व्यावहारिक जीवन से घनिष्ठतः सबद्ध बनाया। साथ ही शिक्षकों के कल्याणार्थ भी अनेक क़दम उठाये गये।

पुस्तकों के प्रकाशन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक और वैज्ञानिक रचनाएं तो दसियों लाख प्रतियों के संस्करणों में छापी जाने लगीं। तव से पुस्तकों से प्रेम और समादर सोवियत लोगों की चारित्रिक विशेपता वन गये हैं।

जन बुद्धिजीवी समुदाय का निर्माण

दसियों लाख जन बुद्धिजीवियों के समुदाय का निर्माण सोवियत सांस्कृतिक क्रांति की एक सवसे वड़ी उपलब्धि थी। इन वुद्धिजीवियों में अर्थव्यवस्था, संस्कृति, स्वास्थ्यरक्षा और शासन से संवंधित सभी क्षेत्रों के उच्च प्रशिक्षित विशेषज्ञ थे। क्रांतिपूर्व रूस से सोवियत संघ को विरासत में केवल ९१ उच्च शिक्षा संस्थाएं मिली थीं, जिनमें मुख्यतया संपत्तिवान वर्गों में ही जन्मे कोई १,१२,००० विद्यार्थी पढ़ते थे। सोवियत सरकार ने विश्वविद्यालयों और अन्य उच्च शिक्षा संस्थाओं के दरवाज़े मेहनतकशों के लिए खोल दिये, शिक्षा शुल्क लेने की प्रणाली ख़त्म कर दी और छात्रवृत्तियां देने लगी। मज़दूर परिवारों के वच्चों को उच्च शिक्षा संस्थाओं के लिए तैयार करने के वास्ते १९१९ में ही विश्वविद्यालयों और अन्य संस्थाओं में मज़दूर संकाय स्थापित कर दिये गये थे। १९२०-१९२१ तक देश में उच्च शिक्षा संस्थाओं की संख्या २४४ और उनमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या १९१४ के मुक़ावले दोगुनी हो गयी। औद्योगीकरण और सामूहिकीकरण के काल में प्रशिक्षित कर्मचारियों की मांग वहुत अधिक वढ़ जाने से उच्च शिक्षा ने विशेप तेज़ी से विकास किया। १९४०-१९४१ में देश में ८१७ उच्च शिक्षा संस्थाएं थीं, जिनमें कुल मिलाकर कोई ८,१२,००० विद्यार्थी पढ़ते थे। सोवियत सत्ता की स्थापना के वाद नारियों को भी उच्च शिक्षा के क्षेत्र में निर्वाध प्रवेश मिला। महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध शुरू होने से पहले कुल विद्यार्थियों में उनकी संख्या ५८ प्रतिशत थी।

अक्तूवर क्रांति से पहले उच्च शिक्षा संस्थाएं केवल मध्य रूस में थीं, किंतु सोवियत शासन की स्थापना के वाद ऐसी संस्थाएं जातीय जनतंत्रों और प्रदेशों में भी खुल गयीं और इस प्रकार उच्च शिक्षा देश के सभी भूतपूर्व पददलित तथा पिछड़े जनों को उपलव्ध हो गयी। १९३९ में लेनिनग्राद के उत्तरी जन संस्थान के स्नातकों ने अपने एक वक्तव्य में कहा था, "हम उन जनों की संतान हैं, जो सदियों तक पददलित, अपमानित और उत्पीड़ित रहे थे... हमारे पिता शिक्षित और सुसंस्कृत वनने का स्वप्न भी नहीं देख सकते थे... न हम ही कभी शिक्षित वन पाते, अगर समाजवादी क्रांति,

पार्टी और सोवियत सरकार ने हमें इसका अवसर न दिया होता। उन्होंने ही सभी जनों को रोज़गार और शिक्षा का अधिकार दिया है, हमें सुशिक्षित और संस्कृतिसंपन्न बनाया है। और अब हमारी एकमात्र आकांक्षा यही है कि अपनी महान मातृभूमि के सुयोग्य सपूत सिद्ध हों।"

उच्च और सामान्य शिक्षा के पैमाने की दृष्टि से सोवियत संघ ने विश्व के सभी पूंजीवादी देशों को पीछे छोड़ दिया। दूसरे महायुद्ध से पहले उसकी उच्च शिक्षा संस्थाओं में जितने छात्र पढ़ रहे थे, उतने २२ यूरोपीय देशों में कुल मिलाकर भी नहीं थे।

विज्ञान का विकास

समाजवादी क्रांति ने विज्ञान के क्षेत्र में भी विकास की व्यापक संभावनाएं प्रस्तुत कीं। सारे सोवियत संघ में वैज्ञानिक शोध संस्थानों का विस्तृत जाल बिछ गया। १६४१ में ऐसे १८२१, यानी क्रांति से पहले की तुलना में छहगुना अधिक संस्थान थे। वैज्ञानिकों की संख्या १६१४ के मुक़ाबले लगभग दसगुना बढ़कर ६८,००० से अधिक हो गयी थी। वैज्ञानिक शोध संस्थानों की स्थापना संघीय और स्वायत्त जनतंत्रों में भी की गयी थी।

सोवियत वैज्ञानिकों ने तीसरे और चौथे दशकों में अनेक महती सफलताएं हासिल कीं। विश्वविख्यात शरीरक्रियाविज्ञानी इ० प० पाव्लोव ने मनुष्यों और पशुओं की उच्च तंत्रिकाक्रिया विषयक अपनी खोजों से आधुनिक विज्ञान और आयुर्विज्ञान में महत्त्वपूर्ण योग दिया। क० ए० त्सियोल्कोव्स्की ने राकेट प्रोपल्शन सिद्धांत प्रतिपादित किया, जिसपर आधुनिक जेट वैमानिकी और आंतरिक्षिकी का सारा विकास आधारित है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक न० ये० जुकोव्स्की तथा स० अ० चाप्लीगिन ने पंख की उत्तोलन शक्ति के मूल से संबंधित नियम का उद्घाटन किया और आधुनिक वैमानिकी की सैद्धान्तिक नींव रखी थी। अकादमीशियन स० व० लेबेदेव के अनुसंधानों की बदौलत सोवियत संघ सिंथेटिक रबड़ का सबसे पहले औद्योगिक पैमाने पर उत्पादन करनेवाला देश बन सका। ल० इ० मांदेलश्ताम, न० द० पपालेक्सी तथा अन्य सोवियत भौतिकीवेत्ताओं की खोजों की बदौलत चौथे दशक के आरंभ में सोवियत संघ रडार सिद्धांतों के व्यावहारिक अनुप्रयोग के मामले में भी पहल कर सका। अकादमीशियन अ० फ़० इयोफ़्फ़े के कार्य ने आधुनिक अर्धचालक भौतिकी का आधार तैयार किया। ज्ञात है कि आज अर्धचालक तकनीकी प्रगति में निर्णायक भूमिका अदा कर रहे हैं। द० व० स्कोबेल्त्सीन, इ० व० कुर्चातोव और अन्य सोवियत वैज्ञानिकों ने परमाणु नाभिक और अंतरिक्ष किरणों के

अध्ययन में मूल्यवान योग दिया। तीसरे दशक के आरंभ में व० ग० ख़्लोपीन रेडियम औषधियां वनाने में सफल रहे थे।

सोवियत संघ में विज्ञान जीवन से अधिकाधिक संवद्ध वन रहा था और समाजवाद निर्माण में उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा था।

समाजवाद के निर्माताओं की राजनीतिक और नैतिक शिक्षा

समाजवाद का निर्माण स्वतःस्फूर्त नहीं, अपितु सचेत प्रक्रिया है। अतः आवश्यक है कि लोगों को अपने लक्ष्यों और उनकी प्राप्ति के साधनों व तरीक़ों की स्पष्ट समझ हो। सोवियत राज्य ने क्लबों, वाचनालयों, पुस्तकालयों, संग्रहालयों, थियेटरों, आदि के ज़रिये जनता को राजनीतिक रूप से शिक्षित वनाने पर सदा ही वहुत ध्यान दिया है। क्रांति के बाद सभी सांस्कृतिक संस्थाओं के द्वार सामान्यजन के लिए खोल दिये गये थे। साथ ही ऐसी अनेक नयी संस्थाओं का निर्माण भी किया गया। १९३९ में सोवियत संघ में १,११,००० यानी क्रांति से पहले की तुलना में ५०० गुना अधिक क्लब थे और ९००० समाचारपत्र छपते थे, यानी १९१४ के मुक़ावले दसगुना अधिक।

सोवियत जनता की राजनीतिक और नैतिक शिक्षा में साहित्य तथा कला अद्वितीय भूमिका अदा करते हैं। क्रांति तथा समाजवाद के हेतु प्राणोत्सर्ग करने को उद्यत योद्धाओं का साहित्यकार, चित्रकार, मूर्तिकार या किसी प्रतिभावान अभिनेता द्वारा सजीव चित्रण जनसामान्य पर उदात्तकारी प्रभाव डालता है। सोवियत साहित्य और कला मातृभूमि, श्रम तथा शांति से प्रेम और सभी प्रकार के उत्पीड़न, दासता, लूट के उद्देश्य से छेड़े जानेवाले युद्धों और मानव द्वारा मानव के शोषण के प्रति घृणा के उच्च आदर्शों का प्रचार करते हैं। सोवियत साहित्य और कला में नायक जनता होती है, वे मेहनतकश लोग होते हैं, जो वास्तव में इतिहास के रचयिता, नये समाज के स्रष्टा हैं।

तीसरे और चौथे दशकों में लिखी गयी म० शोलोख़ोव की 'धीरे वहे दोन रे', अ० सेराफ़िमोविच की 'लौह प्रवाह', न० ओस्त्रोव्स्की की 'अग्निदीक्षा', द० फ़ूर्मानोव की 'चपायेव', अ० फ़देयेव की 'पराजय' जैसी कृतियां, जो गृहयुद्ध के वर्षों में सोवियत लोगों द्वारा प्रदर्शित शौर्य का वखान करती हैं, लाखों सोवियत पाठकों की सवसे प्रिय पुस्तकें वन गयी हैं। इन दशकों के अन्य लोकप्रिय लेखक थे म० गोर्की, अ० तोल्स्तोय, ल० लेओनोव, क० फ़ेदिन, इ० वावेल, व० मयाकोव्स्की, न० तीख़ोनोव और ए० वाग्रीत्स्की। 'युद्धपोत पत्योम्किन', 'मां', 'चपायेव', 'वाल्टिकी

प्रतिनिधि' और 'हम क्रोनश्ताद्त से हैं', जैसी उस काल की सर्वोत्तम सोवियत फ़िल्मों ने सिनेकला में एक नयी ही प्रवृत्ति का सूत्रपात किया था।

चौथे दशक के अंत तक सोवियत संघ में सांस्कृतिक क्रांति बुनियादी तौर पर पूरी हो गयी थी। सोवियत संघ सार्विक साक्षरता, शिक्षा तथा विशेषज्ञ प्रशिक्षण की सर्वोत्कृष्ट प्रणाली, उन्नत विज्ञान और संस्कृति का देश बन चुका था।

सोवियत संघ में समाजवाद की विजय

समाज के सामाजिक, आर्थिक और वर्गीय ढांचे में मूलगामी परिवर्तन

विश्व के उत्पीड़ित जन सदा मे एक ऐसी व्यवस्था के स्वप्न देखते आये थे, जिसमें न उत्पीड़क होते और न उत्पीड़ित, न मालिक होते और न ग़ुलाम, नंगे-भूखे और निस्सहाय। सोवियत संघ के जनों ने ही पहली बार यह स्वप्न साकार करके दिखाया। महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद राजनीति, अर्थव्यवस्था, संस्कृति, आदि सभी क्षेत्रों में जो दूरगामी सुधार किये गये थे, उनके फलस्वरूप सोवियत संघ में युद्धपूर्व वर्षों में समाजवाद का निर्माण लगभग पूरा हो गया। समाजवाद की विजय का सबसे मुख्य प्रमाण था समाज के सामाजिक, आर्थिक और वर्गीय ढांचे में मूलगामी परिवर्तन। सोवियत सत्ता ने अपने अस्तित्व के पहले दो दशकों में ही एक शक्तिशाली सार्वजनिक अर्थव्यवस्था का निर्माण कर दिया। इस तरह समाजवादी समाज की माली व तकनीकी नींव डाली गयी और समस्त राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उत्पादन के औज़ारों व साधनों के सामाजिक स्वामित्व पर आधारित समाजवादी संबंधों का वर्चस्व क़ायम किया गया।

इन मूलगामी सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों की बदौलत समाज का वर्गीय ढांचा भी पूरी तरह बदल गया। ज़मींदारियों की ज़ब्ती और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिये जाने से सोवियत सत्ता के पहले वर्षों में ही ज़मींदार और बड़े पूंजीपति इतिहास के मंच से विलुप्त हो गये थे। गृहयुद्ध में मुंह की खाकर उनमें से अधिकांश विदेश भाग गये थे। किंतु बूर्जुआज़ी का एक भाग देश में फिर भी बना रहा। नयी आर्थिक नीति के ज़माने में शहरी और देहाती बूर्जुआज़ी की संख्या में कुछ वृद्धि हुई, किंतु कुल आबादी को देखते हुए यह संख्या कोई ख़ास बड़ी नहीं थी। मिसाल के लिए, देहाती बूर्जुआज़ी – कुलकों – की संख्या किसानों की कुल आबादी का ४-५ प्रतिशत ही थी।

चौथे दशक के आरंभ तक निजी पूंजीवादी उद्योग तथा व्यापार को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से पूरी तरह निष्कासित कर दिया गया। अधिकांश उद्यमपति तथा व्यापारी सामान्य मेहनतकश जीवन बिताने लग गये। पहली पंचवर्षीय योजना के दौरान उत्पादकों के रूप में कुलकों का भी ख़ात्मा कर दिया गया। सोवियत समाज से शोषक वर्गों का पूर्ण विलोपन दूसरी पंचवर्षीय योजना के काल में हुआ। तब तक शोषकों को और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को जन्म देनेवाले कारणों का भी जड़ोच्छेदन किया जा चुका था।

सोवियत समाज के मेहनतकश वर्गों के जीवन में भी ऐतिहासिक महत्त्व के परिवर्तन आये। मज़दूर वर्ग अब शोषित, पददलित वर्ग न रहकर एक ऐसे नये वर्ग में बदल गया, जिसका अस्तित्व राज्य के स्वामित्व में स्थित सार्वजनिक उद्यमों में स्वतंत्र श्रम पर आधारित था। विशाल पैमाने पर समाजवादी उद्योग के विकास के साथ मज़दूर वर्ग में संख्यात्मक वृद्धि हुई थी: १९३९ में देश की कुल आबादी में मज़दूरों और उनके परिवारों के सदस्यों की संख्या कोई एक तिहाई थी। इतना ही नहीं, उसका सांस्कृतिक व तकनीकी स्तर भी काफ़ी बढ़ गया था, उसकी संगठनबद्धता तथा राजनीतिक चेतना में वृद्धि हो गयी थी। समाजवादी प्रतियोगिता की प्रथा उत्तरोत्तर व्यापक बन रही थी, जो दिखाता था कि सोवियत मज़दूरों में श्रम के प्रति नया रवैया गहरी जड़ें जमा चुका है। यही सोवियत अर्थव्यवस्था के अनवरत और तीव्र विकास का मुख्य कारक भी था।

सोवियत किसान समुदाय भी अब उत्पीड़ित नहीं रह गया था। सोवियत शासन ने अपने अस्तित्व के पहले वर्षों में ही उसके मुख्य उत्पीड़कों का जड़ोन्मूलन कर दिया था। फिर जब किसानों ने सामूहिक कृषि प्रणाली अंगीकार कर ली तो शोषण के जो रूप बचे रहे थे, जैसे कुलकी शोषण, वे भी पूरी तरह ख़त्म हो गये।

आदिम उपकरणों और हस्त श्रम की जगह आये ट्रैक्टरों, हार्वेस्टरों तथा अन्य कृषि मशीनों ने किसानी का काम आसान ही नहीं, अधिक उत्पादक भी बना दिया। इसके अलावा स्वयं कृषि श्रम का स्वरूप भी बदल गया। पहले हर किसान अपने ही ज़मीन के टुकड़े की काश्त करता था और अगर पड़ोसी को अधिक कामयाबी मिलती थी, तो उसे ईर्ष्या की नज़रों से देखता था। बाड़े और मेड़ें गांववालों को एक दूसरे से बांटे रहती थीं। सामूहिक कृषि प्रणाली ने किसानों को मिल-जुलकर श्रम करने के लिए प्रेरित करके सारी स्थिति को ही बदल डाला। अब उनके बीच बंधुत्वपूर्ण सहयोग और परस्पर सहायता के संबंध क़ायम हो गये।

देहातों में भौतिक और सांस्कृतिक, दोनों ही दृष्टियों से जीवन-स्तर में उत्थान आया। १९३९ की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार तब तक

किसानों के बीच साक्षरता ७६.८ प्रतिशत (नारियों के मामले में ६६.६ प्रतिशत) तक पहुंच चुकी थी। किसान राजनीतिक मामलों में अधिक दिलचस्पी और प्रशासनिक कार्यों में अधिक भाग लेने लगे थे।

बुद्धिजीवी समुदाय का सामाजिक स्वरूप भी बदल गया था। पुराने, क्रांतिपूर्व रूस में वह आम जनता की आवश्यकताओं, हितों के प्रति उदासीन रहता था और मेहनतकश भी उसे उचित ही परायी, विरोधी ज़ात का और शोषक तत्त्वों के हितों का प्रतिनिधि मानते थे।

किंतु समाजवाद निर्माण के वर्षों में ऐसे लाखों नये बुद्धिजीवियों का आविर्भाव हुआ, जो जन्मना मज़दूर और किसान थे। इस नये बुद्धिजीवी समुदाय ने नये समाज के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभायी और जनसामान्य को कम्युनिस्ट आदर्शों के अनुसार शिक्षित करने में निष्ठापूर्वक कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत सरकार का साथ दिया।

सोवियत समाज के वर्गीय ढांचे में आये उपरोक्त सभी परिवर्तनों के फलस्वरूप सोवियत जनता की सामाजिक, राजनीतिक और वैचारिक एकता उत्पन्न हुई, जो समाजवादी व्यवस्था की शक्ति और सामर्थ्य का एक मुख्य स्रोत थी।

नया सोवियत मानव

समाजवाद निर्माण की प्रक्रिया में एक नये मानव का भी विकास हुआ। सोवियत व्यवस्था ने ही उसे जन्म तथा शिक्षा दी थी और उसके नैतिक चरित्र को निखारा था। गहन सिद्धांतनिष्ठा, साहस, शौर्य, दृढ़ता, सामूहिक भावना, अपनी जनता तथा देश से प्रेम और उनके लिए प्राण न्योछावर करने की तत्परता – ये थे इस नये, सोवियत मानव के गुण।

चेल्यूस्किन अभियान का उद्धार, जिसके लिए समस्त विश्व ने सोवियत उड़ाकों को साधुवाद दिया था, सोवियत लोगों के इन्हीं श्लाघनीय गुणों की अभिव्यक्ति था। चेल्यूस्किन मालवाही पोत प्रसिद्ध वैज्ञानिक और कम्युनिस्ट ओ० यू० श्मीद्त के नेतृत्व में एक अभियानदल को लेकर १२ जुलाई, १९३३ को लेनिनग्राद से रवाना हुआ था। अभियान का उद्देश्य पहली बार एक ऐसे पोत पर, जो हिमभंजक नहीं था, मूर्मांस्क से लेकर बेरिंग खाड़ी तक के सारे उत्तरी समुद्री मार्ग को एक ही जहाज़रानी सीज़न में तय करना था। किंतु आर्कटिक में मौसम बहुत ही प्रतिकूल था और सितंबर में चेल्यूस्किन बर्फ़ के बीच फंस गया और बाहर न निकल सका। १३ फ़रवरी, १९३४ को बर्फ़ का दबाव इतना बढ़ गया कि चेल्यूस्किन चकनाचूर होकर डूब गया। पोत

कर्मीदल और अभियानदल के १०३ सदस्य, जिनमें कई नारियां और दो दूधपीते बच्चे भी थे, जहाज़ से उतर चुके थे और अपने साथ उन्होंने रसद, ईंधन, तंबू इत्यादि भी उतार लिये थे।

इस तरह घोर आर्कटिक शीत में 'श्मीद्त शिविर' क़ायम किया गया। दो महीने वे वहां रहे। अकल्पनीय कठिनाइयों के बावजूद वे हिम्मत नहीं हारे और अनुपम दृढ़ता, संगठनबद्धता, अनुशासन और सामूहिकता की भावना का परिचय देते हुए अविराम वैज्ञानिक शोध-कार्य करते रहे। शिविर स्थापित होने के दूसरे ही दिन मुख्य भूमि के साथ वायरलेस संपर्क क़ायम कर लिया गया था, जिसे रेडियो आपरेटर ए० क्रेंकेल, व० इवान्यूक और स० इवानोव ने अभियान दल के आर्कटिक वास के आख़िरी दिन तक बाक़ायदा बनाये रखा।

इस बीच उद्धार कार्रवाइयों के निदेशन के लिए व० व० कूइबिशेव की देखरेख में एक राजकीय आयोग बनाया जा चुका था। चेल्यूस्किन के दुर्घटनास्थल पर विमान, हिमभंजक पोत और स्लेजगाड़ियों का कारवां भेजे गये। भीषण कठिनाइयां झेलते हुए सात सोवियत उड़ाकों – म० वोदोप्यानोव इ० दोरोनिन, न० कमानिन, स० लेवानेव्स्की, स० ल्यापिदेव्स्की, व० मोलोकोव और म० स्लेपृन्योव – ने ७ अप्रैल से १३ अप्रैल तक 'श्मीद्त शिविर' के सभी लोगों को बचाकर मुख्यभूमि पर पहुंचाया। सोवियत राज्य ने इस कारनामे के लिए आभार प्रदर्शन के तौर पर सातों उड़ाकों को सोवियत संघ के वीर की साम्मानिक पदवी से विभूषित किया, जो उसी वक़्त ही स्थापित की गयी थी। चेल्यूस्किन अभियान के सभी सदस्यों को लाल सितारा पदक प्रदान किये गये।

आठवां व्यक्ति, जिसे सोवियत संघ के वीर की पदवी से सितंबर, १९३४ में सम्मानित किया गया था, विख्यात सोवियत उड़ाका म० म० ग्रोमोव था। उसने अपने विमान के कर्मीदल के साथ ७५ घंटे की अविराम उड़ान में १२,४११ किलोमीटर का फ़ासला तय करके नया विश्व कीर्तिमान स्थापित किया था। १९३७ में सोवियत संघ के वीर की पदवी उड़ाके व० च्कालोव, अ० बेल्याकोव और ग० बाइदुकोव को भी प्रदान की गयी, जिन्होंने अपने 'आन्त-२५' विमान द्वारा अविराम उड़कर मास्को से संयुक्त राज्य अमरीका तक का फ़ासला ६२ घंटों में तय किया था। उनके बाद उसी प्रकार के विमान द्वारा म० ग्रोमोव, अ० युमाशेव और स० दनीलिन ने भी मास्को – संयुक्त राज्य अमरीका मार्ग पर अविराम उड़ान भरी।

१९३८ में सोवियत संघ के वीर की पदवी से चार प्रमुख ध्रुव-अन्वेषकों को सम्मानित किया गया। ये थे इ० पपानिन, ए० क्रेंकेल, ये० फ़्योदोरोव और प० शिर्शोव, जिन्हें म० वोदोप्यानोव द्वारा चालित एक विमान द्वारा २१ मई, १९३७ को उत्तरी ध्रुव के समीप उतारा गया था। एक बहते



व० प० च्कालोव का हवाई जहाज़ वैंकूवर हवाई अड्डे पर (१९३७)

हिमखंड पर डेरा डालकर उन्होंने २७४ दिन अपना वैज्ञानिक अन्वीक्षण कार्य जारी रखा। इस बीच हिमखंड २५०० किलोमीटर का फ़ासला तय कर चुका था। १ फ़रवरी, १९३८ को उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी अन्वीक्षण कार्य चलता रहा। १९ फ़रवरी को विशेषतः भेजे गये हिमभंजक पोतों द्वारा चारों अन्वेषकों को हिमखंड से उठा लिया गया।

सितंबर, १९३८ में तीन महिला-उड़ाकों – व० ग्रिज़ोदूबोवा, प० ओसिपेंको और म० रास्कोवा – ने अपने 'रोदिना' विमान द्वारा ५९०८ किलोमीटर अविराम उड़कर अद्भुत साहस व शौर्य का परिचय दिया। उन्हें भी सोवियत संघ के वीर की पदवी से सम्मानित किया गया था।

पूंजीवाद को लांघकर सीधे समाजवाद की ओर

रूस के भूतपूर्व पिछड़े जनों का राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण और पूंजीवादी अवस्था लांघकर सीधे समाजवाद में संक्रमण अक्तूबर क्रांति के बाद के पहले दो दशकों में हुए सोवियत समाज के विकास का एक सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम था। उज़्बेकिस्तान, तुर्कमानिस्तान, ताजिकिस्तान,

किर्गिज़िस्तान, कज़ाख़स्तान, काकेशिया व सुदूर पूर्व की जो जातियां रूस की समाजवादी क्रांति से पहले तक सामंतवादी अवस्था में या पूंजीवाद में संक्रमण की अवस्था में ही थीं, उन्होंने इन बीस वर्षों में एक ऐतिहासिक छलांग लगायी और सोवियत संघ के अन्य जनों के साथ मिलकर व उनकी सहायता से समाजवादी समाज का निर्माण किया।

अक्तूबर क्रांति के फलस्वरूप इन जातियों के अपने राष्ट्रीय सोवियत राज्य स्थापित हुए, जिन्होंने कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में स्थानीय मेहनतकश जनता को सामंतवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए एकबद्ध बनाया। स्थानीय विशेषताओं और गोत्रीय व धार्मिक संस्थाओं, आदि के प्रभाव को ध्यान में रखते हुए जनवादी और समाजवादी निर्माण के साधन व तरीक़े ढूंढे गये। कहीं-कहीं कुछ समय तक सोवियत न्यायालयों के साथ-साथ शरीयत या रिवाजी क़ानून द्वारा निदेशित अदालतों को भी काम करने दिया गया। आर्थिक क्षेत्र में अनेक सुधार धीरे-धीरे ही लागू किये गये। मिसाल के तौर पर हम ज़मींदारी उन्मूलन को ही ले सकते हैं। मध्य रूस में तो यह सुधार सोवियत सत्ता के पहले वर्षों में ही लागू कर दिया गया था, किंतु मध्य एशिया में वह तीसरे दशक के उत्तरार्ध में जाकर ही पूरी तरह क्रियान्वित हो सका।

जनसामान्य को समाजवाद निर्माण में भाग लेने के लिए प्रेरित करने के तरीक़ों और समाजवादी समाज की स्थापना की रफ़्तारों में व्यापक अंतरों के बावजूद सामान्यतया सभी राष्ट्रीय जनतंत्रों में राह वही अपनायी गयी, जो कि रूसी संघ में, यानी समाजवादी औद्योगीकरण, कृषि सामूहिकीकरण और सांस्कृतिक क्रांति की राह। इसी वजह से समाजवाद सोवियत संघ के सभी भागों में विजयी हो सका।

रूस के छोरवर्ती इलाक़ों में औद्योगिक केंद्रों की स्थापना का काम राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के पुनरुद्धार के वर्षों में ही शुरू कर दिया गया था। मध्य रूस से पूरे के पूरे कल-कारख़ानों, छापाख़ानों, आदि को मध्य एशिया और पार-काकेशिया के इलाक़ों में स्थानांतरित किया गया और बिजलीघर, आदि बनाये गये। तीसरे दशक के उत्तरार्ध में उज़्बेकिस्तान, कज़ाख़स्तान और अन्य जनतंत्रों में विराट पैमाने पर औद्योगिक प्रतिष्ठानों का निर्माण शुरू किया गया। संघीय सरकार ने राष्ट्रीय जनतंत्रों के औद्योगीकरण के लिए प्रचुर साधन दिये और यह नीति लाभकारी भी सिद्ध हुई: मिसाल के लिए, तुर्कमानिस्तान में, जो ज़ारशाही रूस का एक सबसे पिछड़ा प्रदेश था, दूसरी पंचवर्षीय योजना के बाद जनतंत्र के सकल उत्पादन में उद्योगों का अंशदान दो तिहाई से अधिक हो गया था।

समाजवादी प्रणाली क्रांतिपूर्व काल से विरासत में मिली विभिन्न जातियों की असमानता को दूर करने में सहायक सिद्ध हुई।

जीवन-स्तर में वृद्धि

समाजवादी क्रांति का मुख्य कार्यभार संक्षेप में यों परिभाषित किया जा सकता था: मेहनतकश आदमी के जीवन को स्वतंत्र, निश्चिंत, सुखी, विवेकसंगत और सुविधासंपन्न बनाना। "सब कुछ श्रमिक मानव के कल्याण के लिए" – यह था क्रांति का मूलमंत्र।

समाजवादी क्रांति की बदौलत सोवियत सत्ता के पहले वर्षों में ही मेहनतकश जनता को वास्तविक राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ ऐसे यथार्थ आर्थिक व सांस्कृतिक सुलाभ भी प्राप्त हो गये, जिनसे उसके रहन-सहन के स्तर का ऊंचा उठना अनिवार्य था। क्रांति के चौथे ही रोज़ आठ घंटे के काम के दिन, १८ वर्ष से कम आयु के युवाओं के लिए छह घंटे के काम के दिन, सवेतन वार्षिक अवकाश और राज्य अथवा मालिक के ख़र्च पर बीमारी और बेरोज़गारी भत्ते की व्यवस्था कर दी गयी। सोवियत सरकार ने १६ वर्ष से कम आयु के किशोरों से मज़दूरी करवाने पर प्रतिबंध लगा दिया और पुरुषों तथा नारियों को समान पारिश्रमिक देने का क़ानून बनाया। क्रांति से पहले जो लाखों मज़दूर परिवार झुग्गी-झोंपड़ियों, तहख़ानों, चालों, आदि में रहते थे, उन्हें बूर्जुआ लोगों से छीने गये सुविधासंपन्न घरों में बसाया गया।

सोवियत सरकार ने चिकित्सालयों, औषधालयों, सेहतगाहों, आदि का राष्ट्रीयकरण करके समस्त जनता के लिए निःशुल्क, समुचित चिकित्सा की व्यवस्था की।

ज़मींदारी उन्मूलन और कुलक जोतों के पैमाने में भारी कमी ऐसे क़दम थे, जिनका मेहनतकश किसानों के लिए अपार महत्त्व था। १९१९ में व्ला० इ० लेनिन ने ठीक ही लिखा था कि "सर्वहारा अधिनायकत्व से सबसे पहले, सबसे ज़्यादा और तुरंत ही लाभ किसानों को हुआ है। ज़मींदारों और पूंजीपतियों के रूस में किसान भूखों मरता था। हमारे अब तक के सारे इतिहास में किसान को ख़ुद अपने लिए काम करने का अवसर कभी नहीं मिला: पूंजीपतियों, शहरों और दूसरे देशों को करोड़ों पूड अनाज मुहैया करने के बावजूद वह ख़ुद भूखा रहता था। सर्वहारा अधिनायकत्व के अंतर्गत **पहली बार** किसान ख़ुद अपने लिए काम करने और **शहरवासी से बेहतर खाना खाने लगा है।** पहली बार उसने वास्तविक स्वतंत्रता – अपनी कमायी रोटी खाने की स्वतंत्रता, भुखमरी से स्वतंत्रता – देखी है।"

किंतु जनता के जीवन-स्तर में मूलगामी सुधार तभी आया, जब देश में मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण और उसे जन्म देनेवाले कारणों का पूर्ण और अंतिम रूप से ख़ात्मा कर दिया गया। सोवियत संघ के सभी मेहनतकश स्वतंत्र

मेहनतकश हैं, जो अपने लिए तथा समस्त समाज के लिए ही काम करते हैं, न कि किसी शोषक या शोषकों के लिए। बेरोज़गारी का पूर्ण उन्मूलन सोवियत जनता की एक सबसे बड़ी उपलब्धि थी। अप्रैल, १६२६ में देश में कुल मिलाकर कोई १७,००,००० लोग बेरोज़गार थे। किंतु पहली पंचवर्षीय योजना के वर्षों में विराट पैमाने पर औद्योगिक निर्माण शुरू होने पर १६३१ तक सभी लोगों को रोज़गार मिल गया।

पहली पंचवर्षीय योजना के वर्षों में काम का दिन सात घंटे का बना दिया गया था, जो सारी दुनिया में सबसे छोटा था। किंतु १६४० में जब दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ और शस्त्रास्त्रों समेत सभी प्रकार का औद्योगिक उत्पादन अधिकतम बढ़ाये जाने की सख़्त जरूरत महसूस हुई, तो सोवियत सरकार को पुनः आठ घंटे का काम का दिन लागू करना पड़ा।

सोवियत जनता की समृद्धि के बढ़ने का मुख्य स्रोत या आधार राष्ट्रीय आय है, जो १६४० में १६१३ की अपेक्षा छह गुना अधिक थी। चूंकि सोवियत संघ में शोषक तत्त्व नहीं हैं, इसलिए सारी राष्ट्रीय आय का वितरण मेहनतकशों के हितों को ध्यान में रखते हुए ही किया जाता है: तीन चौथाई आय मेहनतकशों को उनके मेहनताने के रूप में दी जाती है और एक चौथाई सामाजिक कोष में जाती है, यानी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास, सांस्कृतिक आवश्यकताओं, सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा, सामाजिक बीमा, आवास निर्माण, प्रतिरक्षा, आदि पर खर्च की जाती है।

समाजवादी क्रांति के बाद राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ-साथ मज़दूरों और नौकरीपेशा लोगों की वास्तविक आय में भी लगातार इज़ाफ़ा होता गया। वास्तविक आय में नक़द वेतन, सामाजिक बीमा सुविधाएं, अन्य भत्ते, पेंशनें, वज़ीफ़े, सवेतन छुट्टियां, निःशुल्क शिक्षा, सेहतगाहों के रिआयती या मुफ़्त पास, आदि को शामिल किया जाता है। क्रांति से पहले मज़दूर परिवार को अपनी आय का २० प्रतिशत और कभी-कभी तो ३० प्रतिशत भी मकान, बिजली, पानी, आदि पर व्यय करना पड़ता था। क्रांति के बाद से इस मद पर उसका व्यय ५-६ गुना घटा दिया गया है। राज्य या उद्यम द्वारा मज़दूरों को उनके वेतन के अतिरिक्त किये जानेवाले तरह-तरह के भुगतान भी बढ़ते गये हैं।

निःशुल्क चिकित्सा प्रणाली की स्थापना सोवियत जनता की एक और महती उपलब्धि थी। १६४० में देश के अस्पतालों में – इनमें सैनिक अस्पताल शामिल नहीं हैं – कोई ७,६१,००० शय्याएं थीं, जो मरीज़ों को मुफ़्त उपलब्ध थीं। घर पर या अस्पताल में मुफ़्त चिकित्सा के अलावा मरीज़ को उसके वेतन का ६० प्रतिशत तक और कुछ मामलों में तो शत प्रतिशत तक बीमारी भत्ते के रूप में मिलता था।

सोवियत राज्य ने मातृ-शिशु कल्याण पर विशेष ध्यान दिया। सारे देश में प्रसूतिगृहों और प्रसव सहायता केन्द्रों का व्यापक जाल बिछाया गया, जिनकी सेवाएं भावी माताओं को निःशुल्क उपलब्ध थीं। सभी मेहनतकश नारियों को प्रसव काल में चार महीने का सवेतन अवकाश दिया जाता था, जो दो या दो से अधिक बच्चों के जन्म या असामान्य प्रसव की हालत में बढ़ा दिया जाता था। बहुत बच्चोंवाली माताओं को राज्य विशेष माहवारी भत्ता देता था। शिशुगृहों और किंडरगार्टनों का व्यापक जाल भी बिछाया गया था।

१९३६ का सोवियत संविधान

समाजवाद की विजय ने देश के सामाजिक-राजनीतिक ढांचे के जनवादीकरण की प्रक्रिया आगे भी जारी रखना और जनवाद पर लगाये गये उन अल्पकालिक प्रतिबंधों को उठाना संभव बना दिया, जो समाजवाद निर्माण के काल में देश में छिड़े घोर वर्ग संघर्ष को देखते हुए अत्यावश्यक थे।

यह परिवर्तित स्थिति १९३६ के सोवियत संविधान में अभिव्यक्त हुई। उसका प्रारूप विशेषज्ञों के एक बड़े दल के सहयोग से एक विशेष आयोग ने तैयार किया था। नेतृत्वकारी पार्टी तथा राजकीय निकायों द्वारा बुनियादी तौर पर स्वीकार कर लिये जाने के बाद प्रारूप को समस्त जनता के विचारार्थ समाचारपत्रों में प्रकाशित किया गया। यह जन बहस छह महीने चली और उसमें ५,००,००,००० से अधिक सोवियत नागरिकों ने भाग लिया। मानवजाति के समस्त इतिहास में यह अनदेखी-अनसुनी घटना थी।

सोवियत जनता ने नये राष्ट्रीय संविधान के प्रारूप का सोत्साह अनुमोदन करने के साथ-साथ उसमें संशोधन, परिवर्धन, आदि भी सुझाये, जिनमें से कई को संविधान का अंतिम पाठ तैयार करते समय उसमें शामिल कर लिया गया। ५ दिसंबर, १९३६ को सोवियत संघ की सोवियतों की आठवीं (असाधारण) कांग्रेस ने संविधान को अंगीकार कर लिया।

सोवियत संघ के इस नये संविधान में समाजवाद की विजय और समाजवाद के बुनियादी सिद्धांतों को विधिक रूप प्रदान किया गया।

"सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ मज़दूरों और किसानों का समाजवादी राज्य है", उसके अनुच्छेद १ में कहा गया था। संघीय सर्वोच्च सोवियत से लेकर स्थानीय सोवियतों तक मेहनतकश प्रतिनिधियों की विभिन्न सोवियतों को सोवियत संघ का राजनीतिक आधार और समाजवादी अर्थप्रणाली, उत्पादन साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व तथा आर्थिक नियोजन को आर्थिक आधार

वनाया गया। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को सर्वथा वर्जित ठहराया गया।

१६३६ के सोवियत संविधान ने इस सिद्धान्त के अनुसार कि "जो काम नहीं करेगा, वह खायेगा भी नहीं" श्रम को प्रत्येक श्रम-सक्षम सोवियत नागरिक के लिए कर्त्तव्य और प्रतिष्ठा की वात घोषित किया और "प्रत्येक से योग्यतानुसार, प्रत्येक को कार्यानुसार" के समाजवादी सिद्धांत को विधिक वल प्रदान किया। उसमें देश के सभी नागरिकों को श्रम, शिक्षा, विश्राम और वृद्धावस्था, वीमारी तथा अपाहिजावस्था में भरण-पोषण के सर्वोच्च अधिकार प्रदान किये गये थे। नारियों को सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार दिये गये थे। सोवियत संघ के सभी नागरिकों की, चाहे वे किसी भी जाति या नस्ल के क्यों न हों, समानता को अपरिवर्तनीय, अमिट क़ानून क़रार दिया गया था। सभी नागरिकों को उनके व्यक्तित्व व आवास की अनुल्लघनीयता, पत्राचार की गोपनीयता और जनवादी स्वतंत्रताओं – भाषण, प्रेस, सभा, प्रदर्शन, जलूस तथा सार्वजनिक संगठनों में सम्मिलन की स्वतंत्रताओं – की गारंटी की गयी थी।

किंतु साथ ही संविधान ने नागरिकों को संविधान, क़ानूनों तथा श्रम अनुशासन के पालन, सामाजिक दायित्व की निष्ठापूर्वक पूर्ति, समाजवादी समाज के नियमों के सम्मान और समाजवादी संपत्ति की रक्षा तथा अभिवृद्धि के लिए उत्तरदायी भी वनाया। "देश की रक्षा सोवियत संघ के प्रत्येक नागरिक का पावन कर्त्तव्य है," अनुच्छेद १३३ में कहा गया था।

१६३६ के संविधान में कहा गया था कि नगर और ग्राम सोवियत से लेकर सर्वोच्च सोवियत तक मेहनतकश प्रतिनिधियों की सभी सोवियतों के सदस्यों का चुनाव सार्विक, समान तथा प्रत्यक्ष मताधिकार के आधार पर और गुप्त मतदान द्वारा होगा। प्रत्येक सोवियत-सदस्य का कर्त्तव्य था कि वह मतदाताओं को सोवियत में अपने काम की रिपोर्ट दे और मतदाताओं को अधिकार था कि यदि वह उनका विश्वासभाजन नहीं रह जाये, तो किसी भी समय उसका प्रत्याह्वान कर लें। संविधान ने ग़ैर-मेहनतकश नागरिकों के मताधिकार पर लगी सभी पावंदियों को हटा दिया और नगरी मतदाताओं को ग्रामीण मतदाताओं के मुक़ावले जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, उन्हें भी रद्द कर दिया।

१२ दिसंवर, १६३७ को सोवियत जनता ने पहली बार नयी निर्वाचन प्रणाली के अनुसार सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत चुनी। कम्युनिस्टों और अदलीय लोगों ने संयुक्त चुनाव मोर्चा वनाया और उम्मीदवार भी संयुक्त रूप से नामज़द किये। ६७ प्रतिशत मतदाताओं ने मतदान में भाग लिया। कम्युनिस्टों और अदलीयों के संयुक्त मोर्चे के उम्मीदवारों को ६८.६६

प्रतिशत मत मिले। संघीय और स्वायत्त जनतंत्रों की सर्वोच्च सोवियतों के चुनाव १९३८ में और स्थानीय सोवियतों के चुनाव १९३९ में हुए।

जिस काल की यहां चर्चा चल रही है, उसमें स्तालिन की व्यक्तिपूजा के परिणामस्वरूप पार्टी व सोवियत जनवाद और समाजवादी क़ानून के अनेक गंभीर उल्लंघन हुए। यह समाजवादी जनवाद के सिद्धान्तों का भी घोर उल्लंघन था।

स्तालिन १९२२ से कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति का महासचिव था। उसने सोवियत संघ में समाजवाद निर्माण की पार्टी नीति के क्रियान्वयन में महत्त्वपूर्ण योग दिया और त्रोत्स्कीपंथियों तथा बुख़ारिनपंथियों के लेनिन-वादविरोधी गुटों के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक संघर्ष करके व्यापक लोकप्रियता हासिल कर ली थी। किंतु चौथे दशक के आरंभ से समाजवाद निर्माण की सभी सफलताओं का श्रेय स्तालिन को ही दिया जाने लगा, जो तथ्यसंगत नहीं था। व्ला० इ० लेनिन ने १९२२ में ही पार्टी की केंद्रीय समिति को अपने एक पत्र में आगाह कर दिया था: "साथी स्तालिन ने महासचिव बनने के बाद से अपने हाथों में असीम सत्ता केंद्रित कर ली है और मुझे विश्वास नहीं कि वह इस सत्ता का हमेशा ही ख़ूब सोच-समझकर इस्तेमाल कर सकेगा।" लेनिन के निधन के बाद कुछ वर्षों तक स्तालिन ने इस आलोचना को ध्यान में रखा, किंतु फिर वह प्रायः अपने महासचिव पद का दुरुपयोग करते हुए सामूहिक नेतृत्व के लेनिनीय सिद्धांत का उल्लंघन करने और पार्टी तथा राज्य से संबंधित महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अकेले ही निर्णय लेने लग गया। लेनिन ने उसकी अक्खड़-पन, सनकीपन, आलोचना को न सहना, स्वेच्छाचारिता, अत्यधिक अविश्वास, आदि जिन व्यक्तिगत कमियों के बारे में सतर्क किया था, वे अधिकाधिक उभरने लगीं। इसका परिणाम सोवियत जनवाद पर अनुचित पाबंदियों, समाजवादी क़ानूनों के घोर उल्लंघनों और पार्टी, सरकारी व सैनिक अधि-कारियों एवं अन्य लोगों के निराधार दमन के रूप में सामने आया।

किंतु अपनी सारी हानिकरता के बावजूद स्तालिन की व्यक्तिपूजा न तो समाजवादी सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप को बदल सकी, न सोवियत संघ में समाजवाद और कम्युनिज़्म के निर्माण की ओर लक्षित पार्टी व जनता के कार्यकलाप को ही। कम्युनिस्ट पार्टी की अगुआई में सोवियत जनता ने समाजवाद निर्माण में, समाजवादी सामाजिक संबंधों के विकास में और शांति की सुसंगत नीति के क्रियान्वयन में, जो कि सोवियत समाज के सतत विकास के लिए व्यापकतम अवसर सुनिश्चित करती थी, अभूतपूर्व सफलताएं हासिल कीं। व्यक्तिपूजा सोवियत प्रणाली के लिए सर्वथा परायी चीज़ थी। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की मान्यता है कि इतिहास की वास्तविक स्रष्टा जनता है। वही सभी भौतिक व सांस्कृतिक संपदाओं का सृजन और कम्युनिस्ट पार्टी

के निदेशन में नये विश्व का निर्माण करती है। अमर लेनिन द्वारा निरूपित योजना को कार्यरूप देते हुए कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में मज़दूर वर्ग, मेहनतकश किसानों और सोवियत बुद्धिजीवियों ने ही सोवियत संघ में समाजवाद का निर्माण किया था।

सामूहिक सुरक्षा के लिए संघर्ष

आम और पूर्ण निरस्त्रीकरण के लिए

पहले महायुद्ध के बाद स्थापित शांति अस्थिर सिद्ध हुई थी और तीसरे दशक के मध्य से साम्राज्यवादी देशों के बीच शस्त्रीकरण की होड़ फिर शुरू हो गयी थी। ऐसी स्थिति में सारे विश्व में प्रगतिशील जनगण का चिंतित हो उठना स्वाभाविक ही था। जन असंतोष को दबाने के लिए बूर्जुआ राजनेताओं ने निरस्त्रीकरण की समस्याओं के बारे में लंबी-चौड़ी बहसें शुरू कर दीं। राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में एक तैयारी आयोग स्थापित किया गया, जिसकी अंतहीन बैठकों में बूर्जुआ राजनयज्ञ इन समस्याओं पर तर्क-वितर्क करते रहते थे। ढेरों काग़ज़ बरबाद किया गया, दर्जनों प्रस्ताव गढ़े गये, किंतु निरस्त्रीकरण फिर भी मृग-मरीचिका ही बना रहा।

सहसा नवंबर, १९२७ में जेनेवा के राष्ट्र प्रासाद के विशाल सम्मेलन कक्षों में ताज़ी हवा की लहर दौड़ गयी। एक सोवियत प्रतिनिधिमंडल भी तैयारी आयोग के चौथे अधिवेशन में भाग लेने आया था। उसका नेतृत्व सोवियत संघ का विदेशी मामलों का उप जन कमिसार म० म० लित्वीनोव कर रहा था। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सोवियत संघ की तीसरे और चौथे दशक की बहुत सी कार्रवाइयां इस सोवियत राजनयज्ञ के नाम से जुड़ी हुई हैं। वह उत्कृष्ट वक्ता, विवादकुशल, बहुज्ञाता और सुसंस्कृत व्यक्ति था और उसने अनेक अंतर्राष्ट्रीय सभाओं और सम्मेलनों में सोवियत संघ के हितों की कुशलतापूर्वक रक्षा की थी।

अधिवेशन के पहले ही दिन सोवियत प्रतिनिधिमंडल ने आम तथा पूर्ण निरस्त्रीकरण के विषय में सोवियत संघ का प्रस्ताव पढ़कर सुनाया। दस्तावेज़ का सब पर गहन प्रभाव पड़ा: सात वर्ष में यह पहली बार था कि बेकार की बक-बक के बजाय कोई काम की बात कर रहा था।

सोवियत प्रस्ताव पर टिप्पणी करते हुए बाद में प्रसिद्ध ब्रिटिश लेबर नेता जी० लेंसबरी ने कहा था कि अगर यह प्रस्ताव आम लोगों की सभा

में पेश किया जाता, तो मुझे विश्वास है कि वे इसे सर्वसम्मति से स्वीकार कर लेते। उसने इस सोवियत घोषणा को शांति संघर्ष के इतिहास की सबसे बड़ी घटना की संज्ञा दी थी।

किंतु जैसी कि आशा थी, बूर्जुआ राजनयज्ञों ने सोवियत प्रस्ताव को यह कहकर ठुकरा दिया कि आम और पूर्ण निरस्त्रीकरण यूटोपिया है। मार्च, १९२८ में सोवियत प्रतिनिधिमंडल ने शस्त्रास्त्रों में आंशिक क़मी करने से संबंधित एक अभिसमय का मसविदा प्रस्तुत किया। इसका भी पूर्वोक्त प्रस्ताव जैसा ही हश्र हुआ।

१९३२ में जेनेवा में शस्त्रास्त्र परिसीमन व न्यूनीकरण के बारे में एक विश्व सम्मेलन शुरू हुआ। हज़ारों राजनीतिज्ञ, राजनयज्ञ और पत्रकार पुनः राष्ट्र प्रासाद में एकत्र हुए। एक बार फिर समस्या का, चाहे आंशिकतः ही सही, समाधान करवाने के सोवियत संघ के प्रयास निरर्थक रहे। कांग्रेस विफल सिद्ध हुई, क्योंकि पूंजीवादी देश निरस्त्रीकरण नहीं चाहते थे। असल में वे तो नये युद्ध की तैयारियां ही कर रहे थे।

जहां तक इन सब निरस्त्रीकरण वार्ताओं के महत्त्व का संबंध था, तो कहा जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय मंच पर एक नया कारक, एक नयी शक्ति पैदा हो गयी थी, जिसने प्रश्न को निरर्थक बहस के जंजाल से बाहर निकालकर यथार्थ के धरातल पर खड़ा कर दिया था। सोवियत संघ ने एक व्यापक निरस्त्रीकरण कार्यक्रम पेश किया था, जिसका सारे विश्व पर अपार प्रभाव पड़ा, हालांकि सम्मेलन में उसे न तो स्वीकार ही किया गया, न उससे सिद्धांत रूप में सहमति ही जतायी गयी। फिर भी यह सोवियत संघ की एक महती नैतिक विजय थी।

युद्ध के ख़तरे के विरुद्ध

चौथे दशक के मध्य में विश्वव्यापी युद्ध का ख़तरा काफ़ी यथार्थ बन गया था। सोवियत संघ ने जमकर प्रयास किये कि नया महायुद्ध न छिड़ने पाये। १९३३ में ही उसने आक्रमण की परिभाषा का एक मसविदा पेश कर दिया था, जिसमें इस बात पर विशेष बल दिया गया था कि जो भी देश किसी दूसरे देश के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करे या उसके क्षेत्र का अतिक्रमण करे, उसे आक्रामक माना जाये। सोवियत संघ जर्मन फ़ासिज़्म की आक्रामक योजनाओं के विरुद्ध संघर्ष के लिए शांतिसमर्थक देशों की सामूहिक सुरक्षा प्रणाली की स्थापना को निर्णायक मानता था। उसने प्रस्ताव रखा कि फ़्रांस,

चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड और दूसरे देश परस्पर सहायता संधियां करके संयुक्त प्रयासों से हिटलर को आक्रमण शुरू करने से रोकें।

मई, १९३५ में सोवियत संघ तथा फ़्रांस और सोवियत संघ तथा चेकोस्लोवाकिया के बीच परस्पर सहायता संधियां संपन्न हुई, जिनका बहुत बड़ा महत्त्व था। यदि इन संधियों पर अमल किया गया होता, जैसा कि सोवियत पक्ष चाहता था, तो यूरोप की घटनाएं दूसरा ही मोड़ ले लेतीं। मगर उन्हें काग़ज का टुकड़ा ही माना गया, क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका के शासक हल्के लगातार यही चाहते आ रहे थे कि जर्मनी और सोवियत संघ आपस में टकरायें और इस तरह दोनों ही कमजोर हो जायें। उन्होंने सामूहिक सुरक्षा प्रणाली की स्थापना में अड़ंगे डाले और यह सोचकर नाज़ी जर्मनी की आक्रामक योजनाओं के क्रियान्वयन को नहीं रोका कि वह पूर्व में अपना क्षेत्र-विस्तार करके ही संतुष्ट हो जायेगा।

१३ मार्च, १९३८ को हिटलर ने एक भी गोली दाग़े बिना आस्ट्रिया पर क़ब्ज़ा कर लिया। पश्चिमी शक्तियों ने इस पर कोई ध्यान न दिया। विरोध की एकमात्र आवाज़ सोवियत संघ ने उठायी थी। विदेशी मामलों के जन कमिसार म० म० लित्वीनोव ने आस्ट्रिया पर क़ब्ज़े की घोर निंदा की और चेतावनी दी कि इस कार्रवाई से सभी देशों को ख़तरा उत्पन्न हो सकता है। "कल तक शायद बहुत देर हो जायेगी," लित्वीनोव ने एक विशेष वक्तव्य में कहा, "मगर अभी समय है कि सभी देश, विशेषतः बड़े राष्ट्र, सामूहिक रूप से शांति की रक्षा के मामले में दृढ़ और असंदिग्ध रवैया अपनायें।"

किंतु पश्चिमी देशों के सत्तारूढ़ वर्गों का ऐसा रवैया अख़्तियार करने का कोई इरादा न था। आस्ट्रिया को दबाकर हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया पर क़ब्ज़े की तैयारियां शुरू कर दीं।

सोवियत सरकार ने एक ओर तो ग्रेट ब्रिटेन तथा फ़्रांस का चेकोस्लोवाकिया की रक्षार्थ संयुक्त कार्रवाइयों के लिए आह्वान किया और, दूसरी ओर, स्वयं चेकोस्लोवाक सरकार से अपील की कि वह सोवियत संघ की सहायता से आक्रमण का प्रतिरोध करे। २५ सितंबर को सोवियत सरकार ने फ़्रांस को सूचित किया कि सोवियत सेना की ३० डिविजनें सोवियत संघ की पश्चिमी सीमा पर पहुंचा दी गयी हैं और वायु सेना तथा टैंक टुकड़ियां युद्ध के लिए तैयार खड़ी हैं। सोवियत संघ बस चेकोस्लोवाकिया से सहायता अनुरोध की प्रतीक्षा कर रहा था। पर ऐसा अनुरोध कभी नहीं किया गया।

सितंबर के अंत में ट्रेजेडी का अंतिम अंक शुरू हुआ। म्यूनिक समझौता (इसके बारे में विस्तार से अगले अध्याय में पढ़ें) ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस का अंतिम और निर्णायक कृत्य था, जिसने हिटलर के सामने दूसरा

महायुद्ध छेड़ने के लिए सभी दरवाज़े खोल दिये। सोवियत संघ अकेला देश था, जो चेकोस्लोवाकिया और यूरोपीय शांति की रक्षा के लिए लड़ा।

ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस की अदूरदर्शी नीति, जिसने हिटलर के लिए दूसरे महायुद्ध का पथ प्रशस्त किया था, पूरी तरह विफल रही। उनका चिरअभीप्सित स्वप्न निरा स्वप्न ही सिद्ध हुआ – युद्ध जर्मनी और सोवियत संघ के बीच नहीं, बल्कि एक ओर जर्मनी और दूसरी ओर आंग्ल-फ़्रांसीसी गुट के बीच छिड़ा।

ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका फिर भी समाजवादी देश – सोवियत संघ – के साथ किसी समझौते पर पहुंचने के लिए तैयार नहीं थे। ऐसी स्थिति में सोवियत संघ अपनी रक्षा के लिए आवश्यक क़दम उठाने को मजबूर हुआ। म्यूनिक समझौते के बाद युद्ध का ख़तरा और बढ़ गया था। सोवियत जनता जानती थी कि साम्राज्यवादियों का हमला अनिवार्य है, अतः वह देश की प्रतिरक्षा के लिए सक्रिय तैयारियां करने लगी।

अगस्त, १९३९ में जर्मनी ने सोवियत संघ के सामने अनाक्रमण संधि का प्रस्ताव रखा। सोवियत सरकार भली भांति जानती थी कि यह प्रस्ताव सोवियत संघ के साथ शांतिपूर्ण संबंध बनाने की इच्छा से नहीं रखा गया है। फिर भी उसे आसन्न युद्ध की बेहतर तैयारी के लिए वक़्त चाहिए था और इसलिए उसके सामने केवल यही विकल्प था कि जर्मन प्रस्ताव को स्वीकार कर ले। फलस्वरूप २३ अगस्त को सोवियत-जर्मन अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर हो गये।

चौथे दशक में सोवियत विदेश नीति का एक ही लक्ष्य था: युद्ध का निवारण। यह नीति पूर्णतः उचित और सभी राष्ट्रों की आशाओं-आकांक्षाओं के अनुरूप थी। फिर भी यदि विश्व को सामरिक महाविनाश से, नाज़ी जर्मनी, जापान और इटली द्वारा छेड़े गये महायुद्ध से नहीं बचाया जा सका; तो इसके लिए उत्तरदायी ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका की सरकारें थीं, जिन्होंने शांति की रक्षा और युद्ध के निवारण के लिए सोवियत संघ के साथ सहयोग करने से इंकार कर दिया था।

चौथा अध्याय

दो महायुद्धों के मध्य का पूंजीवादी विश्व

पहले महायुद्ध ने, जो चार वर्ष से कुछ अधिक चला था, मानवजाति को अपरिमित क्षति पहुंचायी थी। उसमें कोई १,००,००,००० लोग मारे गये थे और २,००,००,००० आहत हुए थे। उद्योग और कृषि की जो दुर्गति हुई, वह इतिहास में बेमिसाल थी। सामरिक मोर्चों पर होनेवाली बेइन्तहा मौतों, व्यापक ग़रीबी, भुखमरी और महामारियों ने करोड़ों लोगों को घोर निराशा के गर्त में जा धकेला था।

युद्धरत राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति पर विनाशकारी छाप छोड़ने के अलावा इस महायुद्ध ने वर्गीय अंतर्विरोधों को भी चरम पर पहुंचा दिया था। अतः स्वाभाविक ही था कि रूसी सर्वहारा ने अपने देश में साम्राज्यवादियों का तख़्ता उलटकर जो गौरवमयी मिसाल पेश की थी, उसका सभी देशों के मज़दूरों, दरिद्र किसानों और सिपाहियों पर गहन प्रभाव पड़ता और उनके क्रांतिकारी संघर्ष को ज़बर्दस्त प्रेरणा मिलती।

१९१७-१९२३ का क्रांतिकारी उभार

जर्मनी की क्रांति

रूस की सफल अक्तूबर क्रांति और सोवियत सरकार की पहली आज्ञप्तियों ने, जिनका जर्मन सर्वहारा ने बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया था, जर्मनी में क्रांतिकारी आंदोलन के उभार की प्रक्रिया को तीव्र कर दिया।



वर्लिन के ब्रैंडेनवर्ग द्वार के पास क्रांतिकारी नौसैनिकों का एक जत्था (१६१८)

अगस्त, १६१८ में पश्चिमी मोर्चे पर जर्मन सेनाओं की भारी पराजय के कारण क्रांति दहलीज़ पर आ पहुंची। ३ नवंबर, १६१८ को कील नगर में नौसैनिकों और सैनिकों का विद्रोह फूट पड़ा। इसके बाद हैम्बर्ग, ब्रेमेन, लाइपज़िग, स्टुटगार्ट और कई अन्य नगरों में भी सफल जन विप्लव हुए। ६ नवंबर को वर्लिन में सफल क्रांतिकारी विद्रोह हुआ और कैसर विल्हेल्म द्वितीय अपने परिवार को भाग्य के भरोसे छोड़ हालैंड भाग गया और जर्मनी को गणराज्य घोषित कर दिया गया।

जर्मनी की यह क्रांति बूर्जुआ-जनवादी क्रांति थी। देश में सैनिक शासन को ख़त्म करके जनवादी स्वतंत्रताओं, राजनीतिक बंदियों को क्षमादान और आठ घंटे के काम के दिन की घोषणा कर दी गयी। किंतु क्रांति के ज्वार ने जिस सरकार को सत्तारूढ़ किया था, उसका नेता दक्षिणपंथी सामाजिक-जनवादी फ़्रेडरिक एवर्ट था और वह नहीं चाहती थी कि क्रांति और फैले तथा वढ़े। वह क्रांति को शीघ्रातिशीघ्र शांत हुआ देखना चाहती थी। वास्तव में एवर्ट की सरकार अपनी पूर्ववर्ती सरकार से कुछ भिन्न तरीक़ों से जर्मन पूंजीपतियों और ज़मींदारों (युंकरों) के हितों की ही रक्षा करती रही।

प्रतिक्रियावादी सेना के साथ गुप्त समझौता करके उसने क्रांतिकारी रुझान-वाली सैनिक टुकड़ियों को निरस्त्र करने की कोशिशें कीं, हर प्रकार से मज़दूर दस्तों को ग़लत कार्रवाइयों के लिए उकसाया और उनके नेताओं को गिरफ़्तार किया, ताकि क्रांति के हरावल स्पार्ताक संघ को जड़-मूल से विनष्ट किया जा सके। इसके जवाब में ५ जनवरी, १६१६ को बर्लिन के सर्वहाराओं ने सशस्त्र बग़ावत कर दी। चूंकि उसकी पूरी तरह तैयारियां नहीं की गयी थीं, इसलिए एबर्ट सरकार ने सेना और प्रतिक्रियावादी स्वयंसेवक गिरोह इस्तेमाल करके उसे निर्ममतापूर्वक कुचल डाला। जर्मन मज़दूर वर्ग के नेता. कार्ल लीब्कनेख़्त और रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग नृशंसतापूर्वक मार डाले गये। किंतु इस पराजय से सर्वहारा का मनोबल न टूटा और मार्च में उसने "ख़ूनी कुत्ते" के नाम से ज्ञात सामाजिक-जनवादी नेता नोस्के के प्रतिक्रियावादी स्वयंसेवक दस्तों द्वारा समर्थित प्रतिक्रांतिकारी सरकारी सेनाओं के विरुद्ध घनघोर सशस्त्र संघर्ष छेड़ दिया। सर्वहारा को एक बार फिर पराजय का मुंह देखना पड़ा।

रूस के अनुकरण पर जर्मनी में भी क्रांति के आरंभिक दिनों में ही मज़दूर और सैनिक प्रतिनिधियों की सोवियतें क़ायम कर दी गयी थीं। किंतु उनमें बहुमत सामाजिक-जनवादियों का था, जो क्रांति के और अधिक बढ़ने और समाजवादी क्रांति में परिवर्तित होने के विरुद्ध थे। जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना दिसंबर, १६१८ के अंत में ही हो पायी थी, इसलिए सोवियतों में कम्युनिस्ट अल्पमत में थे।

फ़रवरी, १६१६ में वाइमर में संविधान सभा का अधिवेशन शुरू हुआ, जिसमें अधिकांश प्रतिनिधि बूर्जुआ पार्टियों के थे। संविधान सभा ने फ़्रेडरिक एबर्ट को गणराज्य का राष्ट्रपति और एक अन्य दक्षिणपंथी सामाजिक-जनवादी, फ़िलिप शीदेमान को सरकार का प्रमुख चुना। एक संविधान अंगीकार किया गया, जिसने देश में बूर्जुआ-जनवादी शासन की स्थापना की। इसके बाद सामाजिक-जनवादियों ने सोवियतों के विघटन की घोषणा कर दी।

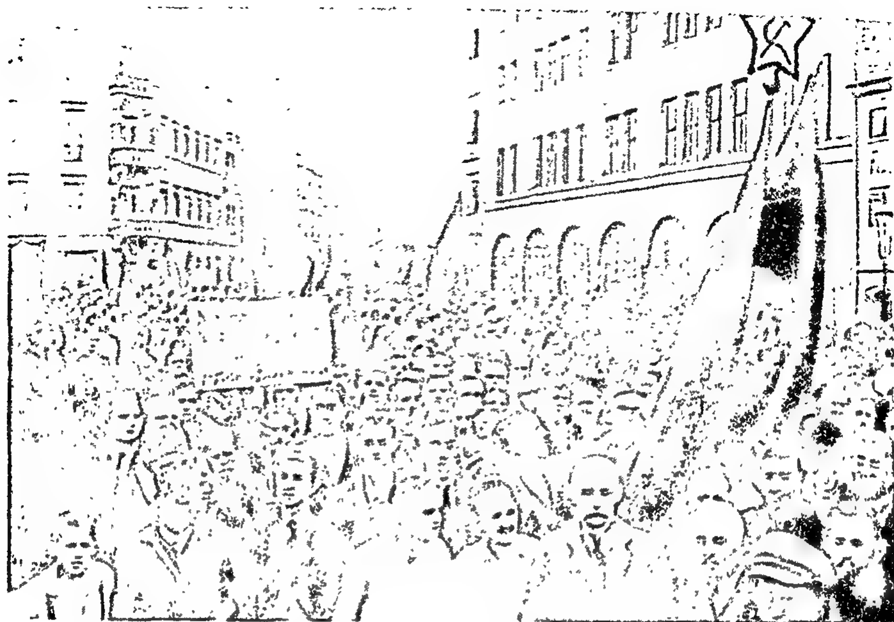
इस सबके बावजूद वसंत, १६१६ में जर्मनी में अनेक महत्त्वपूर्ण हड़तालें हुईं। इस बार क्रांतिकारी आंदोलन का केंद्र बवारिया था। १३ अप्रैल, १६१६ को बवारिया की राजधानी म्यूनिक के मज़दूरों ने सत्ता पर क़ब्ज़ा करके सोवियत गणराज्य की घोषणा की। किंतु नवस्थापित गणराज्य ने पहले ही दिन से अपने को सभी ओर से शत्रुओं द्वारा घिरा पाया। बवारिया की सोवियत सरकार को दबाने के लिए १,००,००० सैनिकों की नियमित सेना भेजी गयी। १ मई को उसने म्यूनिक में प्रवेश किया और नगर में क़त्ले-आम शुरू कर दिया। यह बवारियाई सोवियत जनतंत्र का अंत था।



बवारियाई लाल सेना के सिपाही

जर्मनी में कटु वर्ग संघर्ष और जन आंदोलन बाद के वर्षों में भी चलते रहे। मार्च, १९२० में राजतंत्रवादी शक्तियों ने जनरल ल्यूटविज़ और एक बड़े ज़मींदार काप्प के नेतृत्व में विद्रोह छेड़कर कैसर के ज़माने जैसी व्यवस्था फिर से स्थापित करने का प्रयास किया। मज़दूरों ने इसका जवाब आम हड़ताल द्वारा दिया। सर्वहारा की एकजुटता और संयुक्त कार्रवाइयों की बदौलत विद्रोह को कुछ ही दिनों में दबा दिया गया। साल भर बाद, मार्च, १९२१ में सरकार की उकसावाभरी कार्रवाइयों के जवाब में मध्य जर्मनी में सशस्त्र मुठभेड़ें हुईं। किंतु और भी भयंकर वर्गीय लड़ाइयां तो अभी आगे थीं – वे १९२३ में शुरू हुईं।

जनवरी, १९२३ में फ़्रांस की प्वेंकारे सरकार ने जर्मनी को और निर्बल बनाने तथा उससे वर्साई संधि का कठोरतापूर्वक पालन करवाने के उद्देश्य से रूहर प्रदेश में अपनी सेनाएं भेज दी थीं। जर्मनी की तत्कालीन कूनो सरकार ने इसपर "निष्क्रिय प्रतिरोध" (रूहर में कोयले का उत्पादन रोकने, क़ब्ज़ा-वरों से सहयोग न करने, आदि) की नीति अपनायी। मगर उन मालिकों को मुक्तहस्त आर्थिक इमदाद दी गयी, जिनके उद्यम सरकार के आदेश पर बंद हो गये थे। इन क़दमों का जर्मनी की अर्थव्यवस्था पर भयंकर कुप्रभाव पड़ा। अभूतपूर्व पैमाने पर मुद्रास्फीति शुरू हो गयी, जिसका मतलब था



ड्रेसडेन में प्रदर्शनकारियों का जुलूस (१९२३)

जर्मन मार्क का अवमूल्यन और मज़दूरों तथा नौकरीपेशा लोगों की वास्तविक आमदनी में ह्रास। जर्मन जनता ने अपने को युद्धकाल से भी अधिक कठिनाइयों और अभावों का सामना करते पाया। सरकार की नीति के प्रति अपना विरोध प्रकट करने के लिए जर्मन मज़दूर वर्ग ने विराट हड़तालें और प्रदर्शन आयोजित किये। अगस्त, १९२३ में देशव्यापी हड़ताल हुई, जिसने कूनो सरकार का तख़्ता उलट दिया। नयी सरकार ने, जिसमें दक्षिणपंथी सामाजिक-जनवादी भी शामिल थे, "निष्क्रिय प्रतिरोध" की नीति को त्याग दिया और फ़्रांसीसी क़ब्ज़ावरों से सौदेबाज़ी के उपाय ढूंढ़ने लगी, ताकि क्रांतिकारी आंदोलन को दबाने का रास्ता खुल जाये।

अक्तूबर के मध्य तक वामपंथी सामाजिक-जनवादियों और कम्युनिस्टों ने मिलकर सैक्सनी और थ्यूरिंजिया में मज़दूर सरकारें क़ायम कर लीं। इन दो प्रांतों में और कतिपय अन्य प्रांतों में सर्वहारा शतक नामक सशस्त्र मज़दूर दस्ते कार्यरत थे। इस प्रकार अखिल जर्मन मज़दूर सरकार की स्थापना के लिए संघर्ष शुरू करने के वास्ते कुछ परिस्थितियां बन चुकी थीं। किंतु जनता के पास सच्चे नेताओं का अभाव था, क्योंकि तत्कालीन जर्मन कम्युनिस्ट

पार्टी की बागडोर जिन लोगों के हाथों में थी, उन्हें अवसरवाद की छूत लग चुकी थी। फलस्वरूप मज़दूर सरकार बनाने के उद्देश्य से सारे देश में सशस्त्र विद्रोह शुरू करने की योजना क्रियान्वित न हो सकी। केवल हैम्बर्ग के कम्युनिस्टों ने ही, जिनका नेता एर्नस्ट थेलमान-था, २३ अक्तूबर को सशस्त्र विद्रोह शुरू किया। तीन दिन, तीन रात ३०० साहसी क्रांतिकारी पुलिस और सेना के ६००० सिपाहियों से टक्कर लेते रहे। किंतु जब यह स्पष्ट हो गया कि विद्रोह को और कहीं से समर्थन न मिलेगा, तो थेलमान के आदेश पर लड़ाई रोक दी गयी। १६१८-१६१६ की भांति इस बार भी दक्षिणपंथी सामाजिक-जनवादियों ने बूर्जुआज़ी को सत्ता अपने हाथों में बनाये रखने में मदद दी थी।

हंगेरियाई सोवियत जनतंत्र

अक्तूबर, १६१८ के अंत में हंगरी में जो बूर्जुआ-जनवादी क्रांति शुरू हुई, वह तेज़ी से समाजवादी क्रांति में बदलती जा रही थी। मार्च, १६१६ में मित्रराष्ट्रों के एक अल्टीमेटम की वजह से, जिसका उद्देश्य हंगरी का विभाजन था, देश में घोर राजनीतिक संकट उत्पन्न हो गया था और बूर्जुआ सरकार को त्यागपत्र दे देना पड़ा था। किंतु बढ़ते हुए क्रांतिकारी आंदोलन से डरकर सामाजिक-जनवादी नेता अकेले ही सत्ता-भार संभालने का साहस न कर पाये। उन्होंने जेलों में बंद कम्युनिस्ट नेताओं के सामने संयुक्त सरकार बनाने का प्रस्ताव रखा, जिसे स्वीकार कर लिया गया। सामाजिक-जनवादी और कम्युनिस्ट पार्टियां मिलकर एक पार्टी बन गयीं और सर्वहारा अधिनायकत्व की घोषणा करके उन्होंने सत्ता संभाल ली। २१ मार्च, १६१६ को हंगरी को सोवियत जनतंत्र घोषित कर दिया गया। हंगेरियाई कम्युनिस्ट नेता बेला कुन नयी सरकार का प्रमुख बना।

१६१६ की हंगेरियाई सर्वहारा क्रांति शांतिपूर्ण ढंग से, सशस्त्र विद्रोह के बिना हुई थी। हंगेरियाई सोवियत जनतंत्र की सरकार ने कई सारे समाजवादी सुधार किये, जैसे उद्योगों, बैंकों और परिवहन का राष्ट्रीयकरण, आठ घंटे के काम के दिन की व्यवस्था, वेतनों में २५ प्रतिशत वृद्धि, ज़मींदारों और मठ-गिरजों की भूसंपत्ति का अधिहरण, आदि। क्रांति की उपलब्धियों की रक्षा के लिए हंगेरियाई लाल सेना का गठन किया गया। जून में बुडापेस्ट में सोवियतों की अखिल हंगरी कांग्रेस का आयोजन हुआ, जिसका साम्मानिक अध्यक्ष व्ला० इ० लेनिन को चुना गया। कांग्रेस ने हंगेरियाई सोवियत जनतंत्र का संविधान अंगीकार किया।

किंतु अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद यूरोप के मध्य में समाजवादी राज्य की स्थापना को सहन न कर सका और मित्रराष्ट्रों के आदेश पर फ़्रांसीसी, चेकोस्लोवाक और रूमानियाई सेनाएं हंगरी में घुस आयीं। हंगेरियाई प्रतिक्रांतिकारी शक्तियों की मदद से, जिनका नेता होर्थी था, अतिक्रमणकारियों ने लाल सेना को पराजित कर दिया। प्रतिक्रांति की विजय में स्वयं हंगेरियाई सोवियत जनतंत्र की कुछ ग़लतियां भी सहायक हुई थीं। इनमें सबसे गंभीर ग़लतियां दो थीं। एक तो जब कम्युनिस्ट और सामाजिक-जनवादी पार्टियों का एकीकरण हुआ था, तो सामाजिक-जनवादियों के बीच जो संशोधनवादी तत्त्व थे, उन्हें पार्टी से निष्कासित नहीं किया गया था। दूसरे, ज़मींदारों और मठ-गिरजों से ज़ब्त की हुई ज़मीन भूमिहीन और कम भूमिवाले किसानों के बीच न बांटकर उसपर राजकीय फ़ार्म क़ायम कर दिये गये थे। १३३ दिन के शौर्यपूर्ण संघर्ष के बाद १ अगस्त, १९१९ को हंगेरियाई सोवियत जनतंत्र का पतन हो गया।

फ़्रांस के क्रांतिकारी आंदोलन का उथान

रूस की विजयी समाजवादी क्रांति ने फ़्रांस के क्रांतिकारी आंदोलन को प्रबल प्रेरणा दी थी। फ़्रांसीसी मज़दूर काम की बेहतर परिस्थितियों, अधिक मेहनताने, आठ घंटे के काम के दिन जैसी आर्थिक मांगों के अलावा एक निश्चित राजनीतिक कार्यक्रम के क्रियान्वयन के लिए भी दृढ़ संघर्ष कर रहे थे। इस कार्यक्रम के बुनियादी मुद्दे थे: सोवियत रूस में सशस्त्र हस्तक्षेप को तुरंत रोकना, सैन्य-विघटन करना और राजनीतिक बंदियों को क्षमादान देना। १९१९ के वसंत में काला सागर में स्थित फ़्रांसीसी नौसैनिक पोतों पर लाल झंडे फहराये गये। सोवियत रूस के ख़िलाफ़ हथियार उठाने से इंकार करते हुए नौसैनिकों ने विद्रोह कर दिया था। फ़्रांसीसी मुख्यालय को अपना बेड़ा तुरंत काला सागर से हटा लेना पड़ा।

स्वयं फ़्रांस के भीतर भी मज़दूर, नाविक और सैनिक सोवियत जनतंत्र की रक्षा के लिए सक्रिय संघर्ष कर रहे थे। पेरिस का १९१९ का मई दिवस प्रदर्शन, जिसमें पांच लाख से अधिक लोगों ने भाग लिया, सरकारविरोधी एक विराट प्रदर्शन में बदल गया। १९१९ के उत्तरार्ध और १९२० के आरंभ में सारे देश में एक छोर से दूसरे छोर तक "सोवियत रूस से दूर रहो!" नारे तले हड़तालों, सभाओं और जन प्रदर्शनों की ज़बर्दस्त लहर दौड़ गयी। फ़्रांसीसी सर्वहारा के इस आंदोलन ने, जिसे आंरी बारब्यूस, रोमां रोलां,



पेरिस में पुलिस मई दिवस जुलूस को तितर-बितर कर रही है (१६२०)

अनातोले फ़्रांस जैसे प्रमुख बुद्धिजीवियों का समर्थन प्राप्त था, सोवियत रूस में सशस्त्र हस्तक्षेप बढ़ाने से फ़्रांसीसी सरकार को रोकने में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। क्लीमेंसो मंत्रिमंडल (१६१७-१६२०) मज़दूरों की कुछ अन्य मांगें स्वीकार करने को भी बाध्य हुआ: आठ घंटे के काम के दिन का क़ानून बनाया गया, कुछ श्रेणियों के मज़दूरों के वेतन बढ़ाये गये और ट्रेड यूनियनों को अधिक अधिकार दिये गये।

१६१८-१६२० के फ़्रांसीसी क्रांतिकारी आंदोलन की कमज़ोरी यह थी कि उसके पास समुचित नेतृत्व का अभाव था। समाजवादी पार्टी में वामपंथी समूह तो बन चुके थे, किंतु वे पर्याप्त शक्तिशाली नहीं थे और मिलजुलकर काम करने से कतराते थे। दिसंबर, १६२० में जाकर ही समाजवादी पार्टी की तूर कांग्रेस में अधिकांश प्रतिनिधियों ने फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना का प्रस्ताव पास किया।

क्रांतिकारी आंदोलन की ओर से आम जनता का ध्यान मोड़ने के लिए फ़्रांसीसी बूर्जुआ वर्ग ने राष्ट्रवादी भावनाएं भड़काने का एक व्यापक अभियान छेड़ा। जर्मनी पर विजय को अंधराष्ट्रवादी भावनाएं भड़काने के लिए इस्तेमाल किया गया। दक्षिणपंथियों से लेकर रेडिकलों तक सभी बूर्जुआ पार्टियों ने एक राष्ट्रीय सहबंध बना लिया। नवंबर, १६१६ के संसदीय चुनावों में विजय इसी राष्ट्रीय सहबंध की हुई।

इटली का
क्रांतिकारी संकट और वर्गीय लड़ाइयां

१९१९-१९२० में इटली का क्रांतिकारी आंदोलन अभूतपूर्व उभार पर था। मज़दूरों के मेहनताने में लगातार कमी करके उनपर ही युद्ध के ख़र्च का सारा बोझ लादने की इतालवी बूर्जुआज़ी की कोशिशों का मज़दूर दृढ़तापूर्वक विरोध करने लगे थे। सारे देश में मज़दूर हड़तालें बढ़ती ही जा रही थीं। १९२० में हड़तालियों की संख्या २२,००,००० तक पहुंच गयी, जो एक अभूतपूर्व बात थी। क्रांतिकारी उफान से ग्रामीण क्षेत्र भी अछूता न रहा था। देश के दक्षिणी भागों और सिसिली में सशस्त्र किसान ज़मींदारियों पर क़ब्ज़ा करके उनकी भूमि आपस में बांटने लगे थे। हज़ारों की तादाद में खेत मज़दूर और बटाईदार किसान शोषक वर्गों के विरुद्ध संघर्ष में शामिल हो रहे थे।

किंतु अगस्त-सितंबर, १९२० में इतालवी मेहनतकशों द्वारा कल-कारख़ानों पर क़ब्ज़ा किया जाना अपने पैमाने की दृष्टि से इन वर्षों की सबसे बड़ी क्रांतिकारी घटना थी। कोई तीन सप्ताह तक मिलान, तुरीन और अन्य उत्तरी नगरों के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण औद्योगिक प्रतिष्ठानों पर मज़दूरों का अधिकार रहा। कई नगरों में लाल गार्ड दस्ते बनाये गये। सशस्त्र मज़दूर क़ब्ज़े में लिये गये कल-कारख़ानों में पहरा देते थे और मज़दूर नेता उत्पादन कार्य का संचालन व प्रबंध करते थे।

अन्य यूरोपीय देशों की भांति इटली के मज़दूर भी विश्व में मज़दूरों और किसानों के पहले राज्य – सोवियत जनतंत्र – की रक्षा के मामले में पीछे न रहे।

शरद, १९२० में ऐसा लगा कि इतालवी सर्वहारा समाजवादी क्रांति की दहलीज़ पर खड़ा है। सरकार और बूर्जुआज़ी संभ्रम की स्थिति में थे। फिर भी जब निर्णय की घड़ी आयी, तो पता चला कि मज़दूर वर्ग के पास समुचित क्रांतिकारी नेतृत्व नहीं है। समाजवादी पार्टी का बहुमत तो नेतृत्व का काम इतालवी श्रम महासंघ के सुधारवादी नेताओं को सौंपकर ख़ुद अलग हो गया था और श्रम महासंघ के नेता चूंकि क्रांति से ख़ौफ़ खाते थे, इसलिए उन्होंने बूर्जुआज़ी के साथ समझौता कर लिया था।

मज़दूर वर्ग की हार से फ़ासिज़्म की पेशक़दमी के लिए रास्ता खुल गया। अक्तूबर, १९२२ में फ़ासिस्टों ने अपने "दूचे" मुसोलिनी के नेतृत्व में सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया। फ़ासिज़्म को चुनौती देनेवाली एकमात्र कारगर शक्ति इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी थी, जिसकी स्थापना जनवरी, १९२१ में

हुई थी और जिसके नेता अंतोनियो ग्रामशी और पाल्मीरो तोलियात्ती थे। किंतु इस वर्ग संघर्ष में कम्युनिस्ट पार्टी का पलड़ा हल्का था और इसलिए वह फ़ासिस्ट तानाशाही की स्थापना को न रोक सकी।

ग्रेट ब्रिटेन का "सोवियत रूस से दूर रहो!" आंदोलन

अक्तूबर क्रांति की विजय और नये समाज के निर्माण में रूसी मज़दूरों तथा ग़रीब किसानों द्वारा प्राप्त सफलताओं ने ग्रेट ब्रिटेन के मज़दूरों को भी प्रेरित किया था। उनके सिर पर वेतन कटौती और श्रम परिस्थितियों के बदतर बनने का खतरा मंडरा रहा था। उन्होंने ज़बर्दस्त और प्रायः सफल हड़तालों द्वारा इसका जवाब दिया। हड़तालियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

१९१९-१९२० में ब्रिटिश मज़दूरों द्वारा की गयी अधिकांश कार्रवाइयों की एक विशेषता यह थी कि उनकी पृष्ठभूमि में आर्थिक और राजनीतिक, दोनों ही तरह की मांगें थीं। सबसे मुख्य राजनीतिक मांग थी सोवियत रूस में सशस्त्र हस्तक्षेप बंद करना और सोवियतों के जनतंत्र को मान्यता देना। सोवियत रूस के समर्थन में ब्रिटिश मज़दूरों द्वारा छेड़ा गया आंदोलन १९२० के ग्रीष्म में मित्रराष्ट्रों के तीसरे अभियान के समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया। देशभर में कोई ४०० "सोवियत रूस से दूर रहो!" समितियां बनायी गयीं। यह आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद को विश्व के पहले मज़दूर तथा किसान राज्य को कुचलने से रोकने के ब्रिटिश मज़दूर वर्ग के दृढ़ संकल्प का ज्वलंत प्रमाण था।

९ अगस्त, १९२० को सारे ब्रिटेन के मज़दूरों की एक कांफ़्रेंस ने लॉयड जार्ज-कर्ज़न मंत्रिमंडल से बहुत सख़्त शब्दों में मांग की कि सोवियत रूस में हस्तक्षेप तुरंत रोका जाये और उस देश के साथ शांति-सुलह की जाये। ब्रिटिश शासक हल्के हस्तक्षेप रोकने को और बाद में व्यापार समझौते के लिए सोवियत सरकार के साथ वार्ताएं शुरू करने को भी मजबूर हुए, तो बहुत हद तक यह ब्रिटिश मज़दूरों के व्यापक आंदोलन का ही परिणाम था।

अन्य यूरोपीय देशों में क्रांतिकारी आंदोलन का उभार

जनवरी, १९१८ में फ़िनलैंड के मज़दूरों की क्रांति सफल रही और फ़िनिश मज़दूर जनतंत्र की स्थापना हुई। किंतु यह सफलता अल्पकालिक ही सिद्ध हुई और मज़दूर जनतंत्र तीन ही महीने चल पाया। इसके बावजूद

फ़िनिश और अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन के लिए वह महत्त्वपूर्ण घटना थी। रूस के बाद फ़िनलैंड ही पहला देश था, जहां राज्य सत्ता जनता के हाथ में आयी थी। १९१८-१९१९ में लिथुआनिया, लाटविया और एस्तोनिया में भी सोवियत जनतंत्र क़ायम हुए, किंतु विदेशी और आंतरिक प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने मिलकर उन्हें कुचल डाला। विजयी रूसी सर्वहारा के नारों ने पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, बुल्गारिया, आस्ट्रिया, यूगोस्लाविया, स्पेन, आदि देशों के मज़दूरों को भी क्रांतिकारी संघर्ष बढ़ाने के लिए प्रेरित किया था। महान अक्तूबर क्रांति द्वारा प्रज्ज्वलित ज्वाला सारे यूरोप में फैल गयी थी। महाद्वीप का ऐसा एक भी कोना न था, जहां क्रांतिकारी संघर्ष न बढ़ गया हो, हालांकि हर देश में उसका रूप और पैमाना उस देश की राष्ट्रीय विशेषताओं तथा राजनीतिक व आर्थिक विकास को देखते हुए भिन्न-भिन्न था।

जापान के "चावल दंगे"

अंतर्राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन पर रूस की सर्वहारा क्रांति का प्रभाव यूरोप तक ही सीमित न था। एशिया और लैटिन अमरीका में भी वह यदि अधिक नहीं, तो कम से कम उतना ही प्रबल था। जापान उन पहले देशों में था, जहां अक्तूबर क्रांति के प्रभावस्वरूप वर्गीय उत्पीड़न के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी कार्रवाइयां हुईं। इतिहास में ये "चावल दंगों" के नाम से विज्ञात हैं।

इन दंगों का तात्कालिक कारण था शहरी इलाक़ों में चावल की कमी और उसके दामों का आसमान चढ़ना। औद्योगिक आबादी की बढ़ती ज़रूरतों के बावजूद देश में चावल का उत्पादन लगभग जहां का तहां रुका हुआ था। ज़मींदारों के हितों की रक्षा पर उतारू सरकार चावल के आयात पर से सीमा-शुल्क हटाने को किसी भी भांति तैयार नहीं थी, जिससे बड़े व्यापारियों को दाम लगातार बढ़ाते जाने का मौक़ा मिल रहा था। इसके अलावा, सोवियत रूस में सशस्त्र हस्तक्षेप शुरू करके स्वयं सरकार भी अपनी क़ब्ज़ावर सेना के लिए चावल के भंडार बना रही थी। मुनाफ़ाख़ोरों ने इस स्थिति से लाभ उठाया और चावल के ज़ख़ीरे छिपा दिये। अगस्त, १९१८ में जब शहरियों के सब्र का प्याला लबरेज़ हो उठा, तो वे चावल के गोदाम लूटने लगे। शीघ्र ही ये "चावल दंगे" सारे देश में फैल गये। ६० शहरों में तो उन्होंने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि उन्हें दबाने के लिए सरकार को सेना का सहारा लेना पड़ा।

आरंभ में व्यापारियों के विरुद्ध लक्षित "चावल दंगे", जिनमें कोई एक करोड़ लोग हिस्सा ले रहे थे, शीघ्र ही शहरों में पूंजीपतियों और देहातों में



"इसे वापस ले लो, वरना ..." कार्य समिति मांग करती है कि लॉयड जॉर्ज सोवियत सरकार को दिया गया अल्टीमेटम वापस ले ले। अमरीकी पत्रिका 'लिबरेटर' में छपा एक कार्टून (१६२०)

ज़मींदारों के विरुद्ध संघर्ष में परिणत हो गये। शहरों में वह कुछ ही दिन चल पाया; सबसे देर तक डटे रहनेवालों में खान मज़दूर थे। इन कार्रवाइयों के अधिक न चल पाने का कारण उनका स्वत:स्फूर्त स्वरूप और मज़दूरों में संगठनबद्धता का अभाव था। किंतु शीघ्र ही दबा दिये जाने के बावजूद उनसे जापानी जनता की वर्ग चेतना के उभरने में ज़बर्दस्त योग मिला। सेन कतायामा ने उन्हें देश के शोषक वर्गों को दहला देनेवाली जापानी सर्वहारा की पहली वर्गीय लड़ाई की संज्ञा दी थी।

आगामी वर्षों में जापान में अनगिनत हड़तालें हुईं, जिनमें लाखों मज़दूरों ने भाग लिया। सभी उद्योगों में ट्रेड यूनियनें बनायी जाने लगीं। १६२० में देश के इतिहास में मज़दूरों ने पहली बार मई दिवस के अवसर पर तोकियो में जुलूस निकाले। ये सब घटनाएं जापानी सर्वहारा की बढ़ती वर्ग चेतना का

सवूत थीं। इस बीच स्वयं जापान में और संयुक्त राज्य अमरीका में भी, जहां जापानी समाजवादी उत्प्रवासियों का एक काफ़ी वड़ा समूह था, जापानी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के प्रयास किये जा रहे थे। सेन कतायामा, जो उस समय संयुक्त राज्य अमरीका में था, पहले एक मंडली वनाने और फिर उसे जापानी समाजवादी दल में पुनर्गठित करने में सफल रहा। इस दल ने जापानी मज़दूर आंदोलन से संवद्ध सभी प्रगतिशील मज़दूरों और वुद्धिजीवियों के साथ संपर्क क़ायम किये। उस काल में जापान में सक्रिय क्रांतिकारियों में प्रमुख मसानोसुके वतानावे था, जिसने मज़दूरों को एकजुट करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। १५ जुलाई, १६२२ को विभिन्न मार्क्सवादी दलों की एक गुप्त कांग्रेस ने जापानी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की घोषणा की। पार्टी को पहले ही दिन से प्रतिक्रियावादी शक्तियों के भीषण हमलों का शिकार वनना पड़ा, क्योंकि वे कम्युनिज़्म के विचारों के प्रसार से वेहद ख़ौफ़ खाती थीं।

अक्तूवर क्रांति और संयुक्त राज्य अमरीका

क्रांतिकारी विचारों को अटलांटिक पार करके विश्व पूंजीवाद के गढ़ संयुक्त राज्य अमरीका में भी फैलते देर न लगी, जिसके शासक हल्क़ों ने युद्ध के दौरान ख़ूव चांदी वटोरी थी और अव युद्धोत्तर विश्व में अपना वोल-वाला क़ायम करने पर आमादा थे। अक्तूवर क्रांति के वाद के आरंभिक वर्षों में अमरीकी शासक वर्गों की प्रतिक्रियावादी गृह तथा विदेश नीतियों ने अमरीकी मज़दूरों को मजवूर कर दिया कि वे विभिन्न और प्रवल जनव्यापी कार्रवाइयों द्वारा इन नीतियों का जवाव दें और साथ ही सोवियत संघ में अमरीका के हस्तक्षेप को रुकवायें। गोदी मज़दूरों ने हस्तक्षेपकारी और सफ़ेद गार्ड सेनाओं के लिए जहाज़ों पर गोला-वारूद और हथियार लादने से इन्कार कर दिया। १६१६ के ग्रीष्म में स्थापित सोवियत रूस मित्र समाज ने सोवियत रूस में अमरीकी दख़लंदाज़ी रुकवाने और अमरीकी-सोवियत संवंधों को सामान्य वनवाने के लिए सक्रिय अभियान छेड़ा।

युद्ध की समाप्ति पर पूंजीपतियों ने सर्वहारा के प्रति आक्रामक रवैया अख़्तियार करने की कोशिश की। किंतु मज़दूरों ने अपने हड़ताल आंदोलन का दायरा वढ़ाकर और आठ घंटे के काम के दिन तथा अधिक मेहनताने के सामूहिक समझौतों की मांग करके इसका जवाव दिया। १६१६ में ४०,००,००० से अधिक मज़दूरों ने हड़तालों में हिस्सा लिया। संयुक्त राज्य अमरीका के इतिहास में इतनी व्यापक हड़तालें पहले कभी नहीं हुई थीं।



पेंसिल्वेनिया में धातुकर्मियों की हड़ताल (१९१९)

इस्पात उद्योग के ३,५०,००० मज़दूरों की हड़ताल, जो साढ़े तीन महीने चली, इस काल की एक सबसे बड़ी घटना थी। उसमें अमरीकी मज़दूर वर्ग के जुझारू नेता विलियम फ़ोस्टर ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी, जो आगे चलकर संयुक्त राज्य अमरीका की कम्युनिस्ट पार्टी का अध्यक्ष बना। इस्पात मज़दूर अपनी कई मांगों को मनवाने में सफल रहे, मगर यह सफलता और भी बड़ी हो सकती थीं, अगर अमरीकी मज़दूरों के पास अधिक अटल क्रांतिकारी नेतृत्व होता और उन टुकड़खोर यूनियन नेताओं का अनुगमन न किया जाता, जो समाजवाद को नहीं मानते थे और जिनकी मालिकों से मिलीभगत थी।

१९१९ की वर्गीय लड़ाइयों ने संयुक्त राज्य अमरीका में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के लिए ज़मीन तैयार की। किंतु अमरीकी मज़दूर आंदोलन में वामपंथी शक्तियों का विकास कुछ इस ढंग से हुआ कि देश में एक नहीं, बल्कि दो पार्टियां बनीं, जिनमें से हर कोई अपने को कम्युनिस्ट पार्टी कहती थी। एक के सदस्य अधिकांशत: विदेशी मूल के अमरीकी थे और उसका नेता चार्ल्स राथेनबर्ग था। यह पार्टी सैद्धांतिक पक्ष पर अधिक ज़ोर देती थी। दूसरी पार्टी में अधिकांशत: मज़दूर आंदोलन से संबद्ध लोग शामिल थे और उसका नेता सुप्रसिद्ध पत्रकार, 'दस दिन जब दुनिया हिल उठी' का लेखक जॉन रीड था। चूंकि कार्यक्रम के मामले में दोनों पार्टियों में कोई मतभेद न था, अत: १९२१ में उनका परस्पर विलयन हो गया। सारे विश्व में बढ़ते क्रांतिकारी ज्वार से भयभीत अमरीकी शासक वर्ग जब प्रगतिशील आंदोलन पर बेलगाम हमले कर रहे हों, तब अपनी शक्तियों को तितर-बितर

रखना कम्युनिस्ट अग्रदल के लिए घातक ही सिद्ध हो सकता था। उल्लेखनीय है कि प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने डेमोक्रेटिक पार्टी को भी, जो इजारेदार पूंजी की दो प्रमुख राजनीतिक पार्टियों में से एक थी, पर्याप्त विश्वसनीय न समझकर १९२० में उसकी जगह रिपब्लिकन पार्टी को गद्दी पर बिठा दिया था और वह १९३२ तक सत्तारूढ़ बनी रही।

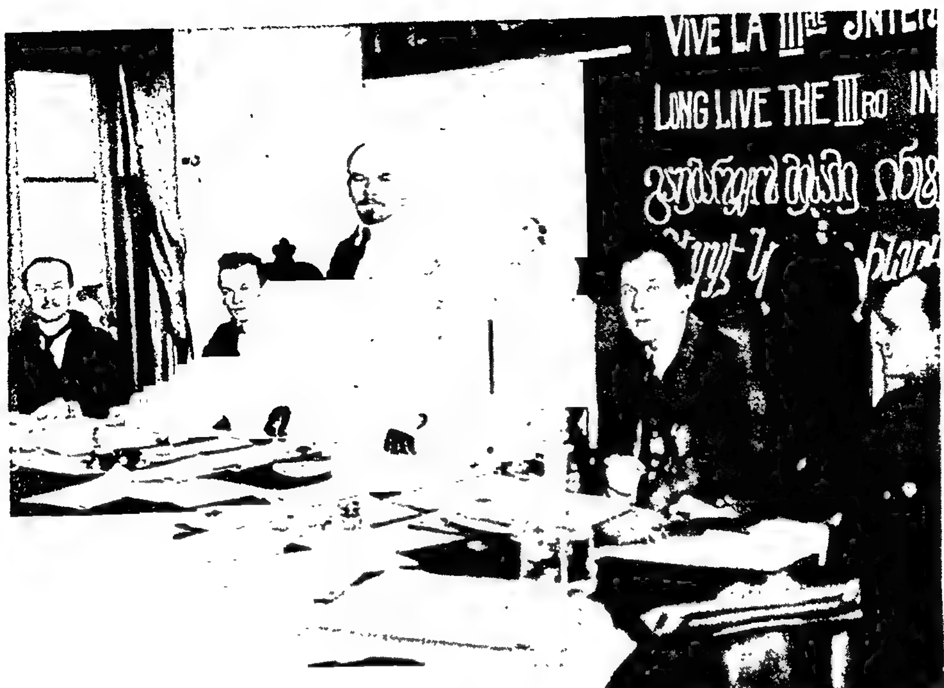
कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की स्थापना

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वर्गीय लड़ाइयों में वृद्धि होने पर कई देशों में कम्युनिस्ट पार्टियां स्थापित हो चुकी थीं, जैसे कि, मिसाल के लिए, १९१८ में आस्ट्रिया, हंगरी, पोलैंड, जर्मनी, लाटविया, लिथुआनिया, एस्तोनिया और अर्जेंटीना में। ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका जैसे देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों की स्थापना के लिए आधार तैयार हो रहा था।

किंतु सामाजिक-जनवादी पार्टियों और ट्रेड यूनियनों के वामपंथी तत्त्वों द्वारा स्थापित पश्चिमी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियां वैचारिक और संगठनात्मक दृष्टि से अत्यंत कमज़ोर थीं और उनके बीच आपस में स्थायी संपर्क भी न था। इसके अलावा उनके नेताओं से अपने व्यावहारिक कार्यकलाप में जब तब मुख्यतया संकीर्णताजनित ग़लतियां भी हो जाती थीं, जिन्हें वर्गीय शत्रु क्रांतिकारी आंदोलनों को दबाने के लिए इस्तेमाल करने से बाज़ नहीं आते थे।

इन सब बातों को देखते हुए यह अत्यावश्यक था कि एक अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन, यानी तीसरे, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की स्थापना की जाये। वास्तव में, समाजवादी क्रांतियां न तो बोल्शेविक पार्टी जैसी वैचारिक-राजनीतिक दृष्टि से एकमात्र मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत पर आधारित सच्ची क्रांतिकारी पार्टियों के बिना विजयी हो सकती थीं और न, तत्कालीन परिस्थितियों में, किसी एक अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन के अंतर्गत इन सब पार्टियों के एकताबद्ध हुए बिना ही।

पश्चिमी देशों के क्रांतिकारी आंदोलन के विशाल पैमाने से डरकर फ़रवरी, १९१९ में सामाजिक-जनवादी पार्टियों ने अपने दिवालिया और १९१४ में विघटित संगठन – दूसरे इंटरनेशनल – को पुनरुज्जीवित कर दिया। यह और कुछ नहीं, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की स्थापना में रोड़े अटकाने की चाल ही थी। किंतु वह नाकाम सिद्ध हुई। व्ला० इ० लेनिन की पहल पर २ मार्च, १९१९ को मास्को में यूरोप, एशिया और अमरीका के ३० देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों और वामपंथी समाजवादी ग्रुपों के प्रतिनिधियों की कांग्रेस शुरू हुई। ४ मार्च को उसने कम्युनिस्ट इंटरनेशनल (कोमिंटर्न)



व्ला० इ० लेनिन कोमिंटर्न की प्रथम कांग्रेस में

की स्थापना की घोषणा की, जिसे अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन का केंद्रीय संगठन बनना था। कांग्रेस ने एक कार्यकारिणी भी चुनी, जिसे नवस्थापित संगठन के स्थायी नेतृत्वकारी निकाय के तौर पर काम करना था।

कोमिंटर्न की स्थापना एक विश्वव्यापी महत्त्व की ऐतिहासिक घटना थी। यह महत्त्व सबसे पहले इस बात में निहित था कि कोमिंटर्न एक सर्वथा नये प्रकार का अंतर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी सर्वहारा संगठन था।

पुराने, दूसरे इंटरनेशनल के विपरीत तीसरे, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने अपने अस्तित्व के पहले ही दिन से विश्व के सभी भागों और सभी जातियों के सर्वहारा के वस्तुतः अंतर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में काम किया। उसकी पहली कांग्रेस में यूरोप तथा अमरीका के विकसित देशों के साथ-साथ ईरान, चीन, कोरिया, तुर्की, आदि देशों के प्रतिनिधि भी उपस्थित थे। समस्त विश्व की क्रांतिकारी शक्तियों की ओर से तीसरे इंटरनेशनल ने खुले आम घोषित किया कि समाजवाद तथा कम्युनिज़्म की विजय विश्व मज़दूर आंदोलन का अंतिम लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है सर्वहारा अधिनायकत्व।

१९१७-१९२३ की क्रांतिकारी लड़ाइयों के परिणाम

मानवजाति के सारे इतिहास में १९१७-१९२३ जितनी घमासान वर्गीय लड़ाइयां पहले कभी नहीं हुई थीं। इसके बावजूद १९२३ के अंत तक स्पष्ट हो गया कि क्रांति की लहर उतार पर है और साम्राज्यवादी बूर्जुआज़ी तथा उसके समर्थकों के विरुद्ध सर्वहारा तथा उसके मित्र वर्गों का दृढ़ संघर्ष, जिसने उन पांच-छह वर्षों में सारे विश्व को हिलाकर रख दिया था, अब शिथिल पड़ने लगा है।

पूर्व और पश्चिम के देशों का क्रांतिकारी ज्वार इतना प्रचंड न था कि साम्राज्यवाद के बोलबाले का ख़ात्मा कर पाता। हंगरी, फ़िनलैंड, आदि कई यूरोपीय देशों में मज़दूर वर्ग सत्तारूढ़ होने में सफल तो रहा, पर वहां अधिक देर न टिक पाया, क्योंकि कुल मिलाकर पलड़ा यूरोपीय व अमरीकी बूर्जुआज़ी का ही भारी था, जिसने क्रांतिकारी सर्वहारा के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बना लिया था। सर्वहारा की पराजय का दूसरा मुख्य कारण यह था कि पूंजीवादी प्रणाली बचाने के संघर्ष में बूर्जुआज़ी को विभिन्न सामाजिक-जनवादी पार्टियों तथा ट्रेड यूनियनों के दक्षिणपंथी नेताओं से सहायता मिली, जिनका आम जनता पर अभी भी काफ़ी प्रभाव था। मज़दूर वर्ग के ध्येय को इससे भी बड़ी हानि पहुंची कि क्रांतिकारी आंदोलन के शुरू होने के समय किसी भी पश्चिमी देश में कम्युनिस्ट पार्टी नहीं थी: कुछ बड़े देशों में उनका निर्माण तथा सुदृढ़ीकरण तभी संभव हो पाया, जब क्रांति का ज्वार स्पष्टतः उतार पर था।

साम्राज्यवादी बूर्जुआज़ी क्रांतिकारी शक्तियों के हमले को विफल करने, हंगरी और बवारिया के सोवियत जनतंत्रों को कुचलने और विश्व के ५/६ हिस्से पर अपना आधिपत्य बनाये रखने में सफल हो गया। किंतु साथ ही उसने विश्व के प्रथम समाजवादी देश को जीत पाने की अपनी असमर्थता भी दिखा दी। चौदह देशों का हस्तक्षेप, नाकाबंदी, विदेशी सरकारों के षड्यंत्र – कुछ भी सोवियत राज्य से घुटने न टिकवा सका। सोवियत जनता ने, जिसे पूंजीवादी विश्व के सर्वहारा और सभी उत्पीड़ित जनों का समर्थन प्राप्त था, साम्राज्यवादी बूर्जुआज़ी के सभी हमलों को विफल कर दिया। विश्व के १/६ भाग पर समाजवाद की विजय पताका फहराती रही।

विश्व दो विरोधी सामाजिक प्रणालियों में बंटा रहा। उनका परस्पर संघर्ष अब नये दौर में प्रवेश कर रहा था।

पूंजीवाद की आंशिक स्थिरता
(१९२४-१९२९)

पूंजीवादी राज्यों का आर्थिक और राजनीतिक संकट से निकास

१९२४ तक पूंजीवाद की अल्पकालिक, आंशिक स्थिरता का दौर शुरू हो चुका था, जो १९२९ तक जारी रहा। इस दौर में पूंजीवादी देशों ने युद्धोत्तरकालीन आर्थिक संकट से छुटकारा पाकर अपना कुल उत्पादन २५-२६ प्रतिशत बढ़ा लिया। किंतु यह स्थिरता अस्थायी और परिवर्तनशील ही थी। पश्चिमी यूरोप के देशों के सभी ही उद्योगों को संकट से छुटकारा नहीं मिल पाया और उनका उत्पादन भी युद्धपूर्व स्तर तक नहीं पहुंच पाया। जहां संयुक्त राज्य अमरीका में औद्योगिक उत्थान १९२२ में ही शुरू हो गया था और १९२९ तक कुल उत्पादन की दृष्टि से वह ब्रिटेन, फ़्रांस , जर्मनी, इटली और जापान, इन सभी देशों को मिलाकर भी आगे निकल गया था, वहां ब्रिटेन जैसे कुछ देशों की अर्थव्यवस्था इन वर्षों में लगभग जहां की तहां ही खड़ी थी। ब्रिटेन का औद्योगिक उत्पादन १९२९ में भी बड़ी मुश्किल से १९१३ के स्तर तक पहुंच पाया और विदेश व्यापार तो युद्धपूर्व के स्तर पर ही रुका रहा। फ़्रांस में औद्योगिक उत्पादन बड़ी असम गति से बढ़ रहा था। उसकी अर्थव्यवस्था की कुछ शाखाओं, जैसे धातुकर्म, इंजीनियरी तथा रसायन उद्योगों ने तो अपना उत्पादन काफ़ी बढ़ा लिया, मगर हल्के उद्योग, विशेषतः कपड़ा और चमड़ा उद्योग गतिरोध या ह्रास की अवस्था में थे।

१९२४-१९२९ के स्थिरता काल की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि अधिकांश पूंजीवादी देशों की कृषिव्यवस्था इस काल में भी संकटग्रस्त रही। जहां तक आर्थिक दृष्टि से अपेक्षया पिछड़े पूर्वी यूरोपीय पूंजीवादी देशों का संबंध था, तो उनमें स्थिरता या तो १९२४ के काफ़ी बाद आयी, या बिल्कुल भी न आ सकी।

पूंजीवाद की आंशिक स्थिरता के काल में पूंजीवादी राज्यों की घरेलू राजनीतिक स्थिति में भी कुछ सुधार आया। अधिकांश देशों में बूर्जुआज़ी ने मेहनतकश वर्गों के प्रदर्शनों के दमन के लिए नग्न हिंसा और रक्तपात का सहारा न लेकर अब तथाकथित "सामान्य" बूर्जुआ-जनवादी तरीक़े अपनाना शुरू कर दिया।

अमरीकी साम्राज्यवाद और पूंजीवादी यूरोप। डॉएज़ योजना

यूरोप में पूंजीवाद के आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से स्थिर वनने में काफ़ी हद तक संयुक्त राज्य अमरीका की नीति सहायक हुई थी। दिसंवर, १९२३ में राष्ट्रपति कूलिज ने कांग्रेस के नाम अपने संदेश में घोषणा की कि अमरीकी सरकार पश्चिमी यूरोप को आर्थिक तथा वित्तीय सहायता देने को तैयार है। युद्धकाल में मालामाल हुआ अमरीकी बूर्जुआज़ी यह सहायता परोपकार की भावना से प्रेरित होकर नहीं दे रहा था। इस सहायता प्रस्ताव के पीछे पहला कारण तो यह था कि संयुक्त राज्य अमरीका यूरोपीय देशों से अपना क़र्ज़ उगाहने को आतुर था, जिसकी व्याजसहित कुल राशि ७,२०,००,००,००० डालर थी। दूसरे, अमरीकी पूंजीपति पश्चिमी गोलार्ध से वाहर वड़े पैमाने पर पूंजी लगाने के लिए सबसे लाभदायक क्षेत्रों की खोज में जर्मनी जैसे यूरोपीय देशों पर नज़र गड़ाये हुए थे। किंतु ऐसे पूंजी-निवेश के लिए मुद्रा-स्थैर्य आवश्यक था और मुद्रा-स्थैर्य कमोबेश स्थिर अर्थव्यवस्था-वाले देश में ही संभव था। तीसरे, और अमरीकी शासक हल्क़ों के लिए यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था, वे यूरोपीय देशों को आर्थिक तथा वितीय सहायता इसलिए दे रहे थे कि वे इन देशों के बूर्जुआज़ी के साथ वर्गीय एकता का प्रदर्शन करना, उसकी स्थिति को मज़बूत वनाना, जो क्रांतिकारी संकट के वर्षों में कमज़ोर हो गयी थी, और मज़दूर आंदोलन से निवटने में उसकी मदद करना चाहते थे।

इन्हीं सब मंतव्यों से १९२३ के अंत में संयुक्त राज्य अमरीका ने उस काल की एक सबसे गंभीर समस्या – हरजानों की समस्या के समाधान के लिए एक योजना पेश की। इसी समस्या के कारण जर्मनी और मित्रराष्ट्रों के संवंध वेहद विगड़े हुए थे और फ़्रांसीसी सेनाओं ने रूहर पर क़ब्ज़ा किया हुआ था।

जुलाई-अगस्त, १९२४ में लंदन में मित्रराष्ट्रों के सम्मेलन ने अमरीकी वैंकर सी० जी० डॉएज़ के निदेशन में एक अंतर्राष्ट्रीय आयोग द्वारा निर्मित नयी हरजाना योजना को स्वीकृति प्रदान कर दी। डॉएज़ योजना के नाम से ज्ञात इस योजना का लक्ष्य जर्मनी की अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण करके उसके, यानी जर्मनी के द्वारा हरजानों की अदायगी की "पक्की गारंटी" करना था। इसके लिए जर्मनी को ८०,००,००,००० मार्क का अंतर्राष्ट्रीय ऋण उपलब्ध करवाया जाना था। हरजानों का अधिकांश हिस्सा उपभोक्ता मालों पर अप्रत्यक्ष कर लगाकर और उद्योगों तथा रेलवे की आय में से चुकाया जाना था। डॉएज़ योजना ने अमरीका की देखरेख तथा नियंत्रण में जर्मनी में विदेशी,

मुख्यतः अमरीकी पूंजी लगाये जाने के लिए व्यापक अवसर प्रदान किये। हरजाना एजेंसी का मुख्य अधिकारी और अधिकांश कर्मचारी अमरीकी नागरिक थे।

इस योजना का मुख्य लक्ष्य जर्मनी में पूंजीवाद की जड़ें मजबूत बनाना, आंग्ल-अमरीकी ऋणों की मदद से उसके सैन्य उद्योग को फिर से खड़ा करना और इस तरह आगे चलकर जर्मनी को सोवियत संघ तथा यूरोपीय क्रांतिकारी आंदोलनों के खिलाफ़ साम्राज्यवाद की मुख्य प्रहारक-शक्ति के रूप में इस्तेमाल करना था। किंतु अपने हित में होने के बावजूद जर्मन साम्राज्यवादियों ने उसे हरजानों की अदायगी से पूर्ण मुक्ति पाने के अपने संघर्ष का मध्यवर्ती चरण ही माना। १९२४ के लंदन सम्मेलन के निर्णय अमरीकी शासक हल्क़ों और उनकी विदेशनीति की विजय के सूचक थे। उनसे फ़्रांसीसी साम्राज्यवादियों के हितों को ज़बर्दस्त आघात पहुंचा, जो रूहर से अपनी फ़ौजें हटाने और भविष्य में हरजानों की समस्या के मामले में एकपक्षीय उपायों का सहारा न लेने को वाध्य हुए।

डॉएज़ योजना बनाये जाते समय ग्रेट ब्रिटेन ने हालांकि संयुक्त राज्य अमरीका का साथ दिया था, तथापि वह पूंजीवादी विश्व में संयुक्त राज्य अमरीका को ही अपना मुख्य प्रतिद्वंद्वी मानता था। इस काल में आंग्ल-फ़्रांसीसी, फ़्रांसीसी-जर्मन, फ़्रांसीसी-इतालवी और जर्मनी तथा पूर्वी यूरोपीय छोटे देशों के, जो फ़्रांस के मित्र थे, परस्पर विरोध भी उत्तरोत्तर उग्र होते गये।

लोकार्नो संधियां

बूर्जुआ प्रचारतंत्र ने डॉएज़ योजना के वास्तविक सार तथा सोवियत-विरोधी लक्ष्यों पर परदा डालने और उसे "शांति एवं अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की नीति" की ठोस उपलब्धि तथा यूरोप में "शांति-स्थापना" की दिशा में वढ़ाया गया पहला क़दम वताने में कोई कसर नहीं उठा रखी। लगभग इसी प्रकार का प्रचार अभियान लोकार्नो संधियों को लेकर भी छेड़ा गया। अक्तूबर, १९२५ में लोकार्नो, स्विटजरलैंड में अनेक देशों के शासनाध्यक्षों तथा विदेशमंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ था, जिसमें जर्मनी की पश्चिमी सीमाओं की गारंटी से संबंधित एक संधि और कई विवाचन अभिसमयों पर हस्ताक्षर किये गये थे। सम्मेलन ने, जिसमें ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस ने मुख्य भूमिका अदा की थी, जर्मन-फ़्रांसीसी और जर्मन-बेल्जियन सीमाओं की अनुल्लंघनीयता की तो प्रत्याभूति की, किंतु पोलिश-ज़र्मन और चेकोस्लोवाक-जर्मन सीमाओं का प्रश्न असमाधित ही छोड़ दिया। इस तरह पश्चिमी शक्तियों ने

साम्राज्यवादी जर्मनी को इस आशा से पूर्व में खुली छूट दे दी कि अगर वह कभी आक्रमण करेगा, तो वह पूर्व की ओर ही लक्षित होगा और फिर इसे सोवियत संघ के साथ सशस्त्र मुठभेड़ में बदलते देर न लगेगी। लोकार्नो संधियों के पहलकर्त्ताओं (चैम्बरलेन, ब्रियां तथा स्ट्रेज़मान) ने उनके सोवियत-विरोधी सार से विश्व जनमत का ध्यान बंटाने के लिए शांतिवादी लफ़्फ़ाज़ी का खुलकर सहारा लिया। किंतु बूर्जुआ प्रचारतंत्र की कोई भी कोशिश इस तथ्य को न छिपा सकी कि लोकार्नो में पश्चिमी शक्तियों और साम्राज्यवादी जर्मनी के बीच जो दुरभिसंधि हुई थी, वह समस्त यूरोप के राष्ट्रों के हितों के लिए अत्यंत घातक थी और नये ख़तरनाक अंतर्राष्ट्रीय विवादों और मुठभेड़ों को जन्म दे सकती थी।

उत्पादन का यौक्तिकीकरण और सर्वहारा की वर्गीय लड़ाइयां

१९२४-१९२९ में बूर्जुआज़ी ने अपने प्रभाव को और सुदृढ़ बनाने के लिए उत्पादन के यौक्तिकीकरण का अभियान छेड़ा, यानी नयी मशीनों का उपयोग, कल-कारख़ानों का आधुनिकीकरण, आदि शुरू किया। किंतु यह सब मुख्यत: ऐसे तरीक़ों से किया गया, जैसे किसी भी क़ीमत पर श्रम का सघनीकरण, कंन्वेयर तथा सीरियल उत्पादन प्रक्रियाओं का तीव्रीकरण, अति-शोषण प्रणाली (स्वेटिंग सिस्टम) का उपयोग, आदि।

इस प्रकार के पूंजीवादी यौक्तिक़ीकरण के परिणामस्वरूप जहां उत्पादन और कुछ श्रेणियों के मज़दूरों के रहन-सहन के स्तर में उल्लेखनीय वृद्धि हुई, वहां हज़ारों-लाखों मज़दूर रोज़गार से हाथ धो बैठे। पूंजीवादी यौक्तिकी-करण का मतलब शारीरिक क्षय और उत्पादन दुर्घटनाओं में मारे जाने वालों की संख्या में इज़ाफ़ा भी था। साम्राज्यवादी इजारेदारियां मेहनतकशों को उन सामाजिक-आर्थिक उपलब्धियों से वंचित कर देना चाहती थीं, जो उन्होंने पूर्ववर्ती वर्षों में हासिल की थीं। फलस्वरूप मज़दूर जनसामान्य अपने हितों की सक्रिय रक्षा के लिए उठ खड़ा हुआ।

१९२४-१९२६ में ब्रिटेन की कंसर्वेटिव सरकार द्वारा अनुसृत मज़दूर-विरोधी नीति के जवाब में ब्रिटिश खान मज़दूरों ने हड़ताल की, जिसने मई, १९२६ में कोई ६०,००,००० मेहनतकशों की आम हड़ताल का रूप ले लिया। ब्रिटेन के सारे इतिहास में मज़दूरों की इतनी विशाल संगठित हड़ताल पहले कभी नहीं हुई थी। वह ४ मई से १२ मई तक चली और उसका प्रभाव सारे विश्व पर पड़ा। खान मज़दूरों ने अपनी हड़ताल आम हड़ताल के बाद भी



मैंचेस्टर की आम हड़ताल के समय ट्राम मज़दूरों का प्रदर्शन (१९२६)

सात महीने तक जारी रखी। हालांकि मज़दूरों की हार हुई, जिसका मुख्य कारण ब्रिटिश ट्रेड यूनियन नेताओं की ग़द्दारी थी, फिर भी १९२६ की घटनाओं ने दिखाया कि ब्रिटिश मज़दूर वर्ग अब पहले की अपेक्षा कहीं ताक़तवर और जुझारू हो गया है और कंसर्वेटिव सरकार द्वारा समर्थित इजारेदारियों के हमलों से अपने अधिकारों की रक्षा के लिए पूरी तरह कृतसंकल्प है।

१९२७ के आरंभ में आस्ट्रिया में मज़दूरों ने प्रतिक्रियावादी ज़ेइपेल सरकार की मज़दूरविरोधी नीति के खिलाफ़ संघर्ष शुरू किया। ज़ेइपेल सरकार आठ घंटे के काम का दिन तथा बेरोज़गारी बीमा ख़त्म करने, टैक्स बढ़ाने, आदि की कोशिश कर रही थी। जुलाई के मध्य में वियेना में पुलिस और मज़दूरों के बीच सशस्त्र मुठभेड़ें हुईं। कुछ ही घंटों में सारी आस्ट्रियाई राजधानी में बैरिकेड खड़े कर दिये गये। हथियारों की कमी के बावजूद मज़दूर वीरतापूर्वक लड़े।

सोवियत संघ और पूंजीवादी विश्व
(१९२४-१९२९)

पूंजीवाद की आंशिक और अस्थायी स्थिरता के इस काल में सोवियत संघ की सारी अर्थव्यवस्था निरंतर विकास करती गयी थी। सोवियत संघ की आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक शक्ति की वृद्धि के फलस्वरूप बूर्जुआ विश्व को उसके बहिष्कार की अपनी नीति त्यागनी पड़ी। १९२४ तक अनेक यूरोपीय देशों के प्रमुख राजनेता इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके थे कि बहिष्कार की नीति से कोई लाभ नहीं हो सकता है। दूसरी ओर, पूंजीवादी देशों के व्यावसायिक हल्के भी सोवियत संघ के साथ आर्थिक संपर्क, विशेषतः परस्पर लाभकारी व्यापार बढ़ाने को उत्सुक थे। इस प्रवृत्ति ने सोवियत संघ को मान्यता देने के हिमायतियों का पलड़ा भारी कर दिया। सोवियत सरकार पूंजीवाद और समाजवाद के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के जिस सिद्धांत पर ज़ोर देती आ रही था, वह शनैःशनैः, मगर दृढ़तापूर्वक जड़ें जमाता और सोवियत संघ तथा पूंजीवादी विश्व के परस्पर संबंधों में निर्णायक कारक बनता जा रहा था।

सोवियत संघ को मान्यता दिये जाने के इस दौर का समारंभ ग्रेट ब्रिटेन ने किया, जिसने १ फ़रवरी, १९२४ को सोवियत सरकार के साथ राजनयिक संबंध क़ायम किये। एक सप्ताह बाद इटली ने भी सोवियत संघ को मान्यता दे दी और उसके साथ व्यापार समझौता संपन्न किया। फिर आस्ट्रिया, यूनान, स्वीडन, नार्वे, मेक्सिको, चीन, फ़्रांस, जापान और कई अन्य देशों ने भी सोवियत संघ के साथ राजननिक संबंध स्थापित कर लिये। बड़े राष्ट्रों में अकेला संयुक्त राज्य अमरीका ही बचा था, जो सोवियत संघ के साथ संबंध सामान्य बनाने से कतराता रहा।

किंतु इस सबका यह अर्थ नहीं था कि युद्धलिप्सु साम्राज्यवादी प्रतिगामी हल्कों ने सोवियत संघ को निःशक्त करके उसपर सांघातिक प्रहार करने के अपने पागलपनभरे मंसूबों को हमेशा के लिए तिलांजलि दे दी थी। उनका ऐसा कोई इरादा न था। मिसाल के लिए, लोकार्नो सम्मेलन बुलाया ही इसलिए गया था कि सोवियत संघ के विरुद्ध प्रमुख साम्राज्यवादी शक्तियों का एक गठबंधन बनाया जाये और जर्मनी को उसमें मुख्य प्रहारक शक्ति की भूमिका दी जाये। मई, १९२७ में, सोवियत व्यापार संगठन आर्कोस पर पुलिस के छापे के बाद, ब्रिटेन की कंसर्वेटिव बाल्डविन-चैंबरलेन सरकार ने सोवियत संघ के साथ राजनयिक और व्यापारिक संबंध तोड़ दिये। यह उकसावा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया द्वारा १९२६-१९२७ में सोवियत संघ के विरुद्ध की गयी शत्रुतापूर्ण कार्रवाइयों की श्रृंखला की ही एक कड़ी था। इस आक्रामक

नीति की अन्य कड़ियां थीं पीकिंग, शंघाई और कैंटन में सोवियत प्रतिनिधि कार्यालयों पर ब्रिटिश एजेंटों द्वारा प्रेरित चीनी सैन्यवादियों के धावे, पोलैंड में सोवियत राजदूत व० लं० वोइकोव की हत्या, १९२७ में फ़्रांस में बड़े पैमाने पर सोवियतविरोधी प्रचार, आदि।

ब्रिटिश सरकार को आशा थी कि उसकी देखादेखी दूसरी पूंजीवादी सरकारें भी सोवियत संघ के साथ राजनीतिक संबंध तोड़ लेंगी और सोवियत-विरोधी मोर्चे के निर्माण में तीव्रता आ जायेगी। किंतु ऐसा कुछ न हुआ। सोवियत संघ की सुसंगत शांतिसमर्थक नीति, जो किसी भी प्रकार के उकसावों में नहीं आयी, पूंजीवादी राज्यों के बढ़ते परस्पर विरोधों और सर्वत्र आम जनता द्वारा विश्व के पहले समाजवादी राज्य के सक्रिय समर्थन ने ब्रिटिश प्रतिक्रियावादी हल्कों के मंसूबों पर पानी फेर दिया। अंततः ब्रिटेन के शासकों को ख़ुद ही अपनी हार क़बूल करनी पड़ी और अक्तूबर, १९२९ में ब्रिटेन तथा सोवियत संघ के बीच राजनयिक संबंध पुनः स्थापित हो गये।

पूंजीवाद की आंशिक स्थिरता का अंत। नये महायुद्ध का बढ़ता ख़तरा (१९२९-१९३९)

१९२९-१९३३ का विश्वव्यापी आर्थिक संकट

१९२४-१९२९ की आंशिक स्थिरता पूंजीवादी के विकास में एक अल्पकालिक दौर ही सिद्ध हुई। १९२९ के शरद में एक अभूतपूर्व पैमाने के आर्थिक संकट ने पूंजीवादी देशों को आ घेरा। वह १९३३ तक, यानी पहले के किसी भी संकट के मुक़ाबले कहीं देर तक जारी रहा। यद्यपि सारा ही पूंजीवादी विश्व उसकी गिरफ़्त में आया था, फिर भी उसका सर्वाधिक प्रभाव संसार के प्रमुख पूंजीवादी देश संयुक्त राज्य अमरीका में अनुभव किया गया।

इस संकट की मुख्य विशेषता थी औद्योगिक अति-उत्पादन के साथ-साथ गंभीर कृषि संकट और समस्त वित्त प्रणाली का चरमरा जाना। अनगिनत बैंकों, उद्यमों और फ़र्मों का दिवाला निकल गया। करोड़ों छोटे व्यवसायी तबाह हो गये। बेरोज़गारों की तादाद ३,००,००,००० तक पहुंच गयी। पूंजीवादी विश्व में औद्योगिक उत्पादन ३०-४० प्रतिशत और कुछ देशों में तो इससे भी ज़्यादा, यानी वर्तमान सदी के आरंभ के स्तर तक गिर गया। कॉफ़ी के करोड़ों बोरे समुद्र में फेंक देने पड़े, लाखों टन गेहूं कल-कारख़ानों और रेल इंजनों की भट्ठियों में जला डाला गया, ताकि दाम बढ़ें और इजारेदारियों के मुनाफ़ों का गिरना रोका जा सके। और यह सब

तव, जबकि जीवन-निर्वाह साधनों से वंचित १०,००,००,००० से ज़्यादा मज़दूर और उनके परिवार कंगाली और भुखमरी के कगार पर खड़े थे।

१६२६-१६३३ के आर्थिक संकट के बाद मंदी का लंबा दौर शुरू हुआ, जिसकी जगह १६३७ में फिर नये आर्थिक संकट ने ले ली। बेशक इस वार कुछ पूंजीवादी देश उसकी चपेट में आने से बच गये और वह १६२६-१६३३ के संकट जितना गंभीर भी न था। जर्मनी, जापान और इटली उससे अप्रभावित रहे, क्योंकि उनके उद्योग सरकारी सैनिक आर्डरों से लदे-फंदे थे। युद्ध की तैयारियों ने पूंजीवादी विश्व के सारे ही आर्थिक विकास पर ज़बर्दस्त असर डाला और १६३६ में दूसरा महायुद्ध शुरू हो जाने पर आर्थिक संकट की वृद्धि रुक गयी।

१६२६-१६३३ के संकट के वर्षों में पहले महायुद्ध के विजेताओं और विजितों, साम्राज्यवादी राज्यों और उनके उपनिवेशों और मज़दूरों तथा पूंजीपतियों के परस्पर विरोध सहसा काफ़ी उग्र हो गये थे।

सोवियत संघ की क़ीमत पर संकट से निकास के प्रयास

आर्थिक संकट ने हमारे युग के बुनियादी अंतर्विरोध – पूंजीवाद और समाजवाद के परस्पर विरोध – को भी और उग्र बना दिया था। जहां एक ओर विश्व पूंजीवाद का सारा ढांचा गंभीरता और पैमाने की दृष्टि से अभूतपूर्व आर्थिक संकट के कारण चरमरा उठा था, वहां दूसरी ओर सोवियत संघ नये जीवन के निर्माण के पथ पर दृढ़तापूर्वक और निरंतर आगे ही बढ़ता जा रहा था। सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के क्षेत्र में भी और विदेशनीति के क्षेत्र में भी समाजवाद पूंजीवाद के मुक़ाबले अपनी श्रेष्ठता के नित नये प्रमाण प्रस्तुत कर रहा था। कहना न होगा कि इस सबसे उत्पीड़ित जनों को पूंजीवाद पर हमले बढ़ाने के लिए प्रबल प्रेरणा मिली।

ऐसी हालत में अंतर्राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के सबसे प्रतिगामी तथा आक्रामक तत्त्वों ने सोवियत संघ के विरुद्ध युद्ध छेड़कर आर्थिक संकट से मुक्ति पानी चाही। १६२६-१६३२ में कुछ साम्राज्यवादी राज्यों के शासक हल्क़ों में संयुक्त सशस्त्र हमले के प्रश्न पर सक्रिय रूप से सोचा भी गया। एक के बाद एक करके अनेक सोवियतविरोधी झूठे प्रचार अभियान चलाये गये (जैसे सोवियत संघ द्वारा अपने मालों से पश्चिमी बाज़ार पाट देने – "सोवियत डंपिंग" – के बारे में, "बलात् श्रम" के बारे में, आदि) और सोवियतविरोधी उकसावे तथा आतंकपूर्ण कार्रवाइयां की गयीं (जैसे फ़िनलैंड और फ़्रांस में)।

सोवियत संघ के विरुद्ध यूरोपीय पूंजीवादी देशों का गठबंधन बनाने के प्रयासों में फ़्रांस द्वारा प्रस्तावित "सर्व यूरोप" योजना को विशेष भूमिका प्रदान की गयी। मई, १९३० में फ़्रांसीसी विदेशमंत्री ब्रियां ने २७ देशों के सामने (उनमें सोवियत संघ को शामिल नहीं किया गया था) एक तथा-कथित यूरोपीय संघात्मक राज्य बनाने का प्रस्ताव रखा। योजना के निर्माता सोचते थे कि ऐसे संघात्मक राज्य के निर्माण से जहां यूरोपीय मामलों में फ़्रांस का प्रभाव बढ़ जायेगा, वहां सोवियत संघ का सामना करने के लिए एक "संयुक्त" पूंजीवादी यूरोप भी अस्तित्व में आ जायेगा।

किंतु साम्राज्यवादी शिविर के भीतर मौजूद गहन अंतर्विरोधों के कारण फ़्रांसीसी राजनयज्ञों की योजना अमल में न आ सकी। ब्रिटेन, जर्मनी और इटली उसका समर्थन करने को तैयार न थे, क्योंकि इससे फ़्रांस के हाथ मज़बूत होते। अतः लंबी और निरर्थक बहसों के बाद "सर्व यूरोप" योजना को राष्ट्रसंघ के अभिलेखागार में दफ़न कर दिया गया।

अंतर्राष्ट्रीय स्थिति की गंभीरता और आक्रामक साम्राज्यवादी शक्तियों की बढ़ती सक्रियता को देखते हुए निरस्त्रीकरण की समस्या का सफल समाधान विश्व के लिए काफ़ी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता था और मानवजाति को आसन्न महाविनाश से परित्राण मिल सकता था। किंतु राष्ट्रसंघ द्वारा स्थापित निरस्त्रीकरण सम्मेलन तैयारी समिति ने और इसके बाद स्वयं सम्मेलन ने भी, जिसकी बैठकें जेनेवा में १९३४ तक चलीं, इस अत्यन्त उग्र अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के हल के लिए कुछ न किया।

साम्राज्यवादी राज्य मौखिक रूप से अपने को निरस्त्रीकरण के लिए उद्यत घोषित करने और सम्मेलन में तरह-तरह के प्रस्ताव रखने के बावजूद, जिनका लक्ष्य मानो विचाराधीन समस्या का हल पेश करना था, युद्ध की तैयारी के लिए अपने को ताबड़तोड़ हथियारबंद करने लग गये थे। यही कारण था कि उन्होंने एकमात्र ठोस तथा व्यावहारिक प्रस्तावों का, जिन्हें सोवियत संघ ने रखा था, घोर विरोध किया। साम्राज्यवादी राज्यों के ऐसे रवैये के परिणामस्वरूप निरस्त्रीकरण सम्मेलन कुछ भी हासिल न कर सका।

चीन पर जापान का आक्रमण

इधर जेनेवा में निरस्त्रीकरण का शोरशराबा जारी ही था कि उधर राष्ट्रसंघ के एक सदस्य – जापान – ने चीन के उत्तर-पूर्वी प्रांतों (मंचूरिया) पर अप्रत्याशित रूप से आक्रमण कर दिया, हालांकि उसकी पूरी तरह तैयारी

कर ली गयी थी। इस तरह सितंबर, १९३१ में सुदूर पूर्व में युद्ध का पहला स्रोत उत्पन्न हुआ।

यह संयोग नहीं था कि सबसे पहले जापान ने ही वर्साई-वाशिंगटन प्रणाली को बलात् भंग करने की ठानी थी। आर्थिक संकट और आन्तरिक उथल-पुथलों से बुरी तरह परेशान सैन्यवादी जापान को अपनी कठिनाइयों से संभव निकास युद्ध में दिखायी दिया। जापानी शासक गुट हर प्रकार से जनता के मन में यह बात बिठा रहा था कि कोई बड़ा युद्ध छेड़कर और चीन के व्यापक प्रदेशों पर अधिकार करके ही जापान को आगे विकास करने के अवसर सुलभ हो सकते हैं।

इसके बावजूद कि चीन पर जापान का हमला घोर आक्रामक कार्रवाई और राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा का स्पष्ट उल्लंघन था, राष्ट्रसंघ ने जापान के विरुद्ध किसी भी तरह के प्रतिबंधात्मक क़दम उठाने से इन्कार कर दिया। राष्ट्रसंघ की परिषद तथा अन्य निकायों में चीन-जापान युद्ध विषयक बहस अन्तहीन बकबक बनकर रह गयी, जो इस बात का स्पष्ट प्रमाण था कि जापानी आक्रमण की बाहरी तौर पर निंदा करने के बावजूद ब्रिटेन और फ्रांस, कोई भी जापान के विस्तार में कारगर बाधा डालने का इरादा नहीं रखता था।

पश्चिमी शक्तियों ने ऐसा रवैया इस आशा से अपनाया था कि मंचूरिया पर क़ब्ज़ा कर लेने के बाद जापान उत्तर की तरफ़ बढ़ेगा और सोवियत संघ के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ देगा। ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका के शासक हल्क़े सोचते थे कि चीन के दूर-दूर फैले इलाक़ों में लड़ने और सोवियत संघ के साथ सशस्त्र संघर्ष में उलझने से जापान की शक्ति निःशेष हो जायेगी और तब उसके सामने इसके अलावा और कोई चारा न रहेगा कि अपने अधिक शक्तिशाली साम्राज्यवादी प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा थोपी गयी शर्तों को मान ले।

किंतु जापानी सेना को, जो चीन में काफ़ी अंदर तक घुस आयी थी और उसके एक के बाद दूसरे प्रांत पर अधिकार करती जा रही थी, वाशिंगटन, लंदन और पेरिस की इच्छा पूरी करने की कोई जल्दी न थी। चीन में अमरीकी और ब्रिटिश हितों की पूर्ण उपेक्षा करते हुए उसने उनके नागरिकों की संपत्ति पर क़ब्ज़ा कर लिया और कई को तो गिरफ़्तार करके मारा-पीटा भी। मार्च, १९३३ में जापान ने जेनेवा के "शांतिस्थापकों" के प्रति अपनी घोर नफ़रत का प्रदर्शन करते हुए राष्ट्रसंघ को छोड़ दिया।

जापान में प्रतिक्रिया का उभार और चीन-जापान युद्ध का आरंभ

पश्चिमी राष्ट्रों की मौन सहमति और कुओमिंतांग सरकार की जनता-विरोधी नीति से फ़ायदा उठाते हुए साम्राज्यवादी जापान चीन में अपना अभियान वढ़ाता ही चला गया। कुओमिंतांग सरकार ने जापानी आक्रामकों का लगभग कोई भी प्रतिरोध नहीं किया। जापानी जानते थे कि केवल सोवियत संघ ही उनके चीनी अभियान में यथार्थ वाधा वन सकता है। अतः सोवियत संघ के ख़िलाफ़ युद्ध की योजनाएं भी वनायी गयीं और सोवियत सीमा पर एक वहुत वड़ी सैन्य शक्ति क्वांगतुंग सेना को तैनात कर दिया गया।

स्वयं जापान के भीतर फ़ासिस्टों जैसे सैन्य गुट अधिकाधिक सक्रिय हो रहे थे। उनका लक्ष्य संसद को भंग करके तानाशाही की स्थापना करना और मज़दूर संगठनों को हमेशा-हमेशा के लिए कुचल देना था, जिन्हें "ख़तरनाक विचारों" (ये शब्द घोर सैन्यवादी जनरल अराकी ने गढ़े थे, जो एक ज़माने में जापान का शिक्षामंत्री भी रह चुका था) का मुख्य स्रोत माना जाता था। फ़रवरी, १९३६ में कोदोहा नामक एक सैनिक-फ़ासिस्ट संगठन में शामिल कुछ युवा अफ़सरों ने सत्ता-परिवर्तन का प्रयास किया, जिसमें प्रधानमंत्री और कई अन्य उच्च अधिकारी मारे गये। किंतु इस प्रयास को कुचल दिया गया, क्योंकि उसकी सफलता का मतलव होता वड़े भूस्वामियों के गुट की विजय और इसे शासक वर्ग का दूसरा प्रभावशाली गुट – वड़े औद्योगिक इजारेदारों का गुट – सहन नहीं कर सकता था। इसके वावजूद फ़रवरी के सत्ता-परिवर्तन प्रयास से प्रतिक्रियावादी तत्त्वों, विशेषतः सैन्य गिरोह के हाथ और मज़वूत वने। आनेवाले महीनों में जैसे-जैसे मंत्रिमंडल पर मंत्रिमंडल वदलते गये, वैसे-वैसे सैन्य गिरोह का प्रभाव भी वढ़ता गया: सेना युद्धमंत्री को वापस वुलाकर किसी भी सरकार को गिरा सकती थी, क्योंकि नये क़ानून के अनुसार कोई सेवारत जनरल ही युद्धमंत्री हो सकता था।

सैन्य गुट देश के शासक हल्कों को विदेशनीति के क्षेत्र में नये-नये दुस्साहसिक क़दम उठाने के लिए उकसाता रहा, क्योंकि उसके विचार में देश में वढ़ते सामाजिक अंतर्विरोधों से निवटने का यह भी एक तरीक़ा था। १९३७ में औद्योगिक उद्यमों में विवादों की संख्या काफ़ी वढ़ गयी थी और मज़दूर संघर्ष के अधिकाधिक सक्रिय तरीक़े अपनाने लगे थे। ग्रामीण क्षेत्रों में भी घोर असंतोष व्याप्त था। अप्रैल के संसदीय चुनावों में समाजवादी पार्टी को, जो अव एक वैध संगठन थी, ३७ स्थान मिले थे (पूर्ववर्ती संसद में उसके १९ प्रतिनिधि थे)। इसके अलावा, आर्थिक संकट के लक्षण फिर से



नाज़ियों द्वारा पुस्तकों की होली, बर्लिन (१९३३)

प्रकट होने लग गये थे। इन सब बातों को देखते हुए जापानी साम्राज्यवादियों ने अपने चीन विजय के प्रयासों का पैमाना एकाएक बढ़ा देना ही श्रेयस्कर समझा। ७ जुलाई, १९३७ को पीकिंग के बाहर लुकोऊचियाओ पुल के पास जापानी सैनिकों की चीनी सैनिक टुकड़ियों के साथ एक मुठभेड़ हुई, जिसे शुरू करने में स्वयं जापानियों का ही हाथ था। इसके बाद जापानी सेना चीन के मध्यवर्ती प्रांतों पर भी क़ब्ज़ा करने लग गयी। इस तरह चीन-जापान युद्ध शुरू हुआ, जो आठ साल से अधिक चला।

जर्मनी में
फ़ासिस्टों द्वारा सत्ता पर अधिकार

एशिया में जापान के धृष्टतापूर्ण, नग्न आक्रमण से यूरोप में जर्मन सैन्यवादियों की भी हिम्मत बढ़ गयी। १९२९-१९३३ के विश्वव्यापी आर्थिक संकट से जर्मनी बुरी तरह प्रभावित हुआ था। उसकी अर्थव्यवस्था की लगभग सभी शाखाओं को भारी धक्का पहुंचा था। संकट का सारा बोझ मज़दूरों

और किसानों पर लादने की कोशिश में जर्मन शासक हल्क़ों ने वेतन कटौती, कर वृद्धि, वेरोज़गारों तथा अपाहिजों के भत्तों में कटौती, आदि से संबंधित असाधारण क़ानून पास किये। राजनीतिक अधिकारों और स्वतंत्रताओं पर उत्तरोत्तर पाबंदियां लगायी गयीं। राइख़श्ताग (जर्मन संसद) को उसके अधिकारों व प्रकार्यों से उत्तरोत्तर वंचित करके राजतंत्रवादी राष्ट्रपति हिंडेनबर्ग ने अवैध रूप से उन्हें हथिया लिया।

जर्मन बूर्जुआज़ी की प्रतिक्रियावादी नीतियों को मज़दूरों और किसानों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। इस संघर्ष में मेहनतकशों की अगुआ जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी थी, जिसके नेता एर्न्स्ट थेलमान और विल्हेल्म पीक थे। यद्यपि मज़दूरों का काफ़ी बड़ा भाग अभी भी दक्षिणपंथी सामाजिक-जनवादियों का अनुगमन करता था, जो बूर्जुआ सरकार के साथ सहयोग के पक्ष में थे, फिर भी मेहनतकश जनता के बीच कम्युनिस्टों का प्रभाव बढ़ता ही जा रहा था। १९२८ में राइख़श्ताग के चुनावों में केवल ३२,००,००० लोगों ने कम्युनिस्टों को मत दिया था, जबकि १९३२ के चुनावों में उन्हें कोई ६०,००,००० मत मिले। किंतु इस बीच हिटलर के नेतृत्व में फ़ासिस्ट पार्टी ने भी कहीं अधिक तेज़ी से आम जनता के बीच अपना प्रभाव बढ़ा लिया था। देश की पूंजीवादी इजारेदारियां फ़ासिस्ट पार्टी को एक ऐसी शक्ति के रूप में तैयार कर रही थीं, जिसे सत्ता में बूर्जुआ और सामाजिक-जनवादी पार्टियों का स्थान लेना था, क्योंकि जनता इन पार्टियों की नीतियों से अधिकाधिक निराश होती जा रही थी। बेलगाम लफ़्फ़ाज़ी का इस्तेमाल करते हुए फ़ासिस्टों ने एक ओर तो हर किसी को तरह-तरह के सब्ज़-बाग़ दिखाये और दूसरी ओर अपने राजनीतिक विरोधियों के ख़िलाफ़ ख़ूनी आतंक का दौर शुरू कर दिया।

तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए जर्मन शासक वर्ग जानते थे कि देश में "मज़बूत सरकार" की स्थापना, बूर्जुआ-जनवादी स्वतंत्रताओं का ख़ात्मा और कम्युनिस्ट पार्टी का पूर्ण दमन किये बिना वे अपना लक्ष्य नहीं पा सकते। और यह लक्ष्य था विश्व के पुनर्विभाजन के लिए युद्ध की तैयारी व शुरुआत करना और १९१८ की हार का बदला लेना। १९३२ में फ़ासिस्ट तानाशाही, यानी जर्मन पूंजीपतियों में जो सबसे ज़्यादा प्रतिक्रियावादी और आक्रामक तत्त्व थे, उनके एकछत्र वर्चस्व की स्थापना का अंतिम निर्णय कर लिया गया। सामाजिक-जनवादी पार्टी और ट्रेड यूनियन नेताओं की मज़दूर वर्ग में फूट डालने और उसे फ़ासिज़्म के विरुद्ध संघर्ष से रोकने की नीति की वजह से यह काम और भी आसान बन गया। ३० जनवरी, १९३३ को नेशनल-सोशलिस्ट (नाज़ी) पार्टी सत्ता में आ गयी। देश में रक्तपिपासु नाज़ी तानाशाही की स्थापना हो गयी, जो १२ वर्ष से अधिक चली।

नाज़ियों की
गृह और विदेश नीति

गृहनीति के क्षेत्र में भी और विदेशनीति के क्षेत्र में भी नाज़ियों का राजनीतिक कार्यक्रम घोर प्रतिक्रिया, अत्यंत उग्र अंधराष्ट्रवाद, आक्रमण और युद्ध का कार्यक्रम था। देश के अंदर नाज़ियों ने सभी जनवादी स्वतंत्रताओं को ख़त्म कर दिया, अपनी नाज़ी पार्टी के अलावा कम्युनिस्ट और दूसरी सभी राजनीतिक पार्टियों को तोड़ डाला और सभी प्रगतिशील तत्त्वों को जान से मार डालना शुरू कर दिया। जो भी फ़ासिस्ट विचारों के प्रचार में बाधा डालता था उसे देशनिकाला दे दिया जाता था या ख़त्म कर दिया जाता था। एल्बर्ट आइंस्टाइन, एल० फ़िख़्तवांगेर, टामस मान और एर्नोल्ड ज़्विग जैसे अनेकानेक महानतम जर्मन बुद्धिजीवी और जर्मन संस्कृति के गौरव देश छोड़ने पर बाध्य हुए। बीसवीं सदी के इंक्वीज़िटरों ने देशभर में जर्मन तथा विश्व साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं की होली जलायी।

जर्मनों को "सर्वोच्च जाति" घोषित करके नाज़ियों ने उनका अन्य सभी जातियों को लूटने तथा नष्ट करने के लिए आह्वान किया। उन्होंने समस्त विश्व में जर्मन प्रभुत्व की स्थापना को अपना लक्ष्य उद्घोषित किया। प्रतिशोध युद्ध की तैयारी में ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य पश्चिमी देशों के प्रतिक्रियावादियों का समर्थन पाने के लिए उन्होंने दावा किया कि वे यूरोप को "कम्युनिस्ट ख़तरे" से बचा रहे हैं और यह कि उनकी सैनिक योजनाएं केवल सोवियत संघ के विरुद्ध लक्षित हैं।

इजारेदारियों के हाथ की कठपुतली होने के बावजूद जर्मन फ़ासिस्टों ने अपने को "मेहनतकश लोगों के दोस्त" के रूप में पेश किया, उन्हें पराये देशों पर क़ब्ज़े से मालामाल हो जाने के ख़्वाब दिखाये और कुछ श्रेणियों के मज़दूरों तथा किसानों को तरह-तरह की "बख़्शीशें" दीं। दुर्भाग्यवश, निम्न बूर्जुआजी, किसान और युवा समुदायों का काफ़ी बड़ा हिस्सा और राजनीतिक दृष्टि से सबसे कम प्रबुद्ध मज़दूर फ़ासिस्ट प्रचार के झांसे में आ गये।

पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा
नाज़ी शासन की सहायता

जर्मनी में फ़ासिस्ट तानाशाही की स्थापना और सुदृढ़ीकरण में अमरीकी और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का बहुत बड़ा हाथ था। हम देख चुके हैं कि कैसे वर्साई संधि के तुरंत बाद ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका और

कुछ दूसरे पश्चिमी देशों के शासक हल्क़ों ने जर्मनी की औद्योगिक तथा सैनिक शक्ति के पुनर्निर्माण की नीति अपनायी थी। मिसाल के लिए, १९२४ और १९३० के बीच जर्मनी को कुल मिलाकर २१,००,००,००,००० मार्क के ऋण तथा उधार उपलब्ध करवाये गये थे।

आर्थिक सहायता के साथ-साथ राजनीतिक क्षेत्र में भी जर्मन सैन्यवादियों को कुछ रिआयतें दी जाने लगी थीं। जून, १९३३ में, यानी हिटलर के सत्तारूढ़ होने के कुछ ही महीने बाद ब्रिटेन, फ़्रांस, जर्मनी और इटली, इन चार देशों ने एक मतैक्य तथा सहयोग अनुबंध पर हस्ताक्षर किये। यद्यपि इस चार-शक्ति अनुबंध की कभी संपुष्टि न हो पायी और इसलिए वह लागू भी न हो सका, उसका संपन्न किया जाना ही ख़तरनाक अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े शुरू करने की जर्मन नाज़ियों और इतालवी फ़ासिस्टों की नीति को बढ़ावा देने के लिए काफ़ी था। अक्तूबर, १९३३ में जर्मनी ने राष्ट्रसंघ छोड़ दिया और प्रतिशोध युद्ध की तैयारियों में जुट गया। इस तरह यूरोप के ठीक मध्य में दूसरी बार युद्ध का नाभिक पैदा हुआ। अपने वास्तविक लक्ष्यों पर परदा डालने की कोशिश में जर्मन शासक दुनिया के सामने दावा करते रहे कि उन्हें कम्युनिज़्म से लड़ना है। किंतु विश्व में सर्वत्र लोग अनुभव करने लग गये थे कि नाज़ियों का असली लक्ष्य तो यूरोप और समस्त विश्व पर जर्मन प्रभुत्व की स्थापना करना है।

नाज़ियों के इस आक्रामक, पराये प्रदेशों पर क़ब्ज़ा करने के कार्यक्रम में सोवियत संघ ही नहीं, फ़्रांस, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य पश्चिमी देशों के विरुद्ध भी युद्ध छेड़ना शामिल था। ऐसी स्थिति में अपने देश के राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए फ़्रांस के अनेक प्रमुख राजनीतिक नेताओं और मुख्यत: विदेशमंत्री एल० बार्तू ने नाज़ी आक्रमण के ख़तरे का सामना करने के लिए शांतिप्रेमी देशों का संयुक्त मोर्चा बनाने का सुझाव रखा। बार्तू का यह सोचना ठीक ही था कि सोवियत संघ की सहभागिता के बिना इस ख़तरे का कारगर मुक़ाबला नहीं किया जा सकता। अत: सितंबर, १९३४ में राष्ट्रसंघ के ३० सदस्य देशों ने सोवियत संघ को राष्ट्रसंघ में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया। इस आशा से कि इस तरह शांति और सुदृढ़ होगी, सोवियत संघ ने आमंत्रण स्वीकार कर लिया और १८ सितंबर को वह अधिकृत तौर पर राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। सोवियत संघ के साथ मिलकर बार्तू ने भी भरसक कोशिश की कि परस्पर सहायता का एक पूर्वी यूरोपीय अनुबंध हो जाये, क्योंकि वह सामूहिक सुरक्षा प्रणाली की स्थापना की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण क़दम हो सकता था। इस अनुबंध में मध्य तथा पूर्वी यूरोप के सभी देशों और फ़्रांस को शामिल होना था, किंतु ब्रिटेन के दोरंगे रवैये और नाज़ी जर्मनी के विरोध के कारण वह संपन्न न हो पाया।

फ़ांस और दूसरे देशों में फ़ासिज़्मविरोधी जन मोर्चों की स्थापना

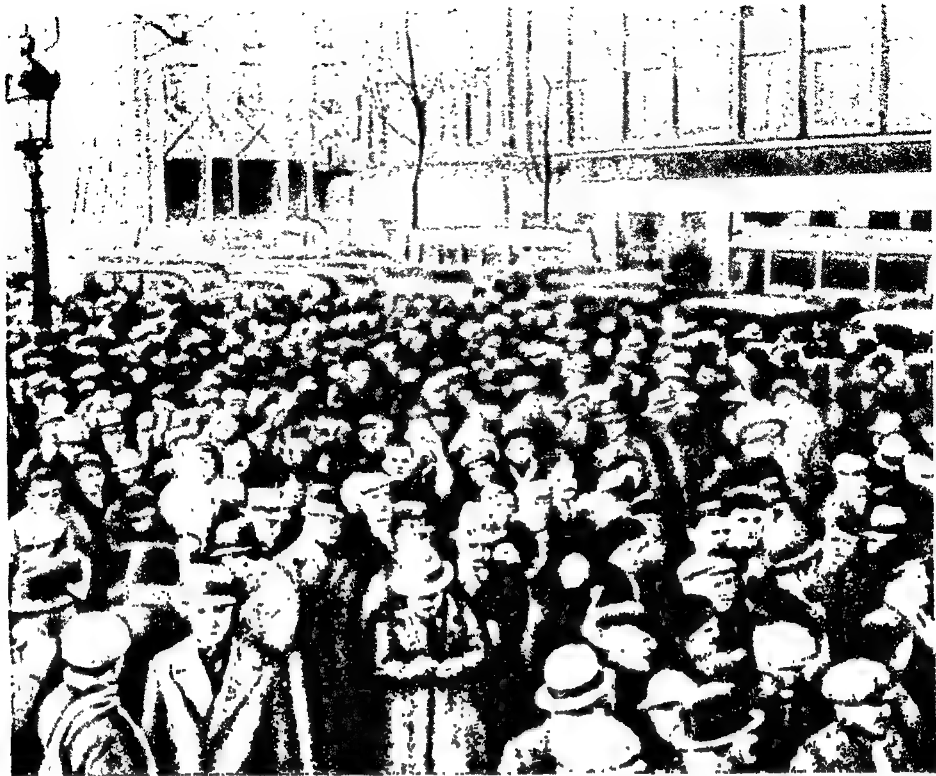
१९३३ में जर्मनी में नाज़ियों की विजय और उसके बाद फ़ासिस्ट आतंक का जो अपूर्व तांडव होने लगा, उनसे सारे ही विश्व में प्रतिक्रिया, अंधकार, अंधराष्ट्रवाद और युद्ध की शक्तियों को नया जीवन मिल गया। लगभग सभी पूंजीवादी देशों में फ़ासिज़्म सिर उठाने लगा और कुछ में तो उसने सत्ता हथियाने की तैयारियां भी शुरू कर दीं।

फ़ासिज़्म समस्त विश्व की जनता के लिए विकराल खतरा था। उसका मतलब था सभी जनवादी स्वतंत्रताओं का खात्मा, अपने दीर्घ संघर्ष के फलस्वरूप मेहनतकशों द्वारा प्राप्त सामाजिक और राजनीतिक उपलब्धियों का विनाश, गुलामी, नैतिक पतन और अत्यंत क्रूर तानाशाही। फ़ासिज़्म का मतलब था मुट्ठीभर साम्राज्यवादियों को और मालामाल बनाने के लिए देश के अंदर आतंक और प्रतिक्रिया को खुली छूट और देश के बाहर पराये क्षेत्रों पर क़ब्ज़े तथा लूटपाट के लिए युद्ध। फ़ासिज़्म का प्रसार सारी मानवजाति, सारी सभ्यता के लिए घातक था।

ऐसी स्थिति में सच्चे जनवादी और वे सभी लोग जिन्हें अपने देश की स्वाधीनता प्रिय थी, समझ गये कि फ़ासिज़्म के प्रसार को रोकने के लिए एकताबद्ध होना, मिल-जुलकर उसका मुक़ाबला करना बहुत ज़रूरी है। मज़दूर वर्ग और उसका अगुआ कम्युनिस्ट पार्टियां इस फ़ासिज़्मविरोधी आंदोलन की मुख्य प्रहारक और संगठनकर्ता शक्ति बने।

फ़ांस में फ़ासिस्ट और फ़ासिज़्मविरोधी शक्तियों की बहुत ही ज़बर्दस्त टक्करें हुई। नाज़ी गुंडों की सफलताओं से प्रोत्साहन पाकर फ़्रांसीसी फासिस्ट भी खुले आम मैदान में उतर आये थे। ६ फ़रवरी, १९३४ को उनके सशस्त्र दस्तों ने पेरिस की सड़कों पर जलूस निकाला। अपने को रेडिकल कहनेवाले दलादिये की सरकार ने उसके प्रति ढुलमुल रवैया अपनाया, किंतु फ़्रांसीसी सर्वहारा – कम्युनिस्टों और समाजवादियों – ने चुनौती स्वीकार की और फ़ासिस्टों को पीछे हटने पर मजबूर किया। ९ और १२ फ़रवरी को सारे फ़ांस में फ़ासिज़्म के विरोध में ज़बर्दस्त हड़तालें और प्रदर्शन हुए। उन दिनों पहले तो स्वतःस्फूर्त ढंग से और फिर पूर्ण चेतना के साथ मज़दूर वर्ग फ़ासिज़्म से लोहा लेने के लिए एकताबद्ध हुआ था। फ़्रांसीसी कम्युनिस्टों ने उन दिनों की इस उपलब्धि को सुरक्षित व सुदृढ़ बनाने के लिए बहुत कुछ किया था।

जर्मनी में फ़ासिज़्म की विजय काफ़ी हद तक इसलिए हुई थी कि मज़दूर वर्ग की क़तारों में एकता का अभाव था और इसके फलस्वरूप अन्य जनवादी शक्तियों के साथ सर्वहारा के संबंध भी शिथिल पड़ गये थे। फ़ांस में जर्मनी



पेरिस में फ़ासिज़्मविरोधी प्रदर्शन (१२ फ़रवरी, १६३४)

की घटनाओं से समुचित सवक़ लिया गया। फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी, जिसका नेता मारिस थोरेज़ था, मज़दूर वर्ग की आपसी फूट को ख़त्म कर २७ जून, १६३४ को समाजवादी पार्टी के साथ कार्य-एकता के बारे में समझौते पर पहुंचने में सफल रही। इस प्रकार फ़ासिज़्मविरोधी संयुक्त मोर्चे की नींव पड़ी।

शीघ्र ही मज़दूर वर्ग का यह संयुक्त मोर्चा फ़ासिज़्म और युद्ध के विरुद्ध एक राष्ट्रव्यापी जन मोर्चे का नाभिक और आधारशिला वन गया। उसकी स्थापना में भी पहल फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी ने की थी। स्वतंत्रता, जनवादी अधिकारों और शांति के नाम पर कम्युनिस्ट, समाजवादी तथा रेडिकल पार्टियां, ट्रेड यूनियनें, विभिन्न जनवादी व फ़ासिज़्मविरोधी संगठन और उनके अनुयायी मेहनतकश, वुद्धिजीवी और निम्न वूर्जुआज़ी इस जन मोर्चे में शामिल हुए।

१४ जुलाई, १६३५ को पेरिस में जन मोर्चे ने एक विराट प्रदर्शन का आयोजन किया। उसमें सवसे आगे-आगे एक दूसरे का हाथ पकड़े कम्युनिस्ट,

समाजवादी और रेडिकल समाजवादी नेता चल रहे थे और जनवादमना पेरिस-वासियों की विशाल भीड़ उनका अनुगमन कर रही थी। फ़्रांस के फ़ासिज़्म-विरोधी जन मोर्चे ने सिद्ध कर दिखाया कि मज़दूर वर्ग में एका होने पर जनता चरम प्रतिक्रिया की शक्तियों की राह में दीवार बनकर खड़ी हो सकती है।

जुलाई, १६३४ में इटली में भी कम्युनिस्ट और समाजवादी पार्टियों ने कार्य-एकता संबंधी एक समझौते पर हस्ताक्षर किये।

१६३५ में २५ जुलाई से २५ अगस्त तक कोमिंटर्न की सातवीं कांग्रेस हुई, जिसके निर्णयों ने फ़ासिज़्मविरोधी जन संघर्ष के विकास में अत्यंत महत्त्व-पूर्ण भूमिका निभायी। कांग्रेस में बुल्गारियाई कम्युनिस्ट नेता और निर्भीक फ़ासिज़्मविरोधी योद्धा गिओर्गी दिमीत्रोव ने मुख्य रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने फ़ासिज़्म और युद्ध के खतरे के विरुद्ध संघर्ष के व्यापक और काफ़ी हद तक नये कार्यभारों पर प्रकाश डाला। जर्मनी में फ़ासिस्टों की विजय और फ़्रांस के फ़ासिज़्मविरोधी संघर्ष के सबक़ों को ध्यान में रखते हुए कोमिंटर्न की सातवीं कांग्रेस ने सभी कम्युनिस्ट पार्टियों के समक्ष सर्वत्र सर्वहारा का संयुक्त मोर्चा बनाने और इस मोर्चे के आधार पर लाखों-करोड़ों मेहनतकशों तथा मध्यवर्गीय लोगों का व्यापक फ़ासिज़्मविरोधी जन मोर्चा संगठित करने का तात्कालिक लक्ष्य रखा।

इसके बाद की घटनाओं ने शीघ्र ही कोमिंटर्न की सातवीं कांग्रेस के निर्णयों के सही होने की पुष्टि कर दी। फ़्रांस में १६३६ के वसंत में हुए संसदीय चुनावों में जन मोर्चे से संबद्ध पार्टियों ने ५४ प्रतिशत स्थान प्राप्त करके अपनी शानदार विजय का प्रमाण दिया। १६३६ के आरंभ में स्पेन में भी कम्युनिस्ट पार्टी की पहल पर वामपंथी जनवादी पार्टियों और मज़दूर संगठनों का जन मोर्चा बना और एतद्संबंधी समझौते पर हस्ताक्षर हुए। फ़रवरी, १६३६ के संसदीय चुनावों में इस मोर्चे को निर्णायक विजय प्राप्त हुई, जिससे स्पेनी और अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियावादी तत्त्व बेहद बौखला उठे।

चीन में १६३६-१६३७ में कम्युनिस्ट पार्टी के प्रयासों से एक संयुक्त जापानविरोधी राष्ट्रीय मोर्चा अस्तित्व में आया। १६३६ में जन मोर्चा आंदोलन चिली में भी आरंभ हुआ, जिसने जल्दी ही काफ़ी सफलताएं पा लीं। सभी प्रगतिशील शक्तियों को एकताबद्ध करने के आंदोलन अन्य लैटिन अमरीकी देशों में भी शुरू हुए, हालांकि कई स्थानों पर उनके मुक़ाबले प्रतिक्रियावादी शक्तियों का ही पलड़ा भारी बना रहा।

फ़ासिज़्मविरोधी भावनाएं ऐसे देशों में भी जोर पकड़ती गयीं, जहां फ़्रांस या स्पेन जैसे जन मोर्चे क़ायम नहीं हो पाये थे। इसकी एक मिसाल ग्रेट ब्रिटेन था। १६३४ के अंत में हुए एक शांति मतसंग्रह के अनुसार, जिसमें १,१५,००,००० लोगों ने भाग लिया था, ब्रिटेन की जनता का भारी बहुमत



गेओर्गी दिमीत्रोव कोमिंटर्न की सातवीं
कांग्रेस में भाषण करते हुए (१६३५).

शांति तथा सामूहिक सुरक्षा की नीति के पक्ष में, आक्रामकों के विरुद्ध कार्य-एकता के पक्ष में था।

यदि सोवियत संघ तथा फ़्रांस और सोवियत संघ तथा चेकोस्लोवाकिया के बीच मई, १९३५ में हुई परस्पर सहायता संधियों पर अमल किया जाता, तो यूरोप में फ़ासिस्ट आक्रमण के मार्ग में भारी अवरोध खड़ा हो सकता था किंतु फ़्रांसीसी और चेकोस्लोवाक नीति-निर्माताओं के भीतरघात की वजह से ऐसा न हो पाया और इस तरह शांति के ध्येय को भीषण क्षति पहुंची।

संयुक्त राज्य अमरीका की "नयी नीति"

संयुक्त राज्य अमरीका में कई वर्षों के अंतराल के बाद १९३३ में डेमोक्रेटिक पार्टी पुनः सत्तारूढ़ हो गयी थी। ऐसा रिपब्लिकन पार्टी की पूर्ण विफलता के कारण ही हुआ था, जिसने संयुक्त राज्य अमरीका की तथाकथित समृद्धि का बड़े ज़ोर-शोर से ढिंढोरा पीटा था – उसी "समृद्धि" का, जिसे आर्थिक संकट के वर्षों में अनगिनत अमरीकियों को अपनी गिरफ़्त में लेनेवाली विकराल ग़रीबी, १,६०,००,००० लोगों की बेरोज़गारी और लाखों फ़ार्मरों को दिवालिया बना देनेवाली तबाही में बदलते देर न लगी। डेमोक्रेटिक पार्टी के उम्मीदवार फ़्रेंकलिन रूज़वेल्ट को राष्ट्रपति इसलिए चुना गया था कि उसने सरकारी नीति में परिवर्तन की आवश्यकता को देखा था और उसके लिए आवाज़ उठायी थी। अमरीकी पूंजीवाद बहुत कठिन दौर से गुज़र रहा था और बूर्जुआज़ी को डर था कि निराशाग्रस्त आम जनता अपनी कार्रवाइयों से कहीं उसके प्रभुत्व को ही चुनौती न दे बैठे। रूज़वेल्ट दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था और उसने स्थिति को दूसरों से पहले ही भांप लिया था। राष्ट्रपति पद संभालते ही उसने कुछ ऐसे क़दम उठाने शुरू किये, जो इतिहास में "नयी नीति" (न्यू डील) के नाम से विज्ञात हैं। इनमें मेहनतकशों को कुछ रिआयतें दिया जाना, बेरोज़गारी और कृषि संकट अंशतः ख़त्म करने के लिए बड़े पैमाने पर सार्वजनिक निर्माण कार्य हाथ में लेना, वग़ैरह शामिल थे।

अमरीकी इजारेदार पूंजी से संबद्ध कुछ हल्क़ों ने रूज़वेल्ट की नीतियों का घोर विरोध किया। संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने इन हल्क़ों का साथ देते हुए कांग्रेस द्वारा पास किये गये अनेक नये क़ानूनों को रद्द कर दिया।

किंतु अमरीकी मजदूर वर्ग आश्वासनों से ही संतोष नहीं कर सकता था। चौथे दशक के उत्तरार्ध में सारे देश में हड़तालों की लहर दौड़ गयी।



न्यूयार्क में फ़ासिज़्मविरोधी प्रदर्शन (१९३४)

अमरीकी ट्रेड यूनियन आंदोलन अधिकाधिक वामोन्मुख होता गया। ट्रेड यूनियनों के एक महासंघ, जिसका नाम पहले औद्योगिक संगठन समिति (कमिटी फ़ार इंडस्ट्रियल आर्गेनाइज़ेशंस) और फिर औद्योगिक संगठन कांग्रेस (कांग्रेस आफ़ इंडस्ट्रियल आर्गेनाइज़ेशंस) रखा गया, की स्थापना इसी प्रवृत्ति की परिचायक थी। यह मज़दूर वर्ग के सबसे अधिक शोषित तबक़ों का संगठन था। मेहनतकशों की बढ़ती कार्रवाइयों ने शासक हल्क़ों को मज़दूर वर्ग की मांगें – वेतन वृद्धि, सामाजिक बीमा, आदि – मानने पर मजबूर किया। फलस्वरूप रूज़वेल्ट की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। १९३६ में वह दूसरी बार राष्ट्रपति चुना गया और इसके बाद १९४० और १९४४ में भी पुन. इस पद पर निर्वाचित हुआ, जो कि सारे अमरीकी इतिहास में एक अभूतपूर्व बात थी। उसे देश के प्रगतिशील तत्त्वों का समर्थन प्राप्त था, यद्यपि वे उसके कुछ क़दमों के अधूरेपन की, उसकी प्रतिक्रियावादी इजारेदारों के साथ संबंध बिगाड़ने से बचने की इच्छा की आलोचना भी करते थे।

प्रगतिशील तत्त्वों ने रूज़वेल्ट की विदेशनीति की विशेषतः कटु आलोचना की। बेशक इस क्षेत्र में भी राष्ट्रपति ने अपने को काफ़ी कुछ यथार्थवादी दिखाया था, जैसे यह कि १९३३ में उसने सोवियत संघ के साथ राजनयिक संबंध स्थापित किये, जिनका निलंबन संयुक्त राज्य अमरीका के लिए आर्थिक संकट के वर्षों में स्पष्टतः हानिकर सिद्ध हुआ था। किंतु फ़ासिस्ट आक्रमण के सवाल पर, जो कि चौथे दशक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय सवाल था, संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने बहुत कुछ ब्रिटेन और फ़्रांस जैसी नीति ही अपनायी, जिन्होंने फ़ासिस्टों की डाकुओं जैसी हरकतों को देखकर भी अनदेखा किया हुआ था। अमरीकी शासक हल्क़ों का ऐसा रवैया उन लाखों-करोड़ों अमरीकी नागरिकों के लिए प्रत्यक्ष चुनौती था, जो आक्रमण रुकवाने के लिए कृतसंकल्प थे और संयुक्त राज्य अमरीका में फ़ासिज़्मविरोधी जन मोर्चा बनाने के लिए आंदोलन चला रहे थे। इस आंदोलन में सबसे आगे-आगे अमरीकी कम्युनिस्ट पार्टी थी, जिसकी सदस्य-संख्या उन वर्षों में १,००,००० तक पहुंच चुकी थी।

युद्ध के ख़तरे में वृद्धि और तुष्टीकरण की नीति

अक्तूबर, १९३४ में फ़ासिस्ट एजेंटों द्वारा फ़्रांसीसी विदेशमंत्री बार्तू की निर्मम हत्या से पश्चिमी देशों के सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी हल्क़ों के लिए अन्य देशों व जनों की बलि चढ़ाकर फ़ासिस्ट आक्रामकों के साथ सांठगांठ कर लेना कहीं आसान हो गया था।



अदीस-अवावा में स्वयंसेवकों की हथियारबंदी (१९३५)

ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस और उनके पीठ पीछे खड़े संयुक्त राज्य अमरीका, इन तीनों में से किसी ने भी जर्मनी की ऐसी इकतरफ़ा कार्रवाइयों को रोकने के लिए कोई क़दम न उठाया, जैसे मार्च, १९३५ में अनिवार्य सैनिक सेवा क़ानून लागू करना; मार्च, १९३६ में राइन के दोनों तटों के विसैन्यीकृत क्षेत्र पर, जो फ़्रांस पर जर्मनी के अकस्मात हमले के ख़िलाफ़ कुछ हद तक गारंटी का काम करता था, जर्मन सेनाओं द्वारा क़ब्ज़ा जमा लेना; और वर्साई संधि द्वारा लगायी गयी पाबंदियों को तोड़ने के लिए की गयी अन्य कार्रवाइयां। उन्होंने अधिक से अधिक यही किया कि बर्लिन को विरोधपत्र भेजे, जिनकी नाज़ी नेताओं द्वारा पूरी तरह अवहेलना कर दी गयी। जून, १९३५ में ब्रिटिश सरकार ने जर्मनी के साथ एक नौसैनिक समझौता करके जर्मन नौसैनिक शक्ति के पुनर्जन्म को सरकारी तौर पर मान्यता दे दी। ब्रिटेन और फ़्रांस को अंतर्राष्ट्रीय संधियों के उल्लंघनों को इस प्रकार अनदेखा करते और यहां तक कि फ़ासिस्ट आक्रामकों को प्रोत्साहन देते देखकर इटली का भी इथियोपिया पर हमले के लिए हौसला बंध गया। अक्तूबर, १९३५ में मुसोलिनी ने इथियोपिया पर आक्रमण कर दिया। यह राष्ट्रसंघ के एक सदस्य देश द्वारा दूसरे सदस्य देश को लूटने, उसके क्षेत्र पर अधिकार करने

के लिए छेड़ा गया युद्ध था और जनमत के दबाव में आकर राष्ट्रसंघ को इटली को आक्रामक घोषित करना पड़ा। किंतु कोई भी कारगर सामूहिक क़दम फिर नही उठाया गया, हालांकि सोवियत संघ ने इस संबंध में एक प्रस्ताव भी रखा था। अपने टैंकों, हवाई जहाज़ों और दूसरे श्रेष्ठ हथियारों के बल पर १९३६ में इटली ने इथियोपिया पर क़ब्ज़ा कर लिया।

स्पेन का गृहयुद्ध

फ़ासिस्ट शक्तियों की महत्त्वाकांक्षाएं और सत्तालिप्सा कुलांचें भरती बढ़ती ही जा रही थी। १९३६ के ग्रीष्म में जनरल फ़्रेंको के नेतृत्व में स्पेनी प्रतिक्रियावादियों ने देश की वैध जन मोर्चा सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह छेड़ दिया और इस तरह गृहयुद्ध की शुरुआत कर दी। जर्मन और इतालवी फ़ासिस्टों ने उसमें हस्तक्षेप करने में देर न की और विद्रोहियों की सहायतार्थ अपनी सैनिक टुकड़ियां, टैंक, विमान और युद्धपोत भेजे। जर्मन-इतालवी हस्तक्षेप के उत्तरोत्तर व्यापक बनते जाने के बावजूद पश्चिमी राष्ट्रों और यथार्थत उनके नियंत्रण में स्थित राष्ट्रसंघ ने आंतरिक और विदेशी शत्रुओं के विरुद्ध स्पेनी जनता के भीषण तथा रक्तपातपूर्ण संघर्ष की सहायता के लिए कोई ठोस क़दम न उठाया। उल्टे, आंग्ल-फ़्रांसीसी तत्त्वावधान में स्थापित अहस्तक्षेप समिति ने व्यावहारिकतः एक ऐसे परदे का ही काम किया, जिसकी आड़ में जर्मन और इतालवी फ़ासिस्ट स्पेनी गणराज्य के विरुद्ध अपना हस्तक्षेप निर्बाध जारी रख सकते थे।

स्पेनी जनता का राष्ट्रीय क्रांतिकारी युद्ध उसके और सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के इतिहास का एक सबसे गौरवमय पृष्ठ है। सारे विश्व के प्रगतिशील तत्त्व स्पेनी गणराज्य की सहायता के लिए उठ खड़े हुए। दर्जनों देशों से स्वयंसेवकों ने आकर कई अंतर्राष्ट्रीय ब्रिगेड़ें बनायीं और विद्रोही तथा हस्तक्षेपकारी दरिंदों की उत्कृष्टतर संयुक्त सेनाओं का मुक़ाबला करने में स्पेनी गणराज्य के सैनिकों का साथ दिया। शरद, १९३६ के शत्रु आक्रमण को विफल बनाने में और बाद की भी कई लड़ाइयों में उनका योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। स्पेनी जनता को सोवियत संघ से शस्त्रों और लोगों के रूप में काफ़ी मदद मिली।

विश्व की प्रगतिशील शक्तियों की सहायता व समर्थन और मुख्यतः लाखों स्पेनियों के शौर्य की बदौलत गणतांत्रिक स्पेन अत्यंत विपरीत परिस्थितियों में भी ढाई वर्ष से ज़्यादा समय तक फ़ासिस्ट चुनौती का सामना करता और उससे लोहा लेता रहा। फ़ासिज़्मविरोधी इस संघर्ष की मुख्य

प्रेरक शक्ति स्पेन की कम्युनिस्ट पार्टी और उसके नेता होसे दियाज़ तथा दोलोरेस इवारूरी थे। गणतांत्रिक सरकार के अंतर्गत स्पेन में दूरगामी सामाजिक परिवर्तन लाये गये थे और मेहनतकश जनता अब देश के शासन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगी थी। जनरल फ़्रेंको के अनुयायियों और फ़ासिस्ट अतिक्रमणकारियों का, जिन्हें ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका के शासक हल्क़ों से मूक समर्थन मिल रहा था, लक्ष्य स्पेनी जनता की इन्हीं उपलब्धियों पर पानी फेरना था। उनके संयुक्त प्रयासों से अन्ततः स्पेनी गणराज्य कुचल डाला गया। अप्रैल, १६३६ में देशद्रोही षड्यंत्रकारियों द्वारा अंदर से नगर-द्वार खोल दिये जाने पर फ़ासिस्ट सेनाएं मेड्रिड में घुस आयीं।

फ़ासिस्ट आक्रामकों का गठबंधन और पश्चिमी राष्ट्रों की फ़ासिस्ट गुट से समझौते की कोशिशें

यह देखकर कि आक्रामक कार्रवाइयों के लिए उन्हें कोई सज़ा नहीं मिलेगी, जर्मनी, इटली और जापान ने अपनी शक्तियों को एकजुट कर लिया। १६३६-१६३७ में फ़ासिस्ट राज्यों का गठबंधन खुले आम अस्तित्व में आ गया – पहले बर्लिन-रोम धुरी और फिर बर्लिन-रोम-तोकियो त्रिकोण के रूप में। इस आक्रामक गुट में प्रमुख भूमिका जर्मनी को प्राप्त थी। इसके बाद सभी घटनाओं में एक निश्चित क्रम देखा जा सकता था: एक "बड़े युद्ध" की तैयारियों में तेज़ी लाते हुए फ़ासिस्ट शक्तियां यूरोप, एशिया और अफ़्रीका में ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका पर एक के बाद एक चोट करती रहीं, पर अपनी आंखों पर सोवियत संघ के प्रति वर्गीय घृणा की पट्टी बांधे इन देशों की सरकारें विश्वास करती रहीं कि सोवियत संघ के रास्ते में पड़नेवाले छोटे राज्यों को हड़पकर जर्मनी फिर केवल उसी के विरुद्ध लड़ेगा।

मई, १६३७ में नेविल चैम्बरलेन ग्रेट ब्रिटेन का प्रधानमंत्री बना। कंसर्वेटिव पार्टी और सरकार का यह नया नेता आंग्ल-जर्मन सहयोग का परम समर्थक था। चैम्बरलेन सरकार के सत्तारूढ़ होने का मतलब यह था कि ब्रिटिश शासक हल्क़े अब फ़ासिस्ट राज्यों के साथ शीघ्रातिशीघ्र व्यापक समझौते पर पहुंचना चाहेंगे, ताकि नाज़ी आक्रमण का रुख़ पूर्व की ओर मोड़ा जा सके। इस नीति को संयुक्त राज्य अमरीका, फ़्रांस और अन्य पश्चिमी देशों के तत्कालीन कर्णधारों का भी समर्थन प्राप्त था। नवंबर, १६३७ में चैम्बरलेन का एक घनिष्ठ सहयोगी लॉर्ड हैलीफ़ैक्स हिटलर के साथ वार्ताओं



मेड्रिड की जन मिलीशिया का दस्ता मोर्चे पर जाते हुए (१९३६)

बार्सेलोना में सोवियत जहाज़ का आगमन (१९३६)



म्यूनिक करार के विरोध में एक आम सभा, लंदन (१९३८)

के लिए जर्मनी गया। मुलाक़ात के दौरान उसने हिटलर को इस बात का स्पष्ट संकेत दे दिया कि ब्रिटेन जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया और दान्ज़िग के "अधिग्रहण" पर कोई आपत्ति नहीं करेगा।

हिटलर द्वारा आस्ट्रिया पर क़ब्ज़ा और चेकोस्लोवाकिया का विभाजन: म्यूनिक सौदा

नयी आक्रामक कार्रवाइयों के लिए पश्चिमी राज्यों के शासक हल्क़ों से इस प्रकार प्रोत्साहन पाकर मार्च, १९३८ में नाज़ियों ने आस्ट्रिया पर क़ब्ज़ा कर लिया और चेकोस्लोवाकिया के क़ब्ज़े की तैयारियां शुरू कर दीं। चेकोस्लोवाकिया से झगड़ा मोल लेने के लिए उन्होंने दावा किया कि वे वहां रहनेवाले जर्मन अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा कर रहे हैं, जबकि असली उद्देश्य औद्योगिक दृष्टि से विकसित तथा रणनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सुदेतेन प्रदेश को जर्मनी में मिला लेना और चेकोस्लोवाकिया का विभाजन करके उसे अपने आधीन करना था। इस झगड़े में ब्रिटेन और फ़्रांस ने शुरू से ही जर्मन सैन्यवादियों की महत्त्वाकांक्षाओं का लगभग बिलाशर्त समर्थन किया।

चेकोस्लोवाकिया पर निरंतर दबाव डालकर और उसके नेताओं के समर्पणवादी रवैये का फ़ायदा उठाकर चैम्बरलेन और दलादिये उस देश से एक के बाद एक रिआयत ऐंठते गये। किंतु नाज़ी हुक्मरानों के वास्ते यह काफ़ी न था। २९ और ३० सितंबर, १९३८ को म्यूनिक (म्यूंख़ेन) में चैम्बरलेन और दलादिये की हिटलर और मुसोलिनी के साथ मुलाक़ात हुई, जिसने चेकोस्लोवाकिया के भाग्य का निर्णय कर दिया। म्यूनिक सौदे के परिणामस्वरूप चेकोस्लोवाकिया का विभाजन करके कुछ महत्त्वपूर्ण इलाक़े जर्मनी को दे दिये गये। इस प्रकार यह निश्चित सा बन गया कि नाज़ी सारे चेकोस्लोवाकिया पर क़ब्ज़ा कर लेंगे। वस्तुतः छह महीने बाद ऐसा हो भी गया। किंतु म्यूनिक सौदा चेकोस्लोवाकिया हिटलर को सौंप देने तक ही सीमित न था। ३० सितंबर को ब्रिटेन और जर्मनी ने एक परस्पर अनाक्रमण घोषणा पर भी हस्ताक्षर कर दिये। उसी वर्ष दिसंबर में फ़्रांस और जर्मनी ने भी ऐसी एक घोषणा पर हस्ताक्षर किये।

म्यूनिक के बाद
साम्राज्यवादी राष्ट्रों की नीति

म्यूनिक में हस्ताक्षरित समझौते और दस्तावेज़ दो महायुद्धों के बीच की सारी अवधि में पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा अनुसृत विदेशनीति के पराकाष्ठा बिंदु के द्योतक थे। उनके ज़रिये पश्चिमी शक्तियां जर्मनी को सोवियत संघ पर आक्रमण के लिए उकसाना चाहती थीं। ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका के शासक हल्क़े अपने इस विश्वास को छिपाते भी न थे कि सोवियत संघ चूंकि विशाल देश है, अतः उसके विरुद्ध युद्ध शुरू करके जर्मनी उसमें बुरी तरह उलझ जायेगा, अपने सैनिक तथा आर्थिक संसाधन निःशेष कर बैठेगा और इस तरह पश्चिमी ताक़तों के लिए खतरा नहीं रह जायेगा।

म्यूनिक सौदा पश्चिमी जर्मनी और धुरी राष्ट्रों को तुष्ट करने, उनके साथ सांठगांठ करने की दिशा में एक सबसे महत्त्वपूर्ण क़दम था। किंतु इसके बाद भी इस घातक नीति को छोड़ा नहीं गया। वह ३० सितंबर, १९३८ के बाद भी जारी रही और उसकी महत्त्वपूर्ण मंजिलें थीं: स्पेनी गणराज्य को कुचलने के लिए जर्मन और इतालवी आक्रमकों के साथ सांठगांठ (मार्च, १९३९ में स्पेनी गणराज्य को पूरी तरह कुचल डाला गया); नाज़ियों द्वारा समस्त चेकोस्लोवाकिया पर क़ब्ज़े को मौन समर्थन (मार्च, १९३९); अल्बानिया पर इतालवी फ़ासिस्टों का अधिकार (अप्रैल, १९३९); और व्यापक राजनीतिक तथा आर्थिक समझौते एवं प्रभाव क्षेत्रों के विभाजन के

लिए ब्रिटिश तथा जर्मन सरकारों के बीच गुप्त वार्ताएं (ग्रीष्म, १६३६)।

१६३८ और १६३६ में फ़ासिस्ट आक्रमण के निर्बाध विस्तार और फ़ासिस्टों की नित नयी सफलताओं का नतीजा यह निकला कि यूरोपीय और विश्व शक्ति संतुलन में फ़ासिस्टों का पलड़ा काफ़ी भारी हो गया। स्वाभाविकतः इससे स्वयं पश्चिमी देशों के जनमत में चिंता की लहर दौड़ गयी। ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका में प्रभावशाली समाचारपत्रों, कई प्रमुख बूर्जुआ राजनीतिज्ञों और सैनिक अधिकारियों ने तुष्टीकरण और सांठगांठ की नीति की कटु आलोचना की। ब्रिटिश तथा फ़्रांसीसी सरकारें इस जन विक्षोभ की उपेक्षा नहीं कर सकती थीं। इसके अलावा वे यह भी देख ही रही थीं कि फ़ासिस्ट राष्ट्र सारे विश्व में उनकी स्थितियों पर लगातार चोटें करते जा रहे हैं, नयी-नयी मंडियों पर क़ब्ज़ा कर रहे हैं और उनके बहुत से उपनिवेशों पर गिद्धदृष्टि लगाये बैठे हैं। भावी आक्रमणों और क़ब्ज़ों के लिए ज़मीन तैयार करने की कोशिश में फ़ासिस्ट गुट बीसियों देशों में अपने ख़ुफ़िया एजेंटों का जाल बिछा रहा था (स्पेनी गृहयुद्ध तथा हस्तक्षेप के दिनों से ऐसे एजेंट फ़िफ़्थ कालम, यानी पंचमांगी कहलाये जाने लगे थे)। ब्रिटेन तथा फ़्रांस के साम्राज्यवादी हितों और स्वतंत्र राज्यों के रूप में उनके अस्तित्व को भी जो ख़तरा उत्पन्न हो गया था, वह और इन देशों तथा फ़ासिस्ट शिविर के बीच मौजूद विरोधों की उग्रता भी उस गुट के शासक हल्क़ों से छिपे न थे, जो अंतर्राष्ट्रीय मंच पर फ़ासिस्ट शिविर के राज्यों का प्रतिद्वंद्वी था। अतः ब्रिटेन तथा फ़्रांस जर्मनी और उसके सहयोगियों को नये क्षेत्रीय दावे करने से रोकने के लिए चेतावनी के तौर पर कुछ क़दम उठाने को बाध्य हुए।

१६३६ के वसंत में लंदन और पेरिस ने पोलैंड, यूनान, रूमानिया और तुर्की को नाज़ी आक्रमण के विरुद्ध सहायता के जो वचन दिये, वे इसी प्रकार की चेतावनियां थीं। ब्रिटेन और फ़्रांस ने दूसरी चाल यह चली कि उन्होंने फ़ासिस्ट आक्रमण का मुक़ाबला करने के बारे में सोवियत संघ के साथ वार्ताएं शुरू करने का प्रस्ताव रखा। किंतु इन वार्ताओं से, जो मार्च से अगस्त, १६३६ तक चलीं, यही पता चला कि पश्चिमी राष्ट्रों का सोवियत संघ के साथ न्यायोचित व कारगर समझौता करने का कोई इरादा नहीं है, हालांकि केवल ऐसा समझौता ही बेलगाम फ़ासिस्ट डाकुओं का मार्ग अवरुद्ध कर सकता था। वास्तव में ब्रिटिश और फ़्रांसीसी राजनीतिज्ञ एक ओर तो मास्को से वार्ताओं का दिखावा कर रहे थे और दूसरी ओर जर्मनी के साथ समझौते पर पहुंचने की गुप्त कोशिशें पहले की तरह ही जारी रखे हुए थे। इसके लिए जर्मनी को यह वचन दिया गया कि पूर्व में उसे विस्तार की खुली छूट होगी।

किंतु विश्व के बुनियादी पुनर्विभाजन की जर्मन साम्राज्यवाद की आकांक्षा को देखते हुए, जिसकी पूर्ति के लिए जर्मनी स्वयं ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका को भी बख़्शने को तैयार न था, पश्चिमी राष्ट्रों और फ़ासिस्ट राज्यों के बीच गठबंधन हो पाने की कोई गुंजायश न रह गयी थी। पश्चिमी शक्तियों और फ़ासिस्ट गुट के विरोध दूसरे देशों की क़ीमत पर हल नहीं हो सकते थे। और ये विरोध ही दो प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादी गुटों को सशस्त्र टकराव की ओर, एक नये महायुद्ध की ओर निर्दयतापूर्वक धकेले जा रहे थे।

पांचवां अध्याय

दो महायुद्धों के बीच की अवधि में एशिया, अफ़्रीका और लैटिन अमरीका के जनों का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन

एशिया और अफ़्रीका में मुक्ति संग्रामों का उभार

अक्तूबर क्रांति और पूर्व का जागरण

रूस में महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति की विजय का एशिया और अफ़्रीका के जनों की ऐतिहासिक नियति पर निर्णायक प्रभाव पड़ा था। उत्पीड़ित जनों को जिस अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष करना पड़ रहा था, वह अब बिल्कुल ही बदल गया। ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस, संयुक्त राज्य अमरीका, जापान और अन्य साम्राज्यवादी देशों के उपनिवेशवादी अब उपनिवेशों के विद्रोहों को दबाने के लिए अपने जहाज़ और सेनाएं उतनी सरलता और स्वच्छंदता के साथ नहीं भेज सकते थे, जैसे कि यह विश्व के प्रथम समाजवादी राज्य के प्रादुर्भाव से पहले किया जाता था। अब सोवियत रूस का अस्तित्व ही सारे विश्व में उपनिवेशवादी शक्तियों पर लगाम लगाने के लिए काफ़ी था। सोवियत रूस के रूप में उपनिवेशों और पराधीन राष्ट्रों को इतिहास में पहली बार एक शक्तिशाली मित्र और सहयोगी मिला था। स्वाधीनता-प्राप्ति की संभावनाएं अब यथार्थ बनती जा रही थीं।

रूसी क्रांति ने एक प्रेरणादायी मिसाल भी प्रस्तुत की थी। एशिया और अफ़्रीका पर उसका अपार क्रांतिकारी प्रभाव इस कारण और भी बढ़ गया था कि उसकी कतिपय विशेषताओं ने उसे औपनिवेशिक तथा अर्ध-औपनिवेशिक जूए तले पिस रहे करोड़ों मेहनतकशों के लिए ख़ास तौर से प्रिय तथा बोधगम्य बना दिया था।

पहली समाजवादी क्रांति एक ऐसे विशाल देश में हुई थी, जो, व्ला० इ० लेनिन के शब्दों में, "भौगोलिक, आर्थिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से यूरोप का ही नहीं, एशिया का भी अंग" था और जिसकी सीमाएं पूर्व के सबसे बड़े तथा महत्त्वपूर्ण देशों से लगती थीं। फिर लगे हाथों इस क्रांति ने

बूर्जुआ-जनवादी क्रांति की उन अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्याओं का भी समाधान प्रस्तुत किया था, जो पूर्व के उत्पीड़ित जनों के सामने खड़ी थीं।

मानवजाति के इतिहास में पहली बार अक्तूबर क्रांति ने कृषि समस्या को सुसंगत तथा पूर्ण रूप से हल किया था। उसने राष्ट्रीय व औपनिवेशिक समस्या के हल की मिसाल पेश की थी। उसने भूतपूर्व रूसी साम्राज्य के छोरवर्ती औपनिवेशिक इलाक़ों को स्वतंत्रता प्रदान की थी और सामाजिक प्रगति के पथ पर अग्रसर किया था।

अतः आश्चर्य की बात नहीं कि एशिया और अफ़्रीका के जनों ने अक्तूबर क्रांति की विजय को अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष उत्कटतर बनाने के आह्वान के रूप में लिया। एशियाई तथा अफ़्रीकी देशों के क्रांतिकारी उस क्रांतिकारी सिद्धांत का अध्ययन करने लगे, जिसके आधार पर रूस में सफल क्रांति हुई थी। १६१६ में सोवियतों की सातवीं अखिल रूसी कांग्रेस को संबोधित करते हुए एक कोरियाई प्रतिनिधि ने ये उद्गार प्रकट किये थे: "कोरिया के सर्वहारा और किसानों के लिए सोवियत रूस उस नख़लिस्तान की भांति है, जहां थका-मांदा मुसाफ़िर अपनी प्यास बुझा सकता है।"

विश्व में पहले समाजवादी राज्य के प्रादुर्भाव के साथ पराधीन जनों द्वारा स्वाधीनता पाये जाने के लिए अनुकूल परिस्थितियां ही नहीं पैदा हो गयी थीं, अपितु उनके समक्ष स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद सामाजिक प्रगति के हेतु संघर्ष के लिए नयी संभावनाएं भी प्रस्तुत हुईं। सोवियत संघ से निःस्वार्थ राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक सहायता पाकर नवस्वाधीन राष्ट्र विकास के ग़ैर-पूंजीवादी पथ पर अग्रसर हो सकते थे। लेनिन ने कहा था कि कम्युनिस्टों को "यह निर्देश करना चाहिये और सैद्धांतिक रूप से उसकी पुष्टि भी करनी चाहिये कि समुन्नत देशों के सर्वहारा की सहायता से पिछड़े हुए देश सोवियत व्यवस्था और विकास के कुछ निश्चित चरणों से होते हुए, बिना पूंजीवादी अवस्था से गुज़रे हुए, कम्युनिज़्म तक पहुंच सकते हैं।"

अतः स्वाभाविक ही था कि अक्तूबर क्रांति के शीघ्र बाद ही एशिया और अफ़्रीका के अनेक देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में ज़बर्दस्त उभार आ गया। अगले कुछ वर्षों की क्रांतिकारी घटनाओं ने दिखा दिया कि औपनिवेशिक प्रणाली बेहद कमज़ोर हो चुकी थी और अब चंद ही दिनों की मेहमान थी।

मंगोलिया में लोक क्रांति की विजय

जनसंख्या की दृष्टि से मंगोलिया एक सबसे छोटा एशियाई देश है। किन्तु अक्तूबर क्रांति के प्रभावस्वरूप वहां जो कुछ हुआ, उसका पिछड़े हुए देशों के विकास के लिए गहन महत्त्व था।

सत्रहवीं सदी के अंत में स्थापित चीनी सम्राटों के दो सौ वर्षों के अधिराजत्व के मंगोलिया के लिए गंभीर कुपरिणाम निकले थे और उसका आर्थिक विकास लगभग जहां का तहां रुक गया था। दिसंबर, १९११ में मंगोल सामंतों ने अपने देश को स्वतंत्र घोषित कर दिया, किंतु उसकी राजनीतिक स्थिति १९१५ में रूस, चीन और मंगोलिया द्वारा हस्ताक्षरित एक त्रिपक्षीय समझौते द्वारा निर्धारित की गयी, जिसके अनुसार देश में सामंती धर्मसापेक्ष राजतंत्र की स्थापना हुई और सर्वोच्च लामा – हुतुख़्तू या बोग्दा गेगेन (जीवित बुद्ध) – को गद्दी पर बिठाया गया। बाहरी मंगोलिया यद्यपि औपचारिकतः चीनी अधिराजत्व में ही रहा, फिर भी वह ज़ारशाही रूस का आश्रित प्रदेश बन गया। पहले महायुद्ध के अंत में मंगोलिया औपनिवेशिक पूर्व का एक सबसे पिछड़ा देश था। भूदासत्व प्रथा यथावत् जारी थी, आम जनता सामंती – धार्मिक तथा लौकिक – शासकों और चीनी व्यापारियों तथा साहूकारों के असह्य दमन तथा शोषण का शिकार बनी हुई थी। देश में एक भी औद्योगिक उद्यम और एक भी रेल लाइन न थी।

रूस में अक्तूबर क्रांति के बाद बनी सोवियत सरकार ने मंगोलिया की पूर्ण संप्रभुता और स्वतंत्र विकास के पक्ष में आवाज़ उठायी। मंगोल जनता और स्वायत्त मंगोलिया की सरकार के नाम एक संदेश में सोवियत सरकार ने स्पष्टतः कहा कि किसी भी विदेशी को मंगोलिया के आंतरिक मामलों में दखल देने का अधिकार नहीं है और "स्वतंत्र राज्य होने के नाते मंगोलिया को पीकिंग या पेत्रोग्राद के संरक्षण के बिना अन्य राष्ट्रों के साथ सीधे संपर्क क़ायम करने का अधिकार है।"

किंतु सोवियत संघ में विदेशी हस्तक्षेप से मंगोलिया की स्थिति जटिल बन गयी। १९१९ के आरंभ में अतामान सेम्योनोव ने, जो जापानियों से पैसा पाता था, बृहद मंगोलिया नाम से एक कठपुतली राज्य क़ायम करने के प्रयास किये, किंतु उसकी योजना सफल न हो पायी। इसके बाद चीनी सामंती भूस्वामियों और कंप्राडोरों (बिचौलिये पूंजीपतियों) ने मंगोलिया पर अपनी सत्ता पुनर्स्थापित करनी चाही और नवंबर, १९१९ में चीनी सैनिक राजधानी उर्गा (वर्तमान ऊलान-बातर) में घुस आये। मंगोल सामंतों और बड़े लामाओं ने विश्वासघात करके आत्मसमर्पण कर दिया। २२ नवंबर को चीन के राष्ट्रपति ने मंगोलिया की स्वायत्तता की समाप्ति की घोषणा कर दी। इसके बाद से मंगोलिया सोवियत संघ में सशस्त्र घुसपैठें करने के लिए सोवियत सत्ता के शत्रुओं का अड्डा बन गया। १९२० के शरद में सोवियत सेना द्वारा पराजित बैरन उंगेर्न की फ़ौजें पीछे हटते हुए मंगोलिया पहुंचीं और मंगोल जनता को उनके हाथों अपार क्षति उठानी पड़ी।

१९१९-१९२० की घटनाओं ने मंगोलिया में क्रांतिकारी स्थिति पैदा कर दी थी। इसमें अनेक कारक सहायक हुए थे, जैसे औपनिवेशिक शासन के अत्याचार, भूदास प्रथा और लामा धर्मगुरुओं की ज़्यादतियां। इन सबने देश को आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा और पतनोन्मुख बना रखा था। स्वायत्तता छीन लेने के बाद चीनी सैन्य-सामंतों ने मंगोलिया पर सैनिक तानाशाही थोप दी थी। तनिक भी संदेह होने पर लोगों को गिरफ़्तार कर लिया जाता था, यंत्रणाएं दी जाती थीं और बहुतों को तो फांसी पर भी चढ़ा दिया जाता था। बैरन उंगेर्न की फ़ौजें अपनी विनाशलीला अलग मचाये हुई थीं। इस तरह मंगोल जनता के अस्तित्व को ही ख़तरा पैदा हो गया था। भूदास प्रथा का उन्मूलन किये बिना देश का आर्थिक और सांस्कृतिक विकास नहीं हो सकता था। किंतु इससे भी बड़ी तात्कालिक आवश्यकता थी राष्ट्र को मुक्त कराना, अर्थात चीनी जंगबाज़ों और बैरन उंगेर्न के गिरोहों को देश से खदेड़ना।

देशभर में असंतोष व्याप्त था। बढ़ते हुए राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की रीढ़ मेहनतकश पशुपालक – अरात – थे, जिनके साथ देशभक्ति की भावनाओं से प्रेरित सामंत अभिजात, लामा और सरकारी अधिकारियों का एक हिस्सा भी आ मिले थे, हालांकि उनकी मुख्य दिलचस्पी आंदोलन को अपने वर्गीय हितों की सिद्धि के लिए इस्तेमाल करने में ही थी।

अरातों, मंगोल सैनिकों और उदीयमान बुद्धिजीवी समुदाय के बीच अक्तूबर क्रांति के विचारों के प्रसार में दो बातें विशेषतः सहायक हुई थीं: रूस के साथ लगी लंबी सीमा और रूस तथा मंगोलिया के लोगों के बीच आर्थिक तथा सांस्कृतिक संपर्क।

१९१९ में उर्गा में दो क्रांतिकारी समूहों की स्थापना हुई, जिन्होंने जून, १९२० में परस्पर विलयित होकर एकीभूत क्रांतिकारी संगठन बना लिया, जिसका लक्ष्य मंगोल जनता को राष्ट्रीय तथा सामाजिक मुक्ति दिलाना था। मंगोल क्रांतिकारियों ने अपना एक प्रतिनिधिमंडल रूस भेजा, जो सितंबर में मास्को पहुंचा। वहां उसकी विदेशी मामलों के जन कमिसार ग० व० चिचेरिन और लाल सेना के प्रधान सेनापति स० स० कामेनेव के साथ बातचीत हुई। मंगोल प्रतिनिधि व्ला० इ० लेनिन से भी मिले, जिन्होंने उन्हें बताया कि मंगोल जनता के सामने अपनी राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतंत्रता के लिए लड़ते रहने के अलावा और कोई विकल्प नहीं है।

१९२१ के वसंत में देश के उत्तरी इलाक़ों में छापामार दस्ते गठित किये जाने लगे। १ मार्च को परस्पर परामर्श के लिए उपरोक्त क्रांतिकारी संगठन और छापामार दस्तों के प्रतिनिधियों की मीटिंग हुई, जो मंगोलियाई

लोक क्रांतिकारी पार्टी की संस्थापना कांग्रेस में बदल गयी। कांग्रेस ने पार्टी की केंद्रीय समिति का निर्वाचन और एक प्रस्ताव पास किया, जिसके अनुसार उसे देश को विदेशी क़ब्ज़ावरों से मुक्त करने और स्वतंत्र जन राज्य का, जिसमें राजनीतिक सत्ता मेहनतकश अरातों के हाथों में होती, निर्माण करने के लिए लोक क्रांति का नेतृत्व करना था।

१३ मार्च को क्रांतिकारी सैनिक टुकड़ियों और आम जनता के प्रतिनिधियों की एक सभा में अस्थायी जन सरकार की स्थापना की घोषणा की गयी। इस सरकार को देश से चीनी सैनिकों तथा रूसी सफ़ेद गार्ड फ़ौजों का सफ़ाया करने का दायित्व सौंपा गया। शीघ्र ही क्रांतिकारी टुकड़ियों ने, जो सुहे-बातर के नेतृत्व में जन सेना के रूप में ऐक्यबद्ध हो गयी थीं, मंगोलिया के उत्तरी भागों को चीनी क़ब्ज़ावरों से मुक्त कर लिया।

१० अप्रैल, १९२१ को अस्थायी जन सरकार ने सोवियत रूस की सरकार से उंगेर्न के विरुद्ध सैन्य सहायता देने का अनुरोध किया। मंगोल जनता के अनुरोध पर और सोवियत साइबेरिया को सफ़ेद गार्ड दस्तों की ओर से मौजूद ख़तरे का अंत करने की आवश्यकता को देखते हुए सोवियत सरकार ने मंगोलिया में अपने सैनिक भेजे। मंगोल जन सेना और सोवियत लाल सेना की संयुक्त सामरिक कार्रवाइयों के फलस्वरूप उंगेर्न की फ़ौजों का शीघ्र ही सफ़ाया हो गया और ६ जुलाई को जन सेना ने उर्गा में प्रवेश किया। हुतुख़्तू की सरकार ने, जिसने उंगेर्न के साथ सहयोग करके काफ़ी बदनामी कमा ली थी, अपने को सबसे अलग-थलग पाया। इसके बावजूद, मंगोलियाई लोक क्रांतिकारी पार्टी की केंद्रीय समिति ने लामाओं के प्रबल प्रभाव को देखते हुए हुतुख़्तू को ही राजा रहने दिया, यद्यपि केंद्रीय सरकार के कार्यकलाप में हस्तक्षेप का उसका अधिकार छीन लिया गया। १० जुलाई को हुतुख़्तू ने अधिकृत तौर पर सत्ता स्थायी जन सरकार को हस्तांतरित कर दी।

जुलाई, १९२१ में मंगोलिया में जो लोक क्रांति हुई थी, वह मुख्यतया राष्ट्रीय मुक्ति क्रांति थी। उसके फलस्वरूप स्वतंत्र मंगोल राज्य अस्तित्व में आया। उसका दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्ष्य था जनता को सामंतवादी शोषण तथा उत्पीड़न से मुक्ति दिलाना। मंगोल जनता ने यह जनवादी कार्यभार अक्तूबर क्रांति द्वारा पैदा की गयी नयी ऐतिहासिक परिस्थितियों में पूरा किया। मंगोलियाई लोक क्रांतिकारी पार्टी ने, जिसके सदस्यों में बहुसंख्या उस समय किसानों – अरातों – की थी, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल और रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के साथ मिलकर काम किया और मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत से निर्देशन पाया। इस प्रकार रूसी सर्वहारा और मंगोल अरातों की वर्गीय एकता साकार बनी और मंगोल क्रांति ने ऐसी लोक जनवादी क्रांति का स्वरूप

ग्रहण किया, जिसके फलस्वरूप देश पहले विकास के ग़ैर-पूंजीवादी पथ पर और फिर समाजवाद व कम्युनिज़्म के निर्माण की दिशा में अग्रसर हो सका।

नवंबर, १९२१ में मास्को में एक सोवियत-मंगोलियाई संधि संपन्न हुई, जिसने दोनों देशों की अटूट मैत्री की नींव रखी। संधि पर हस्ताक्षर के दिन सुहे-बातर और अन्य मंगोलियाई नेता अपने देश की समस्याओं के बारे में परामर्श लेने के लिए व्ला० इ० लेनिन से मिले। लेनिन ने इस बात पर बल दिया कि मंगोलिया के लिए ग़ैर-पूंजीवादी पथ पर चलना संभव भी है और आवश्यक भी है।

१९२१ की क्रांति के बाद मंगोल अरातों और उनकी पार्टी के समक्ष बहुविध समस्याएं आ खड़ी हुई। सामंत अभिजातों के आर्थिक दबदबे को ख़त्म किया जाना था, ताकि आगे चलकर एक वर्ग के रूप में भी उनका उन्मूलन किया जा सके। पूंजीवादी तत्त्वों का विकास रोका जाना था और चीनी व्यापारिक तथा सूदख़ोर पूंजी को देश से निकाला जाना था। इसके साथ ही अमरीकी, जापानी तथा ब्रिटिश पूंजी को मंगोलिया में घुसपैठ से रोकने के लिए भी क़दम उठाये जाने थे। १९२१-१९२४ के वर्षों में, जब देश में वर्ग संघर्ष अत्यंत उग्र हो गया था, जन सरकार ने सामंत अभिजातों के विशेषाधिकारों, उनके भरण-पोषण के लिए जनता पर लगाये जानेवाले करों और भूदास प्रथा का उन्मूलन और भूमि का राष्ट्रीयकरण कर दिया। ख़ुरलों – स्थानीय जनवादी शासन संस्थाओं – की स्थापना के साथ सामंतों का राजनीतिक प्रभुत्व भी अंततः समाप्त कर दिया गया।

उन आरंभिक वर्षों में भी सोवियत रूस ने मंगोलिया के आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास में बड़ा योग दिया था। दोनों देशों के बीच परस्पर लाभदायक व्यापार बढ़ता गया। मंगोलिया को वित्तीय सहायता भी उपलब्ध करायी गयी। १९२४ में सोवियत संघ की सहभागिता से मंगोलियाई वाणिज्यिक व औद्योगिक बैंक की स्थापना हुई और मंगोलिया की अपनी राष्ट्रीय मुद्रा जारी की गयी। सोवियत विशेषज्ञों की देखरेख में देश में टेलीग्राफ़ लाइनों का जाल बिछाया गया, अस्पताल बनाये गये (इससे पहले वहां एक भी अस्पताल न था) और पशुचिकित्सा सेवा की नींव रखी गयी, जो मंगोलिया जैसे पशुपालन-प्रधान देश के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी।

१९२१-१९२४ के जनवादी सुधारों और सोवियत संघ से प्राप्त राजनीतिक, सैनिक एवं आर्थिक सहायता की बदौलत मंगोलिया अब विकास के ग़ैर-पूंजीवादी पथ पर सफलतापूर्वक अग्रसर हो सकता था। मई, १९२४ में हुतुख्तु की मृत्यु के बाद मंगोलियाई लोक क्रांतिकारी पार्टी ने देश को लोक जनतंत्र घोषित कर दिया। पार्टी की तीसरी कांग्रेस ने, जो अगस्त, १९२४ में हुई थी, अपने एक प्रस्ताव में कहा, "मंगोलिया को अन्य देशों का अनुकरण

नहीं करना है और पूंजीवादी उत्पीड़न की यंत्रणाएं नहीं भुगतनी हैं। उसे वास्तविक लोक जनवाद के पथ पर ही आगे बढ़ना होगा।" २८ नवंबर, १९२४ को प्रथम महा लोक ख़ुरल ने मंगोलिया को लोक जनतंत्र उद्घोषित कर दिया और उसका संविधान अंगीकार किया।

विकास के ग़ैर-पूंजीवादी पथ पर चलते हुए मंगोलियाई लोक जनतंत्र ने क्रांति के सामान्य जनवादी कार्यभारों की सफल पूर्ति, सामंती प्रथाओं के उन्मूलन और आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण प्रगति की। सोवियत संघ के सहयोग से आधुनिक उद्योगों की नींव रखी गयी और मज़दूर वर्ग का विकास होने लगा। दूसरे महायुद्ध के अंत तक ऐसी परिस्थितियां बन चुकी थीं कि वह व्यापक पैमाने पर समाजवाद का निर्माण आरंभ कर सकता था।

अफ़ग़ानिस्तान की स्वाधीनता-प्राप्ति

अफ़ग़ानिस्तान की स्वाधीनता-प्राप्ति पूर्व के देशों पर रूसी अक्तूबर क्रांति के प्रबल प्रभाव की एक सबसे ज्वलंत मिसाल है।

इस देश की आबादी बहुजातिक और अर्थव्यवस्था बहुपद्धतीय तथा पिछड़ी हुई थी। सामंती संबंधों का सर्वत्र बोलबाला था और अधिकांश कृषि-योग्य भूमि पर बड़े ज़मींदारों, जागीरदारों, ख़ानों तथा क़बायली सरदारों का अधिकार था। आम किसानों को, जिनके पास ज़मीन या तो कम थी या बिल्कुल न थी और जिनमें स्वयं अफ़ग़ानों के अलावा ताजिक, तुर्कमान, आदि अल्पसंख्यक जातियों के लोग भी शामिल थे, बहुत ही शोषणकारी शर्तों पर ज़मीन बटाई पर लेनी और साथ ही सामंती प्रभुओं के लिए तरह-तरह की बेगार भी करनी पड़ती थी।

अफ़ग़ानिस्तान की एक तिहाई आबादी, जो मुख्यतया अफ़ग़ान जाति की थी, ख़ानाबदोश या अर्ध-ख़ानाबदोश थी और इसमें से भी अधिकांश का सामंती मालिक विभिन्न क़बायली रीति-रिवाजों की आड़ में शोषण करते रहते थे। अफ़ग़ान क़बीलों और ख़ास तौर से उनके सरदारों को कई विशेषाधिकार प्राप्त थे और अमीर – अफ़ग़ानिस्तान का सर्वोच्च शासक – भी उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता था।

देश में एक भी उद्योग न था और मज़दूर वर्ग अभी पैदा न हो पाया था, हालांकि किसानों से उनकी ज़मीन छीन लिये जाने और कारीगरों के उजड़ने की वजह से आबादी का काफ़ी बड़ा भाग उत्पादन साधनों से वंचित हो चुका था और देहात में ही बटाईदार बनने अथवा शहरों व पड़ोसी देशों की ख़ाक छानने को मजबूर हो गया था।

आंग्ल-अफ़ग़ान युद्धों के परिणामस्वरूप उन्नीसवीं सदी में ग्रेट ब्रिटेन ने अफ़ग़ानिस्तान पर असमान संधियां थोपकर उसके वैदेशिक संबंधों का संचालन पूरी तरह अपने नियंत्रण में ले लिया था। अमीर हवीवुल्ला को अंग्रेज़ों का हुक्म मानना पड़ता था और वदले में उनसे सालाना इमदाद पाता था।

अफ़ग़ानिस्तान की आर्थिक कठिनाइयां, पिछड़ापन और अलगाव सुधारों का तक़ाजा कर रहे थे। फलस्वरूप देश में युवा अफ़ग़ान आंदोलन पैदा हुआ। यह संख्या में नगण्य सामंतों, ज़मींदारों और सरकारी नौकरी करनेवाले वुद्धिजीवियों का ही आंदोलन था। कोई सुनिश्चित बूर्जुआ कार्यक्रम पेश करने में असमर्थ होने के वावजूद वस्तुगत रूप से वे प्रगतिशील विकास के हितों को ही अभिव्यक्त करते थे। युवा अफ़ग़ानों की राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता की आकांक्षा ने उन्हें अनिवार्यतः ब्रिटेन के विरुद्ध संघर्ष के लिए प्रेरित किया। इसमें उन्हें मध्य एशिया में ब्रिटेन के हस्तक्षेप को रोकने में सोवियत जनतंत्र द्वारा प्राप्त सफलता से भी बड़ा प्रोत्साहन मिला।

फ़रवरी, १९१९ में षड्यंत्रकारियों ने हवीवुल्ला की हत्या कर दी और राजधानी की गैरीज़न की मदद से उसके छोटे लड़के अमानुल्ला को, जो युवा अफ़ग़ानों से सहानुभूति रखता था, अमीर घोषित कर दिया गया। नये अमीर की घोषणा में कहा गया था, "अफ़ग़ानिस्तान को स्वतंत्र और स्वाधीन होना चाहिये। उसे सर्वसत्तासंपन्न राज्य के सभी अधिकार होने चाहिये।"

अफ़ग़ान देशभक्त आरंभ से ही सोवियत रूस की ओर आशाभरी नज़रों से देख रहे थे। अप्रैल, १९१९ में अमीर अमानुल्ला ने व्ला० इ० लेनिन के नाम पत्र के साथ एक विशेष दूतमंडल मास्को भेजा। उसी वर्ष मई में सोवियत सरकार ने अफ़ग़ानिस्तान की स्वाधीनता को मान्यता दे दी। परिस्थितियां अफ़ग़ानिस्तान के स्वाधीनता संग्राम के पक्ष में थीं। भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में उभार आने लगा था। अफ़ग़ान-भारत सीमा पर रहनेवाले क़वीले अफ़ग़ानिस्तान के स्वाधीनता संघर्ष से पूरी सहानुभूति रखते थे। भारत की ब्रिटिश सरकार ने अफ़ग़ानिस्तान में अपनी विशेषाधिकारपूर्ण स्थिति वनाये रखने और उसे अपने "संरक्षण" से न निकलने देने की कोशिश में वहुत ही शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाया। फलस्वरूप ३ मई, १९१९ को तीसरा आंग्ल-अफ़ग़ान युद्ध शुरू हो गया, जिसमें सैनिक श्रेष्ठता ब्रिटिश सेनाओं के पक्ष में थी, क्योंकि वह आधुनिक तोपख़ाने और हवाई जहाज़ों से लैस थी।

इसके वावजूद ब्रिटेन अफ़ग़ानिस्तान में घुसने का जोखिम न उठा सका। सरहदी क़वीलों की वग़ावत, उनकी ओर से ब्रिटिश संचार मार्गों को उत्पन्न ख़तरे, अनेक भारतीय सैनिकों तथा अफ़सरों के अफ़ग़ानों के पक्ष में आ जाने, भारत की सामान्य स्थिति, आदि को देखते हुए ब्रिटेन को राज़ीनामा करने पर मजवूर होना पड़ा।

८ अगस्त, १६१६ को रावलपिंडी में एक प्रारंभिक संधि पर हस्ताक्षर हुए, जिसके द्वारा ब्रिटेन ने अफ़ग़ानिस्तान की स्वाधीनता को और आंतरिक तथा वैदेशिक मामलों में उसकी स्वतंत्रता को मान्यता दे दी।

अपनी स्वाधीनता के सुदृढ़ीकरण में अफ़ग़ानिस्तान को सोवियत रूस से बड़ी मदद मिली। १६१६ के अंत में दोनों देशों के बीच दूतावासों का विनिमय हुआ। फ़रवरी, १६२१ में एक सोवियत-अफ़ग़ान मैत्री संधि पर हस्ताक्षर हुए। इससे न केवल अफ़ग़ानिस्तान की स्वतंत्रता सुदृढ़ हुई, बल्कि उसे सोवियत संघ से वित्तीय सहायता पाने की संभावना और अपने मालों को सोवियत क्षेत्र से होते हुए भेजने का अधिकार भी मिला। ब्रिटेन को बाध्य होकर नवंबर, १६२१ में एक संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े, जिसके ज़रिये उसने अफ़ग़ानिस्तान की स्वाधीनता को मान्यता दी और उसके साथ राजनयिक संबंध स्थापित किये।

अमानुल्ला की सरकार अब राज्य के सुदृढ़ीकरण और अर्थव्यवस्था के विकास के उद्देश्य से कतिपय आवश्यक सुधार लागू करने में जुट गयी। विभिन्न अफ़ग़ान क़बीलों के ख़ानों से उनके राजनीतिक तथा सैनिक विशेषाधिकार तथा कर माफ़ियां छीन ली गयीं। केंद्रीय प्रशासन का पुनर्गठन किया गया। न्यायिक प्रशासन में क़ाज़ी-मुल्लाओं की भूमिका शनैःशनैः ख़त्म कर दी गयी और परंपरागत क़ानून – शरीयत – के स्थान पर नया दीवानी और फ़ौजदारी क़ानून लागू किया गया, जो बूर्जुआ सिद्धांतों पर आधारित था।

राष्ट्रीय उद्योग तथा व्यापार के विकास पर बड़ा ध्यान दिया गया। स्वदेशी निजी पूंजी को राज्य से मदद मिली और फलस्वरूप अनेक नयी व्यापारिक कंपनियां क़ायम हो सकीं। देश के अंदर चुंगी ख़त्म कर दी गयी और विदेशी मालों पर आयात शुल्क काफ़ी बढ़ा दिया गया। अप्रतिबाधित भूस्वामित्व अधिकार क़ानून और भूमि क्रय-विक्रय क़ानून ने पुरानी सामंती प्रणाली के अवशेषों का ख़ात्मा कर दिया और किसानों के सामंत ज़मींदारों के प्रति जो दायित्व होते थे, उन्हें रद्द करके भूमि लगान की प्रणाली लागू कर दी। जिंसी करों तथा बेगार के बदले अब नक़द भुगतान किया जा सकता था।

शिक्षा के क्षेत्र में मौलवियों और मुल्लाओं के एकाधिकार पर चोट की गयी। कुलीन घरों के नौजवानों को विदेशों में जाकर शिक्षा पाने के लिए हर प्रकार से प्रोत्साहित किया गया, ताकि लौटकर वे प्रशासन में उत्तरदायी पद संभाल सकें। ग़ैर-मज़हबी स्कूल खोले गये, जिनमें कई लड़कियों के स्कूल भी थे।

किंतु सामंतों व ज़मींदारों और मुल्ला-मौलवियों के अधिकार सीमित किये जाने से नये शासन की विरोधी शक्तियां भड़क गयीं और साम्राज्यवादी ताक़तों ने इसका भरपूर लाभ उठाया। वे जानती थीं कि सुधारों से आम

लोगों की हालत बेहतर नहीं हुई है। नये भूमि क़ानून से किसानों को कुछ न मिला था और भूमिहीन किसान सामंती शोषण के जूए तले लगभग पहले की तरह ही पिसते आ रहे थे।

पहले के विशेषाधिकारों से वंचित पुराने सामंतों, ज़मींदारों और मुल्ला-मौलवियों ने मेहनतकश जनता के बीच व्याप्त इस असंतोष से लाभ उठाने की कोशिशें कीं। १९२४ में ख़ोस्त में क़बायलियों ने सशस्त्र बग़ावत कर दी। अपने प्रगतिविरोधी इरादों को छिपाने के लिए सामंती प्रतिक्रियावादियों ने अमानुल्ला सरकार की "विधर्मी" कार्रवाइयों से इस्लाम की रक्षा का नारा बुलंद किया और साथ ही टैक्स घटाने तथा अनिवार्य सैनिक सेवा बंद करने की जनोत्तेजक मांगें पेश कीं।

सरकार बड़ी मुश्किल से १९२५ के आरंभ में जाकर ही और वह भी प्रतिक्रियावादियों को कई रिआयतें देकर ही बग़ावत को कुचलने में सफल हो सकी। मिसाल के लिए, लड़कियों के स्कूल बंद कर दिये गये और दीवानी क़ानून से संबंधित कुछ मामलों में क़ाज़ी-मुल्लाओं का न्याय करने का अधिकार बहाल कर दिया गया।

किंतु स्थिति पर क़ाबू पाकर अमानुल्ला ने सुधारों का अपना कार्यक्रम फिर जारी कर दिया। सोवियत संघ के साथ मैत्री संबंधों के विकास से और विशेषत: १९२६ में दोनों देशों के बीच हस्ताक्षरित अनाक्रमण संधि से अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अफ़ग़ानिस्तान की प्रतिष्ठा-वृद्धि में बड़ी मदद मिली। दोनों देशों के बीच आर्थिक संबंधों का भी विस्तार हुआ।

१९२७ के अंत में अमानुल्ला अपनी बेग़म और कुछ प्रमुख राजनेताओं के साथ विदेश यात्रा पर रवाना हुआ। उसकी इस यात्रा का उद्देश्य ब्रिटेन के मुक़ाबले में अफ़ग़ानिस्तान की स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए अन्य देशों के साथ घनिष्ठतर संबंध स्थापित करना था। भारत और मिस्र के उसके दौरों के समय अनेक जगहों पर साम्राज्यवादविरोधी प्रदर्शन हुए। सोवियत संघ में सोवियत जनता की उपलब्धियां देखकर सुधारों की अत्यावश्यकता में उसका विश्वास और पक्का बना।

स्वदेश लौटते ही अगस्त, १९२८ में अमानुल्ला ने देश के सभी भागों के प्रतिनिधियों की सभा – लोई जिरगा – बुलायी और एक नये संविधान की घोषणा की, जिसके अनुसार देश की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में अनेक महत्त्वपूर्ण जनवादी तत्त्वों का समावेश किया जाना था। प्रत्यक्ष तथा गुप्त मतदान द्वारा निर्वाचित राष्ट्रीय संसद – शूरा-इ-मिल्ली – की स्थापना की गयी। २० वर्ष से अधिक आयु के सभी साक्षर अफ़ग़ान नागरिकों को मताधिकार मिला। सभी सामंती विशेषाधिकारों तथा ख़िताबों को रद्द कर दिया गया और अनिवार्य सैन्य सेवा समेत अनेक नये क़ानून पास किये गये।

प्रतिक्रियावादियों ने इन परिवर्तनों का उत्तर १९२४ के विद्रोह से भी व्यापक और प्रबल विद्रोह से दिया। अमीर पर कुफ़्र का इलज़ाम लगाया गया और उसकी बेग़म की ऐसी तसवीरें देश भर में बांटी गयीं, जिनमें वह यूरोपीय पोशाक पहने और चेहरा उघाड़े दिखायी गयी थी। देश के सबसे बड़े मुल्लाओं ने फ़तवा जारी करके अमानुल्ला को ऐयाश और मज़हब के ख़िलाफ़ बग़ावत फैलानेवाला करार दिया और उसे गद्दी से हटाने की मांग की। इस आंदोलन ने सबसे अधिक ज़ोर कोहिस्तान में पकड़ा, जहां इसका सरदार बच्चा-इ-सक़्क़ा (भिश्ती का बेटा) नामक एक भगोड़ा ताजिक नायब अफ़सर था।

ताजिक किसानों के बीच असंतोष अमानुल्ला के विदेश यात्रा से लौटने से पहले ही फैलने लग गया था। उसकी जड़ में उनका सामंतों व ज़मींदारों द्वारा किया जानेवाला शोषण भी था और एक अल्पसंख्य जाति के रूप में वे जिस उत्पीड़न के शिकार थे, वह भी। उनके लिए बच्चा-इ-सक़्क़ा ऐसा नेता था, जो आम लोगों के अधिकारों के लिए लड़ रहा था। आंतरिक और विदेशी प्रतिक्रियावादियों के साथ उसके संबंधों की उन्हें जानकारी न थी। बच्चा-इ सक़्क़ा के दस्तों ने काबुल की ओर कूच कर दिया। रास्ते में सरकारी सेना की बहुत सी टुकड़ियां भी उनसे आ मिलीं।

अमानुल्ला कंधार भाग गया। वहां से सत्ता में दोबारा लौटने की कई असफल कोशिशों के बाद उसे देश को ही छोड़ देना पड़ा। मार्च, १९२९ में बच्चा-इ-सक़्क़ा ने काबुल में प्रवेश किया और हबीबुल्ला के नाम से अपने को बादशाह घोषित कर दिया। कर घटाने और बक़ाया रक़में मंसूख़ करने के वायदे करके कुछ समय तक वह आम लोगों को झांसे में डाले रहा। सामंत, ज़मींदार और मुल्ला-मौलवी तो अमानुल्ला के क़ानूनों को रद्द करने और उनके विशेषाधिकार लौटाने के एवज़ में उसकी बादशाहत को मान्यता देने को तैयार थे ही।

वसंत, १९२९ तक कहने के लिए अधिकांश अफ़ग़ानिस्तान नये बादशाह के अधिकार में आ गया। किंतु देश में वास्तविक राज स्थानीय क़बायली सरदारों का ही था और वे जनता को निर्ममतापूर्वक लूट रहे थे। फिर अपनी ओर से सरकार ने भी कर बढ़ा दिये और कई साल पेशगी अदायगी मांगी, जिसका आम जनता पर ही नहीं, वरन शहरी व्यापारियों तथा खाते-पीते तबक़ों पर भी बहुत बुरा असर पड़ा।

असंतोष की आग एक बार फिर सुलगने लगी। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने, जिन्होंने बच्चा-इ-सक़्क़ा को साम्राज्यवादविरोधी सरकार का तख़्ता उलटने के लिए इस्तेमाल किया था, उसकी स्थिति डांवांडोल होती देखी और अफ़ग़ान तख़्त का कोई अधिक ताक़तवर दावेदार ढूंढ़ने में जुट गये।

ऐसा आदमी उन्हें भूतपूर्व शाही ख़ानदान के सदस्य जनरल नादिर ख़ां के रूप में मिला, जिसने १९१९ के स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया था, मगर १९२४ की ख़ोस्त बग़ावत को कुचलने में शिरकत से इन्कार कर दिया था और अब पेरिस में रह रहा था।

अपने भाइयों के साथ नादिर ख़ां भारत पहुंचा। १९२९ के वसंत में ब्रिटिश हथियारों और अफ़ग़ान क़बीलों की मदद से उसने हबीबुल्ला के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी। नादिर ख़ां ने अफ़ग़ान अभिजातों से उनके विशेषाधिकार बनाये रखने का और व्यापारियों से उनके जीवन तथा संपत्ति की अनुल्लंघनीयता का और मुल्ला-मौलवियों से इस्लाम के प्रति वफ़ादारी का तथा इस्लामविरोधी क़ानून रद्द करने का और आम जनता से शांति तथा इस्लामी इंसाफ़ का वायदा किया।

लड़ाई शरद तक जारी रही। हबीबुल्ला के पास अब तक फ़ौज भी बहुत कम रह गयी थी और हथियार भी पूरे नहीं पड़ रहे थे। उधर राष्ट्रवादी प्रचार भी "ताजिक अमीर" के बहुत से अफ़ग़ान समर्थकों को उससे विमुख करने में सफलता पाता जा रहा था। अक्तूबर के आरंभ में नादिर ख़ां ने काबुल पर क़ब्ज़ा कर लिया और १५ अक्तूबर, १९२९ को वह नादिरशाह के नाम से गद्दी पर बैठ गया। हबीबुल्ला और उसके संगी-साथी मार डाले गये।

अंग्रेजों की मदद से सामंत-जमींदार प्रतिक्रियावादी अमानुल्ला की सत्ता को उलटने में तो सफल हो गये थे, किंतु देश को पिछड़ा हुआ, सामंती प्रतिक्रिया का गढ़ और ब्रिटेन का आज्ञाकारी अनुगामी बनाये रखना न तो उनके बूते की बात थी, न विदेशी प्रतिक्रियावादी शक्तियों की ही। देश में परिवर्तन आ रहे थे: बूर्जुआज़ी अपनी जड़ें मज़बूत बना रहा था, सामंती अभिजात वर्ग में नया सामाजिक विभेदीकरण हो रहा था और संपत्तिधर वर्गों में सुधारों की आवश्यकता की चेतना बढ़ती जा रही थी। नादिरशाह की सरकार ने इन सब परिवर्तनों को अफ़ग़ानिस्तान की स्वाधीनता तथा सर्वसत्ता के सुदृढ़ीकरण हेतु ही इस्तेमाल किया।

तुर्की की बूर्जुआ-राष्ट्रवादी क्रांति

तुर्की में महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति का प्रभाव तुरंत ही अनुभव किया जाने लगा था। महायुद्ध के कारण, जिसकी आग में युवा तुर्कों ने अपने देश को झोंक दिया था, बेदम और बेहाल तुर्क जनता के बीच सोवियत सरकार की शांति आज्ञप्ति और रूस तथा पूर्वी देशों के मुसलमानों को संबोधित

अपील की व्यापक गूंज हुई थी। तुर्क सिपाहियों ने आगे लड़ने से इंकार कर दिया और मोर्चे छोड़कर अपने हथियारों समेत घर लौट आये। सरकारी करों और सामंती शोषण के दोहरे बोझ से दबे-कुचले किसानों में उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह की भावना जागृत होने लगी। १६१८-१६१६ में ही देश के प्रगतिशील तत्त्वों की पहल पर मार्क्सवादी समूह भी प्रकट होने लगे।

तुर्की और विजयी मित्रराष्ट्रों के बीच हुई मुदरोस की युद्धविराम संधि ने तुर्की पर मित्रराष्ट्रों का नियंत्रण क़ायम कर दिया था और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि उस्मान साम्राज्य के विभाजन की साम्राज्यवादी योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए रास्ता साफ़ हो गया है। ब्रिटेन और फ़्रांस के अलावा इटली और यूनान भी इस बंटवारे में अपना हिस्सा मांग रहे थे, क्योंकि युद्ध में मित्रराष्ट्रों का साथ देने के लिए उनसे इस प्रकार का वायदा किया गया था। फिर तुर्की पर अमरीकी साम्राज्यवादियों की नज़रें भी गड़ी थीं, हालांकि उन्होंने किसी गुप्त क़रार में हिस्सा नहीं लिया था। वे कुस्तुंतुनिया और जलसंयोजी क्षेत्र समेत महत्त्वपूर्ण प्रदेशों पर अधिदेश अधिकार पाकर तुर्की पर अपना आधिपत्य क़ायम करना चाहते थे।

ज्यों ही युद्धविराम संधि पर हस्ताक्षर हुए, मित्रराष्ट्रों ने जलसंयोजी में अपने युद्धपोत भेज दिये और सुल्तान की सरकार के कार्यकलाप का नियंत्रण करने के लिए अपने उच्चायुक्त नियुक्त कर दिये। युवा तुर्क पार्टी के नेता, जिनसे जनता को घोर नफ़रत हो गयी थी, राजधानी छोड़कर भाग खड़े हुए। मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने पश्चिमी अनातोलिया के कुछ भागों, सिलीसिया, इज़मीर और अन्य बड़े बंदरगाहों पर क़ब्ज़ा कर लिया।

किंतु क़ब्ज़ावर सेनाओं को किसान दस्तों, जो युद्ध के दिनों से ही सक्रिय थे, और नये छापामार दस्तों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। जन असंतोष अब स्पष्टतः साम्राज्यवादविरोधी रूप ग्रहण करता जा रहा था। इस राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की प्रेरक शक्ति किसान थे और इसी कारण वह सुगठित, सुनियोजित कम और स्वतःस्फूर्त अधिक था। संख्या में नगण्य और अपनी भूमिका से अनभिज्ञ मजदूर वर्ग इस किसान आंदोलन का नेतृत्व करने की स्थिति में नहीं था। इसके अलावा उसका ज़्यादातर हिस्सा मित्रराष्ट्रों द्वारा अधिकृत नगरों में केंद्रित था और उभरते हुए आंदोलन से कटा हुआ था। फलस्वरूप राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की बागडोर अंततः तुर्क राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के ही हाथों में चली गयी।

युद्धकाल में राष्ट्रीय, मुख्यतः अनातोलियाई व्यापारी बूर्जुआ वर्ग ने अपनी जड़ें काफ़ी हद तक मज़बूत बना ली थीं। भीतरी इलाक़ों में छोटे और मध्यम दर्जे के विनिर्माण तथा खाद्यसामग्री प्रोसेसिंग उद्योग क़ायम हो चुके थे। राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी विदेश व्यापार के क्षेत्र से विदेशी बिचौलियों और



तुर्क किसान औरतें मोर्चे पर गोला-बारूद पहुंचा रही हैं (१९२१)

बड़ी विदेशी फ़र्मों को बेदखल करके अपने विस्तार के अवसर पाना चाहता था। वह देश में राजनीतिक सुधार भी चाहता था। अतः देश के विभाजन और पूर्ण पराधीनीकरण का खतरा उत्पन्न होते ही वह स्वतंत्रता संग्राम की बागडोर थामने को तैयार हो गया। सारे अनातोलिया में राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी द्वारा स्थापित अधिकार रक्षा समाज पैदा होने लगे, जिनमें नेतृत्वकारी भूमिका नागरिक और सैनिक बुद्धिजीवियों को प्राप्त थी। इन लोगों के बीच स ही मुस्तफ़ा कमाल नाम का एक साहसी और प्रतिभाशाली जनरल उभरकर सामने आया।

१९१९ में अनातोलिया के विभिन्न नगरों में अधिकार रक्षा समाजों की कई कांग्रेसें हुईं। सिवास कांग्रेस में विभिन्न समाजों के सदस्यों की एक प्रतिनिधि समिति बनायी गयी, जिसका अध्यक्ष मुस्तफ़ा कमाल को चुना गया। कमाल की प्रतिष्ठा और प्रभाव में इतनी तेज़ी से वृद्धि हुई कि आंदोलन में भाग लेनेवालों को कमालपंथियों के नाम से पुकारा जाने लगा।

प्रतिनिधि समिति का सुल्तान की सरकार के प्रति रवैया राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी की कमज़ोरी, ढुलमुलपन, भूस्वामियों के साथ उसके संबंधों और इस तथ्य को प्रतिबिंबित करता था कि इस देशभक्त आंदोलन में सामंती, धार्मिक और बिचौलिये (कंप्राडोर) हल्क़ों से संबद्ध तत्त्वों की भी कमी नहीं थी। वास्तव में सुल्तान की सरकार द्वारा सिवास कांग्रेस को भंग करने के प्रयास

के बाद भी कमालपंथी सुल्तान को अपने स्वतंत्रता संग्राम के प्रतीक के तौर पर इस्तेमाल करते रहे (सुल्तान को "विदेशियों के हाथों में क़ैद" कहा जाता था)। राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी में ऐसे बहुत लोग थे, जो सोचते थे कि वे न केवल पुरानी सरकार के साथ समझौते पर पहुंच सकते हैं, बल्कि शांतिमय उपायों से विजेताओं से कुछ रिआयतें भी हासिल कर सकते हैं। कुछ ऐसे भी थे, जिन्हें आशा थी कि संयुक्त राज्य अमरीका को यदि उसके इच्छित अधिदेश अधिकार मिल जायें, तो वे उसकी सहायता से अपनी महत्त्वाकांक्षाएं पूरी कर सकते हैं। उन दिनों अमरीकी साम्राज्यवादियों का आक्रामक स्वरूप इतना उभरकर सामने नहीं आया था, क्योंकि यूरोपीय राष्ट्रों की भांति वे खुल्लमखुल्ला काम नहीं करते थे।



जंगली दस्तों के सिपाही (१९२०)

१९१९ के अंत में संसद के चुनावों में कमालपंथियों की भारी बहुमत से विजय हुई। २३ जनवरी, १९२० को इस्तांबूल (भूतपूर्व कुस्तुंतुनिया) में संसद ने अपने अधिवेशन में सर्वसम्मति से एक राष्ट्रीय क़रार मंजूर किया, जिसमें मुदरोस की युद्धविराम संधि द्वारा स्थापित सीमाओं के भीतर तुर्की की क्षेत्रीय अखंडता की घोषणा की गयी थी। राष्ट्रीय क़रार की स्वीकृति का बहुत बड़ा राजनीतिक महत्त्व था, यद्यपि उसमें मेहनतकश जनता की सामाजिक आवश्यकताएं और आकांक्षाएं अभिव्यक्त नहीं हुई थीं। मार्च, १९२० में मित्रराष्ट्रों, विशेषतः ब्रिटेन की सेनाओं ने इस्तांबूल अपने क़ब्ज़े में ले लिया, संसद भंग कर दी और उसके बहुत से सदस्यों को गिरफ़्तार करके देश-निकाला दे दिया। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को दबाने के लिए सुल्तान की सरकार को एक बार फिर हथियार के तौर पर इस्तेमाल किया गया।

इन सब घटनाओं को देखते हुए यह अनिवार्य ही था कि राष्ट्रीय शक्तियां साम्राज्यवाद की चाकर सुल्तान की सरकार का खुलकर विरोध करने लगतीं। अप्रैल, १९२० में अंकारा में, जहां प्रतिनिधि समिति ने अपना मुख्यालय स्थानांतरित कर लिया था, एक नयी संसद की बैठक हुई, जिसने अपना नाम "तुर्की की महान राष्ट्रीय विधान सभा" रखा। मुस्तफ़ा कमाल की अध्यक्षता में एक नया मंत्रिमंडल चुना गया, जो संसद के प्रति उत्तरदायी था। नयी संसद के सदस्यों ने राष्ट्रीय क़रार की विधिवत संपुष्टि की और इस्तांबूल पर अधिकार के बाद से सुल्तान व उसकी सरकार द्वारा जारी सभी क़ानूनों और आदेशों को अकृत और शून्य घोषित कर दिया। व्यवहार में अब अंकारा ही देश की राजधानी बन गया।

अपने स्वतंत्रता संग्राम में तुर्क देशभक्तों को अतिक्रमणकारियों और प्रतिक्रांति के विरुद्ध सोवियत जनता के सफल संघर्ष से बड़ी प्रेरणा मिली। उन्होंने पाया कि वे मित्र और सहयोगी के रूप में सोवियत संघ पर भरोसा कर सकते हैं। महान राष्ट्रीय विधान सभा के पहले अधिवेशन के तीन दिन बाद मुस्तफ़ा कमाल ने लेनिन को एक तार भेजकर सोवियत रूस के साथ राजनयिक संबंध क़ायम करने का प्रस्ताव रखा और तुर्की के क्रांतिकारी संघर्ष में मदद मांगी। एक तुर्क प्रतिनिधिमंडल मास्को के लिए रवाना हुआ और शरद में पहला सोवियत दूतमंडल अंकारा पहुंचा।

इस बीच मित्रराष्ट्र तुर्की के विभाजन के बारे में समझौते पर पहुंच चुके थे और सुल्तान के सरकार के साथ संधि का मसौदा भी मंजूर कर चुके थे, जिसके अनुसार तुर्की का कुछ भाग उससे छीन लिया जाना था और उसकी औपनिवेशिक पराधीनता को बरक़रार रखना था। किंतु इस कार्यक्रम पर राष्ट्रीय आंदोलन के दमन के बाद ही अमल किया जा सकता था। इस उद्देश्य से उकसाये गये प्रतिक्रांतिकारी विद्रोह जब नाकाम रहे, तो सैनिक

हस्तक्षेप का फ़ैसला किया गया और यह काम यूनान को सौंपा गया। जून, १६२० में ब्रिटेन द्वारा मुहैया किये गये हथियारों की मदद से यूनानी सेना ने इज़मिर से अनातोलिया पर धावा बोल दिया। एक अन्य यूनानी सेना ने अदरना (एड्रियानोपोलिस) पर क़ब्ज़ा कर लिया। १० अगस्त, १६२० को सुल्तान की सरकार ने सेव्र में मित्रराष्ट्रों के साथ शांति संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। तुर्की को पराधीन बनाने के साथ-साथ यह संधि साम्राज्यवादी शक्तियों के सोवियतविरोधी लक्ष्यों की प्राप्ति में भी सहायक थी, क्योंकि तुर्की के क्षेत्र में निर्मित अड्डों को अब सोवियत संघ के विरुद्ध इस्तेमाल किया जा सकता था।

तुर्की की जनता स्वाधीनता के हेतु अंत तक लड़ने के लिए उठ खड़ी हुई थी। साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन का नेता राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी यथार्थतः क्रांतिकारी भूमिका अदा कर रहा था। किंतु कमालपंथी अपने संकीर्ण रवैये के कारण आम जनता के हित में जनवादी सुधार या तो कर न सके या करना नहीं चाहते थे। एक वर्ग के रूप में अपने वर्चस्व को क़ायम रखने की कोशिश में उन्होंने किसानों और उदीयमान मज़दूर वर्ग की स्वतंत्र कार्रवाइयों का सभी प्रकार से दमन किया। १६२० में स्थापित तुर्की की कम्युनिस्ट पार्टी को कुचल डाला गया और उसके नेता, अप्रतिम सर्वहारा क्रांतिकारी मुस्तफ़ा सुब्ही तथा कई अन्य पार्टी नेताओं की १६२१ के आरंभ में निर्मम हत्या कर दी गयी। इसके साथ ही बूर्जुआ सरकार ने किसान छापामार दस्तों का विघटन कर दिया और उनमें से कुछ को नियमित सेना का अंग बनाकर कमालपंथी कमान के मातहत बना दिया। सामंतों के विरुद्ध किसानों के विद्रोहों को भी नहीं बख़्शा गया।

तुर्क बूर्जुआ-राष्ट्रवादियों में सर्व-तुर्कवाद और सर्व-इस्लामवाद के भी बहुत से अनुयायी थे, जिनकी जार्जिया और आरमीनिया के कुछ इलाक़ों पर गिद्ध-दृष्टि लगी थी। १६२० के अंत और १६२१ के आरंभ में कमालपंथियों ने आरमीनियाई दश्नाकों – एक आरमीनियाई प्रतिक्रांतिकारी बूर्जुआ-राष्ट्रवादी पार्टी के सदस्यों – और जार्जियाई मेंशेविकों की देशघाती नीति से लाभ उठाकर बलपूर्वक इन क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा कर लेने की कोशिशें कीं। किंतु प्रति-क्रांतिकारी सरकारों के उन्मूलन, सोवियत सत्ता की पुनर्स्थापना और सोवियत सरकार की दृढ़ तथा सुसंगत नीति ने काकेशियाई जनता को उत्पन्न ख़तरे से ही नहीं बचाया, बल्कि सोवियत-तुर्की मैत्री की, जो तुर्की की जनता के हितों के अनुरूप थी, राह की बाधाओं को भी दूर किया। १६ मार्च, १६२१ को सोवियत रूस और तुर्की ने मैत्री तथा भ्रातृत्व की एक संधि पर हस्ताक्षर किये। उसी वर्ष अक्तूबर में तुर्की और पार-काकेशियाई सोवियत जनतंत्रों के बीच भी ऐसी संधियां संपन्न हुईं। उस काल की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के परिप्रेक्ष्य

में यह तुर्क जनता के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के लिए असामान्य राजनीतिक महत्त्व रखता था। सोवियत सरकार ने म० व० फ्रूंज़े के नेतृत्व में एक विशेष दूतमंडल तुर्की भेजा और तुर्की को हथियार और ऋण भी मुहैया किये।

सुधरे हुए सोवियत-तुर्क संबंधों और प्रत्यक्ष सोवियत सहायता की बदौलत तुर्की आक्रामकों को पराजित करने में सफल रहा। १६२१ के शरद में यूनानी आक्रमण को रोक दिया गया और सालभर बाद तुर्की की धरती से आक्रामक पूरी तरह खदेड़े जा चुके थे। ११ अक्तूबर, १६२२ को एक युद्धविराम समझौते पर और अगले वर्ष २४ जुलाई को लोज़ान की शांति संधि पर हस्ताक्षर हुए। फलस्वरूप उन प्रदेशों पर तुर्की का अधिकार बना रहा, जो सेव्र संधि के अनुसार उससे छीन लिये गये थे, मित्रराष्ट्रों की सेनाएं जलसंयोजी के आसपास के इलाक़ों से हटा ली गयीं और कैपीट्युलेशंस, यानी शर्तों पर सौंपने की प्रणाली ख़त्म कर दी गयी। दृढ़ और अटल संघर्ष करके तुर्की ने अंततः राष्ट्रीय स्वाधीनता पा ही ली।

उस्मान साम्राज्य के खंडहरों पर स्थापित बूर्जुआ राष्ट्रीय राज्य ने अपने सुदृढ़ीकरण के लिए अनेक विधिक तथा प्रशासनिक क़दम उठाये और सामाजिक तथा सांस्कृतिक सुधार लागू किये। सामंती तत्त्वों और मुल्ला-मौलवियों के विरोध के बावजूद प्रगतिशील सुधार जारी रखे गये। शांति संधि संपन्न होने के बाद महान राष्ट्रीय विधान सभा ने अंकारा को राजधानी बनाये जाने की बाक़ायदा घोषणा कर दी। इसका कारण यह था कि सरकार सामंती, मज़हबी और बिचौलिए तत्त्वों के प्रभाव को कमज़ोर बनाना चाहती थी और पुरानी राजधानी इस्तांबूल में यह प्रभाव विशेषतः प्रबल था। तुर्की को गणराज्य घोषित किया गया। अपनी "ख़लीफ़ा" या "अमीर-उल-मोमिन" की पदवी के कारण भूतपूर्व सुल्तान चूंकि प्रतिक्रियावादी शक्तियों का आकर्षण केंद्र बना हुआ था, अतः मार्च, १६२४ में एक क़ानून पास करके मज़हबी मामलों तथा वक़्फ़ों के मंत्रालय और ख़िलाफ़त की संस्था को ख़त्म कर दिया गया। सत्ताच्युत उस्मान वंश के सदस्यों को देशनिकाला दे दिया गया। धार्मिक शिक्षा देनेवाले मदरसों को बंद करके सभी स्कूलों को शिक्षा मंत्रालय के मातहत बना दिया गया। सारा अदालती काम मुल्ला-मौलवियों से छीनकर राजकीय निकायों को सौंप दिया गया। १६२३-१६२४ के सुधारों की परिणति अप्रैल, १६२४ में एक बूर्जुआ संविधान की उद्घोषणा में हुई, जिसने देश में बूर्जुआज़ी और उससे संबद्ध भूस्वामियों के वर्गीय प्रभुत्व को विधिक रूप दे दिया।

प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने मुस्तफ़ा कमाल के सुधार कार्यक्रम को विफल बनाने की हर संभव चेष्टा की। १६२५ के आरंभ में कुर्दों के एक प्रमुख नेता

शेख़ सईद ने, जिसके अंग्रेज़ों के साथ घनिष्ठ संबंध थे, अंकारा की सरकार के खिलाफ़ विद्रोह छेड़ दिया। पशुपालन और किसानी के धंधे करनेवाले कुर्द बहुत ही ग़रीब और उत्पीड़ित थे। अतः आश्चर्य की बात नहीं कि शेख़ सईद के जनोत्तेजक धार्मिक नारों से प्रभावित होकर हज़ारों कुर्द बग़ावत में शरीक हो गये। सरकार बड़ी भारी फ़ौज भेजकर ही जून में बग़ावत को कुचलने में सफल हो पायी। किंतु प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने हथियार नहीं डाले। कमाल की सरकार ने पुराने शासन के हिमायतियों पर राजनीतिक मुक़दमे चलाये और उन्हें सख़्त सज़ाएं दीं। सुधार कार्यक्रम पर अमल जारी रखा गया। १९२८ में धर्म को राज्य से अलग कर दिया गया। नयी विधि संहिताएं बनायी गयीं। किंतु साथ ही अपने वर्गीय हितों की रक्षा और अपनी स्थिति में सुधार के लिए आम जनता द्वारा किये जा रहे संघर्ष को भी निर्ममतापूर्वक कुचला गया। मेहनतकशों को अपने स्वतंत्र राजनीतिक संगठन क़ायम करने से रोका गया।

राज्य व्यवस्था तथा प्रशासन के क्षेत्रों में सुधार, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में सामंतवाद के अवशेषों से संघर्ष, कैपीट्युलेशनों की प्रणाली के ख़ात्मे, आदि के फलस्वरूप देश में पूंजीवादी संबंधों का विकास आसान बना, यद्यपि उसके मार्ग में कुछ गंभीर बाधाएं थीं, जैसे कृषि-भूमि समस्या का हल न किया जाना, भूमि पर ज़मींदारों का स्वामित्व बना रहना, बहुत ही ऊंची लगान दरें और बटाईदारी प्रथा। राष्ट्रीय उद्योग को भी, जो मुख्यतया राजकीय उद्यमों के आधार पर विकसित किया जा रहा था और जिसके लिए साधन अधिकांशतः मेहनतकशों पर टैक्स बढ़ाकर जुटाये जाते थे, बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, क्योंकि ज़्यादातर आबादी (किसान) बहुत ही ग़रीब थी।

ज्यों-ज्यों वर्गीय (और राष्ट्रीय) अंतर्विरोध बढ़ते गये, कमालपंथी अपने भूतपूर्व शत्रुओं – बिचौलिए तत्त्वों – के साथ, जिनके राजनीतिक प्रभाव को कम करने में वे सफल हो चुके थे, समझौता करने को मजबूर हुए। फलस्वरूप उन्हें साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ भी सुलह की राह अपनानी पड़ी, जिसका एक ही मतलब था – विदेशी पूंजी की दासता स्वीकार करना। इस सबका परिणाम यह निकला कि तुर्की की सरकार की घरेलू और विदेश नीतियों में प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियां अधिकाधिक ज़ोर पकड़ती गयीं और १९३८ में अता-तुर्क (तुर्कों के राष्ट्रपिता) कमाल की मृत्यु के बाद तो उनका ही बोलबाला हो गया। कमाल के उत्तराधिकारियों ने सोवियत संघ के साथ संबंध बढ़ाने की नीति भी त्याग दी, हालांकि यह नीति तुर्की की जनता के हितों के अनुरूप थी।

ईरान का क्रांतिकारी आंदोलन

पहले महायुद्ध के दौरान ईरान की हालत एक निःशक्त, तबाही और विनाश के कगार पर खड़े देश जैसी थी। विदेशी ताक़तों ने उसपर क़ब्ज़ा किया हुआ था और केंद्रीय सरकार के हाथ में लगभग कोई सत्ता नहीं थी। सामंती विघटन की प्रक्रिया बढ़ती जा रही थी और क़बायली सरदार तथा बड़े सरकारी अधिकारी, जो आम जनता को लूटते थे, अधिकाधिक निरंकुश बनते जा रहे थे। रूस की ज़ारशाही सरकार और ग्रेट ब्रिटेन के बीच ईरान के पूर्ण विभाजन के बारे में बातचीत चल रही थी।

किंतु जब रूस में अक्तूबर क्रांति विजयी हुई और ईरान की उत्तरी सीमा पर एक मज़दूर-किसान राज्य का उदय हुआ, तो ईरानी जनता ने अनुभव किया कि वह अपने स्वाधीनता संघर्ष को सफल परिणति पर पहुंचा सकती है। अक्तूबर क्रांति के तुरंत बाद दिसंबर, १९१७ में ही सोवियत रूस की जन कमिसार परिषद ने "फ़ारस के विभाजन की संधि को अकृत और शून्य" घोषित कर दिया। सोवियत सरकार ने ईरान से अपनी (रूसी) फ़ौजें वापस बुलाने का निर्णय किया, ताकि ईरानी जनता "अपने भाग्य का निर्णय स्वयं कर सके।" १९१७ की समाप्ति से पहले ही रूसी फ़ौजों का हटाया जाना शुरू हो गया। सोवियत सरकार की आरंभिक आज्ञप्तियों और लेनिनीय विदेशनीति की, जिसका एक लक्ष्य उत्पीड़ित जनों के मुक्ति संग्राम का समर्थन करना भी था, सारे ईरान में बहुत ही अनुकूल प्रतिक्रिया हुई।

अक्तूबर क्रांति का प्रभाव उत्तर में, गिलान सूबे में विशेषतः महसूस किया गया, जहां १९०५-१९११ की क्रांतिकारी परंपराएं और सूबों के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा मज़बूती से जड़े जमाये हुई थीं और जहां सशस्त्र बग़ावतें युद्धकाल में भी होती रही थीं। जंगलियों के नाम से ज्ञात बाग़ी दस्ते मुख्यतया किसानों और खेत मजदूरों से बने होते थे, किंतु उनका नेतृत्व तिजारती बूर्जुआज़ी और बुद्धिजीवियों के हाथों में था, जिनका सरदार कोचक खां नाम का आदमी था। बूर्जुआज़ी और बुद्धिजीवी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए तो लड़ रहे थे, किंतु कृषि-भूमि समस्या के मूलगामी समाधान में उनमें से किसी की भी रुचि नहीं थी।

रूसी फ़ौजें हटा लिये जाने के बाद, जो १९१८ के ग्रीष्म में पूरा हुआ, ब्रिटेन ईरान को पूरी तरह अपने क़ब्ज़े में लेने, अपने मातहत बनाने और उसे पार-काकेशिया तथा मध्य एशिया पर अधिकार करने के लिए प्रस्थान-बिंदु बनाने की कोशिशें करने लगा। स्थानीय जनता और उत्तरी सूबों में स्थापित जन परिषदों के प्रतिरोध के बावजूद ब्रिटिश फ़ौजों ने रेश्त और एंज़ली (वर्तमान पहलवी) पर क़ब्ज़ा कर लिया। मेहनतकश संगठनों को भी कुचल डाला गया।

बाकू में हुए प्रतिक्रांतिकारी बलात् सत्ता-परिवर्तन और ब्रिटिश आक्रामकों की अस्थायी सफलताओं के कारण ईरान का सोवियत रूस से प्रत्यक्ष संपर्क टूट गया। इससे फ़ायदा उठाकर अगस्त, १९१९ में ब्रिटेन ने ईरान पर एक बहुत ही दुर्वह संधि थोप दी, जिसके अनुसार ईरान को ब्रिटेन का संरक्षित राज्य बनना था, उसके सभी नागरिक तथा सैनिक निकायों में ब्रिटिश सलाह-कारों की नियुक्ति होनी थी, ब्रिटिश पूंजी को व्यापक घुसपैठ के लिए तरह-तरह की रिआयतें दी जानी थीं, वग़ैरह।

ब्रिटेन के सामने घुटने-टेकने वाले ईरानी शासकों ने ईरान के साथ समानता पर आधारित मैत्री संबंध स्थापित करने और सहायता प्रदान करने के सोवियत सरकार के निष्कपट प्रस्तावों को अपनी जनता से छिपाने की भरसक कोशिश की। ईरानी सरकार के साथ वार्ताओं के लिए कोलोमीइत्सेव की अध्यक्षता में भेजे गये पहले सोवियत दूतमंडल को अंग्रेज़ों ने गिरफ़्तार कर लिया और बग़दाद निष्कासित कर दिया। कोलोमीइत्सेव को वापस मास्को पहुंचने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। २६ जून, १९१९ को सोवियत सरकार ने एक विशेष प्रपत्र जारी करके स्पष्टत: घोषित किया कि वह ज़ारशाही सरकार द्वारा ईरान से बलात् प्राप्त सभी अधिकारों और विशेष सुविधाओं को त्यागती है और उस देश में कंसेशनों के रूप में रूस की जितनी भी संपत्ति है (उसका मूल्य कोई ६०,००,००,००० स्वर्ण रूबल के बराबर था), उसे ईरानी जनता को मुफ़्त सौंप देती है। कोलोमीइत्सेव को एक बार फिर – इस बार प्रत्यायित राजनयिक प्रतिनिधि के रूप में – तेहरान भेजा गया, किंतु उसे रास्ते में ही पकड़ लिया गया और अंग्रेज़ों के आदेश पर मार डाला गया।

इन सबके बावजूद साम्राज्यवादियों और उनके एजेंटों के लिए ईरान के प्रति सोवियत सरकार के स्पष्ट तथा सिद्धांतनिष्ठ रवैये को ईरानी जनता से छिपा पाना उत्तरोत्तर कठिन होता गया।

बढ़ते हुए विदेशी हस्तक्षेप के विरुद्ध सारे ईरान में एक प्रबल देशभक्ति-प्रेरित आंदोलन छिड़ गया। ज़मींदारों और बड़े बूर्जुआज़ी समेत, जिनके रूसी मंडी के साथ तिजारती संबंध थे, ईरानी समाज के सभी वर्ग ब्रिटिश हुक्मशाही का ख़ातमा और १९१९ की अपमानजनक संधि का निराकरण चाहते थे। एकमात्र अपवाद मुट्ठीभर सामंती प्रतिक्रियावादी और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के अन्य प्रत्यक्ष एजेंट थे। ब्रिटेनविरोधी प्रदर्शनों की लहर सारे देश में दौड़ गयी और कुछ इलाक़ों में तो सशस्त्र विप्लव भी हुए।

१९२० के आरंभ में तबरीज़ में एक ज़बर्दस्त विप्लव फूट पड़ा जो शीघ्र ही सारे ईरानी आज़रबैजान में फैल गया। उसका नेता एक व्यापारी का बेटा मोहम्मद ख़ियाबानी था, जिसने १९०५-१९११ की क्रांति में भी भाग

लिया था। विप्लवियों ने अपनी सरकार बनायी और जनता ने उसका भरपूर समर्थन किया। सूबे का नाम बदलकर आज़ादिस्तान रख दिया गया। संघर्ष साम्राज्यवादी प्रभुत्व और काचर राजतंत्र द्वारा आज़रबैजानी जनता के उत्पीड़न, दोनों के विरुद्ध लक्षित था।

दुर्भाग्यवश विप्लव के राष्ट्रवादी बूर्जुआ नेता हथियारबंद जनता पर भरोसा करने और पड़ोसी सूबे गिलान के क्रांतिकारी आन्दोलन के साथ सहयोग के संबंध क़ायम करने में असमर्थ सिद्ध हुए। यहां तक कि वे शाह के सैनिकों से तबरीज़ की समुचित रक्षा का प्रबंध करने में भी नाकाम रहे और उन्होंने उनके कमांडर को एक "ग़ैर-सरकारी" आदमी की हैसियत से शहर में घुसने दिया। वहां उसने गुप्त रूप से स्थानीय गैरीज़न को अपनी ओर मिला लिया और जनता की सरकार का तख़्ता उलट दिया। खियाबानी और उसके साथियों की नृशंसतापूर्वक हत्या कर दी गयी।

किंतु अंग्रेज़ों और शाह के विरुद्ध संघर्ष इससे ख़त्म नहीं हुआ। मध्य एशिया और काकेशिया में ब्रिटिश अतिक्रमणकारियों के विरुद्ध सोवियत जनता का सफल संघर्ष ईरानी देशभक्तों का मनोबल बढ़ा रहा था। अप्रैल, १९२० में बाकू में सोवियत सत्ता फिर से क़ायम हो गयी। बहुमूल्य राजकीय संपत्ति के साथ सफ़ेद गार्ड जब अंग्रेज़ों के यहां पनाह लेने के लिए कास्पियाई व्यापारिक बेड़े के जहाज़ों में बैठकर भागे, तो सोवियत युद्धपोतों ने एंज़ली तक उनका पीछा किया। एक नौसैनिक दस्ते ने किनारे पर उतरकर शहर पर क़ब्ज़ा कर लिया। ब्रिटिश सैनिकों और सफ़ेद गार्डों को हड़बड़ाहट में वहां से भाग जाना पड़ा।

एंज़ली आपरेशन इसी दृष्टि से सफल न था कि सोवियत सरकार ने अपनी संपत्ति वापस पा ली थी। इस आपरेशन ने अंग्रेज़ों की प्रतिष्ठा पर बहुत ही करारी चोट भी की। उससे ईरानी जनता के संघर्ष को अतिरिक्त प्रोत्साहन मिला, क्योंकि वह अब सोवियत रूस की सहायता पर भरोसा कर सकती थी। १९१९ की आंग्ल-ईरानी संधि पर हस्ताक्षर करनेवाली वोसुगुद्दौला की सरकार को इस्तीफ़ा दे देना पड़ा। उसकी जगह पर जो नयी सरकार बनी, उसने संधि के क्रियान्वयन को रोकने के लिए तुरंत आवश्यक क़दम उठाये। सोवियत रूस के साथ राजनयिक संबंध क़ायम किये गये और सितंबर, १९२० में एक ईरानी दूतमंडल मास्को पहुंचा। ईरान और सोवियत राज्य के बीच मैत्री संबंधों की स्थापना में अवरोध डालने की ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की सभी कोशिशें विफल सिद्ध हुईं।

इस बीच सामंती प्रतिक्रिया और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष का पैमाना उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा था। १९२० के ग्रीष्म में गिलान सूबा राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलन का केंद्र बन गया। जून में रेश्त में कोचक ख़ां के

नेतृत्व में एक क्रांतिकारी सरकार की स्थापना की गयी। किंतु यह सरकार स्थानीय, असंगठित राष्ट्रीय मोर्चे का ही प्रतिनिधित्व करती थी। उसमें एकता का अभाव था। कोचक खां शाह के शासन के विरुद्ध दृढ़ संघर्ष तो कर रहा था, मगर वह जनवादी सुधारों का कोई सुसंगत कार्यक्रम पेश करने में असमर्थ था। अहसानुल्ला, जिसे निम्न बूर्जुआ बुद्धिजीवियों का समर्थन प्राप्त था, अति वामपंथी और दुस्साहसवादी रुझान रखता था। जुलाई में स्थापित कम्युनिस्ट पार्टी को संघर्ष का कोई अनुभव न था और प्रायः गंभीर वामपंथी ग़लतियां कर बैठती थी। उसके नेताओं ने तत्काल समाजवादी क्रांति का नारा दिया, जो कि सरासर असामयिक था – अभी तो सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के मुख्य लक्ष्य भी नहीं पाये गये थे।

ऐसी हालत में ग़लतफ़हमियां तो पैदा हुईं ही, साथ ही राष्ट्रीय एकता भी कमज़ोर बनी। इसके अलावा कोई एक ही सैनिक कमान भी नहीं थी। अहसानुल्ला के दस्ते और किसी की कमान को स्वीकार नहीं करते थे। भूतपूर्व खेत मज़दूर क़ुरबान के अपने अलग कुर्दी दस्ते थे और जहां तक कोचक खां का सवाल था, तो वह भी अपने जंगली दस्तों पर ही भरोसा करता था।

अतः जब निर्णायक घड़ी आयी, यानी जब विप्लवकारी गिलान से शाह के अधिकारियों को निकाल भगाने और सारे सूबे में अपना शासन क़ायम करने में सफल हो गये, तो उनके बीच तीव्र मतभेद उभर आये। १६ जुलाई, १६२० को कोचक खां और उसके साथियों ने रेश्त छोड़ दिया और जंगल में चले गये। इसके बाद अहसानुल्ला ने रेश्त में ईरान की अस्थायी क्रांतिकारी समिति स्थापित की, जिसमें कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधियों को भी स्थान दिया गया।

गिलान सरकार के वामपंथी कार्यक्रम के क्रियान्वयन के, जिसमें भूमि तथा अन्य संपत्ति की ज़ब्ती, निजी व्यापार पर पाबंदी, कुटीर उद्योग-धंधों का बंद किया जाना और मुल्ला-मौलवियों तथा मज़हब के ख़िलाफ़ संघर्ष जैसे क़दम भी शामिल थे, बहुत ही हानिकर परिणाम निकले। शाही सेनाओं के विरुद्ध संघर्ष में अब प्रायः पराजय ही हाथ लगने लगी। गिलान सरकार की लोकप्रियता गिरनी शुरू हो गयी।

घटनाओं में तेज़ी लाने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने बलात् सत्ता-परिवर्तन का सहारा लिया, जिसका नेतृत्व कर्नल रज़ा खां नामक भूतपूर्व नायब फ़ौजी अफ़सर की कमान में एक कज़ाक डिविजन को करना था। रज़ा खां को सैनिकों के बीच बड़ा मान प्राप्त था। २१ फ़रवरी, १६२१ को उसकी डिविजन ने राजधानी में घुसकर भूतपूर्व सरकार के मंत्रियों तथा अन्य प्रमुख राजनेताओं समेत कोई २०० व्यक्तियों को हिरासत में ले लिया। एक नयी सरकार बनायी गयी, जिसमें प्रधानमंत्री पद सैयद ज़ियाउद्दीन ने और युद्धमंत्री पद रज़ा खां ने संभाला। एक सरकारी घोषणा द्वारा जनता का

जीवन वेहतर बनाने का आश्वासन दिया गया। इसके कुछ दिन बाद, यानी २६ फ़रवरी को सोवियत-ईरानी संधि संपन्न हुई, जिसने ईरान के इतिहास में एक नये युग का समारंभ किया।

इसके वाद ब्रिटेन के लिए अपनी सेनाएं ईरान में बनाये रखना असंभव हो गया। साथ ही वह १६१६ की संधि के निराकरण के लिए सहमति देने को भी वाध्य हुआ, जिसका मतलब था कि वलात् सत्ता-परिवर्तन के ज़रिये ईरान में अपना प्रभाव बनाये रखने की उसकी योजना विफल हो गयी थी। सैयद ज़ियाउद्दीन प्रधानमंत्री पद पर देर तक न टिक सका। जहां तक रज़ा ख़ां का प्रश्न था, तो उससे भी अंग्रेज़ों को निराशा ही हाथ लगी, क्योंकि उसका उनके हाथों की कठपुतली बनने का कोई इरादा न था।

रज़ा ख़ां असल में असीम सत्ता हथियाने के स्वप्न देख रहा था। वह जानता था कि राष्ट्रीय सेना का निर्माण, केन्द्रीय शासन का सुदृढ़ीकरण, क़वायली सरदारों और सामंतों की अलगाववादी प्रवृत्तियों का नियंत्रण, कैपीटयुलेशंस प्रणाली का ख़ात्मा और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का मज़बूतीकरण किये विना काम नहीं चल सकता। क्रांतिकारी संघर्ष के केन्द्रों को निर्ममतापूर्वक कुचलने के साथ-साथ उसने सेना से ब्रिटिश सलाहकारों की बर्ख़ास्तगी, दक्षिण फ़ारसी राइफ़ल कोर का विघटन और सशस्त्र सेनाओं का पुनर्गठन शुरू कर दिया। इधर गिलान सूबे में कोचक ख़ां इस ढंग से काम कर रहा था कि उससे प्रतिक्रियावादियों के ही हाथ मज़वूत होते थे। सितंबर, १६२१ में उसके आदेश पर ईरानी कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के अध्यक्ष अली हैदर और कई अन्य क्रांतिकारियों की उस समय हत्या कर दी गयी, जब वे उसके निमंत्रण पर एक सम्मेलन में भाग लेने आये हुए थे। रेश्त और एंज़ली के कम्युनिस्ट संगठनों को तहस-नहस करके उनके नेताओं को मार डाला गया। फलस्वरूप गिलान का क्रांतिकारी आंदोलन अपंग हो गया और १६२१ के अंत में सरकारी फ़ौजों ने गिलान सूबे पर अधिकार कर लिया। स्वयं कोचक ख़ां को मारकर उसका सर तेहरान पहुंचा दिया गया।

मुक्ति संघर्ष में भाग लेनेवाले अन्य लोगों को भी मौत के घाट उतारने में कोई हिचक न दिखायी गयी। गिलान के आंदोलन को कुचलने के वाद सरकारी फ़ौजों को ख़ुरासान सूबे के विद्रोह को, जिसका नेतृत्व ममेद तग़ी नामक एक सैनिक अफ़सर कर रहा था, दवाने में कोई कठिनाई न हुई। इस सूबे में सैनिक और किसान जायदादों पर क़ब्ज़े, टैक्स न देने, आदि तरीक़ों से सामंतों और ज़मींदारों के ख़िलाफ़ संघर्ष कर रहे थे। आरंभ में कतिपय स्थानीय क़वायली सरदार भी वाग़ियों के साथ आ मिले, किन्तु शीघ्र ही वाग़ियों के ख़ेमे में फूट पड़ गयी, जिससे सरकार द्वारा उनके आन्दोलन का कुचला जाना काफ़ी आसान हो गया।

सरकारी फ़ौजों ने अन्य जन आन्दोलनों को भी क्रूरतापूर्वक कुचल डाला। ये सभी स्वतःस्फूर्त, असंगठित आन्दोलन थे और देश में अभी कोई ऐसा वर्ग न होने के कारण, जो कि उन्हें कुशल नेतृत्व या निर्देशन दे पाता, उनका असफल रहना अनिवार्य ही था।

इस बीच रज़ा खां की प्रतिष्ठा और प्रभाव में वृद्धि ही होती गयी। मंत्रिमंडल पर मंत्रिमंडल बदलते गये, जो कि शासक वर्गों के अन्दरूनी गुट संघर्षों और अन्तर्साम्राज्यवादी विरोधों का परिचायक था, लेकिन रज़ा खां हर वार युद्धमंत्री पद पर बना रहा। सर्वोच्च शासक बनने की अपनी आकांक्षा की पूर्ति में उसे भ्रष्ट तथा परजीवी काचर राजवंश के प्रति, जो कि घोर प्रतिक्रियावादी तत्त्वों से मिला हुआ था और जिसने देश को साम्राज्यवादी शक्तियों के हाथ बेच डाला था, जनता के बीच फैले व्यापक असंतोष से बड़ी मदद मिली। दिसंबर, १९२५ में संविधान सभा ने, जिसमें उसके समर्थकों का बहुमत था, उसे नया शाह घोषित कर दिया। नये राजवंश ने पहलवी की पदवी धारण की। बूर्जुआज़ी और ज़मींदारों के हितों को व्यक्त करते हुए रज़ा शाह ने उद्योग तथा परिवहन का विकास करने और विदेशी इजारेदारियों के असीम अधिकारों पर अंकुश लगाने के लिए कई क़दम उठाये। किंतु उनकी क़ीमत आम जनता को ही चुकानी पड़ी, जो पहले की भांति अब भी घोर ग़रीबी में रह रही थी और अपने राजनीतिक तथा आर्थिक हितों की रक्षा के जिसके प्रयास निरर्थक ही सिद्ध हुए थे।

रूस की अक्तूबर क्रांति के बाद ईरान के क्रांतिकारी आन्दोलन में आया उभार प्रतिक्रियावादी शक्तियों द्वारा दबा दिया गया। किन्तु ईरानी देशभक्तों की क्रांतिकारी कार्रवाइयों तथा विद्रोहों का एक महत्त्वपूर्ण नतीजा यह अवश्य निकला कि ब्रिटिश क़ब्ज़ावरों को भाग जाना पड़ा और स्वतंत्र राज्य के रूप में ईरान की सर्वसत्ता पुनर्स्थापित हो गयी।

रूसी अक्तूबर क्रांति के बाद का चीन

रूस की अक्तूबर क्रांति का सबसे प्रबल प्रभाव चीन पर पड़ा था, जो विदेशी आधिपत्य में स्थित विश्व का एक सबसे बड़ा देश था। अक्तूबर क्रांति के विचारों और फिर सोवियत रूस द्वारा प्रदत्त बहुमुखी सहायता की बदौलत चीनी जनता के मुक्ति संघर्ष में अभूतपूर्व उभार आया और चीनी मज़दूर वर्ग की राजनीतिक परिपक्वता तेज़ी से बढ़ी, जिसके फलस्वरूप मुक्ति संघर्ष नयी दिशाओं में विकास करने लगा तथा उसकी अंतिम विजय सुनिश्चित बनी।



शंघाई की सार्वजनिक मीटिंग, मई, १९१९

चीन का मज़दूर वर्ग हड़तालों और सीधी राजनीतिक कार्रवाइयों का अधिकाधिक सहारा लेने लगा, ताकि देश पर साम्राज्यवादियों के वर्चस्व को भंग किया जा सके। बात यह थी कि तत्कालीन चीन में अधिकांश मामलों में पूंजी द्वारा किया जानेवाला वर्गीय शोषण विदेशी इजारेदारियों द्वारा किये जानेवाले चीनी सर्वहारा के जातीय तथा औपनिवेशिक शोषण का ही समानार्थी था। वैज्ञानिक समाजवाद भी देश में गहरी जड़ें जमाता जा रहा था, जिसका काफ़ी कुछ श्रेय पीकिंग विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर ली ता-चाओ के, जिन्होंने आगे चलकर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना में भी सक्रिय भाग लिया, नेतृत्व में कार्यरत प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के एक समूह को था। ली ता-चाओ और उनके समानधर्मा लोगों ने प्रगतिशील मज़दूरों को मार्क्सवाद-लेनिनवाद की शिक्षाओं से और बेहतर जीवन के लिए सोवियत रूस के मेहनतकश लोगों के विजयी संघर्ष के अनुभव से परिचित कराया।

चीन के मेहनतकशों के बीच अक्तूबर क्रांति के विचारों के प्रसार का एक प्रत्यक्ष परिणाम १९१९ का साम्राज्यवादविरोधी "४ मई आंदोलन" था। उस दिन पीकिंग विश्वविद्यालय के ३००० से अधिक छात्रों ने एक जलूस निकाला और शांतुंग प्रांत को जापान के प्रभाव-क्षेत्र का हिस्सा बनानेवाली वर्साई शांति संधि को ठुकराये जाने की मांग की। इसके बाद तो सारे देश में ही साम्राज्यवादविरोधी प्रदर्शनों, राजनीतिक हड़तालों, जापानी मालों के

वहिष्कार, आदि की लहर दौड़ गयी। उनमें विद्यार्थियों के अलावा निम्न वूर्जुआज़ी और राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया, मगर सवसे आगे-आगे शंघाई और अन्य औद्योगिक केंद्रों के मज़दूर चल रहे थे।

ये घटनाएं चीन की अर्ध-औपनिवेशिक और अर्ध-सामंती व्यवस्था के ख़ात्मे के लिए किये जा रहे संघर्ष में मोड़-बिंदु सिद्ध हुईं। इसके बाद से चीनी मज़दूर वर्ग सामंतवादविरोधी संघर्ष में प्रमुख भूमिका अदा करने लगा। "४ मई आंदोलन" के पैमाने ने साम्राज्यवादी शक्तियों के कान खड़े कर दिये। चीन में अपने हितों की रक्षा करने और चीनी जनता का शोषण जारी रखने की कोशिश में उन्होंने उस विभिन्न सैन्य गिरोहों को सक्रिय बनाना शुरू कर दिया, जो चीन में उनके मुख्य अवलंब थे और साथ ही उसे कमज़ोर बनाये रखने में सहायक थे। इनमें से प्रत्येक गिरोह किसी न किसी साम्राज्य-वादी राष्ट्र का गुरगा था। मिसाल के लिए, जापानी साम्राज्यवादी आन्फ़ू के गिरोह को अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए इस्तेमाल करते थे, जिसके हाथ में उन दिनों केंद्रीय सरकार थी। उत्तर-पूर्वी चीन में भी जापानियों ने चीनी सैन्यवादियों का एक गिरोह पाला हुआ था, जिसका नेता चांग त्सो-लिन नामक एक जनरल था। यह भूतपूर्व डाकू उन दिनों चीन के कई प्रांतों की करोड़ों की आबादी को लूटने और प्रतिद्वंद्वी युद्ध-सामंतों के साथ अंतहीन लड़ाइयों में व्यस्त था। मध्य चीन जापानी सैन्यवादियों के साथ घोर प्रतिस्पर्धा में उलझे ब्रिटिश तथा अमरीकी साम्राज्यवादियों द्वारा समर्थित चीहली गिरोह का अड्डा बना हुआ था।

१९२० के मध्य में चीहली गिरोह द्वारा पीकिंग में राज्य सत्ता पर क़ब्ज़ा इसी प्रतिस्पर्धा को प्रतिबिंबित करता था।

इस बीच, सभी प्रकार के दमन के बावजूद, विदेशी साम्राज्यवादी शिकंजे के विरुद्ध और राष्ट्रीय एकता के अभाव के विरुद्ध, जो कि युद्ध-सामंतों के बीच अनवरत लड़ाइयों का परिणाम था, चीनी जनता का क्षोभ बढ़ता ही जा रहा था। देश के धनलोलुप शासकों द्वारा जापान, ब्रिटेन, फ़्रांस और अन्य साम्राज्यवादी देशों के साथ की गयी असमान संधियों की बदौलत चीन से जो इलाक़े छीन लिये गये थे, उन्हें वापस लौटाने की मांगें ज़ोर पकड़ती जा रही थीं। १९१७ के शरद में दक्षिणी चीन में क्वांगचाऊ (कैंटन) में स्थापित सुन यात-सेन की गणतांत्रिक सरकार की लोकप्रियता वढ़ती जा रही थी। विदेशी साम्राज्यवादियों और उनके चीनी एजेंटों ने सैन्य दवाव, प्रति-क्रांतिकारी विद्रोहों, आदि हर संभव तरीक़े से उसे उलटने की कोशिश की। दो वार सुन यात-सेन को क्वांगचाऊ भी छोड़ना पड़ा। किंतु क्रांति के शत्रु साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष के इस केन्द्र का वाल वांका न कर सके। १९२३ के आरंभ में सुन यात-सेन पूरी तरह क्वांगचाऊ लौट आया और उसकी

सरकार चीनी जनता के मुक्ति संग्राम का वास्तविक गढ़ बन गयी। इसमें चीनी कम्युनिस्टों का भी बहुत बड़ा हाथ था।

चीन में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना जुलाई, १९२१ में हुई। उसे अपनी पहली, संस्थापना कांग्रेस शंघाई में बहुत ही गुप्त रूप से करनी पड़ी। जैसा कि चीनी इतिहासकार भी स्वीकार करते हैं, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण चीनी जनता के मुक्ति आन्दोलन पर रूसी अक्तूबर क्रांति के प्रभाव की घनीभूत अभिव्यक्ति था। सालभर बाद पार्टी की दूसरी कांग्रेस हुई, जिसमें यह निर्णय किया गया कि पार्टी को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल (कोमिंटर्न) में शामिल हो जाना चाहिए। १९२२-१९२३ में चीनी मज़दूर वर्ग की सक्रियता में जो वृद्धि हुई, उसका श्रेय कम्युनिस्टों के प्रभाव को ही है। इन वर्षों में हांगकांग के जहाज़ियों की हड़ताल, पीकिंग-हैंकाऊ रेलवे मज़दूरों की हड़ताल, आदि अनेक बड़ी हड़तालें हुईं।

सुन यात-सेन पक्का जनवादी था। क्वांगचाऊ लौटकर वह जन-समर्थन पर पहले से भी निर्भीकतापूर्वक भरोसा करने लगा। उसने नवजात कम्युनिस्ट पार्टी में छिपी शक्ति को पहचाना और उसके साथ घनिष्ठ सहयोग की नीति अपनायी। क्वांगचाऊ में पार्टी के कार्यकलाप पर कोई क़ानूनी प्रतिबंध न थे। जून, १९२३ में यहां उसकी तीसरी कांग्रेस बुलायी गयी, जिसमें चीनी क्रांति के विकास से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय किये गये। इनमें सबसे मुख्य निर्णय कम्युनिस्टों के कुओमिंतांग* में शामिल होने से संबंध रखता था। कुओमिंतांग में कम्युनिस्टों की शिरकत की शर्त यही रखी गयी कि कम्युनिस्ट पार्टी अपनी संगठनात्मक, वैचारिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता बनाये रखेगी। यह निर्णय उपनिवेशों तथा अर्ध-उपनिवेशों में राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी की भूमिका के इस लेनिनीय मूल्यांकन पर आधारित था कि विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में भी और अर्थव्यवस्था तथा राजनीतिक ढांचे में विद्यमान घातक सामंतवादी अवशेषों को मिटाने में भी बूर्जुआज़ी अभी काफ़ी सहायक सिद्ध हो सकता है।

सुन यात-सेन अक्तूबर क्रांति को अत्यन्त महान ऐतिहासिक घटना मानते थे और सोवियत रूस के साथ संबंधों को और चीनी जनता के मुक्ति आन्दोलन में वह जो सहायता दे रहा था, उसे सर्वोच्च महत्त्व देते

---

* कुओमिंतांग—१९१२ में स्थापित एक राजनीतिक पार्टी। १९२४-१९२७ में उसने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के साथ मिलकर चीनी जनता के साम्राज्यवादविरोधी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का नेतृत्व किया। किन्तु अप्रैल, १९२७ में उसमें सक्रिय प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने, जिनका नेता च्यांग काई-शेक था, प्रतिक्रांतिकारी सत्ता-परिवर्तन करके देश में बड़े बूर्जुआज़ी और ज़मींदारों की तानाशाही स्थापित कर दी। —सं०

थे। चीनी जनवाद का समर्थन करनेवाला रूस ही एकमात्र देश था। सोवियत सरकार और सुन यात-सेन के बीच पत्र-व्यवहार १९१८ के वसन्त में ही आरंभ हो गया था। दक्षिण चीनी संसद की ओर से सुन यात-सेन द्वारा भेजे गये एक शुभकामना संदेश के उत्तर में रूसी संघ के विदेशी मामलों के जन कमिसार चिचेरिन ने लिखा था, "हमारी सफलता आपकी सफलता है... आइये, विश्वभर के सर्वहारा के साझे हितों के हेतु संघर्ष में हम अपनी क़तारें और घनिष्ठ बना लें।" १९२३ के आरंभ में सुदूर पूर्व स्थित सोवियत राजनयिक प्रतिनिधि इयोफ़्फ़े और सुन यात-सेन की कई भेंटें हुईं। उनके बाद जारी किये गये संयुक्त वक्तव्य में इस बात पर बल दिया गया कि राष्ट्रीय एकता और पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति ही चीन का सर्वोपरि कार्यभार है और "इस महान कार्य में चीन के साथ रूसी जनता की हार्दिकतम सहानुभूति है तथा वह रूस के समर्थन का भरोसा कर सकता है।"

१९२० में सोवियत सरकार को प्रेषित एक पत्र में सुन यात-सेन ने लिखा था, "आपके काम, विशेषतः आपकी सोवियतों, आपकी सेना और शिक्षा प्रणाली के बारे में जानने की मेरी अत्यधिक रुचि है।" १९२३ के शरद में चीन की क्रांतिकारी सरकार के अध्यक्ष ने पार्टी और सोवियतों के कार्य का अध्ययन करने और सोवियत संघ के सैन्य संगठन से परिचित होने के लिए एक प्रतिनिधिमंडल सोवियत संघ भेजा। कैंटन सरकार के अनुरोध पर सोवियत विशेषज्ञ चीन भेजे गये, जिन्होंने पार्टी तथा प्रशासन निकायों और सशस्त्र सेनाओं के संगठन में बड़ी मदद दी।

किंतु देश का अधिकांश भाग अभी भी युद्ध-सामंतों के नियंत्रण में था, जो हमेशा आपस में लड़ते रहते थे। पीकिंग में एक कठपुतली सरकार सत्तारूढ़ थी, जो अपने को केंद्रीय सरकार कहती थी, यद्यपि वास्तविकता इससे कोसों दूर थी। साम्राज्यवादी शक्तियों का रवैया पहले की भांति ही अवज्ञापूर्ण था और तरह-तरह की "घटनाओं" की आड़ में चीन पर नयी अपमानजनक संधियों का थोपा जाना भी जारी था। फलस्वरूप जनता के बीच असंतोष बढ़ता गया और मुक्ति आन्दोलन के प्रखरतर बनने के लिए ज़मीन तैयार हुई।

भारत में
क्रांति का अक्तूबरोत्तर ज्वार

पहले महायुद्ध में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारत की जनशक्ति, कच्चे मालों और खाद्य संसाधनों का वृहद् पैमाने पर इस्तेमाल किया था और इससे भारतीय जनता पर मुसीबतों का नया पहाड़ आ टूटा था। कृषि चौपट हो गयी थी और पैदावार में गिरावट आ गयी थी। १९१८-१९१९ में

जो भयंकर अकाल पड़ा और इन्फ़्लुएंज़ा की महामारी फैली, उनसे १,२०,००,००० लोग कालकवलित हो गये थे। मेहनतकशों और दूसरे शहरी तवक़ों की हालत तेज़ी से विगड़ती जा रही थी।

युद्धकाल में भारत के सामाजिक-आर्थिक विकास में अन्य परिवर्तन भी आये थे। भारत में तैयार मालों के आयात में भारी कमी हो जाने से ब्रिटेन भारतीय उद्योगों, विशेषतः धातुकर्म उद्योग के विकास को थोड़ा-वहुत प्रोत्साहन देने को वाध्य हो गया था। हल्के उद्योगों, खासकर कपड़ा उद्योग का भी विकास हो रहा था, जो भारत का प्रमुख उद्योग था। ब्रिटिश मालों के आयात में कमी के कारण उत्पन्न स्थिति से लाभ उठाने को आतुर जापान और संयुक्त राज्य अमरीका की भारतीय मंडी में घुसपैठ को रोकने के लिए ब्रिटिश सरकार ने १६१५ में उनके तैयार मालों पर ५ प्रतिशत आयात-प्रशुल्क लगा दिया था। १६१७ में सूती कपड़ों पर यह प्रशुल्क वढ़ाकर ७.५ प्रतिशत कर दिया गया। युद्धकाल में भारतीय वूर्जुआज़ी की स्थिति पहले से कुछ सुदृढ़ हो गयी थी और वह ब्रिटेन से महत्त्वपूर्ण राजनीतिक रिआयतों की अपेक्षा करने लगा था। फलस्वरूप, अन्य उपनिवेशवादियों की भांति ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को भी सुधारों के अस्पष्ट वायदे करने पड़े।

इधर मज़दूरों की संख्या में भी वृद्धि हुई थी, यद्यपि वे कुछ ही औद्योगिक केन्द्रों में संकेन्द्रित थे। युद्ध के अंत तक २० से अधिक मज़दूरोंवाले उद्यमों में, जिनमें प्लांटेशन भी शामिल थे, कुल मिलाकर २५,००,००० से अधिक मज़दूर काम कर रहे थे। सवसे अधिक सर्वहारा कपड़ा उद्योग में थे। किंतु, इन सव वातों के वावजूद, भारत अभी भी एक पिछड़ा खेतिहर देश ही था। उद्योगों का विकास एकांगी, औपनिवेशिक ढंग से और दस्तकारों तथा किसानों के दरिद्रीकरण की अपेक्षा कहीं धीमी गति से हो रहा था। उत्पादन साधनों का उत्पादन करनेवाले उद्योग नाममात्र को भी नहीं थे।

अपनी दिनोंदिन विगड़ती हालत देखकर स्वाभाविक ही था कि आम जनता में असंतोष वढ़ता और वह औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर देती। ऐसी परिस्थिति में रूस की अक्तूवर क्रांति ने भारत के लोगों के साम्राज्यवादविरोधी स्वाधीनता संग्राम के लिए प्रवल प्रेरणा का काम किया। मज़दूर वर्ग ने पहली वार संगठित होकर इस आंदोलन में सक्रिय भाग लिया। सारे भारत में हड़तालों की लहर दौड़ गयी। १६१८ के अंत और १६१६ के आरंभ में वंवई के कपड़ा मज़दूरों की आम हड़ताल हुई और पहली वार शहर की सड़कों पर सर्वत्र लाल ही लाल झंडे दिखायी दिये।

१६१७-१६१६ में गांवों में किसानों ने भी खुले संघर्ष की राह पकड़ ली। लड़ाई से वापस लौटे सिपाहियों से सुनी रूसी समाजवादी क्रांति और अन्य देशों के स्वाधीनता संग्रामों की कहानियों ने उन्हें तंद्रा से जगा

दिया था। अक्तूबर क्रांति के प्रभावस्वरूप शहरी निम्न बूर्जुआ तबक़ों का क्रांतिकारी आंदोलन भी तीव्र हो गया। जनवरी, १९१८ में ग़ैर-क़ानूनी रूप से निकलनेवाले समाचारपत्रों में रूसी क्रांति के नेताओं के नाम एक संदेश प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्हें "समस्त विश्व में जनवाद की स्थापना में सहायक महती विजय" के लिए बधाई दी गयी थी। संदेश में आगे कहा गया था कि "रूस की क्रांति ने भारतीय जन मानस पर बहुत ही गहरी छाप छोड़ी है। अंग्रेज़ों की सभी कोशिशों के बावजूद राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का विचार भारत तक पहुंच चुका है... ब्रिटेन अब भारत में और नहीं टिक सकता।" अक्तूबर क्रांति के बाद के वर्षों में व्ला० इ० लेनिन की भारतीय क्रांतिकारियों से कई बार मुलाक़ातें हुईं। लेनिन भारत के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की प्रगति को बड़े ध्यान से देखते रहे। १९२० में भारतीय क्रांतिकारी संघ द्वारा प्रेषित अभिवादन संदेश के उत्तर में उन्होंने बल देते हुए कहा कि इस संघर्ष की सफलता के लिए हिन्दु-मुस्लिम एकता बहुत ही ज़रूरी है: "हम मुसलमानों और ग़ैर-मुसलमानों की घनिष्ठ एकता का स्वागत करते हैं। हमारी हार्दिक कामना है कि यह एकता पूर्व के समस्त मेहनतकशों को एकता सूत्र में पिरोये।"

औपनिवेशिक सरकार ने अपने समाचारपत्रों के माध्यम से क्रांतिकारी घटनाओं के अर्थ को छिपाने, विकृत करने के प्रयास किये, मगर इसमें उसे सफलता न मिल सकी। इधर भारतीय बड़ा बूर्जुआज़ी, जो जन क्रांति की संभावना से भयभीत था, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को यक़ीन दिलाने की कोशिश कर रहा था कि सुधार लागू करने में देरी से क्रांतिकारी विस्फोट हो सकता है।

इन नयी और कठिन परिस्थितियों में अपना प्रभुत्व सुदृढ़ करने के लिए ब्रिटेन ने एक ओर तो उनका क्रूर दमन किया, जो स्वाधीनता के लिए लड़ रहे थे, और दूसरी ओर, संपत्तिधर वर्गों को कतिपय छोटी-मोटी रिआयतें दीं, ताकि उनका समर्थन प्राप्त किया जा सके। १९१८ में भारत सचिव मोंटेग्यू और वायसराय लार्ड चेम्सफ़ोर्ड ने सुधारों का एक प्रारूप प्रस्तुत किया, जो इतिहास में मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट के नाम से विज्ञात है। उसमें भारत के लिए स्वशासन का कोई प्रावधान न था। इसके बजाय वायसराय के मातहत एक द्विसदनीय विधानमंडल – राज्य परिषद (काउंसिल आफ़ स्टेट) और विधान सभा (लेजिस्लेटिव असेंबली) – बनाया जाना था, जिनके अधिकारों को सीमित रखा गया था। बड़े प्रांतों के लिए द्विसदनीय और पंजाब तथा मध्य प्रांत के लिए एकसदनीय विधानमंडल की व्यवस्था की गयी थी। शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा कृषि विभाग ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त भारतीय मंत्रियों को हस्तांतरित किये जाने थे, जबकि सभी महत्त्वपूर्ण विभागों को अंग्रेज़ों के ही हाथों में रहना था।

संपत्ति, शिक्षा, आदि विभिन्न योग्यता प्रतिबंधों के कारण मताधिकार केवल १.५ प्रतिशत भारतीय जनता को मिल सकता था। निर्वाचन प्रणाली सांप्रदायिक (धार्मिक) प्रतिनिधित्व पर आधारित की जानी थी, जो इसी का प्रमाण था कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासक हिंदु-मुस्लिम वैमनस्य को भड़काना और इस तरह समस्त भारत की जनता द्वारा ऐक्यबद्ध होकर किये जा रहे स्वाधीनता संघर्ष को क्षीण बनाना चाहते थे। जिन प्रांतों में मुस्लिम अल्पसंख्या में थे, उनमें ३० प्रतिशत और जिनमें बहुसंख्या में थे, उनमें ५० प्रतिशत स्थान मुसलमानों के लिए सुरक्षित रखे जाने थे।

मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट के आधार पर १९१९ में ब्रिटिश संसद ने भारतीय शासन अधिनियम (गवर्नमेंट आफ़ इंडिया ऐक्ट) पारित किया। इसके साथ ही प्रशासन ने क्रांतिकारी आन्दोलन के दमन को आसान बनानेवाले क़दम भी उठाये। ये क़दम मार्च १९१९ के रौलेट अधिनियमों पर आधारित थे, जो औपनिवेशिक शासकों को बिना किसी अभियोग के भी किसी भी भारतीय को हिरासत में लेने, किसी भी संगठन या समाचारपत्र पर प्रतिबंध लगाने, सभाओं को भंग करने, आदि के अधिकार देते थे।

किंतु भारत के बड़े बूर्जुआज़ी की दृष्टि में भी मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार पर्याप्त नहीं थे। अगस्त, १९१८ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक विशेष अधिवेशन ने उन्हें अस्वीकार्य घोषित किया और भारत के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वशासन दिये जाने की मांग की।

ब्रिटेन से और अधिक रिआयतें पाने की कोशिश में राष्ट्रीय कांग्रेस ने जन समर्थन का सहारा लिया। उसके नेता बड़े पैमाने पर जन प्रदर्शनों, विदेशी मालों के बहिष्कार, आदि के तरीक़े इस्तेमाल करने लगे। इसी काल में मोहनदास कर्मचंद गांधी भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के सर्वमान्य नेता के रूप में उभरकर सामने आये। उनके विचार तथा विधियां, जिनका भारत की जनता पर बेहद प्रभाव पड़ा था, राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा अपनी अधिकृत विचारधारा घोषित कर दिये गये।

गांधी साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनव्यापी अहिंसक संघर्ष – सत्याग्रह – करने की शिक्षा देते थे और कहते थे कि अहिंसक कार्रवाइयों तथा नैतिक प्रत्यायन के ज़रिये भारत स्वराज्य प्राप्त कर सकता है। उनका एक सबसे मूल्यवान योगदान यह था कि उन्होंने भारत के लाखों-करोड़ों लोगों को देश के स्वाधीनता संघर्ष में सक्रिय सहभागी बनाया। उन्होंने भारत की जनता का स्वशासन की प्राप्ति के हेतु एकताबद्ध होने का आह्वान किया और हिंदु-मुस्लिम विद्वेष भड़काने की साम्राज्यवादी कोशिशों का घोर विरोध किया। गांधी अछूतों, मज़दूरों और किसानों के पक्षधर थे, किन्तु वर्ग संघर्ष में उनकी कतई आस्था न थी और उसका वह विरोध करते थे। मेहनतकशों को स्वतंत्र

कार्रवाइयों से रोकने और आम जनता को अपने वैचारिक प्रभाव क्षेत्र में बनाये रखने को उत्सुक संपत्तिवान वर्गों ने गांधीवाद के इस पहलू से भरपूर लाभ उठाया।

गांधी का प्रभाव तब और भी बढ़ गया, जब राष्ट्रीय कांग्रेस ने रौलेट अधिनियमों के विरुद्ध, जिससे सारी ही जनता में घोर रोष व्याप्त हो गया था, सत्याग्रह अभियान आरंभ करने का कार्य उन्हें सौंपा। देश के अनेक भागों में विरोध आन्दोलन की लहर दौड़ गयी। पंजाब में उसने विशेषत: उग्र रूप धारण किया, क्योंकि सेना में अनिवार्य भरती और अनाज की वसूली से यही प्रांत सबसे अधिक प्रभावित हुआ था।

राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा घोषित अखिल भारतीय सत्याग्रह के दौरान सभी कल-कारख़ानों, सरकारी कार्यालयों और स्कूलों में काम ठप्प कर दिया जाना था और बाज़ार बंद रखे जाने थे। गांधी सोचते थे कि इन सब कार्रवाइयों के दौरान अहिंसा के सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक पालन किया जायेगा। किंतु अनेक बड़े नगरों में सत्याग्रह ने हड़तालों, प्रदर्शनों और अधिकारियों तथा पुलिस से टक्करों का रूप ले लिया। पंजाब के एक नगर में राष्ट्रीय कांग्रेस के दो वाम-पंथी नेताओं के निर्वासन को लेकर फ़साद हुए। ब्रिटिश अधिकारियों ने अभूत-पूर्व क्रूरता का परिचय देकर राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को सबक़ सिखाने की ठान ली। १३ अप्रैल, १६१६ को अमृतसर में जनरल डायर के आदेश पर सैनिकों ने एक शांतिपूर्ण सभा में भाग ले रहे हज़ारों शहरवासियों और किसानों पर गोलियां चला दीं। निहत्थी भीड़ में कोई १००० लोग मारे गये और इससे भी ज़्यादा घायल हुए। इस वहशियाना कार्रवाई के बाद सारे पंजाब में विशाल पैमाने पर गिरफ़्तारियां की गयीं और मृत्युदंड दिये गये।

किंतु ये सब घोर पाशविक कृत्य भी भारतीय जनता को भयभीत न कर सके। अप्रैल-मई, १६१६ में लगभग सारा ही पंजाब विप्लव का गढ़ बन गया। अमृतसर के जलियांवाला बाग़ हत्याकांड का समाचार आग सी तेज़ी से सारे देश में फैल गया। बंबई, कलकत्ता, मद्रास और दूसरे प्रांतों और नगरों में विराट पैमाने पर विरोध आंदोलन छिड़ गया। किन्तु उसके पास केंद्रीकृत नेतृत्व और सुस्पष्ट लक्ष्य, दोनों का ही अभाव था। फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार अत्यंत नृशंसतापूर्वक उसे दबाने में सफल हो गयी। उस काल में पूर्वी देशों के मुक्ति संघर्ष के उभार को देखते हुए व्ला० इ० लेनिन ने लिखा था, "ब्रिटिश भारत इन देशों में सबसे आगे है। भारत में क्रांति उतनी ही तेज़ी से पनप रही है, जितनी तेज़ी से कि एक ओर औद्योगिक और रेलवे सर्वहाराओं की संख्या बढ़ रही है और, दूसरी ओर, अंग्रेज़ों का, जो प्राय: बड़े पैमाने के हत्याकांडों (अमृतसर), सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाने, आदि का सहारा लेने लगे हैं, आतंक पाशविक बन रहा है।"

राष्ट्रीय कांग्रेस के बूर्जुआ और ज़मींदार नेता जनता का सहारा लेकर इस बढ़ते हुए साम्राज्यवादविरोधी आन्दोलन को ब्रिटिश सरकार से कुछ यथार्थ रिआयतें हासिल करने के लिए इस्तेमाल करना चाहते थे। अतः दिसंबर, १९२० में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में उसके कार्यक्रम तथा संविधान में संशोधन किये गये। जनव्यापी अहिंसक असहयोग आंदोलन के ज़रिये स्वराज्य प्राप्ति को संघर्ष का लक्ष्य घोषित किया गया। भारतीयों को अपनी सरकारी पदवियां और पद त्याग देने थे, सरकारी दफ़्तरों तथा स्कूलों का बहिष्कार करना था और भूमि लगान समेत किसी भी प्रकार का टैक्स नहीं देना था। टैक्सों की अदायगी से इन्कार कांग्रेस से विशेष निर्देश मिलने पर ही किया जाना था।

राष्ट्रीय कांग्रेस अब एक आधुनिक राजनीतिक पार्टी बन गयी थी और अनेक नगरों तथा गांवों में उसकी शाखाएं थीं। मज़दूरों, किसानों और कारीगरों से भी उसमें सम्मिलित होने की अपील की गयी। फलस्वरूप, १९२१ के अंत तक पार्टी की सदस्यसंख्या कोई १ करोड़ तक पहुंच गयी।

विशाल जनव्यापी पार्टी बन जाने से राष्ट्रीय कांग्रेस अब राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के प्रभाव की रक्षा और अपनी अधिकृत विचारधारा के रूप में गांधीवाद का प्रचार अधिक सहजतापूर्वक कर सकती थी। उधर राष्ट्रव्यापी असहयोग आंदोलन आबादी के व्यापकतम हल्क़ों को राजनीतिक संघर्ष में खींचता जा रहा था। अहिंसक प्रदर्शनों ने बहुत बार हिंसक कार्रवाइयों और विद्रोहों का रूप ले लिया, क्योंकि वर्गीय शांति का उपदेश मेहनतकश लोगों को अपने स्थानीय शोषकों के विरुद्ध संघर्ष से रोकने में असमर्थ था। इस मामले में मुस्लिम लीग के प्रयास भी विफल ही सिद्ध हुए। उसके प्रतिक्रियावादी नेता जनता की स्वतंत्र कार्रवाइयों से राष्ट्रीय कांग्रेस से भी ज़्यादा डरते थे, इसलिए उन्होंने भरसक कोशिशें कीं कि जन संघर्ष साम्राज्यवादी शक्तियों के हमलों से "इस्लाम की रक्षा" तक ही सीमित रहे।

इस बीच १९२०-१९२१ के युद्धोत्तरकालीन आर्थिक संकट के परिणामों ने भारत में जन आंदोलन के और उग्र होने के लिए अनुकूल परिस्थितियां पैदा कर दी थीं। संकट की ज़बर्दस्त मार ब्रिटेन पर भी पड़ी थी। उसने उपनिवेशों की जनता को बलि का बकरा बनाकर अपनी कठिनाइयों से उबरना चाहा। भारतीय उद्योग ब्रिटिश पूंजी की बढ़ती प्रतिद्वंद्विता महसूस करने लगे, जिसके फलस्वरूप भारतीय मज़दूरों का शोषण बढ़ गया, क्योंकि इस प्रतिद्वंद्विता में टिके रहने के लिए भारतीय उद्योगपतियों के सामने यही एकमात्र उपाय था। अनेकों कमज़ोर उद्यमों को बंद हो जाना पड़ा। उत्पादन में कमी से बेरोज़गारी में वृद्धि होने लगी। कृषि मालों के दाम भी गिर गये, जिससे किसानों की हालत और भी बदतर हो गयी।

इन सब बातों से क्रांतिकारी संघर्ष में तेज़ी ही आयी। कपड़ा मिलों और कई अन्य प्रमुख उद्योगों में हड़तालें हुईं। मजदूरों की कार्रवाइयां यद्यपि मुख्यतया आर्थिक मांगों से संबद्ध थीं, फिर भी वे प्राय: राजनीतिक कार्रवाइयों का रूप ले लेती थीं। इस संबंध में नवंबर, १६२१ में प्रिंस आफ़ वेल्स के दौरे के ख़िलाफ़ बंबई के मज़दूरों की चारदिवसीय राजनीतिक हड़ताल, कलकत्ता, मद्रास तथा अन्य नगरों में हुए विशाल जन प्रदर्शन, आदि उल्लेखनीय हैं। सरकार द्वारा नृशंस दमन के बावजूद मज़दूर वर्ग की संगठनबद्धता और राजनीतिक सक्रियता बढ़ती ही गयीं। बड़े शहरों में पहले कम्युनिस्ट अध्ययन मंडल और समूह पैदा होने लगे। कठोर सेंसरशिप लागू होने पर भी क्रांतिकारी मार्क्सवादी विचार देश में फैलने लगे और अवैध साहित्य के प्रसार में वृद्धि होने लगी। १६२२ में बंबई से श्रीपाद अमृत डांगे के संपादन में 'सोशलिस्ट' नामक एक मार्क्सवादी साप्ताहिक प्रकाशित होने लगा।

यद्यपि मज़दूर वर्ग का संघर्ष राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण था, फिर भी भारतीय सर्वहारा अभी अपनी ऐतिहासिक भूमिका से परिचित न था और उसने अभी अपनी पृथक् पार्टी भी नहीं बनायी थी। समाजवाद और मज़दूर आन्दोलन का सायुज्य अभी शुरू ही हो रहा था।

मज़दूर वर्ग में अभी इतनी शक्ति न थी कि किसान आंदोलन का नेतृत्व संभाल सके, जो १६२०-१६२२ में अपने पूरे उभार पर था। कुछ जगहों पर तो किसान कार्रवाइयों ने सशस्त्र विद्रोह का रूप भी ले लिया था। मगर उनके बीच संपर्क के अभाव के कारण पुलिस तथा सेना को उन्हें कुचलने में कठिनाई नहीं हुई। इन विद्रोहों में भाग लेनेवालों को दंडित करने में हिंदु और मुस्लिम ज़मींदारों ने भी ब्रिटिश सरकार को भरपूर सहयोग दिया।

संगठन की दृष्टि से किसान आंदोलन में सबसे अधिक प्रगति संयुक्त प्रांत में हुई, जहां के किसानों ने एका नाम से भारत का पहला किसान संगठन बनाया था। इन किसानों ने स्थानीय अधिकारियों की सत्ता मानने से इंकार कर दिया और अपनी पंचायतें बनायीं। एका ने किसानों का टैक्स व लगान न देने और बेदख़लियों का प्रतिरोध करने के लिए आह्वान किया। १६२२ के अंत तक १ लाख से अधिक किसान इस संगठन के सदस्य बन चुके थे।

राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं ने १६२२ में खुले आम उसकी आलोचना करते हुए किसान कार्रवाई के तरीक़ों की घोर निंदा की। कांग्रेस के ऐसे रवैये से ज़मींदारों और अधिकारियों को किसान विद्रोह का दमन करने में ही मदद मिली।

कांग्रेस के बूर्जुआ और ज़मींदार नेता जन आन्दोलन के बृहद् पैमाने, उसके उग्र स्वरूप और इस बात को देखकर डर गये थे कि वह साम्राज्यवाद

के विरुद्ध ही नहीं, वल्कि उनके सभी उपदेशों और प्रचार के वावजूद स्थानीय शोषकों के विरुद्ध भी लक्षित था। चौरी चौरा गांव की घटनाओं के वाद, जहां किसानों की उत्तेजित भीड़ ने पुलिस की ज़्यादतियों का प्रतिरोध करते हुए २१ सिपाहियों समेत सारी पुलिस चौकी को जला डाला था, राष्ट्रीय कांग्रेस की वारदोली में बैठक हुई, जिसमें ऐसी कार्रवाइयों की तीव्र भर्त्सना की गयी और कांग्रेस की सभी शाखाओं को सभी जनव्यापी कार्रवाइयां रोक देने का आदेश दे दिया गया।

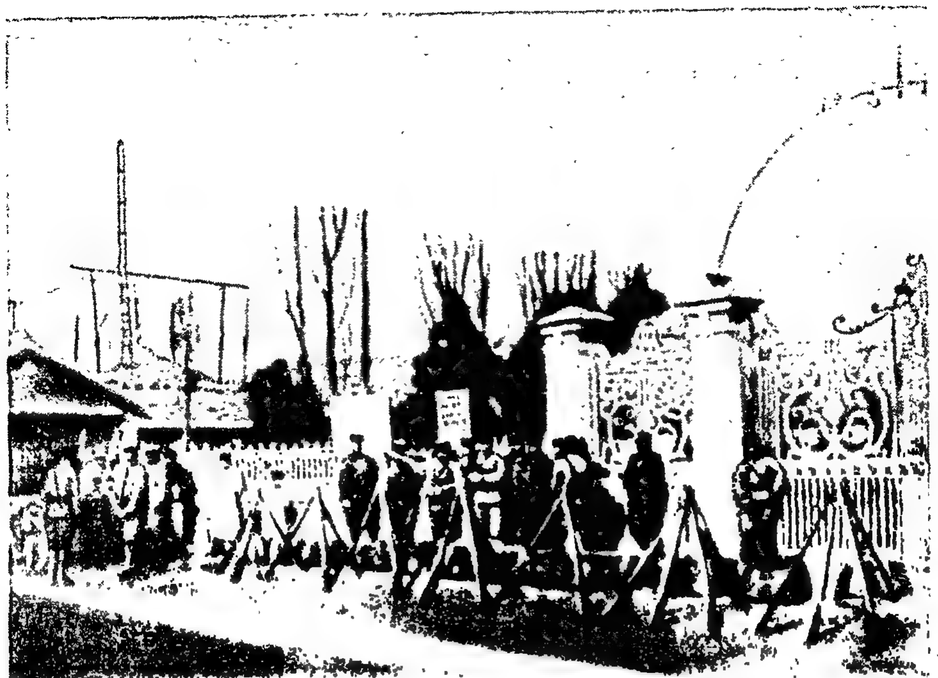
राष्ट्रीय कांग्रेस के इस आत्मसमर्पण से व्रिटिश अधिकारियों को स्वाधीनता संघर्ष के पहले युद्धोत्तरकालीन उभार को दवाने, देश पर अपना आधिपत्य वनाये रखने और देश तथा जनता का शोषण वढ़ाने में मदद मिली। किंतु व्रिटिश उपनिवेशवादियों के अपेक्षया स्थायी प्रभुत्व के युग का अव निश्चित रूप से अवसान हो चुका था। भारत की जनता अपनी स्वाधीनता के हेतु संघर्ष करने के लिए पूर्णतया जागृत हो चुकी थी।

कोरिया में मार्च, १९१९ का विप्लव

कोरिया का सोवियत सुदूर पूर्व से सान्निध्य कोरियाई जनता के वीच अक्तूवर क्रांति के विचारों के प्रसार में वड़ा सहायक सिद्ध हुआ था। लेनिनीय शांति आज्ञप्ति और सोवियत सरकार की उपनिवेशवाद उन्मूलन की अपीलें जापान का औपनिवेशिक जूआ उतार फेंकने को कृतसंकल्प कोरियाई जन की हार्दिक आकांक्षाओं के सर्वथा अनुरूप थीं। सोवियत सरकार ने कोरियाई जनता और कोरियाई क्रांतिकारी संगठनों के नाम एक संदेश में कोरियाइयों की इन आकांक्षाओं को अपना भरपूर समर्थन प्रदान किया।

अपने देश में औपनिवेशिक शोषण के कारण वहुसंख्य कोरियाई मेहनतकश रूस के प्रिमोर्ये प्रदेश में शरण लेने को वाध्य हो गये थे। इन लोगों ने न केवल अक्तूवर क्रांति का सोत्साह स्वागत किया, वल्कि यह सोचकर कि इस तरह वे अपनी मातृभूमि की मुक्ति के लिए लड़ रहे हैं, आक्रमणकारी विदेशी सेनाओं और सफ़ेद गार्डों के विरुद्ध युद्ध में सोवियत सेनाओं का साथ भी दिया। उन दिनों एक कोरियाई वटालियन के कमांडर ने लिखा था कि कोरियाइयों को यह तय करने में देर न लगी कि उन्हें रूसी क्रांतिकारियों का साथ देना है . रूसी सर्वहारा के ध्येय के लिए लड़ते हुए वे अपने ही ध्येय के लिए लड़ रहे हैं, क्योंकि उनके और रूसियों के हित भी एक ही हैं और शत्रु भी एक ही हैं।

रूस की घटनाओं ने कोरियाई मज़दूरों (१९१८ में कोरिया में कोई ४०,००० मज़दूर थे) के संघर्ष को नवीन प्रेरणा प्रदान की। क्रांति और



जापानी सैनिक सिओल के पगोडा उद्यान में (१९१९)

देशभक्ति का उन्माद समस्त कोरियाई जनता में व्याप्त हो गया। पहले महायुद्ध के वर्षों की निष्क्रियता के बाद १९१८ में छापामार दस्ते फिर सक्रिय हो उठे।* राष्ट्रीय भावनाओं का यह उभार जापान, चीन (मंचूरिया) और प्रशांत महासागर के पार संयुक्त राज्य अमरीका में रहनेवाले प्रवासी कोरियाइयों में भी देखा जा सकता था।

क्रांतिकारी भावनाओं के बढ़ते ज्वार को देखकर बूर्जुआ राष्ट्रवादी नेता भी सक्रिय बन बैठे, जिनकी दिलचस्पी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को सुधारवादी-समझौतावादी दिशा में मोड़ने में थी। १९१८ के अंत में उन्होंने स्वाधीनता आन्दोलन प्रवर्तन केंद्र नामक एक संगठन की स्थापना की।

१९१९ के आरंभ तक औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध जन विक्षोभ इतना बढ़ गया कि मामूली सी घटना भी स्थिति को बेक़ाबू बना सकती थी। २२ जनवरी को कोरिया के भूतपूर्व सम्राट ली ही की, जो अपने महल में नज़रबंद था, मृत्यु हो गयी। सारे देश में अफ़वाह फैली कि उसे जापानियों

---

* कोरिया में सशस्त्र संघर्ष रूस-जापान युद्ध के ज़माने से ही चल रहा था।

ने जहर देकर मार डाला है। सभी प्रांतों से लोग अपने स्वर्गीय सम्राट को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए सिओल पहुंचने लगे।

स्वाधीनता आन्दोलन प्रवर्तन केन्द्र ने एक स्वाधीनता घोषणापत्र जारी करने, जन प्रदर्शन करने और अपील अभियान चलाने का निर्णय किया। घोषणापत्र में कही गयी बातों से पता चलता है कि उसे तैयार करनेवाले जापानी औपनिवेशिक सरकार से समझौता कर लेना चाहते थे। उसमें जो मांगें की गयी थीं, वे बहुत ही साधारण थीं, जबकि पेरिस शांति सम्मेलन तथा संयुक्त राज्य अमरीका को संबोधित अपील को जापानी सरकार पर दबाव डालने का साधन ही माना जा रहा था।

१ मार्च, १९१९ को सिओल के पगोडा पार्क में एक विशाल जनसभा में 'स्वाधीनता घोषणापत्र' पढ़कर सुनाया गया। तुरंत ही यह स्पष्ट हो गया कि जन साधारण ने उसे जापानी क़ब्ज़ावरों को निकाल भगाने की लड़ाई के आह्वान के रूप में लिया है न कि अपील अभियान की शुरुआत के रूप में। उस रोज़ सिओल की सड़कों पर कोई ३,००,००० लोगों का जापानविरोधी जलूस निकला। हर कोई संघर्ष के लिए कृतसंकल्प था। सिओल के मज़दूरों ने कारख़ानों में काम रोक दिया।

प्रवर्तन केंद्र ने पीछे हटने की नीति अपनायी, किन्तु जापानविरोधी आन्दोलन स्वतःस्फूर्त ढंग से बढ़ता ही गया। जन प्रदर्शनों की लहर सिओल से दूसरे नगरों में भी फैल गयी।

जापानी अधिकारी शुरू में घबड़ा गये। जापानी समाचारपत्रों ने लिखा कि पुलिस और राजनीतिक पुलिस, जिन्हें अब तक अविजेय माना जाता था, अपनी साख खो बैठी हैं। शीघ्र ही सेना ने उनका स्थान ले लिया और शांतिमय प्रदर्शनकारियों के ख़िलाफ़ शस्त्रबल का नग्न प्रयोग किया गया। बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारियां होने लगीं। अकेले सिओल में ही १ मार्च के बाद १०,००० लोगों को हिरासत में लिया गया। किंतु आंदोलन के अधिकृत नेताओं के आत्मसमर्पण के बावजूद जनता अपनी ही पहल पर उपनिवेशवादियों के विरुद्ध संघर्ष का विस्तार करती गयी।

५ मार्च को सिओल में दूसरा प्रदर्शन हुआ, जिसमें विद्यार्थियों ने भी विशाल संख्या में भाग लिया। कोरियाइयों और जापानी पुलिस व सैनिकों के बीच छिटपुट सशस्त्र मुठभेड़ें हुईं, जिनका पैमाना उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। मार्च के मध्य तक २१८ में से २११ प्रांत, यानी लगभग सारा देश जन-विप्लव की चपेट में आ गया। महीना ख़त्म होते-होते विप्लवकारियों की संख्या १,७३,००० तक पहुंच गयी, और आन्दोलन में भाग लेनेवालों की संख्या २०,००,००० से ऊपर हो गयी। देशप्रेम और क्रांति के उत्साह ने जनव्यापी शौर्य और पराक्रम को जन्म दिया। अधिकृत जापानी आंकड़ों के अनुसार इस राष्ट्रव्यापी

विप्लव में ८००० कोरियाई शहीद हुए, १६,००० को गंभीर चोटें आयीं और ५३,००० को जेल भेजा गया। इससे कोरियाई देशभक्तों के संघर्ष की प्रचंडता का अनुमान लगाया जा सकता है।

कोरियाई जनता उस किशोर स्कूली विद्यार्थी मुन येन गी के बलिदान को कभी नहीं भूलेगी, जिसने एक सभा में भाषण करते हुए कोरिया का राष्ट्रीय ध्वज फहराया था और जब एक जापानी सैनिक की तलवार ने उसका दायां हाथ काट डाला, जिसमें वह झंडा पकड़े था, तो झंडा तुरंत बायें हाथ में थाम लिया था और वार पर वार होने पर भी, अंग-अंग क्षत-विक्षत हो जाने पर भी, दम तोड़ते हुए भी जो यही चिल्लाया था: "मेरे लहू का हर क़तरा नये कोरिया की जनता को प्रेरणा देगा!"

विप्लव के विराट पैमाने और उसमें भाग लेनेवालों के अपूर्व प्रतिरोध के बावजूद अप्रैल के अंत तक उसे कुचल डाला गया। देश में अभी कोई मज़दूर पार्टी नहीं थी और मज़दूर एक वर्ग के रूप में अपना स्वतंत्र संघर्ष शुरू ही कर रहे थे। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के पास नेतृत्व का अभाव था। जापानी उपनिवेशवादियों ने इससे भरपूर लाभ उठाया।

फिर भी मार्च, १९१९ के विप्लव ने कोरियाई जनता के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसके बाद से मज़दूर वर्ग राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में एक सक्रिय शक्ति के तौर पर काम करने लग गया। विप्लव दबा दिया गया था, मगर मज़दूरों की हड़तालें जारी रहीं। १९१९ में देश में १०४ हड़तालें हुईं। मज़दूर संगठन भी पैदा होने लगे। ऐसा एक संगठन १९२० में सिओल में स्थापित मज़दूर परस्पर सहायता समाज था, जिसे कोरिया का पहला ट्रेड यूनियन संगठन बनने का गौरव प्राप्त हुआ।

१ मार्च की घटनाओं ने कोरिया में मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विचारों के तीव्र प्रसार में भी योग दिया। १९२० में सिओल तथा अन्य औद्योगिक नगरों में मार्क्सवादी मंडलियां स्थापित हुईं। उसी वर्ष तोकियो में पढ़नेवाले कोरियाई छात्रों ने भी अपनी मार्क्सवादी मंडली गठित की। सोवियत रूस में रहनेवाले अनेक कोरियाई रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) में शामिल हुए। इर्कूत्स्क और शंघाई में कोरियाई प्रवासियों ने कम्युनिस्ट ग्रुपों का निर्माण किया और अपने प्रतिनिधियों को क्रांतिकारी कार्यों का संगठन करने के लिए कोरिया भेजा। क्रांतिकारी ग्रुप और मंडलियां स्वयं कोरिया में भी बनायी जाने लगीं। १९२५ में इनके आधार पर कोरिया की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की गयी।

मिस्र में
साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ बग़ावत

लगभग उसी समय जब कोरिया में विप्लव की आग धधक रही थी, सुदूर मिस्र में भी, जो १८८२ से ब्रिटेन के नियंत्रण में था, उपनिवेशवादियों के ख़िलाफ़ सशस्त्र संघर्ष शुरू हो गया था।

पहले महायुद्ध के आरंभ में मिस्र को ब्रिटेन का संरक्षित राज्य घोषित कर दिया गया था। युद्ध मिस्री जनता के लिए भारी मुसीबतें लेकर आया। १९१८ में देश में मृत्युदर जन्मदर से अधिक रही – उस वर्ष ५,००,००० से ज़्यादा लोग मरे। अतः आश्चर्य की बात नहीं कि रूसी क्रांति की विजय का मिस्र में भी सोत्साह स्वागत किया गया। १९१८ में क़ाहिरा, सिकंदरिया और पोर्ट सईद में समाजवादी मंडलियां क़ायम हुईं, जिन्होंने मिलकर समाजवादी पार्टी को जन्म दिया। १९२१ में इस पार्टी ने अपना नाम बदलकर कम्युनिस्ट पार्टी रख लिया। उसी वर्ष कम्युनिस्टों की पहल पर और उनके निर्देशन में मिस्र के मज़दूर महासंघ की स्थापना हुई, जिसने सभी ट्रेड यूनियनों को एकताबद्ध बनाया।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के खिलाफ़ असंतोष मिस्री समाज के सभी तबक़ों में व्याप्त था। विभिन्न इलाक़ों में गुप्त संगठन पैदा हो रहे थे और ब्रिटेनविरोधी पर्चे बांटे जा रहे थे। मिस्री बूर्जुआज़ी जन आंदोलन पर अपना नेतृत्व क़ायम करने की कोशिश कर रहा था। १९१८ के आख़िर में सअद जग़लूल पाशा की रहनुमाई में बूर्जुआ नेताओं ने ब्रिटिश उच्चायुक्त से मिस्री जनता को और अधिक अधिकार देने के बारे में वार्ताएं शुरू करने की प्रार्थना की। इसके बाद जग़लूल ने स्वाधीनता की मांग करने के लिए मिस्री वफ़्द* के नाम से बूर्जुआ-ज़मींदार नेताओं का एक गुट बनाया। शहरों और गांवों में एक दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर इकट्ठे किये जाने लगे, जो जग़लूल और वफ़्द के दूसरे सदस्यों को "शांतिमय वैध तरीक़ों से मिस्र के लिए पूर्ण स्वाधीनता हासिल करवाने" का अधिकार देता था। यह हस्ताक्षर अभियान काफ़ी सफल रहा।

मार्च, १९१९ के आरंभ में जग़लूल और दूसरे वफ़्द नेताओं को गिरफ़्तार करके माल्टा निर्वासित कर दिया गया। इससे जनता में क्रोध की ज़बर्दस्त लहर दौड़ गयी। जैसा कि सुप्रसिद्ध मिस्री इतिहासकार और स्वाधीनता-सेनानी अब्दर्रहमान अर-रफ़ी लिखता है, "मार्च, १९१९ में मिस्र का राजनीतिक वातावरण ऐसा हो गया था कि जैसे कोई भयंकर तूफ़ान आनेवाला

---

* वफ़्द का अर्थ प्रतिनिधिमंडल है। १९२३ में इस वफ़्द के आधार पर वफ़्द पार्टी की स्थापना की गयी।

हो।" ६ मार्च को विद्यार्थी क़ाहिरा की सड़कों पर निकल आये। अगले दिन सभी स्कूल और कालेज बंद हो गये। मज़दूर, कारीगर और व्यापारी भी विद्यार्थियों का साथ देने लगे। ब्रिटिश सैनिकों ने प्रदर्शनकारियों पर गोलियां चलायीं, पर ब्रिटेनविरोधी कार्रवाइयां इससे रुकी नहीं और उन्होंने बढ़कर सशस्त्र बग़ावत का रूप ले लिया, जो १५ मार्च तक लगभग सभी सूबों में फैल गयी। बाग़ियों ने क़ाहिरा को देश के अन्य भागों से काट दिया। सशस्त्र फ़ेल्लाहों (किसानों) ने फ़ौजें ले जानेवाली रेलगाड़ियों पर हमले किये। क़ाहिरा के ट्राम और रेल मज़दूरों, सिकंदरिया के गोदी मज़दूरों और सरकारी महकमों के कर्मचारियों ने हड़ताल की घोषणा कर दी। शहरों में गुप्त छापेख़ाने काम करने लगे, जिनमें सरकारविरोधी पर्चे छापे जाते थे।

प्रदर्शनों और सभाओं के दौरान अमन-चैन बनाये रखने के लिए क़ाहिरा में देशभक्त पुलिस दस्ते गठित किये गये। अनेक नगरों और गांवों में क्रांतिकारी समितियां बनायी गयीं, जो स्थानीय शासन चलाने लगीं। कभी-कभी इन समितियों को सोवियतों के नाम से भी पुकारा जाता था। बग़ावत मिस्री जनता पर रूस की अक्तूबर क्रांति के प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण थी। मिस्री इतिहासकार अश-शफ़ी लिखता है, "मानवजाति के इतिहास में पहली बार एक ऐसी बड़ी शक्ति का उदय हुआ था, जो न तो किसी को अपना उपनिवेश बनाना चाहती थी, न किसी पर क़ब्ज़ा करना चाहती थी और न किसी का शोषण करने का ही इरादा रखती थी। उसने विश्व की सभी राष्ट्रीय मुक्ति शक्तियों का पक्ष लिया। वह सअ़द ज़ग़लूल को हथियार देने को तैयार थी, लेकिन वह डर गया और उसने सहायता प्रस्ताव को ठुकरा दिया।"

वफ़्दियों ने अनिश्चय और ढुलमुलपन का परिचय दिया। जन संघर्ष के इतने विशाल पैमाने को देखकर वे भयभीत हो गये थे। दूसरी ओर, देशभक्त तत्त्वों के पास केंद्रीय नेतृत्व का अभाव था। अप्रैल के आरंभ तक ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने अपने शस्त्र बल से बग़ावत को कुचल डाला। किन्तु वे गिरफ़्तार वफ़्दियों को रिहा करने और उन्हें पेरिस शांति सम्मेलन में जाने की अनुमति देने के लिए भी बाध्य हुए। पेरिस में ज़ग़लूल पाशा के हाथ कुछ भी न लगा और वर्साई संधि ने मिस्र पर ब्रिटेन के संरक्षकत्व की पुष्टि कर दी। इस संरक्षकत्व को संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन से सरकारी तौर पर मान्यता भी मिल गयी।

किन्तु पराजय से मिस्री जनता का मनोबल टूटा नहीं। १९२१ के अंत में उसने एक बार फिर बग़ावत कर दी। हालांकि अंग्रेज़ी फ़ौजों ने हथियारों के बूते पर उसे भी दबा दिया, ब्रिटिश अधिकारी अपनी कार्यनीति बदलने और कुछ रिआयतें देने को मजबूर हुए। फ़रवरी, १९२२ में ब्रिटिश सरकार ने मिस्र पर अपना संरक्षकत्व ख़त्म करने और उसे "स्वाधीनता" देने की

घोषणा की। लेकिन देश में ब्रिटिश फ़ौजें पहले की भांति ही तैनात रहीं। इस क़ब्ज़ावर सेना को निकाल बाहर करना अब मिस्री जनता के राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम का मुख्य उद्देश्य बन गया।

१९२४-१९३९ में एशियाई और अफ़्रीकी देशों के मुक्ति आंदोलन

क्रांतिकारी आंदोलनों के युद्धोत्तरकालीन उभार के बाद उपनिवेशों में वर्गीय लड़ाइयों का जो नया दौर शुरू हुआ, वह इसी बात का परिचायक था कि तीसरे दशक के मध्य के पूंजीवाद की आंशिक स्थिरता बालू की बुनियाद पर टिकी हुई थी। सीरिया और लेबनान की जनता के राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम, फ़्रांसीसी-रिफ़ युद्ध और १९२६-१९२७ का इंडोनेशिया का विद्रोह दिखाते थे कि औपनिवेशिक प्रणाली का संकट गहनतर होता जा रहा है। १९२४ में चीन में साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध क्रांति शुरू हो गयी। चौथे दशक में उत्पीड़ित जनों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की ज्वाला पुनः भड़क उठी। भारत अपनी स्वाधीनता के लिए अब पहले से अधिक दृढ़तापूर्वक संघर्ष करने लगा। साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक प्रणाली के ध्वंस में भारत और चीन के मुक्ति संग्रामों ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

स्पेनी और फ़्रांसीसी उपनिवेशवादियों के विरुद्ध मोरक्कोवासियों का संघर्ष

पहले महायुद्ध के आरंभ तक स्पेन ने मोरक्को के भूमध्यसागरीय तट क्षेत्र में भली भांति पैर जमा लिये थे, किन्तु देश के भीतर के कई पहाड़ी इलाक़ों की जनता अपना प्रतिरोध यथावत् जारी रखे हुई थी। इस प्रतिरोध आन्दोलन का केन्द्र रिफ़ प्रदेश था, जिसके निवासी लड़ाकू ख़ानाबदोश क़बीलों को अपनी आज़ादी बेहद प्यारी थी।

पहले महायुद्ध के बाद स्पेन ने अपने विजित क्षेत्रों का विस्तार करने की कोशिश की। उसने इस इलाक़े पर भी हमला किया, जहां जिबाला नामक एक सबसे बड़ा रिफ़ाई क़बीला रहता था। रिफ़ाई स्पेनी फ़ौजों से टक्कर मोल लेना नहीं चाहते थे, मगर स्पेनी सैन्यवादियों का दुस्साहस घटने के बजाय उल्टे बढ़ता ही गया।



रिफ़ाई रिसाला (१९२५)

१९२१ के आरंभ में २४,००० सिपाहियों की स्पेनी फ़ौज रिफ़ाइयों के इलाक़े में और-और अंदर घुसने लगी और एक के बाद दूसरे गांव पर क़ब्ज़ा करती गयी। रिफ़ाइयों के नेता अब्देल करीम ने, जो दो साल से ज़्यादा स्पेनी जेल में रह चुका था, लड़ाई से बचना चाहा। यह सोचकर कि उसकी फ़ौज हमलावरों का मुक़ाबला करने के लिए नाकाफ़ी है, उसने बार-बार स्पेनी सेना के कमांडर जनरल सिल्वेस्टर के सामने सुलह का प्रस्ताव रखा, मगर स्पेनी तो सुलह के बारे में सुनना भी नहीं चाहते थे।

मजबूर होकर अब्देल करीम को लड़ाई के मैदान में उतरना पड़ा और २१-२६ जुलाई, १९२१ को आंवल की लड़ाई में स्पेनी फ़ौज को बुरी तरह पराजित कर दिया गया। स्पेनियों से २०,००० राइफ़लें, २०० तोपें, ३०० मशीनगनें और बहुत सा दूसरा सामान, रसद तथा दवाइयां भी छीन ली गयीं। इस विजय का उत्तरी अफ़्रीका के सभी निवासियों पर बहुत बड़ा असर पड़ा और स्वाधीनता-प्राप्ति की संभावना में उनका विश्वास और पक्का बन गया। १९ सितंबर, १९२१ को नवस्थापित राष्ट्रीय सभा ने स्वतंत्र रिफ़ गण-राज्य की घोषणा कर दी, जिसका राष्ट्रपति अब्देल करीम को चुना गया।

गृहनीति के क्षेत्र में नवजात गणराज्य की नीतियां अपनी प्रतिरक्षा क्षमता में वृद्धि की ओर लक्षित थीं। विदेशनीति के क्षेत्र में उसने सभी देशों के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की।

स्पेनी उपनिवेशवादियों के विरुद्ध संघर्ष अभी खत्म नहीं हुआ था। अतः

रिफ़ गणराज्य ने मोरक्को पर आधिपत्य जमाने के लिए आपस में लड़ रहे प्रमुख उपनिवेशवादी देशों – स्पेन, फ़्रांस और ब्रिटेन – के परस्पर विरोध से लाभ उठाने की कोशिश की। अब्देल करीम स्पेन के विरुद्ध संघर्ष के लिए फ़्रांस से समर्थन व सहायता पाना चाहता था और सचमुच लड़ाई के आरंभ में फ़्रांसीसी जासूसों ने इस आशा से रिफ़ाइयों को हथियार सप्लाई किये भी कि स्पेनियों की स्थिति कमजोर हो जायेगी और तब उन्हें तांजीयर से खदेड़ा जा सकेगा। रिफ़ाइयों को हथियार ब्रिटिश और जर्मन निर्माताओं से भी मिले। किन्तु इन हथियारों ने कोई निर्णायक भूमिका अदा नहीं की और लड़ाइयों में स्पेनियों से छीने गये हथियार ही विद्रोहियों के मुख्य सप्लाई स्रोत बने रहे।

१९२२ के ग्रीष्म में अब्देल करीम ने दो प्रतिनिधिमंडल भेजे – एक फ़ैज में फ़्रांसीसियों के पास और दूसरा लंदन। फ़्रांसीसियों के समक्ष रिफ़ गणराज्य को मान्यता देने और व्यापार समझौता करने का प्रस्ताव रखा गया। किंतु उसे स्वीकार नहीं किया गया। ब्रिटिश सरकार के नाम पत्र में रिफ़ाइयों ने स्पेन के साथ समझौता वार्ता शुरू करने में ब्रिटिश मदद मांगी थी। अब्देल करीम ने समानता के आधार पर सभी देशों के उद्योगपतियों तथा व्यापारियों के लिए गणराज्य के द्वार खोलने की घोषणा भी की थी।

किंतु ब्रिटिश सरकार ने भी नकारात्मक प्रतिक्रिया ही दिखायी, क्योंकि उसे डर था कि रिफ़ाई क़बीलों की सफलता कहीं मिस्रियों और अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों के लिए मिसाल न बन जाये। इस प्रकार साम्राज्यवादविरोधी आंदोलनों का भय फ़्रांस तथा स्पेन के साथ प्रतिद्वंद्विता से कहीं अधिक प्रबल सिद्ध हुआ।

शांतिमय तरीक़ों से अपने देश को स्वाधीन करवाने में असफल होकर रिफ़ाई सेना ने जून, १९२४ में एक व्यापक मुहिम चला दी। उधर स्पेनी फ़ौजों के पिछवाड़े में बलवे भी शुरू हो गये थे। अतः इसकी पूरी-पूरी संभावना नज़र आने लगी कि स्पेनी सेना को समुद्र में धकेल दिया जायेगा और देश को क़ब्ज़ावरों से मुक्त करवा लिया जायेगा।

किंतु रिफ़ाई कमान कुछ गंभीर ग़लतियां कर बैठी, जैसे विजय अभियान को उसकी परिणति पर न पहुंचाना और शत्रु सेना जिस जगह से पुनः हमले कर सकती थी, उसे उसके अधिकार में ही रहने देना। फिर भी स्पेनियों पर प्राप्त विजय से रिफ़ गणराज्य की सैनिक-राजनीतिक स्थिति काफ़ी सुदृढ़ बनी। अब्देल क़रीम रिफ़ प्रदेश के अलावा स्पेनी मोरक्को के सारे पश्चिमी भाग पर भी अपनी सरकार का नियंत्रण स्थापित करने में सफल हो गया था। गणराज्य अब एक केंद्रीयकृत मुस्लिम राज्य बन गया था, जिसका क्षेत्रफल २०,००० वर्ग किलोमीटर, जनसंख्या ५,००,००० और सैनिकों की संख्या ५०,००० थी।

उधर मोरक्को के पूर्वी भाग पर १९२२ में फ़्रांसीसी संरक्षकत्व की स्थापना के बाद भी स्थानीय जनता द्वारा उपनिवेशवादियों का प्रतिरोध समाप्त नहीं हो पाया था और विभिन्न पहाड़ी और रेगिस्तानी क़बीले फ़्रांसीसी नियंत्रण से बाहर ही बने रहे थे। देश के दक्षिणी तथा दक्षिण-पश्चिमी प्रदेशों ने भी अपनी स्वतंत्रता नहीं खोयी थी।

रिफ़ गणराज्य की स्थापना और उसकी सफलताओं ने फ़्रांसीसी शासकों के विरुद्ध मोरक्को के क़बीलों के संघर्ष के लिए अनुकूल परिस्थितियां तैयार कर दी थीं, फ़्रांसीसी साम्राज्यवादी भी जानते थे कि रिफ़ गणराज्य की शक्ति में वृद्धि से राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष को और अधिक प्रोत्साहन मिलेगा। अतः स्पेनियों को हारता देखकर फ़्रांसीसियों ने रिफ़ गणराज्य पर हमले की व्यापक तैयारियां शुरू कर दीं।

१९२४ के वसंत में फ़्रांसीसी रेज़ीडेंट-जनरल मार्शल लिओते ने अपनी सेनाओं को स्पेनी और फ़्रांसीसी क्षेत्रों की सीमा के पास स्थित उएर्गा घाटी की ओर कूच करने का आदेश दे दिया। इस इलाक़े पर फ़्रांस और स्पेन, दोनों ही १९१२ से दावा करते आ रहे थे। रिफ़ गणराज्य की सरकार उस इलाक़े से अपनी सेनाएं हटाने को सहमत हो गयी, जिसे फ़्रांसीसी अपना समझते थे। किंतु रिफ़ाइयों के सौहार्दपूर्ण प्रस्ताव को ठुकराकर फ़्रांसीसी सेनाओं ने २७ मई को उएर्गा नदी पार कर ली और रिफ़ाइयों के प्रतिरोध को कुचलकर सारे इलाक़े पर क़ब्ज़ा कर लिया।

अब्देल करीम फ़्रांस के साथ लड़ाई में उलझने से बचना चाहता था, क्योंकि वह जानता था कि फ़्रांस के पास रिफ़ गणराज्य की कुल जनसंख्या से भी बड़ी फ़ौज है। मार्च, १९२५ के उत्तरार्ध में रिफ़ाइयों के प्रतिनिधि फ़्रांसीसियों से मिले और सभी विवादास्पद मसलों को शांतिमय तरीक़ों से हल करने की इच्छा प्रकट की। साथ ही उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि फ़्रांस ने गणराज्य के क्षेत्र पर अवैध रूप से क़ब्ज़ा किया हुआ है और फ़्रांसीसी मोरक्को तथा रिफ़ गणराज्य के बीच सीमाओं के सही-सही निर्धारण के लिए एक आयोग नियुक्त किया जाना चाहिये। फ़्रांसीसियों ने रिफ़ाइयों के इस सुझाव को भी ठुकरा दिया और अप्रैल, १९२५ में उएर्गा घाटी में वृहद् पैमाने पर सामरिक कार्रवाइयां शुरू कर दीं। लड़ाइयों में फ़्रांसीसियों को बार-बार मुंह की खानी पड़ी, हालांकि उनके हवाई जहाज़ों, तोपों और टैंकों के मुक़ाबले में रिफ़ाइयों के पास केवल राइफ़लें ही थीं।

इन असफलताओं ने फ़्रांसीसी सरकार को स्पेन के साथ सुलह और सांठगांठ करने को मजबूर किया। जून, १९२५ में दोनों साम्राज्यवादी ताक़तों के बीच सैन्य सहयोग और रिफ़ गणराज्य की नाकेबंदी के बारे में एक समझौता हो गया। इसके साथ ही रिफ़ाइयों के साथ भावी शांति संधि की संयुक्त शर्तें

भी तय की गयीं, जिनके अनुसार रिफ़ गणराज्य को फ़्रांस तथा स्पेन की आधीनता स्वीकार कर लेनी थी।

फ़्रांसीसी कमान ने इस बीच मोरक्को में काफ़ी फ़ौज जमा कर ली थी। फ़्रांसीसी हवाई जहाज़ों ने रिफ़ाई नागरिक बस्तियों पर बर्बर बमबारी शुरू कर दी। किंतु अब्देल करीम फ़्रांसीसियों पर हमले करता रहा और एक के बाद दूसरी सफलता पाता गया। उसने फ़्रांसीसी तथा स्पेनी आक्रामकों के विरुद्ध युद्ध में शामिल होने के लिए अल्जीरिया और ट्यूनीशिया की जनता का भी आह्वान किया और एक स्वतंत्र मुस्लिम गणराज्य बनाने का प्रस्ताव रखा, जिसमें कि सारा ही उत्तरी अफ़्रीका शामिल होता। किंतु इस भूभाग की जनता अभी सशस्त्र कार्रवाइयों के लिए तैयार न थी।

सितंबर के आरंभ में स्पेनियों ने अल्हूसेमास के पास अपने सैनिक उतार दिये। इसके साथ ही फैज़ के इलाक़े में २,००,००० फ़्रांसीसी सैनिकों ने जनरल पेतें के निर्देशन में आम धावा भी बोल दिया। रिफ़ाई एक साथ दो मोर्चों पर लड़ने को बाध्य हुए। ३० सितंबर को स्पेनियों ने राजधानी पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद तो सारी ही युद्धक्षम रिफ़ाई आबादी युद्ध के मैदान में उतर आयी। किंतु स्पेनी और फ़्रांसीसी सेनाएं शस्त्रास्त्रों और संख्या के मामले में इतनी उत्कृष्ट थीं कि मई, १९२६ में वे रिफ़ाई सेना को विभाजित करने और उसे घेरे में ले लेने में कामयाब हो गयीं।

प्रतिरोध जारी रखना व्यर्थ समझकर रिफ़ाई नेता ने हथियार डालने का फ़ैसला कर लिया। फिर भी २६ मई को फ़्रांसीसी और स्पेनी विमानों ने उस गांव पर बमबारी की, जहां अब्देल क़रीम ठहरा हुआ था। "मुझे आश्चर्य है," शत्रु के हाथ में पड़ जाने पर अब्देल करीम ने फ़्रांसीसी अफ़सरों से कहा था, "कि इस बार आपके हवाई जहाज़ों ने मर्दों को मारा। आम तौर पर वे औरतों को मारा करते थे। आपकी सभ्यता बारूदी सभ्यता है। आपके पास बड़े बम हैं, इसलिए आप सभ्य हैं। मेरे पास चूंकि बंदूक़ की गोलियां ही हैं, इसलिए मैं बर्बर, असभ्य हूं।" अब्देल करीम के आत्मसमर्पण के बाद भी लड़ाई कुछ समय तक चलती रही, क्योंकि कई क़बीलों ने हथियार डालने से इन्कार कर दिया था।

२० जून, १९२६ को स्पेन और फ़्रांस ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये, जिसके अनुसार अब्देल करीम को कालापानी देकर रीयूनियों द्वीप भेज दिया गया। फ़्रांसीसी मोरक्को और स्पेनी मोरक्को के बीच की सीमा एक संयुक्त आयोग द्वारा निर्धारित की गयी।

मोरक्को की जनता के स्वाधीनता संग्राम के एक सबसे पराक्रमपूर्ण अध्याय का इस प्रकार अंत हुआ। मामूली हथियारों से ही लैस कोई ६०,०००–७०,००० स्वाधीनता सैनिकों ने दो यूरोपीय ताक़तों – फ़्रांस और स्पेन – के

आधुनिकतम हथियारों से लैस कोई ३,००,००० सैनिकों से ज़बर्दस्त लोहा लिया था। औपनिवेशिक पूरब की जनता, विशेषत: अल्जीरिया और ट्यूनीशिया के अरबों की पूरी सहानुभूति इन स्वाधीनता सैनिकों के साथ थी। अब्देल करीम की विजय के लिए सुदूर भारत और इंडोनेशिया में भी लोगों ने दुआएं मांगी थीं और विद्रोहियों की मदद के लिए चंदा दिया था। फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी ने भी मोरक्को में चल रहे औपनिवेशिक युद्ध का सक्रिय विरोध किया था और इसमें उसे फ़्रांस के मेहनतकश तबक़ों से व्यापक समर्थन मिला था।

सोवियत संघ में भी जनता की पूर्ण सहानुभूति निरपवाद रूप से मोरक्को के स्वतंत्रता सैनिकों के साथ थी। उस काल में देशभर में हज़ारों मीटिंगें हुईं, जिनमें सोवियत लोगों ने उपनिवेशवादी डाकुओं की कटु भर्त्सना और फ़्रांसीसी तथा स्पेनी हमलावरों के साम्राज्यवादी अतिक्रमण तथा आतंक को तुरंत रोकने की मांगें कीं।

सीरिया और लेबनान का राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम

पहले महायुद्ध के बाद सीरिया को, जो पहले तुर्की का एक प्रांत था, फ़्रांसीसी अधिदिष्ट क्षेत्र बना दिया गया था। इसका नतीजा यह निकला कि वह अपनी परंपरागत मंडियों से कट गया और आर्थिक संकट में फंस गया। अनेक छोटे-मोटे उद्योग-धंधे बद हो गये, मज़दूरों की रोज़ी-रोटी छिन गयी और मालिकों का दिवाला निकल गया।

फ़्रांसीसी शासन के प्रति जनता का बढ़ता असंतोष अनेकानेक प्रदर्शनों, विरोधात्मक कार्रवाइयों और स्वत:स्फूर्त विद्रोहों के रूप में प्रकट होने लगा। १९२०-१९२४ में ऐसे छह विद्रोह हुए।

ऐसी स्थिति में फ़्रांसीसी सरकार को झुकने का नाटक करना पड़ा। सीरिया में फ़्रांस के उच्चायुक्त ब्लेअर को, जो अपने अति-प्रतिक्रियावादी और कट्टर धार्मिक विश्वासों के लिए कुख्यात था, हटा दिया गया। सराइल को नया उच्चायुक्त बनाया गया, जो "रेडिकल" और "अनीश्वरवादी" था। उसने दिखावे के लिए कई उदारपंथी सुधार किये और राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी को लोक पार्टी बनाने की इजाज़त दे दी।

किंतु नये उच्चायुक्त का उदारपंथी होने का ढोंग अधिक दिन न चला। जन आंदोलन के बढ़ने का संकेत मिलते ही उसने प्रेस की आज़ादी पर अत्यंत कठोर पाबंदियां लगा दीं और लोक पार्टी के ख़िलाफ़ दमन अभियान छेड़



दमिश्क में बग़ावत कुचल दिये जाने के बाद (१९२६)

दिया, जिसके नेता या तो गिरफ़्तार कर लिये गये या विदेश भागने को मजबूर हो गये।

उपनिवेशवादियों की इन कार्रवाइयों से स्थिति और बिगड़ गयी। जनता इस बात से भी बहुत क्षुब्ध थी कि सरकार ने भूमि लगान की मात्रा पर लगी पाबंदियां हटा दी थी, जो वैसे भी किसानों के लिए असह्य बोझ बना हुआ था। फिर जब सराइल के आदेश पर बेरूत में प्रदर्शनकारियों की भीड़ पर सैनिकों ने गोलियां चलायीं, तो सारे सीरिया में बग़ावत का फूट पड़ना अनिवार्य सा हो गया। रिफ़ाई क़बीलों के शौर्यपूर्ण संघर्ष, तुर्की और चीन की क्रांतियों और सोवियत संघ की उपलब्धियों ने सीरियाई मुक्ति आंदोलन का हौसला बुलंद कर दिया था। इसके अलावा, रिफ़ युद्ध ने फ़्रांस को अपनी काफ़ी सेना मोरक्को भेजने पर बाध्य कर दिया था, जिससे सीरिया में कम ही औपनिवेशिक सैनिक रह गये थे।

बग़ावत की शुरुआत दुर्गम पहाड़ी इलाक़े में हुई, जहां द्रूज़ नामक क़बीले रहते थे। इनकी कुल आबादी ५०,०००-७०,००० थी और सामाजिक ढांचा पितृसत्तात्मक तथा सामंतवादी ढंग का था। द्रूज़ों के प्रति फ़्रांसीसियों का रवैया बहुत ही दर्पपूर्ण था। इस इलाक़े में अनेक ताज़ीरी अभियान भेजे गये थे और सामुदायिक भूमि का बंटवारा किया जाने लगा था। इसी बीच

फ़्रांसीसियों ने बड़े द्रूज़ क़बीलों के सरदारों को छलपूर्वक बुलाकर उन्हें बंधक बनाकर रख लिया था। द्रूज़ों के सब्र का प्याला लबरेज़ हो उठा और १८ जुलाई, १९२५ को उन्होंने सशस्त्र बग़ावत कर दी।

द्रूज़ इलाक़े के मुख्य शहर अस सुवेइदा में अखिल द्रूज़ राष्ट्रीय संघ की स्थापना की गयी, जिसने एक राष्ट्रीय सरकार बनायी। इस सरकार का प्रमुख एक पर्वतीय गांव का शेख़ सुल्तान पाशा अल-अतराश था, जिसने १९२२ की बग़ावत का भी नेतृत्व किया था और इसलिए फ़्रांसीसियों से लड़ने के मामले में काफ़ी अनुभवी था। अल-अतराश ने एक मेनीफ़ेस्टो जारी करके सीरियाई जनता का अपनी स्वाधीनता के हेतु जेहाद छेड़ने के लिए आह्वान किया। बाग़ियों ने रिफ़ाइयों और सऊदी अरब के क़बीलों से भी संपर्क स्थापित करने की कोशिशें कीं।

अगस्त के आरंभ में द्रूज़ों ने एक फ़्रांसीसी ताज़ीरी फ़ौज को करारी मात दी और बहुत बड़ी मात्रा में तोपों, मशीनगनों, राइफ़लों और गोला-बारूद तथा रसद से लदी गाड़ियों पर क़ब्ज़ा कर लिया। इस तरह वे और भी कई सशस्त्र किसान दस्ते बना सके। फ़्रांसीसियों ने द्रूज़ों पर हवाई बमबारी की, लेकिन पहाड़ी इलाक़ों में उसका वांछित परिणाम न निकल सका।

इस बीच बग़ावत की आग फैलती जा रही थी और बहुत से दूसरे तबक़े भी उसमें शामिल होते जा रहे थे। द्रूज़ों की मुख्य शक्ति किसान थे, किन्तु क़ब्ज़ावरों के खिलाफ़ सशस्त्र मुठभेड़ों में मजदूरों ने भी सक्रिय भाग लिया और हड़तालों तथा कामबंदी द्वारा विद्रोहियों की सहायता की। संघर्ष में शहरी निम्न बूर्जुआज़ी, विद्यार्थियों और बुद्धिजीवियों ने भी योग दिया। आरंभिक दिनों में बग़ावत को राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी और कुछ सामंती ज़मींदारों का समर्थन भी मिला, जो सोचते थे कि वे स्वयं उसके नेता बन बैठेंगे। किंतु पहली ही असफलताओं के बाद उनमें से अधिकांश ने उससे किनाराकशी कर ली।

जनता में दहशत फैलाने के लिए फ़्रांसीसियों ने पाशविक दमन का सहारा लिया। दमिश्क की सड़कों पर सामूहिक फांसियां दी गयीं। किन्तु इस "लाशों की परेड" ने जनता को आम बग़ावत छेड़ देने के लिए ही प्रेरित किया। १८ अक्तूबर, १९२५ को छापामारों और दमिश्क के विद्रोही नागरिकों ने नगर के कई इलाक़ों पर अधिकार कर लिया। सराइल ने नगर पर गोलाबारी और हवाई बमबारी करने का आदेश दिया। दो ही दिन में प्राचीन नगर और उसके शानदार वास्तु तथा कला स्मारक खंडहरों का ढेर बनकर रह गये। कोई २५,००० निवासियों को, जिनमें औरतें और बच्चे भी थे, जान से हाथ धोना पड़ा। किंतु यह बर्बर कार्रवाई भी सीरियाइयों का मनोबल न तोड़ सकी। नवंबर, १९२५ तक राष्ट्रीय मुक्ति सेना के योद्धाओं

की संख्या ४०,००० तक पहुंच गयी। फ़्रांसीसियों के अधिकार में अब कुछ बड़े नगर ही रह गये थे, जैसे दमिश्क, अलेप्पो, होम्स और हामा।

दमिश्क पर बर्वर बमबारी और गोलाबारी से सारे विश्व में क्षोभ की ज़बर्दस्त लहर दौड़ गयी थी। मध्य पूर्व में प्रभाव विस्तार के लिए फ़्रांस से प्रतिस्पर्धा करनेवाली साम्राज्यवादी ताक़तों, विशेषत: ग्रेट ब्रिटेन ने इस घटना को अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए इस्तेमाल करना चाहा। लेकिन सीरियाई बग़ावत से स्वयं ब्रिटिश शासक हल्के भी कम चिंतित न थे, क्योंकि उसका फ़िलस्तीन और इराक़ पर भी प्रभाव पड़ रहा था, जो ब्रिटेन के अधिकार में थे। मोसूल (इराक़) में अरब राष्ट्रीय पार्टी ने "सीरियाई भाइयों" के समर्थन की अपील करते हुए एक मेनीफ़ेस्टो भी जारी कर दिया था।

नवंबर, १९२५ में एक अनुभवी राजनयज्ञ ज़ूवेनेल को सीरिया में उच्चायुक्त बनाया गया। उसने पहला काम यह किया कि लंदन जाकर ब्रिटिश सरकार के साथ एक समझौता संपन्न किया। मोसूल पर ब्रिटिश दावों के फ़्रांसीसी समर्थन के बदले में ब्रिटेन सीरिया की बग़ावत को दबाने में फ़्रांस का साथ देने को तैयार हो गया। फ़्रांस को सहायता देने के मामले में संयुक्त राज्य अमरीका भी पीछे न रहा। अमरीकी नागरिकों की सुरक्षा के बहाने दो अमरीकी ध्वंसक पोत बेरूत भेजे गये, मगर वास्तविक लक्ष्य सीरियाइयों को लेबनानी सागर तट तक पहुंचने से रोकना था।

फ़्रांसीसी राजनय ने अरब संगठनों के बीच अंतर्कलह के बीज बोने में कोई कसर नहीं उठा रखी। नवंबर, १९२५ के मध्य में ज़ूवेनेल ने सीरियाई राष्ट्रवादी नेताओं के साथ वार्ताएं आरंभ कीं। सीरियाई पक्ष का प्रतिनिधित्व सीरिया-फ़िलस्तीन कांग्रेस, जो सीरिया, लेबनान और फ़िलस्तीन की विभिन्न बूर्जुआ-राष्ट्रवादी पार्टियों का संयुक्त संगठन थी, की कार्यकारिणी कर रही थी। सीरियाइयों ने स्वतंत्र सीरिया राज्य, अस्थायी राष्ट्रीय सरकार, संविधान सभा के चुनावों और सरकार बन जाने के बाद फ़्रांसीसी सैनिकों के निष्क्रमण की मांग की। ज़ूवेनेल उत्तर देने से कतराता रहा।

फ़्रांसीसी साम्राज्यवाद उस समय कठिन परिस्थितियों से गुज़र रहा था, जो मोरक्को के मोर्चे पर पराजयों और स्वयं फ़्रांस में मेहनतकशों की व्यापक युद्धविरोधी कार्रवाइयों के कारण और भी गंभीर हो गयी थीं। ज़ूवेनेल ने विभिन्न चालें चलकर, तरह-तरह के वायदे करके, जिन्हें पूरा करने का उसका कोई इरादा न था, राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को कमज़ोर बनाना चाहा। १९२६ के आरंभ में उसने एक आज्ञप्ति निकाली कि जो छापामार हथियार डाल देंगे और घर लौट आयेंगे, उन्हें राजक्षमा दे दी जायेगी। आत्मसमर्पण करनेवाले क़बायली सरदारों को भी मृत्युदंड से मुक्ति का वचन दिया गया। एक अन्य आज्ञप्ति द्वारा प्रतिनिधि सभा बुलाये जाने की घोषणा

की गयी, जिसके सदस्य उन इलाक़ों से निर्वाचित होने थे, जो घेरे की अवस्था में न थे। अन्य इलाक़ों में चुनाव "क़ानून और व्यवस्था" की पुनर्स्थापना के बाद होने थे। प्रतिनिधि सभा को अधिदेशप्राप्त शासक यानी फ़्रांस के "अधिकारों" पर आधारित संविधान अंगीकार करना था।

किंतु अरब नेताओं ने जूवेनेल की आज्ञप्तियों को ठुकरा दिया। राष्ट्रीय मुक्ति सेना के नेताओं के साथ वार्ताओं का भी क़ोई नतीजा नहीं निकल सका। नवंबर, १६२५ में ही सुल्तान पाशा अल-अतराश ने एक वक्तव्य में कह दिया था, "जब तक सीरिया पूर्ण स्वतंत्र नहीं हो जाता, हम लड़ाई बंद नहीं करेंगे। कहा जाता है कि कुछ लोग जूवेनेल के साथ शांति वार्ताएं चलाने को राज़ी हैं। किंतु मुझे द्रूज़ों की ओर से यह कहने का अधिकार दिया गया है कि इन लोगों को हमारी ओर से बोलने का कोई हक़ नहीं है।"

१६२६ के वसंत में मोरक्को अभियान की समाप्ति के बाद फ़्रांसीसी कमान को सीरिया में दण्डात्मक अभियान चलाने के लिए ७०,०००-८०,००० सैनिक तथा बड़ी मात्रा में सैन्य सामग्री और उपलब्ध हो गये। अब जूवेनेल अल्टीमेटमों की भाषा में बात करने लगा। उसने घोषणा की कि अब से "विद्रोहियों" का बिलाशर्त आत्मसमर्पण ही स्वीकार किया जायेगा। इस पर सामंती तत्त्वों और राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी ने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन से अपना रहा-सहा नाता भी तोड़ दिया, क्योंकि वे फ़्रांसीसी साम्राज्यवाद से तो डरते ही थे, बल्कि उससे ज़्यादा जन संघर्ष के बढ़ते पैमाने से भी डरते थे।

मई, १६२६ में बाग़ियों के ख़िलाफ़ विशाल पैमाने पर सैन्य कार्रवाइयां शुरू हो गयीं। मुख्य प्रहार जबल उद-दूज़ इलाक़े पर किया गया, जो बग़ावत का केंद्र था। ७०,००० की आबादीवाले इस इलाक़े पर क़ब्ज़ा करने के लिए १०,००० से ज़्यादा सैनिक झोंके गये। सर्वक्षार नीति का पालन करते हुए फ़्रांसीसी सैनिकों ने खड़ी फ़सलों को नष्ट कर डाला; मवेशियों को पकड़ लिया, गांवों को लूटा और जलाया, ताकि छापामारों को खाना और रसद, कुछ भी न मिल सके। धावा एक साथ तीन मोर्चों पर बोला गया – लेबनान, उत्तरी सीरिया और दमिश्क के उपांत में। किंतु आक्रामकों के ख़िलाफ़ संघर्ष जारी रहा और १६२६ के शरद में जाकर ही फ़्रांसीसी सबसे बड़े छापामार दस्तों को हराने में सफल हो सके। मई, १६२७ में सुल्तान पाशा अल-अतराश और उसके ६०० आदमियों को ट्रांस-जोर्डन में शरण लेने को बाध्य होना पड़ा। किंतु यहां अंग्रेज़ों ने उन्हें नज़रबंद कर लिया और बाद में फ़्रांसीसियों के सुपुर्द कर दिया।

अपनी निर्विवाद सैन्य और तकनीकी उत्कृष्टता तथा अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों के समर्थन की बदौलत फ़्रांस सीरिया के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को कुचलने में सफल हो गया। द्रूज़ों की हार इसलिए भी हुई कि राष्ट्रीय

बूर्जुआज़ी कोई सुसंगत नीति न अपना सका था और सर्वहारा अपने संगठना-भाव के कारण विभिन्न वर्गों तथा सामाजिक शक्तियों को अपने गिर्द ऐक्य-बद्ध नहीं कर पाया था।

मोरक्कोई जनता के १९२५-१९२७ के शौर्यपूर्ण संघर्ष ने अंतर्राष्ट्रीय मंच पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी और अरब जनता को राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के अनुभव से समृद्ध बनाया।

इंडोनेशिया का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन

इंडोनेशिया की अधिकांश आबादी के लिए पहले महायुद्ध के परिणाम और परंपरागत मंडियों से कट जाना आर्थिक दृष्टि से बहुत ही विनाशकारी सिद्ध हुए थे। प्लांटेशनों के उत्पाद का कोई ख़रीदार नहीं था और स्थानीय किसानों को निर्यात के लिए जो फ़सलें उगाने पर बाध्य किया गया था, उनके दाम बहुत गिर गये थे। उद्योग इतने अल्पविकसित थे कि तबाह किसान उनमें भी रोज़गार नहीं पा सकते थे। छोटे और मंझोले अर्ध-दस्तकारी उद्यमों का थोड़ा-बहुत विकास अवश्य हुआ था, मगर वे भी न तो मज़दूरों की बढ़ती तादाद को खपा सकते थे और न उपभोक्ता मालों की मांग को ही पूरा कर सकते थे। देश में औद्योगिक या तिजारती, कोई भी बड़ा बूर्जुआज़ी न था। बिचौलिया व्यापार अधिकांशतः चीनी पूंजी के हाथ में था। इंडो-नेशियाई बूर्जुआज़ी, जिसने युद्धकाल में अपनी स्थिति कुछ सुदृढ़ बना ली थी, न केवल विदेशियों के उत्पीड़न का शिकार था, बल्कि उन बिचौलियों की दया पर भी निर्भर था, जो उसके उद्यमों को कच्चा माल सप्लाई करते थे और उनका तैयार माल ख़रीदते थे।

फलस्वरूप डचों के आधिपत्य और उनके एजेंटों के विरुद्ध संघर्ष के लिए ज़मीन तेज़ी से तैयार होती जा रही थी। जावा और अन्य द्वीपों पर अपने शोषण के विरुद्ध किसानों की स्वतःस्फूर्त कार्रवाइयां बढ़ती जा रही थीं। धार्मिक तथा यूटोपियाई विचारों से प्रेरित किसान आन्दोलन सक्रिय हो गया था। १९१३ में निम्न और मध्य बूर्जुआज़ी के प्रतिनिधियों द्वारा स्थापित सरेकत इस्लाम (इस्लामी संघ) नामक संगठन महायुद्ध के वर्षों में एक वस्तुतः जनव्यापी संगठन बन गया था और उसका नेतृत्व अधिकांशतः प्रगति-शील बुद्धिजीवियों के हाथों में आ गया था।

इंडोनेशियाई बुद्धिजीवी समुदाय देश में बढ़ती राष्ट्रीय चेतना और साम्राज्यवादविरोधी भावनाओं का सबसे मुखर प्रवक्ता था। उसपर १९१४



ज़ंजीरों में जकड़े हुए जावा द्वीप के बाग़ी (१९२६)

में वामपंथी डच सामाजिक-जनवादियों द्वारा स्थापित सामाजिक-जनवादी संघ के कार्यकलाप का बड़ा प्रभाव पड़ा था। अपनी पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा ये क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादी इंडोनेशिया में मार्क्सवादी विचारों का प्रचार करते थे, इंडोनेशियाई जनता को अन्य देशों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों की जानकारी देते थे और सरेकत इस्लाम से संपर्क बनाये रहते थे, जिसमें उनके समर्थकों की संख्या बढ़ती जा रही थी।

ऐसी परिस्थिति में रूस की अक्तूबर क्रांति का इंडोनेशिया पर बहुत ही ज़बर्दस्त असर पड़ा। सामाजिक-जनवादी संघ में वामपंथियों ने दक्षिण-पंथियों को हरा दिया और वे संगठन से अलग होकर अपनी अलग पार्टी बनाने को मजबूर हुए, जो साम्राज्यवादियों के साथ किसी भी क़ीमत पर समझौता कर लेने को तैयार थी। बड़े पैमाने पर हड़तालें होने लगीं, जिनमें विजय प्रायः मज़दूरों की ही होती थी। चूंकि देश में अभी कोई बड़े राष्ट्रीय उद्योग नहीं थे, अतः सर्वहारा का वर्ग संघर्ष व्यवहार में साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष ही था। इस बीच यूरोप से आनेवाले बहुसंख्य पोतों के नाविकों के ज़रिये सोवियत रूस के और स्वयं हालैंड की १९१८ की क्रांतिकारी घटनाओं के समाचार भी इंडोनेशिया पहुंच रहे थे। सुराबाया में, जो देश का सबसे

बड़ा बंदरगाह था, नाविक गृह नाम से एक क्रांतिकारी क्लब बनाया गया। इसी प्रकार नाविक प्रतिनिधियों की सोवियतें भी क़ायम की गयीं, जिनका काम सैनिकों और मजदूरों से संपर्क करना था।

डच शासकों ने मुक्ति संग्राम को क़ानूनपालक सुधारवादी ढर्रे में ढालने के लिए क़दम उठाये। १९१८ में फ़ोल्कस्राद (लोक सभा) नामक एक संस्था बनायी गयी, जो औपनिवेशिक "संसद" का भी एक विद्रूप ही थी। इसके आधे सदस्य गवर्नर-जनरल ने नामज़द किये थे और आधे मुख्यतया यूरोपीयों तथा औपनिवेशिक अधिकारियों – डच और स्थानीय, दोनों – द्वारा निर्वाचित थे। फ़ोल्कस्राद में बहुमत यूरोपीयों का था, किंतु नामज़द सदस्यों में कुछ सरेकत इस्लाम तथा अन्य इंडोनेशियाई संगठनों के नेता भी थे, जिन्हें उपनिवेशवादी घूस देकर अपने हथियार के तौर पर इस्तेमाल करना चाहते थे। इसके बावजूद अधिकांश इंडोनेशियाई प्रतिनिधियों ने इस अधिकारहीन "संसद" के मंच से डच नीतियों और औपनिवेशिक शासन की निर्मम आलोचना की।

मई, १९२० में सामाजिक-जनवादी संघ को इंडोनेशियाई कम्युनिस्ट पार्टी में बदल दिया गया और उसी वर्ष वह कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की सदस्य भी बन गयी। पार्टी का अध्यक्ष रेलवे मज़दूर यूनियन के नेता सेमेऊन को चुना गया। अन्य देशों के क्रांतिकारी आंदोलनों के साथ घनिष्ठ संपर्क क़ायम किये गये। पार्टी ने मज़दूर संगठनों और १९१९ में स्थापित केन्द्रीय ट्रेड यूनियन संघ में अपने प्रभाव का विस्तार किया। सरेकत इस्लाम की अनेक शाखाओं में नेतृत्वकारी पदों पर कम्युनिस्ट आसीन थे। किन्तु डच वामपंथी समाजवादियों – ट्रिब्यूनिस्टों – से विरासत में मिली वामपंथी ग़लतियों के कारण नवजात कम्युनिस्ट पार्टी न तो अपनी सफलताओं का आधार ही सुदृढ़ कर सकी, न सरेकत इस्लाम को एक व्यापक राष्ट्रीय मोर्चे के रूप में ही बनाये रख सकी। इन ग़लतियों ने कम्युनिस्टों के विरुद्ध, जिनके बढ़ते प्रभाव से नरमपंथी राष्ट्रवादी नेता चौंक उठे थे, संघर्ष में सरेकत इस्लाम के इस्लामी नेताओं के हाथ मज़बूत किये।

कम्युनिस्ट पार्टी ने तत्काल समाजवादी क्रांति का नारा दिया था और सरेकत इस्लाम से, जो बुनियादी तौर पर एक निम्न बूर्जुआ संगठन था, समाजवादी कार्यक्रम स्वीकार करवाने के उद्देश्य से राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के लिए "घातक" क़रार दिया था। इसी प्रकार उसने मज़हब का भी विरोध किया था।

सरेकत इस्लाम में भीतरी संघर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। शीघ्र ही केन्द्रीय ट्रेड यूनियन संघ भी उसकी चपेट में आ गया और उसमें विभाजन हो गया। १९२३ में कम्युनिस्टों को सरेकत इस्लाम छोड़ देना पड़ा, किन्तु

उनके साथ उसकी कतिपय बड़ी शाखाएं भी उससे अलग हो गयीं और अपने को लाल सरेकत इस्लाम कहने लगीं। आगे चलकर यह नाम बदलकर सरेकत रैयत (प्रजा मंडल) कर दिया गया।

अनुभवी डच साम्राज्यवादियों ने आरंभ में कम्युनिस्ट पार्टी और उससे संबद्ध युवा तथा महिला संगठनों को वैध रूप से काम करने दिया। उन्हें आशा थी कि आंतरिक फूट राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को कमज़ोर बना देगी, अतः उन्होंने अपने को सर्वाधिक सक्रिय कम्युनिस्टों के दमन तक ही सीमित रखा। किंतु जब यह स्पष्ट हो गया कि मेहनतकशों में कम्युनिस्ट पार्टी के अनुयायियों की तादाद बहुत बड़ी है और उसके प्रभाव के कारण हड़ताल आंदोलन बढ़ता जा रहा है तथा अनेकानेक स्कूल, किसान संगठन, आदि क़ायम किये जा रहे हैं, तो डच शासकों ने बड़े पैमाने पर दमनात्मक कार्रवाइयां शुरू कर दीं। १९२३ की देशव्यापी रेलवे हड़ताल, जो उस काल की सबसे बड़ी हड़ताल थी, का सामना करने के बहाने सरकार ने मज़दूर आंदोलन-विरोधी कई कठोर क़ानून जारी कर दिये। हड़ताल शुरू होने से पहले ही सरेकत रैयत के नेताओं को, जिनमें कम्युनिस्ट पार्टी का अध्यक्ष सेमेऊन भी था, गिरफ़्तार करके देशनिकाला दे दिया गया। इन क़ानूनों के बाद कई अन्य क़ानून भी बनाये गये, जो क्रांतिकारी आन्दोलन और जनवादी प्रेस के विरुद्ध लक्षित थे।

इंडोनेशियाई कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं की उत्तरोत्तर गंभीर वामपंथी ग़लतियों ने डच शासकों का काम आसान बना दिया। कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने एक ओर तो सोवियतों के ढंग की सरकार बनाने की मांग की और दूसरी ओर कहा कि किसान समुदाय अपनी निम्न बूर्जुआ प्रकृति के कारण क्रांति में भाग लेने में असमर्थ है। इतना ही नहीं, उन्होंने सरेकत रैयत को भंग करने की कोशिशें भी कीं, जिसका अपना कोई अलग कार्यक्रम न था और जिसे कम्युनिस्ट पार्टी का एक अवर संगठन ही माना जाता था। किन्तु पार्टी और सरेकत रैयत के सामान्य सदस्यों ने अपने नेताओं की इन कोशिशों का दृढ़तापूर्वक विरोध किया।

नवंबर, १९२६ में जब दमन अपने चरम पर और जन आंदोलन उतार पर था, पश्चिमी जावा में एक सशस्त्र विद्रोह फूट पड़ा। दो महीने की लड़ाई के बाद डच शासक उसे रक्त के सागर में डुबोने में सफल हो गये। निवारक गिरफ़्तारियों के कारण वह मध्य और पूर्वी जावा में न फैल सका। जावा विद्रोह के दमन के बाद जनवरी, १९२७ में पश्चिमी सुमात्रा में सशस्त्र जन विद्रोह शुरू हुआ। किन्तु उसे भी शीघ्र ही कुचल डाला गया। कम्युनिस्ट पार्टी और उससे संबद्ध संगठनों को छिन्न-भिन्न कर दिया गया और क्रांतिकारी ट्रेड-यूनियनें भंग करके उनपर पाबंदी लगा दी गयी। हज़ारों कम्युनिस्टों को

गिरफ़्तार करके पश्चिमी ईरियन के एक विशेष यातना शिविर में बंद कर दिया गया।

डच उपनिवेशवादियों की आतंक तथा दमन की कार्रवाइयां इंडोनेशियाई जनता के क्रांतिकारी संघर्ष के लिए बहुत ही भयंकर प्रहार सिद्ध हुई। इंडोनेशियाई कम्युनिस्ट पार्टी इसके बाद १९३५ में जाकर ही और वह भी अत्यंत गुप्त रूप से अपने को फिर से बहाल कर सकी। किन्तु स्वाधीनता आंदोलन को पूरी तरह रोक पाना उपनिवेशवादियों के बस की बात न थी। १९२७ में सुकर्णो ने राष्ट्रीय पार्टी की स्थापना की। देश में जो थोड़े-बहुत कम्युनिस्ट सरकार के चंगुल में पड़ने से बच गये थे, वे भी उस में शामिल हो गये। राष्ट्रीय पार्टी और १९३१ में स्थापित उसकी उत्तराधिकारी इंडोनेशियाई पार्टी ने स्वाधीनता और जनवादी सुधारों के लिए संघर्ष को अपना लक्ष्य घोषित किया। सभी राष्ट्रीय साम्राज्यवादविरोधी शक्तियों की एकता उत्तरोत्तर मज़बूत होती गयी।

चीन की जनता का क्रांतिकारी संघर्ष
(१९२४-१९२७)

साम्राज्यवादविरोधी और सामंतवादविरोधी संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे की स्थापना के फलस्वरूप १९२४ से चीन का क्रांतिकारी आंदोलन काफ़ी तेज़ हो गया था। मोर्चे का जनाधार मज़दूर वर्ग, किसान समुदाय और राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी थे। अर्ध-औपनिवेशिक चीन में बूर्जुआ-जनवादी क्रांति की जो प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी, उसे सफल परिणति पर पहुंचाने की आकांक्षा ने इन तीनों वर्गों को ऐक्यबद्ध कर दिया था।

राष्ट्रीय क्रांतिकारी मोर्चा कुओमिंतांग की पहली कांग्रेस (जनवरी, १९२४) से पहले ही बन चुका था। फिर भी वह कार्यक्रम घोषणापत्र इसी कांग्रेस में स्वीकार किया गया, जिसे कम्युनिस्टों और सुन यात-सेन के अनुयायियों के सहयोग का आधार बनना था। कम्युनिस्ट कुओमिंतांग में अपनी निजी हैसियत से ही शामिल हुए। उन्होंने अपनी कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता त्यागी नहीं। कुओमिंतांग के मुख्य राजनीतिक लक्ष्य, जैसा कि सुन यात-सेन ने उन्हें निरूपित किया था, ये थे: सोवियत रूस के साथ सहबंध, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के साथ सहयोग और मज़दूरों तथा किसानों के हितों की रक्षा। निस्संदेह, कुओमिंतांग और कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं में गंभीर वैचारिक मतभेद बने रहे, जैसे, मिसाल के लिए, क्रांति की प्रेरक शक्तियों के मूल्यांकन, जनवादी सुधारों के पैमाने, आदि के बारे में। इसके अलावा,



क्यांगसी प्रांत के क्रांतिकारी किसानों का दस्ता (१९२६)

कुओमिंतांग में एक दक्षिणपंथी गुट भी था, जो कम्युनिस्ट पार्टी से सहयोग और सोवियत संघ से घनिष्ठता का विरोध करता था (इस गुट में च्यांग काई-शेक भी शामिल था, जो उस समय राष्ट्रीय क्रांतिकारी सेना के लिए अफ़सर तैयार करनेवाली ह्वांपोआ सैनिक अकादमी का प्रमुख था)। किंतु कुल मिलाकर अधिकांश राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी उन दिनों क्रांति का समर्थन करता था, क्योंकि विदेशी पूंजी का बोलबाला और सामंती प्रणाली के अवशेष उसके हितों के लिए घातक थे और उसके कार्यकलाप के विस्तार में गंभीर बाधा बने हुए थे।

१९२४-१९२५ में सोवियत संघ और चीन के परस्पर संपर्कों का और विस्तार हुआ। सोवियत संघ ने चीनी जनता के मुक्ति आंदोलन को दी जानेवाली अपनी सहायता में वृद्धि की। सोवियत लोगों ने चीन के आंतरिक मामलों में साम्राज्यवादी शक्तियों के अनवरत हस्तक्षेप और चीन के क्रांतिकारी संघर्ष को कुचलने की निरंतर धमकियों का दृढ़तापूर्वक विरोध किया। सितंबर, १९२४ में सोवियत संघ में "चीन से हाथ दरकिनार!" नामक एक समाज बनाया गया, जिसने ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका, जापान और अन्य साम्राज्यवादी देशों के शासक हल्कों की अतिक्रमणात्मक कार्रवाइयों के ख़िलाफ़

सक्रिय अभियान चलाया। ३१ मई, १९२४ को चीन और सोवियत संघ के बीच राजनयिक संबंधों की स्थापना हुई। यद्यपि पीकिंग सरकार ने यह क़दम प्रमुख पूंजीवादी राष्ट्रों द्वारा सोवियत संघ को मान्यता देने के बाद ही उठाया था, फिर भी इससे चीनी जनता के संघर्ष में महत्त्वपूर्ण योग मिला। सोवियत-चीन समझौता चीन द्वारा किसी विदेशी शक्ति के साथ समानता के आधार पर किया गया पहला समझौता था। सोवियत संघ ने उन सभी विशेषाधिकारों को त्याग दिया, जो ज़ारशाही सरकार ने चीन से बलात् ऐंठे थे।

सोवियत संघ ने क्वांगचाऊ में स्थित क्रांतिकारी केंद्र को अपना समर्थन दिया, जो साम्राज्यवादियों की सभी धमकियों और विध्वंसात्मक कार्रवाइयों के बावजूद दिनोंदिन मज़बूत बनता जा रहा था। सुन यात-सेन ने सोवियत कम्युनिस्ट म० म० बोरोदिन को अपना राजनीतिक सलाहकार बनाया और माने-जाने सोवियत सैन्य नेता व० व० ब्ल्यूखेर तथा कुछ अन्य सोवियत सैन्य सलाहकारों को मुक्ति सेना की स्थापना में मदद देने के लिए चीन बुलाया। सोवियत सरकार ने शस्त्रास्त्रों के रूप में भी क्रांतिकारी सरकार की जो सहायता की, वह उन दिनों को देखते हुए बहुत ही मूल्यवान थी।

वसंत, १९२५ में सुन यात-सेन का निधन हो गया। यह चीनी जनता के मुक्ति संग्राम के लिए एक अपूरणीय क्षति थी। महान जनवादी और चीन की स्वाधीनता तथा समृद्धि के हेतु अथक संघर्षकर्त्ता सुन यात-सेन अंतिम दम तक अपने कार्यक्रम के प्रति, जनता पर भरोसा करने तथा सोवियत संघ से घनिष्ठ संबंध बनाने की अपनी नीति के प्रति निष्ठावान रहा।

अपने देहावसान से एक दिन पहले उसने सोवियत संघ की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति को एक पत्र लिखाया था, जिसमें कहा गया था:

"प्रिय साथियो, मैं रोगशय्या पर पड़ा हुआ हूं और मेरे रोग का कोई उपचार नहीं है। ऐसे में मैं आपके बारे में और अपने देश के बारे में ही सोचता रहता हूं।

"आपने स्वतंत्र जनतंत्रों के संघ की, उस विरासत की बागडोर थामी हुई है, जिसे अमर लेनिन पददलित जनों के लिए छोड़ गये हैं। साम्राज्यवाद द्वारा पीड़ित जन इस विरासत की मदद से अपने को अवश्यमेव उस अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली के चंगुल से मुक्त कर लेंगे, जिसकी बुनियाद प्राचीन काल से ही दासता, युद्धों और अन्याय पर टिकी रही है।

"मैं अपने पीछे एक ऐसी पार्टी छोड़े जा रहा हूं, जो, जैसी कि मैंने सदा आशा की है, साम्राज्यवादी प्रणाली से चीन तथा अन्य उत्पीड़ित देशों की पूर्ण मुक्ति के ऐतिहासिक कार्यभार को पूरा करने में आपका साथ देगी... मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप मेरे देश की आगे भी पूर्ववत् सहायता करते रहेंगे।



विद्रोही मज़दूर हैंकाऊ में एक ब्रिटिश कंपनी के दफ़्तर पर धावा बोल रहे हैं (१९२७)

"प्रिय साथियो, मैं आपसे विदा ले रहा हूं और आशा करता हूं कि वह दिन दूर नहीं, जब सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ स्वाधीन चीन का एक मित्र और सहयोगी के रूप में अभिवादन करेगा और दोनों मित्र राष्ट्र विश्व के उत्पीड़ित जनों की मुक्ति के महासंग्राम में कंधे से कंधा मिलाकर विजय की ओर अग्रसर होंगे।"

३० मई, १९२५ को शंघाई में आंग्ल-अमरीकी पुलिस ने चीनी देशभक्तों के एक जलूस पर गोलियां चलायीं। इसने चीनी जनता में साम्राज्यवाद-विरोधी भावनाओं के नये विस्फोट और उग्र प्रतिरोध को जन्म दिया, जो ३० मई आन्दोलन के नाम से विज्ञात हुआ। इस साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष में सबसे आगे मज़दूर वर्ग चल रहा था। १ जून को शंघाई में कोई २,००,००० मज़दूरों ने गोलीकांड के लिए उत्तरदायी लोगों को दंड देने, विदेशी सैनिकों को हटाने, अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती में सभी अधिकार तथा शक्तियां चीनियों को हस्तांतरित करने, आदि की मांगें करते हुए हड़ताल कर दी। मज़दूरों का साथ हज़ारों विद्यार्थियों और निम्न तथा मध्य बूर्जुआज़ी के बहुत सारे प्रतिनिधियों ने भी दिया। शंघाई के मज़दूरों के समर्थन में जून, १९२५ में हांगकांग-

क्वांगचाऊ में शुरू हुई हड़ताल इस साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष का चरमबिंदु थी। १६ महीने तक चली इस हड़ताल ने अपनी दीर्घता और अटल संकल्प, इन दोनों ही दृष्टियों से एक नया कीर्तिमान क़ायम किया। क्वांगचाऊ की सरकार ने हड़तालियों की मदद की। हांगकांग से कोई २,५०,००० लोग क्वांगचाऊ पहुंचे, जिससे अटल क्रांतिकारी शक्तियों की स्थिति काफ़ी मज़बूत बनी। दक्षिणी चीन की सरकार का वास्तविक अवलंब ये क्रांतिकारी शक्तियां ही थीं। हांगकांग से आये बहुत से मज़दूरों ने राष्ट्रीय क्रांतिकारी सेना में नाम लिखा लिया।

कुओमिंतांग का दक्षिणपंथी धड़ा इन सब घटनाओं से आशंकित हो उठा था। मार्च, १९२६ में उसने क्वांगचाऊ में प्रतिक्रांतिकारी सत्ता-परिवर्तन का पहला प्रयास किया। किंतु अभी उसके पास इतनी ताक़त नहीं थी कि कुओमिंतांग का कम्युनिस्ट पार्टी से नाता तुड़वा सके। १९२६ के ग्रीष्म में च्यांग काई-शेक अपने को एक साथ कुओमिंतांग केंद्रीय कार्यकारिणी का अध्यक्ष और राष्ट्रीय क्रांतिकारी सेना का कमांडर-इन-चीफ़ नियुक्त करवाने में सफल हो गया। परवर्ती पद पर अधिकार ख़ास तौर पर इसलिए भी महत्त्वपूर्ण था कि सेना उत्तर में मुक्ति अभियान शुरू हो जाने के कारण एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति बन गयी थी।

राष्ट्रीय क्रांतिकारी सेना ने जुलाई, १९२६ में क्वांगचाऊ से कूच किया था। शुरू से ही उसे सफलताएं मिलती गयीं। सितंबर में उसने देश के एक सबसे महत्त्वपूर्ण इलाक़े – वूहान – को मुक्त कर लिया और वर्षों से मध्य चीन में अड्डा जमाये हुए चीहली सैन्यवादी गुट को धूल चटा दी। राष्ट्रीय क्रांतिकारी सेना की विजयों का सर्वोपरि कारण यह था कि रास्ते में पड़नेवाले प्रांतों की जनता ने, जो युद्ध-सामंतों से बेहद नफ़रत करती थी, उसका हर तरह से साथ दिया। दूसरा महत्त्वपूर्ण कारक उसके अफ़सरों का युद्धकौशल था, जिनके प्रशिक्षण में सोवियत विशेषज्ञों ने काफ़ी बड़ी भूमिका निभायी थी। फिर सेना में बहुत से कम्युनिस्ट भी थे, जो न केवल आम सैनिकों के बीच, बल्कि नागरिक आबादी के बीच भी राजनीतिक प्रचार किया करते थे।

उत्तरी अभियान ने मज़दूरों के आंदोलन को नयी शक्ति प्रदान की और किसानों को ज़मींदारों के ख़िलाफ़ सक्रिय कार्रवाइयां करने के लिए उकसाया। दूसरे शब्दों में, उससे सारे ही वर्ग संघर्ष को बड़ी प्रेरणा मिली। ट्रेड यूनियनों के सदस्यों की संख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ी और प्रायः हड़तालें होने लगीं। देहातों में लोगों ने किसान संघ बनाये, जिनके अपने सशस्त्र दस्ते भी होते थे। राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के लिए यह सब बढ़ती चिंता का विषय था। क्रांतिकारी आंदोलन के दिनोंदिन बढ़ते पैमाने के प्रति उसका ऐसा रवैया काफ़ी हद तक विदेशी साम्राज्यवादियों की कार्रवाइयों से प्रभावित हुआ

था, जिन्होंने चीन पर अपना नियंत्रण खोने के डर से उसके आंतरिक मामलों में सशस्त्र हस्तक्षेप बढ़ा दिया था और क्रांतिकारी जनता को दबाने के लिए अपने एजेंटों – स्थानीय युद्ध-सामंतों – को अधिक कारगर ढंग से इस्तेमाल करना शुरू कर दिया था।

अपने उग्र परस्परविरोधों के बावजूद साम्राज्यवादी शक्तियां संयुक्त रूप से काम करने को बाध्य हो गयी थीं। दिसंबर, १९२६ में जापान, ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका विभिन्न युद्ध-सामंतों की सेनाओं को एक संयुक्त सेना में एकजुट करने में सफल हो गये, जिसका कमांडर चांग त्सो-लिन को बनाया गया। साम्राज्यवादी शक्तियों ने इस सेना को भरपूर मात्रा में हथियार सप्लाई किये और अपने नौसैनिक बेड़ों द्वारा उसकी सामरिक कार्रवाइयों को समर्थन प्रदान किया। संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन के युद्धपोत यांगत्सी नदी में गश्त लगाने लगे, ताकि राष्ट्रीय क्रांतिकारी सेना को आगे बढ़ने से रोका जा सके। दिसंबर, १९२६ में उन्होंने हैंकाऊ में अपने सैनिक भी उतारे। १९२७ के आरंभ में अमरीका का अधिकांश एशियाई बेड़ा चीन के तटवर्ती सागर में स्थानांतरित कर दिया गया। संयुक्त राज्य अमरीका, जापान, फ्रांस, इटली, हालैंड, स्पेन और पुर्तगाल ने शंघाई में अतिरिक्त सैनिक उतारे। ब्रिटेन ने एक वालंटियर कोर भेजी।

मार्च, १९२७ में क्रांतिकारी सेना शंघाई के समीप पहुंच गयी, जो चीन का सबसे बड़ा औद्योगिक केंद्र था। नगर के मज़दूरों ने हड़ताल की घोषणा कर दी और विद्रोह के लिए उठ खड़े हुए। शीघ्र ही सारे नगर पर उनका अधिकार हो गया। राष्ट्रीय क्रांतिकारी सेना के दस्ते इसके बाद ही नगर में घुस सके। दो दिन बाद, यानी २३ मार्च को मध्य चीन के सबसे बड़े राजनीतिक केंद्र नानकिंग पर भी क्रांतिकारी सेना का कब्ज़ा हो गया। साम्राज्यवादी ताकतें चीनी क्रांतिकारियों की इन दो शानदार सफलताओं से बौखला उठीं। २४ मार्च को नानकिंग के पास यांगत्सी में खड़े अमरीकी और ब्रिटिश युद्धपोतों ने नगर पर निर्मम गोलाबारी की। इसका उद्देश्य जनता में दहशत पैदा करना ही नहीं, कुओमिंतांग के दक्षिणपंथी धड़े को खुले आम प्रतिक्रांतिकारियों का पक्ष लेने के लिए उकसाना भी था।

इस बीच च्यांग काई-शेक को शंघाई के उद्योगपतियों से काफ़ी बड़ी रक़म मिल चुकी थी और उसने उन्हीं साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रतिनिधियों के साथ सांठगांठ कर ली, जिनके चीन में नग्न हस्तक्षेप से सारे विश्व में प्रचंड रोष उत्पन्न हो गया था। १२ अप्रैल, १९२७ को च्यांग काई-शेक ने शंघाई में प्रतिक्रांतिकारी सत्ता-परिवर्तन कर दिया। ऐसे ही सत्ता-परिवर्तन कई अन्य मुक्त इलाक़ों में भी हुए। सर्वत्र ट्रेड यूनियनों को कुचला और कम्युनिस्टों को पकड़-पकड़कर मारा अथवा जेलों में बंद कर

दिया गया। नानकिंग में च्यांग काई-शेक के नेतृत्व में सरकार बनायी गयी। विदेशी साम्राज्यवादियों के हर्ष का पारावार न रहा। उन्होंने नानकिंग सरकार को तुरंत मान्यता दे दी, क्योंकि उनकी दृष्टि में वह चीन में उनके हितों की रक्षा की गारंटी कर सकती थी।

बेशक वूहान में राष्ट्रीय सरकार अभी भी क़ायम थी, जिसका केन्द्रीय प्रांतों पर अधिकार था। वह अगर किसान तथा मज़दूर आन्दोलन पर भरोसा करती रहती, तो क्रांति को आगे बढ़ा सकती थी। किन्तु उसके नेतृत्वकारी पदों पर आसीन वामपंथी कुओमिंतांगी ऐसा कर पाने में बिल्कुल ही असमर्थ सिद्ध हुए। फिर कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं, विशेषत: उसके महासचिव चेन तू-स्यू ने भी कई गंभीर ग़लतियां कीं, जिसकी दक्षिणपंथी अवसरवादी कार्यनीति से पार्टी को और क्रांति के ध्येय को अत्यधिक हानि पहुंची।

जुलाई, १९२७ में राष्ट्रीय सरकार के प्रमुख वांग-चिंग-वेइ ने च्यांग काई-शेक की नक़ल पर वूहान में प्रतिक्रांतिकारी सत्ता-परिवर्तन कर दिया। कम्युनिस्टों को कुओमितांग से निष्कासित कर दिया गया और पाशविक दमन का शिकार बनाया गया। इस तरह राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के प्रतिक्रांतिकारी शिविर में जा मिलने की प्रक्रिया पूरी हुई।

पराजित हो जाने के बावजूद क्रांति ने चीन की ऐतिहासिक नियति के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उसके दौरान बहुत ही मूल्यवान अनुभव अर्जित किया गया था और इस अनुभव को आगे चलकर चीन की जनता के विजयी होने में बहुत बड़ा योग देना था। तीसरे दशक की घटनाओं ने पूर्ण स्पष्टता के साथ दिखाया कि अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा और विशेषत: उसका सर्वमान्य अगुआ सोवियत संघ ही स्वाधीनता और सामाजिक प्रगति के लिए संघर्ष में चीन की जनता के सबसे विश्वसनीय साथी थे।

१९२७-१९३९ का चीन

१९२७ के अंत तक बड़े बूर्जुआज़ी और ज़मींदारों का गुट सारे चीन पर अपनी प्रतिक्रियावादी राजनीतिक सत्ता स्थापित करने में सफल हो गया था। राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी इस गुट से आ मिला था, हालांकि उसके हित फिर भी लगभग उपेक्षित ही रहे। औपचारिकत: सारा देश नानकिंग सरकार के आधीन था, किन्तु वास्तव में बहुत से प्रांतों में युद्ध-सामंत ही राज कर रहे थे। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात तो यह थी कि विदेशी साम्राज्यवादियों द्वारा चीन को अपना दास बनाया जाना पहले की तरह ही जारी था। च्यांग काई-शेक सरकार काफ़ी हद तक संयुक्त राज्य अमरीका की मुट्ठी में थी। क्रांतिकारी

तत्त्वों को निकाल दिये जाने के बाद कुओमिंतांग जनविरोधी शक्तियों का अड्डा बन गया था, यद्यपि उसके नेता जनता को बेवकूफ़ बनाने के लिए सुन यात-सेन के, जिसकी शिक्षाओं को उन्होंने पूरी तरह भुला दिया था, नाम की दुहाई देते नहीं अघाते थे। जनसामान्य की हालत दिनोंदिन बदतर होती जा रही थी। ज़मीन पाने की किसानों की रही-सही उम्मीदों पर पानी फिर गया था, क्योंकि कुओमिंतांग सरकार ने क़ानून बनाकर ज़मीन पर ज़मींदारों के स्वामित्व को स्थायित्व प्रदान कर दिया था।

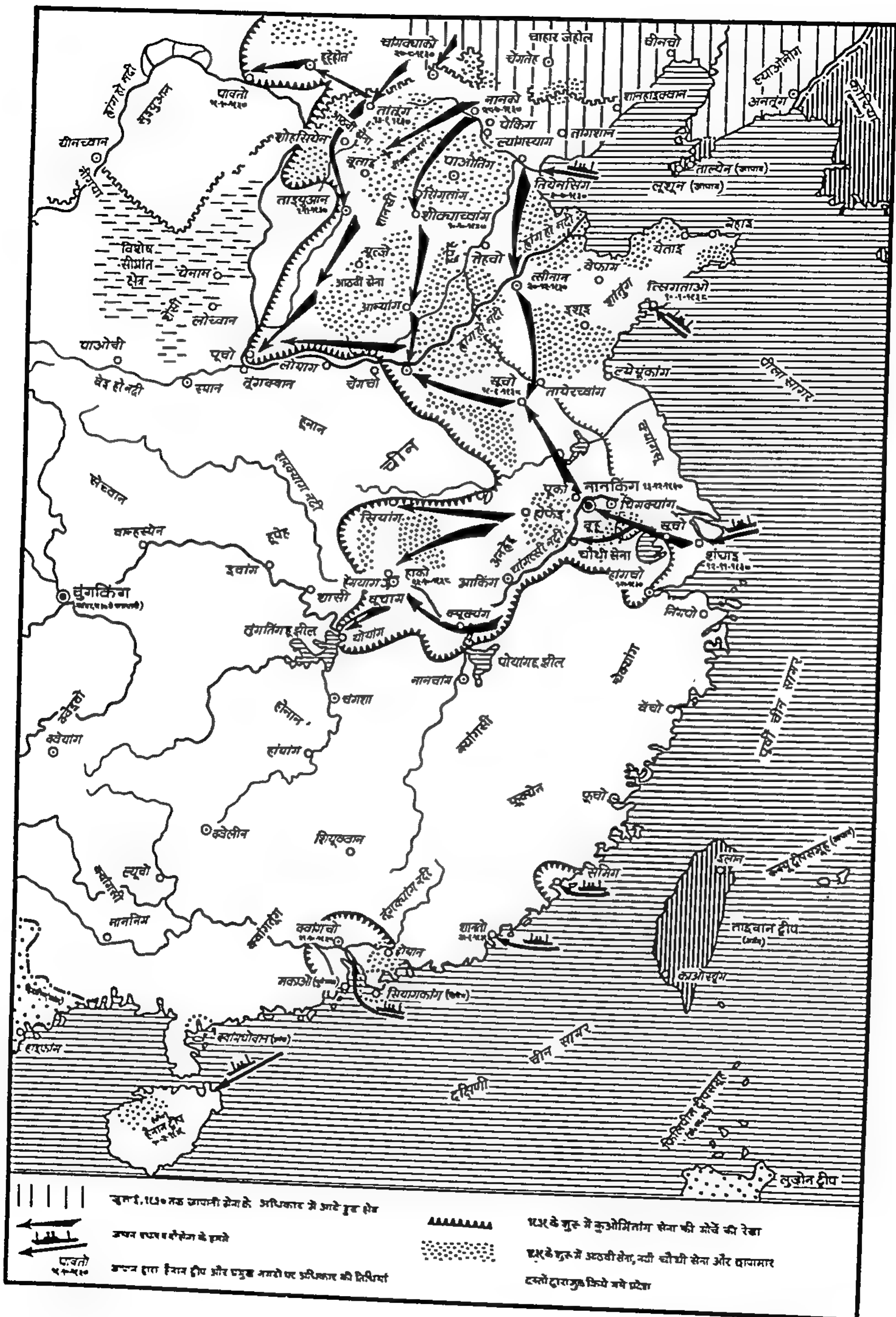
कुओमिंतांग के नेताओं की इस ग़द्दारी का जवाब मज़दूरों और किसानों ने सशस्त्र विद्रोहों द्वारा दिया। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण क्वांगचाऊ के ३०,००० मज़दूरों का दिसंबर, १९२७ का विद्रोह था, जो इतिहास में कैंटन कम्यून के नाम से विज्ञात है। विद्रोहियों ने ज़मींदारियों के ख़ात्मे, विदेशी फ़र्मों की जायदाद की ज़ब्ती, असमान संधियों की मंसूख़ी आदि की घोषणा की। किन्तु इसे और दूसरे विद्रोहों को भी रक्त के सागर में डुबो डाला गया। जो दस्ते बचकर भागने में सफल रहे, वे दुर्गम देहाती इलाक़ों में जा छिपे और वहां चीन की लाल सेना का निर्माण करने लगे। १९२८ में हुई चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की छठी कांग्रेस ने तय किया कि नयी परिस्थितियों में कृषिक क्रांति को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाना चाहिये। कांग्रेस ने वामपंथी प्रवृत्तियों, जो बड़े नगरों में विद्रोहों के अनुकूल परिस्थितियां न होने की उपेक्षा करती थीं, और दक्षिणपंथी अवसरवाद, दोनों की निंदा की। १९२८-१९३० में मध्य और दक्षिणी चीन में, विशेषतः पर्वतीय इलाक़ों में, कई क्रांतिकारी अड्डे पैदा हुए और मज़दूरों, किसानों तथा लाल सेना के प्रतिनिधियों की सोवियतें क़ायम की गयीं, जिनका काम अपने अधिकार में स्थित क्षेत्र का शासन चलाना था। सोवियतों ने अनेक जनवादी सुधार लागू किये, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण कृषि-भूमि सुधार था। इसके तहत ज़मींदारों से उनकी ज़मीनें छीनकर भूमि-हीन या अल्पभूमि किसानों के बीच बांट दी गयीं। सोवियतों ने अपने इलाक़ों में उन खाते-पीते तबक़ों के हितों की भी रक्षा की, जो क्रांतिकारी प्रशासन की आज्ञप्तियों का उल्लंघन नहीं करते थे। इस नीति का नतीजा यह निकला कि हथियार हाथ में लेकर अपनी उपलब्धियों की रक्षा करने का स्थानीय जनता का संकल्प उत्तरोत्तर दृढ़ बनता गया।

आनेवाले वर्षों में मुक्त इलाक़ों का और विस्तार हुआ। देश के विभिन्न भागों – दक्षिणी तथा मध्य चीन और उत्तर-पूर्वी प्रान्तों – में छह बड़े और कई छोटे-मोटे क्रांतिकारी अड्डे स्थापित किये गये। नवंबर, १९३१ में जूइचिन (क्यांगसी प्रांत) में मज़दूर तथा किसान प्रतिनिधियों की पहली कांग्रेस हुई, जिसमें चीन के सभी सोवियत इलाक़ों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। उसमें एक संविधान स्वीकार किया गया और केंद्रीय सोवियत सरकार बनायी गयी।

कुओमिंतांग सरकार ने सोवियत प्रदेशों को विनंष्ट करने के बार-बार प्रयत्न किये। च्यांग काई-शेक ने उनके ख़िलाफ़ कई दंडात्मक अभियान भेजे, जिनमें से हर एक में दसियों हज़ार सैनिक होते थे। किंतु जनता द्वारा पूरी तरह समर्थित लाल सेना ने उन सब को हरा दिया। इन अभियानों के दौरान च्यांग काई-शेक की फ़ौजों को जान-माल की बहुत हानि उठानी पड़ी।

कुओमिंतांग के नेताओं ने सोवियत प्रदेशों को ख़त्म करने के अपने प्रयत्न सितंबर, १६३१ के जापानी हमले और जापान द्वारा उत्तर-पूर्वी चीन पर शनैः शनैः अधिकार कर लेने के बाद भी नहीं छोड़े, हालांकि सारी ही चीनी जनता का अस्तित्व ख़तरे में पड़ गया था। च्यांग काई-शेक सरकार ने इस बात की परवाह किये बिना कि उत्तर-पूर्वी प्रांतों पर जापान के क़ब्ज़े से सारे देश की अर्थव्यवस्था को भारी आघात पहुंच रहा था, जापानी आक्रमण का संगठित रूप से मुक़ाबला किये जाने के प्रयासों को विफल बनाने में कोई कसर बाक़ी नहीं छोड़ी। १६३२ के आरंभ में जापानी सैन्यवादियों ने शंघाई पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की, मगर च्यांग काई-शेक सरकार हाथ पर हाथ धरे बैठी रही। एक जाने-परखे ढग की "वारदात" – दत्त प्रसंग में एक जापानी भिक्षु की पूर्वायोजित हत्या – की आड़ लेकर जापान ने इस आशा से शंघाई में अपने सैनिक उतार दिये थे कि वह चीन के इस सबसे बड़े नगर पर निर्विरोध क़ब्ज़ा कर लेगा। किंतु कम्युनिस्ट पार्टी के आह्वान पर शंघाई का सारा सर्वहारा अपने नगर की रक्षा के लिए उठ खड़ा हुआ। शंघाई में तैनात उन्नीसवी सेना के सैनिकों ने च्यांग काई-शेक के आदेशों की अवहेलना करते हुए मज़दूरों के कंधे से कंधा मिलाकर शत्रु से लोहा लिया। सबसे घमासान लड़ाई नगर के चापेई इलाक़े में हुई। यदि जापानी उस समय नगर पर अधिकार न कर सके, तो इसका एकमात्र श्रेय इन्हीं सामान्य चीनी देशभक्तों को है, जिन्होंने दुश्मन के आक्रमण को विफल कर दिया था।

शंघाई की घटनाओं से च्यांग काई-शेक की जापानी साम्राज्यवादियों के सामने घुटना-टेक नीति के ख़िलाफ़ जन असंतोष बहुत बढ़ गया। देशभक्त शक्तियों की, जो जापानी आक्रमण से उत्पन्न ख़तरे के प्रति पूरी तरह सचेत थी, नेता चीनी कम्युनिस्ट पार्टी थी, जो सितंबर, १६३१ से ही चीनी जनता को प्रतिरोध करने के लिए ललकारती आ रही थी। अप्रैल, १६३२ में क्रांतिकारी इलाक़ों की केन्द्रीय सरकार ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और जापानी आक्रामकों का मुक़ाबला करने के लिए सभी शक्तियों को एकजुट करने का आह्वान किया। इसके विपरीत च्यांग काई-शेक गृहयुद्ध को और अधिक व्यापक बनाने की कोशिशें कर रहा था। १६३३ के शरद में उसने कोई दस लाख की सेना जुटाकर पांचवां दंडात्मक अभियान शुरू कर



चीनी जनता का जापानविरोधी मुक्ति युद्ध
(१९३७-१९३९)

दिया। देशभक्त शक्तियों के लिए यह बहुत ही कठिन स्थिति थी, क्योंकि दक्षिणी और मध्य चीन के क्रांतिकारी इलाक़ों का अस्तित्व ही खटाई में पड़ गया था।

किंतु अमरीकियों की व्यापक सहायता और नाज़ी जनरलों की सलाहों के बावजूद च्यांग का यह अभियान भी विफल ही सिद्ध हुआ। एक साल की भीषण प्रतिरक्षात्मक लड़ाइयों के बाद लाल सेना ने कुओमिंतांग सैनिकों के घेरे को भेद दिया और देश के उत्तर-पूर्व की ओर कूच शुरू कर दिया, जहां उसे कुओमिंतांग के हमलों का कोई ख़तरा नहीं था और जहां से जापानी आक्रामकों द्वारा आक्रांत इलाक़े भी बहुत दूर न थे। अक्तूबर, १९३५ में चीनी लाल सेना १२,००० किलोमीटर से भी ज़्यादा फ़ासला तय करके कांसू और शेंसी प्रांतों की सीमा पर पहुंच गयी और यहां एक नया सोवियत प्रदेश स्थापित किया गया, जिसे चीनी प्रतिक्रियावादियों और जापानी क़ब्ज़ावरों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए एक मज़बूत अड्डा बनना था।

इस बीच कुओमिंतांग अधिकृत इलाक़ों में जापानी आक्रामकों का प्रतिरोध करने का आंदोलन ज़ोर पकड़ता जा रहा था। ९ दिसंबर, १९३५ को पीकिंग के छात्रों का प्रदर्शन हुआ, जो गृहयुद्ध रोकने, जापानी आक्रमण का डटकर मुक़ाबला करने और जनता को राजनीतिक स्वतंत्रताएं दिये जाने की मांग कर रहे थे। प्रदर्शन को नृशंसतापूर्वक कुचल दिया गया, किंतु सरकार की घुटना-टेक नीति के ख़िलाफ़ आंदोलन बढ़ता ही गया। ९ दिसंबर आंदोलन ने मुक्ति युद्ध के लिए, ऐसे युद्ध के लिए, जो चीनी जनता के बुनियादी हितों के लिए जापान की ओर से उत्पन्न ख़तरे को देखते हुए अवश्यंभावी हो गया था, ज़मीन तैयार करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया था। चीनी समाज के सभी तबक़ों की मांग थी कि सभी देशभक्त शक्तियों को एक हो जाना और गृहयुद्ध को ख़त्म कर देना चाहिये, ताकि जापानियों को चीन की भूमि हड़पने का मौक़ा और न मिल सके। कम्युनिस्ट पार्टी के प्रयासों के फलस्वरूप कुओमिंतांग को लाल सेना के विरुद्ध अपना अभियान रोकने पर बाध्य होना पड़ा, किंतु जापानविरोधी संयुक्त मोर्चा बनाने के बारे में कम्युनिस्ट पार्टी के साथ समझौता करने से वह तब भी इन्कार करता रहा, यद्यपि कम्युनिस्ट कई महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर रिआयतें देने को तैयार थे।

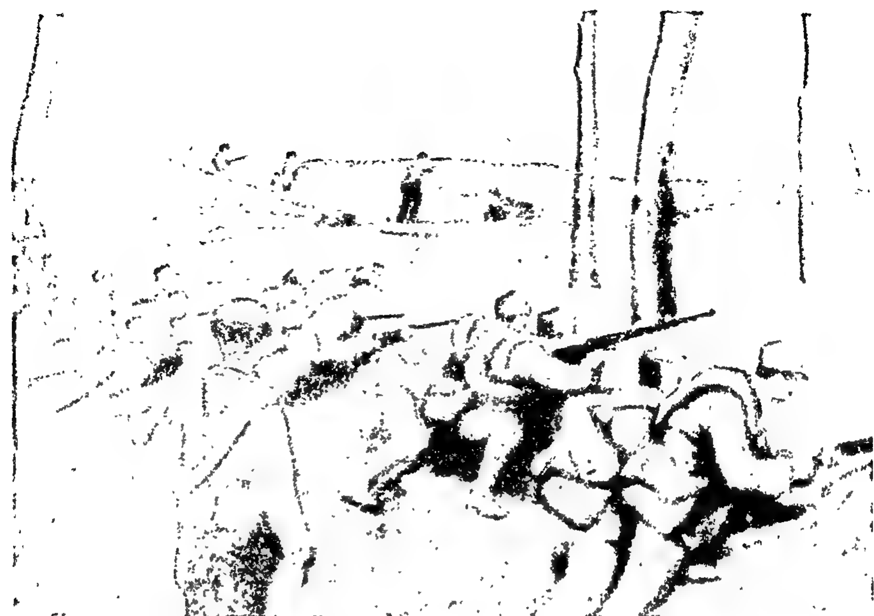
स्थिति में परिवर्तन तभी आया, जब जापान ने सारे चीन पर अधिकार करने और उसे अपना उपनिवेश बनाने के उद्देश्य से बड़े पैमाने पर युद्ध छेड़ दिया। युद्ध का आरंभ ७ जुलाई, १९३७ को हुआ। महीने के अंत तक पीकिंग जापानियों के अधिकार में आ गया। अगस्त में शंघाई पर क़ब्ज़े के लिए लड़ाई शुरू हुई। इस बीच जापानियों ने कुछ अन्य कामयाबियां भी पा ली थीं। किंतु उनकी यह आशा निराधार सिद्ध हुई कि चीन की सैनिक



चापी के निकट चीनी खंदकों पर जापानी तोपखाने की गोलाबारी (१९३२)

दुर्बलता और देशभक्त शक्तियों के ऐक्याभाव के कारण वे बिजली सी तेज़ी से सारे देश को फ़तह कर लेंगे। राष्ट्रीय संकट ने कुओमिंतांग को कम्युनिस्टों का प्रस्ताव मान लेने को मजबूर कर दिया था। फलस्वरूप जापानी आक्रामकों का संयुक्त रूप से प्रतिरोध करने के बारे में दोनों पक्षों के बीच सितंबर में समझौता हो गया। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी, हालांकि च्यांग का गुट युद्ध प्रयासों में तब भी अवरोध पैदा करता रहा, जिससे १९३७ और १९३८ में चीन को अपने काफ़ी बड़े इलाक़े से हाथ धोना पड़ा। फिर भी देश में देशभक्ति की जो ज़बर्दस्त लहर दौड़ गयी थी, उसने प्रतिक्रियावादियों को शत्रु के सामने आत्मसमर्पण और गृहयुद्ध का पुनरारंभ नहीं करने दिया। विदेशी क़ब्ज़ावरों के विरुद्ध युद्ध का असली समाघात आठवीं सेना और चौथी नयी सेना ने, जो दोनों कम्युनिस्टों की कमान में थीं, और शत्रु के पिछवाड़े में सक्रिय छापामार दस्तों ने झेला।

जापानी आक्रमण का मुक़ाबला करने में चीनी जनता को सोवियत संघ से व्यापक सहायता मिली। १९३७ में दोनों देशों ने एक अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर किये, जिसने सारे विश्व को जता दिया कि सोवियत जनता की सहानुभूति किसके साथ है। १९३८-१९३९ में सोवियत संघ ने युद्धरत चीन को



आठवीं सेना के सैनिकों की मोर्चाबंदी (१९३८)

कुल २५,००,००,००० अमरीकी डालर के दो ऋण दिये, जिन्हें हथियारों की ख़रीद के लिए इस्तेमाल किया गया। जापानी आक्रमणकारियों के विरुद्ध युद्ध में विशाल संख्या में सोवियत स्वयंसेवकों ने भी भाग लिया। सोवियत हवाबाज़ों ने चीनी नगरों को जापानी हवाई हमलों से बचाया। दूसरी ओर, पश्चिमी राष्ट्रों ने बिल्कुल अलग ही रवैया अपनाया। उन्होंने जापानी आक्रमण को रोकने के लिए कुछ न किया, हालांकि यह आक्रमण उनके अपने साम्राज्य-वादी हितों के लिए भी कम घातक न था। यहां भी कारण वही था, जिसने उन्हें नाजी जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाने को प्रेरित किया था, अर्थात् आक्रमण का रुख़ सोवियत संघ की दिशा में मोड़ने और इस तरह एक ही तीर से दो शिकार करने की इच्छा। वे सोचते थे कि इस भांति वे सोवियत संघ को भी धराशायी या अत्यंत कमज़ोर कर देंगे और जापानी साम्राज्यवादियों के अतिक्रमणों से चीन में अपने हितों को भी बचा लेंगे।

दो महायुद्धों के बीच का दो दशकों का काल चीन के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखता है। इस काल में साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध

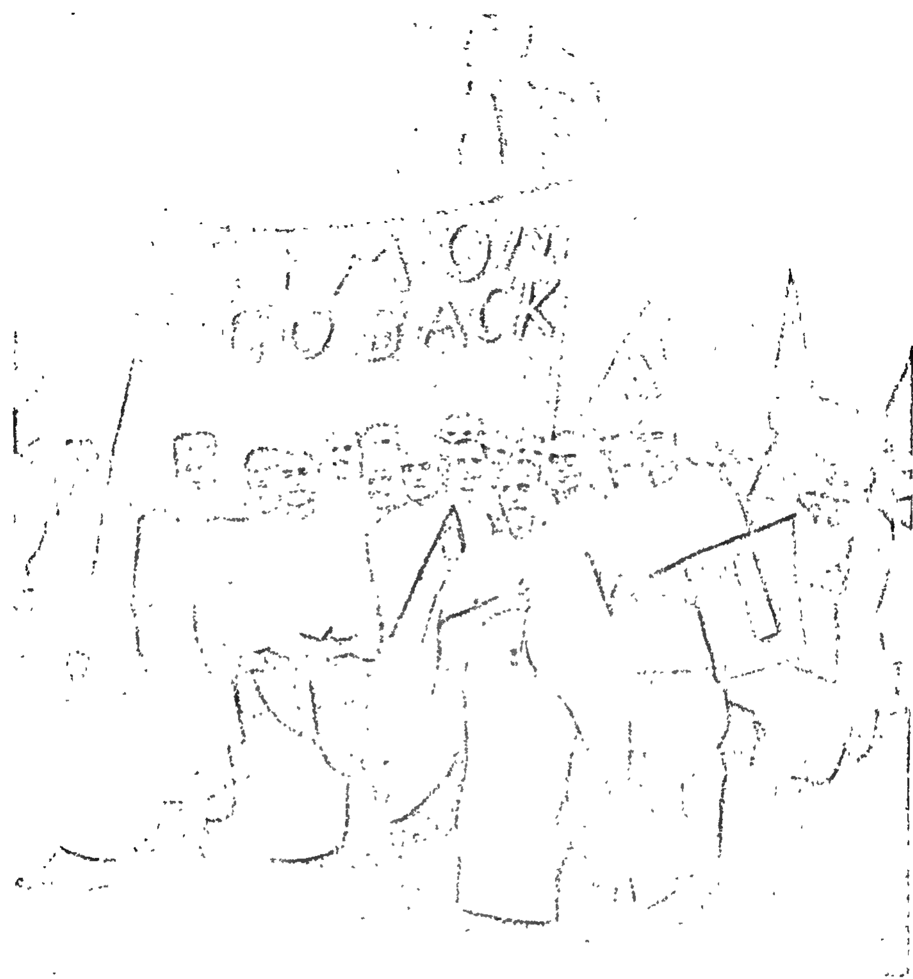
लक्षित राष्ट्रव्यापी क्रांतिकारी आंदोलन का अभूतपूर्व विकास हुआ। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इस काल में चीनी मज़दूर वर्ग ने, जिसने अक्तूबर क्रांति के महान लक्ष्यों को अपना लक्ष्य बना लिया था और अपनी पार्टी की स्थापना कर ली थी, मुक्ति संग्राम के नेता के रूप में राजनीतिक मंच पर पदार्पण किया। यद्यपि राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी की ग़द्दारी के कारण क्रांति सफल न हो पायी, फिर भी उसके दौरान संचित मूल्यवान अनुभव और वर्ग संघर्षों की आग में तपकर मज़बूत बनी कम्युनिस्ट पार्टी की मौजूदगी ने भावी विजयों का मार्ग प्रशस्त किया। इसका सबूत चौथे दशक में ही मिलने लग गया था, जब चीन पर जापानी आक्रमण शुरू हुआ था और कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा स्थापित क्रांतिकारी अड्डे आंतरिक प्रतिक्रिया के ही विरुद्ध नहीं, अपितु जापानी साम्राज्यवाद की ओर से उत्पन्न गंभीर ख़तरे के विरुद्ध भी चीन की जनता के संघर्ष के मुख्य गढ़ बन गये थे।

भारत में साम्राज्यवादविरोध की नयी लहर

१९१९-१९२२ का क्रांतिकारी ज्वार शांत हो जाने के बाद वे अन्तर्विरोध, जिन्होंने भारत के साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष को जन्म दिया था, और भी उग्र बन गये थे। ब्रिटिश इजारेदारियों ने भारत पर अपना आर्थिक दबाव बढ़ा दिया था और स्थानीय पूंजीपति भी हर संभव उपाय से अपना मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए प्रयत्नरत थे। फलस्वरूप मेहनतानों में कमी और काम की परिस्थितियों में बदतरी आती गयी। किसानों का दरिद्रीकरण भी निर्बाध जारी था। इसके अलावा, राजनीति में भी प्रतिक्रिया का दौर आ गया था। औपनिवेशिक सरकार ने विभिन्न धर्मों के लोगों के बीच वैमनस्य भड़काने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाया। क्रांतिकारी ज्वार के दिनों में राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच जो सहयोग पनपा था, वह अब ख़त्म हो गया। कई इलाक़ों में हिंदु-मुसलमान दंगे भी हुए।

कांग्रेस के नेताओं द्वारा सविनय अवज्ञा आन्दोलन वापस ले लिये जाने से जनता में घोर निराशा व्याप्त हो गयी थी। यह इसी का नतीजा था कि अब इस पार्टी के सदस्यों की संख्या एक करोड़ से घटकर कुछ ही लाख रह गयी।

किंतु क्रांतिकारी आंदोलन में व्यवधान का यह दौर अधिक न चला। प्रतिक्रिया के बोलबाले के बावजूद भारतीय मज़दूर अपना हड़ताल संघर्ष जारी रखे हुए थे। १९२६ के अंत तक ट्रेड यूनियनों की सदस्य-संख्या कोई



साइमन कमीशन के ख़िलाफ़ प्रदर्शन (१९२८)

३,००,००० तक पहुंच थी। कम्युनिस्ट समूह अपनी गतिविधियों का दायरा बढ़ाते जा रहे थे। दिसंबर, १९२५ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई।

१९२५ में और बाद के वर्षों में बंगाल, बंबई, पंजाब और अन्य प्रांतों में मज़दूर और किसान पार्टियों का गठन हुआ। इनका उद्देश्य मज़दूरों, किसानों, बुद्धिजीवियों और निम्न बूर्जुआ तत्त्वों को एकजुट बनाना था। सामान्यतया इनके नेताओं में कम्युनिस्टों के अलावा टुटपुंजिया क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों

के प्रतिनिधि भी होते थे। इन पार्टियों ने देश में जनवादी शक्तियों की एकता बढ़ाने में मदद की।

राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन में नया उभार आनेवाला है, यह राष्ट्रीय कांग्रेस में वामपंथी तत्त्वों की बढ़ती सक्रियता से स्पष्ट हो गया था, जिनमें मुख्यतया विद्यार्थी, बुद्धिजीवी और निम्न बूर्ज़ुआज़ी के प्रतिनिधि शामिल थे। इनके नेता जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस थे, जो राष्ट्रीय बूर्ज़ुआज़ी के उन तबक़ों का प्रतिनिधित्व करते थे, जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष करने के पक्ष में थे।

१६२८ में ब्रिटिश सरकार ने १६१६ के भारतीय शासन विधान पर होनेवाले आगामी पुनर्विचार के सिलसिले में जे० ए० साइमन की अध्यक्षता में एक आयोग भारत भेजा। भारतीय इस बात से बहुत क्षुब्ध हुए कि भारत के भविष्य का निर्णय आयोग के सात अंग्रेज़ सदस्यों द्वारा किया जाना है। अतः आयोग के पहुंचने पर सारे देश में उसके ख़िलाफ़ विशाल जन प्रदर्शन शुरू हो गये। "साइमन वापस जाओ!" के नारों से सारा देश गूंज उठा।

हड़ताल आंदोलन में भी तेज़ी आयी। १६२८ में ५,००,००० से ज़्यादा मज़दूरों ने हड़तालों में भाग लिया। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण बंबई के कपड़ा मज़दूरों की हड़ताल थी, जो छह महीने चली। मिलमालिकों के विरुद्ध यह संघर्ष मज़दूरों के बीच कम्युनिस्टों, मज़दूर-किसान पार्टियों और क्रांतिकारी ट्रेड यूनियनों के बढ़ते प्रभाव का परिचायक था।

मज़दूर आंदोलन को और फैलने से रोकने के लिए ब्रिटिश शासकों ने दमन का सहारा लिया। मार्च, १६२६ में उन्होंने डांगे और १३ अन्य कम्युनिस्टों समेत ३३ प्रमुख मज़दूर नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया और मेरठ में उनपर "गुप्त कम्युनिस्ट षड्यंत्र" के आरोप में मुक़दमा चलाया। इतिहास में यह मुक़दमा मेरठ षड्यंत्र केस के नाम से विज्ञात है। अनेक औद्योगिक नगरों में ट्रेड यूनियन नेताओं को हिरासत में ले लिया गया। किंतु ट्रेड यूनियनों के सदस्यों तथा गतिविधियों में निरंतर वृद्धि के बावजूद, ट्रेड यूनियन आंदोलन मे फूट के कारण मज़दूर वर्ग की शक्ति में अब ह्रास आने लग गया। देश में अब तीन ट्रेड यूनियन केंद्र काम कर रहे थे।

पूंजीवादी विश्व का १६२६ का आर्थिक संकट भारत की जनता के लिए और भी भारी मुसीबतें लेकर आया। कृषि मालों के भाव बहुत गिर गये। किसानों की लगभग सारी फ़सल ज़मींदारों को लगान और सरकार को टैक्स चुकाने में ही जाने लगी। बक़ाया टैक्स अकथनीय निर्दयता के साथ वसूले जाते थे। कुछ इलाक़ों में तो टैक्स देने में असमर्थ किसानों को शारीरिक यंत्रणाएं भी दी गयीं। भारत में स्वर्णाभूषणों को प्राचीन काल से ही पवित्र



गांधीजी नमक यात्रा में भाग लेनेवालों के साथ (१९३०)

कुलागत वस्तुएं माना जाता था और ग़रीब से ग़रीब परिवार भी उनसे जुदा होना नहीं चाहता था। किंतु अब यह सोना भी निर्मम कर-संग्राहकों के हाथों में जाने लगा। शहरी इलाक़ों में छोटे व्यवसायियों के कारोबार तेज़ी से उजड़ने लगे, जबकि टाटा, बिड़ला, आदि बड़ी इजारेदारियों का निरंतर विस्तार ही होता गया। तबाह और भूखे किसानों की संख्या में वृद्धि के कारण बेरोज़गारों की भीड़ में और इज़ाफ़ा हुआ।

ब्रिटिश इजारेदार पूंजी उपनिवेशों, विशेषतः भारत का शोषण बढ़ाकर अपने देश में संकट का प्रभाव घटाने की कोशिश कर रही थी। इससे स्वाभाविकतः ब्रिटिश इजारेदारियों और भारतीय राष्ट्रीय पूंजी के बीच प्रतिस्पर्धा बढ़ी।

औपनिवेशिक शासन के प्रति बढ़ते असंतोष का एक राजनीतिक परिणाम यह निकला कि राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रतिष्ठा और सक्रियता में पुनः वृद्धि होने लगी। बहुसंख्य मीटिंगों के प्रभावस्वरूप, जिनमें भारत के लिए स्वाधीनता की मांग उठायी गयी थी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने दिसंबर, १९२९ में अपने लाहौर अधिवेशन में वामपंथियों के नेता जवाहरलाल नेहरू को पार्टी का अध्यक्ष चुना और पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति को अपना लक्ष्य घोषित किया। यह लक्ष्य सारे देश में नया सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़कर हासिल किया जाना था। आंदोलन के नेतृत्व और निदेशन का उत्तरदायित्व गांधीजी को सौंपा गया।

२६ जनवरी, १९३० का दिन स्वाधीनता दिवस घोषित किया

गया।* उस दिन सारे भारत में सार्वजनिक सभाएं और मीटिंगें हुईं। बंबई में सुबह ही लाखों विद्यार्थी, कर्मचारी, दूकानदार और दूसरे लोग "अहिंसक क्रांति ज़िंदाबाद!" के नारे लगाते हुए सड़कों पर निकल आये। राष्ट्रीय कांग्रेस के भवन पर भारत का राष्ट्रीय ध्वज फहराया गया। शाम को काम के दिन की समाप्ति पर नगर के १,००,००० मज़दूर भी कांग्रेस के जलूस में शामिल हुए। मज़दूरों का नेतृत्व क्रांतिकारी ट्रेड यूनियनें कर रही थीं। उनके नारे थे: "क्रांति और आज़ादी!", "सोवियत संघ ज़िंदाबाद!" और "भारत भारतीयों का है!"

शीघ्र ही गांधीजी ने अपनी ११ मांगें प्रकाशित कर दीं। इनमें से कुछ मांगें ये थीं: रुपये की विनिमय दर में परिवर्तन, ताकि स्थानीय पूंजीपति ब्रिटिश मालों से प्रतिस्पर्धा में टिक सकें; संरक्षणात्मक चुंगी दरें लागू करना; लगान में कमी; नमक के उत्पादन पर ब्रिटिश एकाधिकार ख़त्म करना; सैन्य व्यय में ५० प्रतिशत कटौती; और सभी राजनीतिक बंदियों की रिहाई, सिवाय उनके "जो क़त्ल या क़त्ल के लिए उकसावे के दोषी हैं।"

ब्रिटिश सरकार जब ये मांगें मानने को तैयार न हुई, तो गांधीजी ने भारत की जनता से सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ करने का आह्वान कर दिया। आंदोलन की शुरुआत नमक क़ानून के भंग से होनी थी। १२ मार्च, १९३० को गांधीजी अहमदाबाद से अपने ७९ विशेषतः चुने हुए साथियों के साथ अरब सागर के तट पर स्थित डांडी गांव के लिए पैदल रवाना हो पड़े। रास्ते में जगह-जगह पर किसानों ने इस "नमक यात्रा" में भाग लेनेवालों का ज़ोरदार स्वागत किया। ५ अप्रैल को, जो १९१९ में जलियांवाला बाग़ हत्याकांड के शहीदों का स्मृति दिवस भी था, गांधीजी और उनके अनुयायी समुद्र के पानी से नमक बनाने लग गये।

९ अप्रैल को गांधीजी ने भारत की जनता को निम्न शब्दों में संबोधित किया:

"हमारा रास्ता साफ़ है। हर गांव ग़ैर-क़ानूनी तरीके से नमक हासिल करे या बनाये। औरतें शराबख़ानों, अफ़ीमख़ानों और विदेशी कपड़ों की दूकानों के सामने धरना दें। हर घर में जवान और बूढ़े मेहनत से काम करें, रोज़ाना ख़ूब सारा सूत कातें। विदेशी कपड़ों को जला देना चाहिये। हिंदु छुआछूत की बात छोड़ दें। हिंदु, मुस्लिम, सिख, पारसी और ईसाई, सब

---

* तब से भारतीय देशभक्त हर वर्ष २६ जनवरी को स्वाधीनता दिवस के रूप में मनाते रहे और १९५० में भारतीय संविधान की स्वीकृति तथा भारत गणराज्य की घोषणा के लिए भी विशेषतः २६ जनवरी की तिथि ही चुनी गयी।



वंवई के हड़ताली मज़दूरों का जुलूस (१६३४)

मेलजोल से रहें... विद्यार्थी सरकारी स्कूल और कालेज छोड़ दें, सरकारी नौकर इस्तीफ़ा दे दें और अपने को जनता की सेवा में लगा दें। तव हम शीघ्र ही देखेंगे कि पूर्ण स्वराज्य ख़ुद ही हमारे दरवाज़े पर दस्तक दे रहा है।"

"नमक यात्रा" ने, जो इतिहास में डांडी यात्रा के नाम से भी जानी जाती है, राष्ट्रव्यापी अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत के लिए तूर्यनाद का काम किया। सारे देश में नमक क़ानून तोड़ा जाने लगा। वहुत से नगरों में विशाल जलूस निकले, जिनके दौरान पुलिस और फ़ौज के साथ मुठभेड़ें भी हुई। स्वयंसेवक दस्तों ने व्रिटिश माल वेचनेवाली दूकानों के सामने धरने दिये और चौराहों पर व्रिटिश कपड़ों की होली जलायी गयी। लाखों-करोड़ों लोग संघर्ष में शामिल हो गये थे।

मई, १६३० में व्रिटिश औपनिवेशिक सरकार ने राष्ट्रीय कांग्रेस पर प्रतिवंध लगा दिया और गांधीजी, नेहरू तथा अन्य पार्टी नेताओं को क़ैद कर लिया। जेलों में वंद सत्याग्रहियों की संख्या अव तक ६०,००० से ऊपर पहुंच चुकी थी। आंदोलन अपरिहार्यतः एक वार फिर गांधीजी द्वारा विहित अहिंसा की सीमाओं से वाहर निकलने लगा था। अप्रैल, १६३० के अंत में पेशावर में मुस्लिम जनता ने वग़ावत कर दी थी। व्रिटिश अधिकारियों ने

यह सोचकर सिख सैनिकों को पेशावर भेजा कि धार्मिक मतभेदों का फ़ायदा उठाकर वे बग़ावत को कुचल सकेंगे। किन्तु सिखों ने बाग़ियों पर गोलियां चलाने से इन्कार कर दिया और उल्टे अपनी बंदूकें ही उन्हें देने लगे। सशस्त्र विद्रोह चटगांव, शोलापुर और अन्य नगरों में भी हुए। अनेक प्रांतों में किसानों ने टैक्स देना बंद कर दिया।

आंदोलन को इतना विशाल और उग्र रूप धारण करता देख ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार में भी और भारतीय राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के उन हल्क़ों में भी, जो मज़दूरों और किसानों की स्वतंत्र कार्रवाइयों से डरते थे, समझौते की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ने लगी। २६ जनवरी, १९३१ को गांधीजी और कांग्रेस कार्य-कारिणी के सदस्यों को रिहा कर दिया गया और उनके तथा वायसराय के बीच हुई वार्ताओं के फलस्वरूप ५ मार्च को दिल्ली में एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये, जो गांधी-इरविन समझौते के नाम से विज्ञात है। कांग्रेस ने आंदोलन वापस ले लेने और ब्रिटिश सरकार ने दमन रोकने, फ़ौजी क़ानून हटाने और राजनीतिक बंदियों को रिहा करने (इनमें मेरठ केस के सिलसिले में बंद कम्युनिस्टों को और सैन्य न्यायालय के सुपुर्द किये हुए सिख सैनिकों को शामिल नहीं किया गया था) का वचन दिया। गांधीजी गोलमेज़ सम्मेलन में भाग लेने के लिए भी सहमत हो गये, जिसमें ब्रिटिश सरकार और उससे सहयोग करनेवाले भारतीय राजनीतिक हल्क़ों के प्रतिनिधि भारत के शासन विधान में परिवर्तन के प्रश्न पर १९३० से विचार-विमर्श करते आ रहे थे।

गांधी-इरविन समझौते ने भारतीय देशभक्तों को बड़ा निराश किया। जैसी कि आशा थी, लंदन में गांधीजी की वार्ताओं का कोई परिणाम न निकला। भारत वापस पहुंचने पर जनवरी १९३२ में उन्होंने नये सविनय अवज्ञा आंदोलन की घोषणा की, जिसके जवाब में औपनिवेशिक सरकार ने कांग्रेस के नेताओं को पुनः जेल में ठूंस दिया।

१९३२ का अवज्ञा आंदोलन इससे पहले के आंदोलन जितना बड़ा न था, किंतु उसके दौरान जन संघर्ष में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखने में आये। किसान कार्रवाइयां बिहार, मद्रास तथा कुछ देसी रियासतों जैसे उन इलाक़ों में भी होने लगीं, जो १९३० के आंदोलन से लगभग असंपृक्त ही रहे थे। किसानों के बीच मज़दूर-किसान पार्टियों और कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव भी फैलने लगा। जन आंदोलन ने काश्मीर के महाराजा को १९३४ में रियासत में विधान सभा बनाने को मजबूर किया। अलवर रियासत में जनता का विद्रोह सालभर से ज़्यादा चला।

चौथे दशक का क्रांतिकारी आंदोलन अंग्रेज़ों को भारत से खदेड़ तो न सका, किंतु १९१९-१९२२ के आंदोलन की तुलना में उसका स्तर कहीं ऊंचा और पैमाना कहीं अधिक व्यापक अवश्य था। वह पहले की अपेक्षा कहीं

ज़्यादा संगठित भी था और जनता की सक्रियता भी कहीं ज़्यादा बढ़ गयी थी। राजनीति और सार्वजनिक जीवन में सर्वहारा अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा था। इसका सबूत मज़दूर आंदोलन के नेताओं पर मेरठ में चलाया जा रहा मुक़दमा था, जो १९३३ तक जारी रहा। अभियुक्तों ने अदालत के कठघरे से उपनिवेशवादियों का पर्दाफ़ाश और मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारों का प्रचार किया। यद्यपि सभी सबूत उनके निरपराध होने की पुष्टि करते थे, फिर भी अदालत ने उन्हें अपराधी करार दिया। किंतु ब्रिटिश सरकार को उन्हें दंडावधि पूरी होने से पहले ही छोड़ देना पड़ा।

क्रांतिकारी आंदोलन में उतार का दौर अधिक न चला। १९३५ में सारे देश में विरोध आंदोलन की प्रचंड लहर फिर दौड़ गयी। इस बार विरोध का मुख्य मुद्दा ब्रिटिश संसद द्वारा पारित नया भारतीय शासन विधान था।

भारत की जनता ने इसे उचित ही भारत की ग़ुलामी बढ़ानेवाले शासन विधान का नाम दिया। उसमें ब्रिटिश भारतीय प्रांतों और देसी रियासतों का संघ बनाने का प्रस्ताव किया गया था और परवर्तियों को केंद्रीय विधान मंडल में आवश्यकता से अधिक स्थान दिये गये थे। यह राजा-महाराजाओं पर ही छोड़ दिया गया था कि अपने प्रतिनिधियों को वे मनोनीत करते हैं या निर्वाचित करवाते हैं। स्पष्ट था कि इस प्रकार ब्रिटिश शासक राजा-महाराजाओं तथा ज़मींदारों के ज़रिये संघीय विधान मंडल पर अपना नियंत्रण बनाये रखते। वायसराय के अधिकारों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया था।

नये शासन विधान में दी गयी एकमात्र रिआयत प्रांतीय शासन से संबंध रखती थी। प्रांतों में निर्वाचित विधान सभाएं क़ायम की जानी थीं। मताधिकार ३,५०,००,००० लोगों को मिलना था, जिनमें संपन्न किसान भी शामिल थे। सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के प्रावधान के कारण हिंदु-मुस्लिम मतभेदों के बढ़ने में ही योग मिला। प्रांतों में विधान सभाओं के प्रति उत्तर-दायी सरकारों की स्थापना की गयी, किंतु उनके अधिकार सीमित थे। इस प्रकार प्रांतों में भी वास्तविक सत्ता गवर्नरों के ही हाथों में रही।

राष्ट्रीय कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी और मज़दूर, किसान तथा युवा संगठनों ने इस दासतापूर्ण शासन विधान का सक्रिय विरोध किया। इससे संयुक्त साम्राज्यवादविरोधी मोर्चे की स्थापना के लिए आधार तैयार हुआ। यह इसी विरोध आंदोलन का नतीजा था कि प्रांतों और देसी रियासतों का संघ क़ायम न हो सका।

१९३७ में प्रांतीय विधान सभाओं के चुनाव हुए। दासतापूर्ण शासन विधान का विरोध जारी रखते और भारत के लिए पूर्ण स्वतंत्रता की मांग करते हुए राष्ट्रीय कांग्रेस ने चुनावों में भाग लिया और ११ में से ७ प्रांतों में बहुमत प्राप्त किया, जहां कांग्रेसी सरकारें बनायी गयीं।

भारत ने अब साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष के एक नये दौर में प्रवेश कर लिया था। १९३० में देश में हुई हड़तालों में ६,४८,००० मज़दूर शरीक हुए। हड़ताल संघर्ष १९३८-१९३९ में भी ज़ोर पकड़ता गया। सबसे अधिक दृढ़ता का परिचय बंबई और कानपुर के मज़दूरों ने दिया, जो अपनी आर्थिक मांगों के अलावा भारत की स्वाधीनता के लिए और कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध हटाने के लिए भी लड़ रहे थे।

भारतीय कम्युनिस्टों के प्रयासों की बदौलत १९३८ में भारतीय ट्रेड यूनियन आंदोलन में पुनः एका क़ायम हुआ और एक साझा ट्रेड यूनियन केंद्र क़ायम किया गया। किसान आंदोलन भी अधिक सशक्त तथा संगठित बना और ज़मींदारी उन्मूलन, ऋणों की मंसूखी, आदि की उसकी मांगें उत्तरोत्तर ज़ोर पकड़ने लगीं। १९३६ में स्थापित अखिल भारतीय किसान सभा की सदस्य संख्या शीघ्र ही ८,००,००० तक पहुंच गयी। रियासतों में भी जनवादी तथा साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन अधिकाधिक व्यापक बनता गया।

पहले और दूसरे महायुद्ध के बीच भारत में क्रांतिकारी आंदोलन की एक पर एक जो तीन प्रचंड लहरें उठी थीं, उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन को काफ़ी झकझोर डाला था और हर बार राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम एक ऐसे स्तर पर पहुंचा था, जो परिमाणात्मक तथा गुणात्मक, दोनों ही दृष्टियों से पूर्ववर्ती स्तर की अपेक्षा कहीं ऊंचा था।

दूसरे महायुद्ध की पूर्ववेला में इस आंदोलन की मुख्य विशेषताएं ये थीं: राजनीतिक मामलों में सर्वहारा और किसान अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे थे; राष्ट्रीय कांग्रेस एक ऐसा जनव्यापी संगठन बन गयी थी, जो देश की अधिकांश जनता को अपने पीछे एकताबद्ध कर सकता था; कम्युनिस्ट पार्टी एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कारक बनती जा रही थी और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की सातवीं कांग्रेस के निर्णयों को क्रियान्वित करते हुए देश में संयुक्त साम्राज्यवादविरोधी मोर्चे की स्थापना के लिए संघर्ष कर रही थी। चौथे दशक के अंत में देश की आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियां औपनिवेशिक उत्पीड़न के ख़ात्मे के हेतु संघर्षरत सभी शक्तियों के एकीकरण के लिए काफ़ी उपयुक्त थीं।

दो महायुद्धों के मध्यकाल का दक्षिणी और उष्णकटिबंधीय अफ़्रीका

जहां तक दक्षिणी तथा उष्णकटिबंधीय अफ़्रीका के आधुनिक इतिहास का संबंध है, आम लोग इस भूभाग की अधिक से अधिक पिछले दो-एक

दशकों की घटनाओं से ही परिचित हैं, यानी जब से अफ़्रीकी राष्ट्रीय मुक्ति क्रांति की विजयों का सिलसिला शुरू हुआ है। प्रसंगतः, कुछ ही समय पहले एक फ़्रांसीसी बूर्जुआ इतिहासकार ने भी अफ़्रीका को ऐसे महाद्वीप की संज्ञा दी थी, जिसका कोई अतीत, कोई इतिहास नहीं है। अनेक पुस्तकों में अफ़्रीका की छठे तथा सातवें दशकों की घटनाओं को ऐसे चित्रित किया जाता है, मानो वे संयोग की बात हों, न कि पहले जो कुछ घटा है, उसकी तार्किक परिणति। उद्देश्य इस धारणा को पक्का बनाना है कि उपनिवेशों ने स्वतंत्रता संघर्ष करके नहीं हासिल की है, बल्कि वह उन्हें उपनिवेशस्वामियों से कृपा-स्वरूप मिली है।

किंतु अफ़्रीका तीसरे और चौथे दशकों में भी आनेवाले निर्णायक स्वातंत्र्य संग्राम के लिए शनैःशनैः शक्ति संचय कर रहा था। यह प्रक्रिया राष्ट्रीय तथा राजनीतिक चेतना की वृद्धि में, औपनिवेशिक प्रणाली का विरोध करने के नये तरीक़े अपनाये जाने में तथा राजनीतिक संगठनों के आविर्भाव में परिलक्षित हुई।

बीसवी शताब्दी के आरंभ तक अफ़्रीका के सबसे सुदूर तथा अंतर्वर्ती भागों में भी शासन तथा शोषण की औपनिवेशिक व्यवस्था ने जड़ें जमा ली थीं और समस्त अफ़्रीकी जनों के जीवन तथा रहन-सहन को प्रभावित करने लग गयी थी। अफ़्रीकी अर्थव्यवस्था अपना पुराना स्वरूप खोकर अधिकाधिक औपनिवेशिक ढंग की अर्थव्यवस्था बनती जा रही थी, यानी उसमें निर्यात-योग्य फ़सलों तथा खनिजों के उत्पादन को प्राथमिकता दी जाने लगी थी। माल-मुद्रा संबंधों की भूमिका बढ़ रही थी और परंपरागत जीवन-पद्धति ह्रासोन्मुख बनती जा रही थी।

फलस्वरूप नयी सामाजिक शक्तियों का आविर्भाव होने लग गया था। काम की खोज में अधिकाधिक किसान गांव छोड़ रहे थे। किंतु सच्चे अर्थों में सर्वहारा का उदय केवल दक्षिण में, यानी दक्षिण अफ़्रीकी संघ में ही हो पाया। अन्य अफ़्रीकी देशों में लगभग सभी उजरती मज़दूर मौसमी कामगार थे, जो फिर अपने गांव लौट जाते थे। इसके बावजूद, सर्वहारा चेतना के अंकुर उनमें भी पनपने लग गये थे और इसका उनके क़बीलों के अन्य लोगों के परंपरागत सोच-विचार पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य ही था।

बूर्जुआज़ी का उदय भी आरंभ हो चुका था। इसी प्रकार, चाहे संख्या में बहुत कम ही सही, बुद्धिजीवी भी प्रकट होने लग गये थे। ये मुख्यतया मिशन स्कूलों या "देसी कालेजों" में शिक्षा पाये हुए अध्यापक थे। कुछ अफ़्रीकियों को यूरोप जाकर शिक्षा जारी रखने का अवसर भी मिल जाता था। इसके साथ ही आबादी पर क़बायली सरदारों और मुखियाओं का प्रभाव घटता जा रहा था।



कांगो में सड़क का निर्माण

रहन-सहन के ढंग तथा सामाजिक ढांचे में आ रहे इन परिवर्तनों के फलस्वरूप राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के तरीक़ों में भी परिवर्तन आने लगा था। क़बायली विद्रोह, उपनिवेशवाद के प्रतिरोध के परंपरागत तरीक़े अतीत की बात बनते जा रहे थे।

किंतु ये सब बहुत ही धीमी प्रक्रियाएं थीं। इसका एकमात्र अपवाद दक्षिण अफ़्रीकी संघ था, जो आर्थिक दृष्टि से सबसे उन्नत अफ़्रीकी देश था। समस्त पूंजीवादी विश्व के ५० प्रतिशत स्वर्ण तथा प्लेटिनम का और ९० प्रतिशत हीरों का उत्पादन इसी देश में होता था। उसके उद्योग शेष सारे अफ़्रीका की अपेक्षा कहीं अधिक तेज़ी से विकास कर रहे थे। शहरी विकास की रफ़्तार भी कहीं अधिक तेज़ थी और कुछ नगर महत्त्वपूर्ण औद्योगिक केंद्र बन बैठे थे। ट्रांसवाल की खानों में, जो दुनिया में सबसे गहरी थीं, कई लाख मज़दूर काम करते थे।

अफ़्रीका महाद्वीप में मज़दूर आंदोलन सबसे पहले यहां दक्षिण अफ़्रीकी संघ में ही शुरू हुआ था। पिछली शती के नौवें दशक में यहां के खान मज़दूरों ने हड़ताल की पहली कोशिश की थी। बीसवीं शती के आरंभ में यूरोपीय मूल के मज़दूरों ने यहां कई सामाजिक-जनवादी संगठन बनाये। १९०९ में दक्षिण अफ़्रीकी लेबर पार्टी की स्थापना की गयी।

१९१५ में इस पार्टी के एक धड़े ने अलग होकर इंटरनेशनल सोशलिस्ट लीग बना ली, जिसने साम्राज्यवादी महायुद्ध ख़त्म करने की मांग की

और विश्व सर्वहारा की एकता तथा दक्षिण अफ़्रीकी संघ के सभी मज़दूरों की, चाहे वे किसी भी नस्ल के क्यों न हों, एकजुटता के पक्ष में आवाज़ उठायी। दक्षिण अफ़्रीका में नस्लवाद के बोलबाले को देखते हुए यह एक अत्यंत साहसिक क़दम था। अफ़्रीका में अंतर्राष्ट्रीयतावाद का नारा भी पहली बार ही बुलंद किया गया था।

१९२० में इंटरनेशनल सोशलिस्ट लीग ने कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की सदस्यता स्वीकार कर ली और १९२१ में कई अन्य समाजवादी संगठनों के साथ मिलकर अपने को दक्षिण अफ़्रीका की कम्युनिस्ट पार्टी घोषित कर दिया। यह अफ़्रीका महाद्वीप की पहली कम्युनिस्ट पार्टी थी। गोरे मज़दूरों द्वारा स्थापित किये जाने के बावजूद अफ़्रीका के सारे इतिहास में वह पहली राजनीतिक पार्टी थी, जिसने अपने द्वार सभी नस्लों और रंगों के लोगों के लिए खोले। कम्युनिस्ट पार्टी ने अफ़्रीकी मज़दूरों की ट्रेड यूनियनें संगठित कीं, उनके लिए सांध्य स्कूल खोले। चौथे दशक के आरंभ तक उसके सदस्यों में अफ़्रीकियों की बहुसंख्या हो गयी।

रूस की अक्तूबर क्रांति और १९१८-१९२३ की यूरोप की क्रांतिकारी घटनाओं के प्रभाव को दक्षिण अफ़्रीकी संघ के इतिहास में बहुत ही स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है। इंटरनेशनल सोशलिस्ट लीग और बाद में कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा प्रकाशित दैनिक 'इंटरनेशनल' रूस की घटनाओं के विस्तृत समाचार देता था और लेनिन के लेख छापता था।

१९१९ में दक्षिण अफ़्रीकी संघ में औद्योगिक तथा वाणिज्यिक कामगार संघ की स्थापना हुई, जो तीसरे दशक के अंत तक देश की अफ़्रीकी जनता का सबसे महत्त्वपूर्ण संगठन रहा। उसके सदस्यों में मज़दूर ही नहीं, बुद्धिजीवी, दस्तकार, दूकानदार, व्यापारी, आदि भी थे। नेटाल प्रांत में उसकी शाखा में बहुसंख्य सदस्य किसान थे। अफ़्रीकी राष्ट्रीय संगठनों में औद्योगिक तथा वाणिज्यिक कामगार संघ का सर्वोच्च स्थान पर होना इस बात का प्रमाण था कि पहले महायुद्ध के उपरांत राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का नेतृत्व क़बायली सरदारों के हाथों में न रहकर विभिन्न सामाजिक तबक़ों के हाथों में पहुंच गया था।

संघ के संविधान में कहा गया था कि मेहनतकश जन और उनके शोषकों के हितों के बीच कोई मेल नहीं हो सकता। अतः आरंभ में उसने मेहनतकशों के अधिकारों के लिए तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध सक्रिय रूप से संघर्ष किया। १९१९ में उसके निदेशन में देश के सभी बंदरगाहों के कर्मचारियों और हीरे की खानोंवाले इलाक़े के रेलवे मज़दूरों की हड़ताल हुई। फ़रवरी, १९२० में उसने अफ़्रीकी खान मज़दूरों की पहली विशाल हड़ताल के आयोजन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस हड़ताल में दसियों हज़ार मज़दूर शामिल हुए थे।

देश के एक अन्य महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संगठन – अफ़्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस – के स्वरूप तथा नीतियों में भी परिवर्तन आया। १९१२ में अपनी स्थापना के वक़्त उसने घोषणा की थी कि वह मज़दूर आंदोलन से कोई वास्ता नहीं रखेगा। किंतु पहले महायुद्ध के बाद वह भी हड़तालों के आयोजन में भाग लेने लगा।

अफ़्रीका महाद्वीप में दक्षिण अफ़्रीकी संघ का मज़दूर तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन सर्वाधिक उन्नत था और उसने अन्य अफ़्रीकी देशों में राष्ट्रीय तथा राजनीतिक चेतना के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। महाद्वीप के दूर-दूर के इलाक़ों के भी प्रबुद्ध तथा सक्रिय लोग दक्षिण अफ़्रीकी संघ की घटनाओं में गहरी दिलचस्पी लेते थे। तीसरे और चौथे दशकों में दक्षिणी अफ़्रीका में ऐसे अनेक जूलू, बसूतो और स्वाज़ी लेखक और कवि उभरे, जिनकी रचनाएं उनके देश के बाहर भी पढ़ी जाती थीं।

क्रांतिकारी विचारों के प्रचार-प्रसार में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका उन मज़दूरों ने निभायी, जो मोज़ांबीक, बसूतोलैंड, बेचुआनालैंड, स्वाज़ीलैंड, न्यासालैंड और उत्तरी व दक्षिणी रोडेशिया से ट्रांसवाल की खानों में काम करने आये थे। जब वे घर लौटते थे, तो अपने साथ "खान मज़दूरों की बीमारी" – तपेदिक – ही नहीं, बल्कि अपने अधिकारों के लिए लड़ने का अनुभव भी ले जाते थे।

तीसरे दशक में बसूतोलैंड में, जो छोटा सा ब्रिटिश संरक्षित क्षेत्र था और जिसकी आधी श्रम-सक्षम पुरुष आबादी रोज़ी-रोटी की खोज में दक्षिण अफ़्रीकी संघ चले जाया करती थी, पहला उपनिवेशवादविरोधी राजनीतिक संगठन स्थापित हुआ, जिसका नाम लेखोत्ला ला बाफ़ो (लोक संघ) रखा गया। १९२३ तक दक्षिणी रोडेशिया के उद्योगपति तथा फ़ार्ममालिक भी शिकायतें करने लग गये कि दक्षिण अफ़्रीकी संघ से लौटनेवाले मज़दूर स्थानीय लोगों में असंतोष भड़का रहे हैं, मीटिंगें करवाते हैं और अफ़्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस जैसा संगठन बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। आगे चलकर वस्तुतः सारे ही दक्षिणी तथा पूर्वी अफ़्रीका में (कुछ देशों में दूसरे महायुद्ध के बाद) ऐसे संगठन क़ायम हो गये।

इस तरह हम देखते हैं कि दक्षिण अफ़्रीकी संघ ने शेष महाद्वीप पर दो प्रकार का प्रभाव डाला। एक ओर तो उसके शासक हल्क़े सारे महाद्वीप के लिए प्रतिक्रियावाद के मुख्य अवलंब और उग्रतम नसलवाद के प्रतीक बने हुए थे और, दूसरी ओर, उसका मजदूर व राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन क्रांतिकारी विचारों के प्रचार-प्रसार में सहायक हो रहा था।

चौथे दशक में उत्तरी रोडेशिया (वर्तमान ज़ांबिया) के मज़दूर वर्ग ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया। १९३५ में देश की तांबा खानों के हज़ारों

मज़दूरों ने हड़ताल कर दी। विश्वव्यापी आर्थिक संकट (१९२९-१९३३) के दौरान तांगानीका में ट्रेड यूनियनें क़ायम हुईं। १९३२ में वहां की सोना खानों के मजदूरों ने वेतन वृद्धि की मांग करते हुए एक हफ़्ते तक हड़ताल की। १९३९ में उगांडा में अफ़्रीकी मोटर ड्राइवरों की ट्रेड यूनियन बनी। हड़तालों का सहारा कतिपय अन्य अफ़्रीकी देशों के मज़दूर भी लेने लगे।

किंतु औपनिवेशिक शासन के प्रति विरोध ने सर्वत्र ही हड़तालों और राजनीतिक व ट्रेड यूनियन संगठनों की स्थापना का रूप नहीं लिया। विरोध प्रदर्शन के दूसरे तरीक़े कहीं ज़्यादा प्रचलित थे, यद्यपि वे इतने उन्नत न थे।

मिसाल के लिए, किसानों का संघर्ष प्रायः धार्मिक आंदोलन का जामा ओढ़ लिया करता था। १९२१ में बेल्जियन कांगो में 'किंबांगूवाद' नामक एक ज़बर्दस्त आंदोलन शुरू हुआ, जिसका नेता एक भूतपूर्व पादरी सिमोन किंबांगू था। किंबांगू के अनुयायियों ने उसे मसीहा घोषित किया और कहा कि वह कांगो की जनता का परित्राण करने के लिए अवतरित हुआ है। उसकी अगुआई में बेल्जियन अधिकारियों के ख़िलाफ़ कई प्रदर्शन हुए। पूर्वी कांगो में ऐसी ही भूमिका 'कितावाला' आंदोलन ने और निचले कांगो में नीग्रो मिशन आंदोलन ने निभायी। न्यासालैंड में पहरे की मीनार आंदोलन (वाच-टॉवर मूवमेंट) और दक्षिण अफ़्रीकी संघ में इथियोपियाई मत का व्यापक प्रभाव पड़ा।

तीसरे और चौथे दशकों में अनेक देशों में देशी समाज (नेटिव एसोसियेशंस) और समृद्धि समाज (प्रोस्पेरिटी एसोसियेशंस) भी काम कर रहे थे। उदीयमान बुद्धिजीवी समुदाय और अन्य शहरी तबक़ों के लोग इनके सदस्य होते थे। सरकारी तौर पर उनका कार्यक्षेत्र सामुदायिक कल्याण और सार्वजनिक सेवा तक ही सीमित था। म्यूनिसिपल परामर्शदात्री संस्थाओं में अपने प्रतिनिधियों के ज़रिये वे सुझाते थे कि इन क्षेत्रों में क्या-क्या सुधार किये जाने चाहिए। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन से अपने को भरसक अलग रखते हुए वे सरकार के प्रति अपनी वफ़ादारी का प्रदर्शन करने और उसे अपना सहयोग देने का कोई मौक़ा नहीं चूकते थे। इसके बावजूद उन्होंने कुछ हद तक रचनात्मक भूमिका ही निभायी। मिसाल के लिए, न्यासालैंड में दूसरे महायुद्ध के दौरान न्यासालैंड अफ़्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ऐसे 'देशी समाजों' की समिति के आधार पर ही हुई थी।

जिन देशों में अफ़्रीकी आबादी के कुछ हिस्से को चुनावों (संसदीय, म्यूनिसिपल या स्थानीय नेटिव काउंसिलों के चुनावों) में भाग लेने का अधिकार था, वहां अफ़्रीकी मतदाता समाजों की स्थापना ने मतदाताओं को एकजुट बनाने में बड़ा योग दिया।

उगांडा में जायमान बुद्धिजीवी समुदाय ने १९१८ में युवा बुगांडा समाज की स्थापना की, जिसने स्थानीय प्रशासन के जनवादीकरण की मांग की। १९२१ में यहीं वताका समाज नामक एक अन्य संगठन भी बनाया गया, जिसके कार्यक्रम में किसानों से छीनी गयी ज़मीनें उन्हें वापस लौटाने की मांग शामिल थी।

तीसरे दशक में केन्या के सबसे बड़े क़बीले – किकूयू – के लोगों ने दो राजनीतिक संगठन स्थापित किये। इनमें से एक युवा किकूयू समाज था, जो भूमि छीने जाने का विरोध करता था। १९२१ में स्थापित यह संस्था १९४० तक सक्रिय रही। दूसरा संगठन तीसरे दशक के अंत में स्थापित केंद्रीय किकूयू समाज था, जिसने अफ़्रीकियों के लिए राजनीतिक अधिकारों, सभी यूरोपीय तथा अफ़्रीकी मज़दूरों व कर्मचारियों के लिए समान अधिकारों और क़बीलों के सरदारों तथा मुखियाओं के निर्वाचन की मांग की। १९२२ में नाइजीरिया में एक राजनीतिक पार्टी गठित की गयी, जिसका नाम राष्ट्रीय-जनवादी पार्टी था। विधान सभा के चुनावों में उसने देश के प्रशासनिक केंद्र लागोस से अफ़्रीकियों के लिए सुरक्षित चार स्थानों में से तीन स्थान जीते।

किंतु पहले और दूसरे महायुद्ध के मध्यकाल में अफ़्रीका के विभिन्न भागों में उत्पन्न इन या इन जैसे दूसरे बहुसंख्य राजनीतिक संगठनों में से किसी के भी सदस्यों की तादाद खास बड़ी न थी, न ही किसी का कोई स्पष्ट कार्यक्रम था। इसके अलावा, कोई दीर्घजीवी भी सिद्ध न हुआ। तथापि उनका प्रादुर्भाव रुका नहीं और उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। शनैःशनैः वे उन बड़ी राजनीतिक पार्टियों के लिए आधार तैयार कर रहे थे, जिन्हें आगे चलकर स्थापित होना था, स्वाधीनता संघर्ष के पथ पर अपनी जनता का नेतृत्व करना था और अंततः स्वतंत्र, सार्वभौम राज्यों की सरकारें बनाना था।

अनेक अफ़्रीकी देशों में सर्वाधिक सक्रिय शक्तियों ने एकजुट होने का प्रयास भी किया। मिसाल के लिए, मार्च, १९२० में नाइजीरिया, गोल्ड कोस्ट, गांबिया और सियेरा लिओन, इन चार ब्रिटिश उपनिवेशों की अफ़्रीकी जनता के प्रतिनिधियों का एक संयुक्त सम्मेलन हुआ, जिसमें पश्चिमी अफ़्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गयी। यह संगठन दस वर्ष से अधिक सक्रिय रहा। वह जनव्यापी संगठन न था और उसकी मांगें भी ब्रिटिश शासन के अंतर्गत अफ़्रीकियों को कुछ अधिक अधिकार दिये जाने तक ही सीमित थीं। किंतु तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उसने समस्त ब्रिटिश पश्चिमी अफ़्रीका में उदीयमान अफ़्रीकी बुद्धिजीवियों को एकजुट बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। अफ़्रीकी जनता के बीच राष्ट्रीय और राजनीतिक चेतना जगाने

में १९१९-१९२१, १९२३ तथा १९२७ की सर्व-अफ़्रीकी कांग्रेसों और समग्र तौर पर सर्व-अफ़्रीकी आंदोलन का भी बड़ा हाथ रहा।

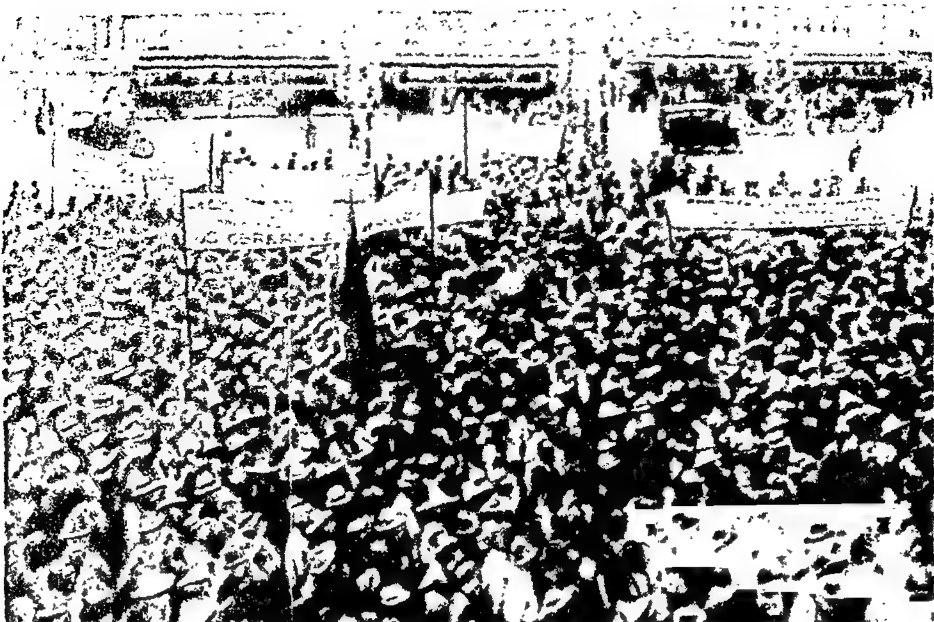
अफ़्रीका महाद्वीप में साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन के विकास के लिए एक घटना जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई, वह थी १९३५-१९३६ में इतालवी साम्राज्यवादियों के आक्रमण का इथियोपिया की जनता द्वारा प्रतिरोध। सारे अफ़्रीका में इथियोपिया ही ऐसा एकमात्र देश था, जो उपनिवेशवादियों के चंगुल में नहीं फंस पाया था, अतः उसकी नियति सभी अफ़्रीकियों के लिए गंभीर चिंता का विषय बन गयी। अफ़्रीका के सभी भागों से लोग स्वयंसेवकों के तौर पर इथियोपिया जाने को आतुर हो उठे। उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष में अफ़्रीकियों के हितों की एकता का जैसा प्रदर्शन इस युद्ध ने किया, वैसा तीसरे और चौथे दशकों की किसी और घटना ने शायद ही किया हो।

लैटिन अमरीका के जनों का मुक्ति संग्राम (१९१८-१९३९)

लैटिन अमरीकी देशों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति

पहले महायुद्ध के दौरान लैटिन अमरीका में जर्मनी और जापान के प्रभाव में भारी कमी आ गयी थी और ब्रिटेन तथा फ़्रांस का प्रभाव भी काफ़ी-कुछ घट गया था। वस्तुगत दृष्टि से लैटिन अमरीकी देशों के आर्थिक विकास के लिए अधिक अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न हो गयी थीं।

उदाहरण के लिए, अर्जेंटीना में नये मांस पैकिंग उद्यमों का निर्माण तथा पुराने उद्यमों का विस्तार किया जाने लगा था। ब्राज़ील में अनेक नये औद्योगिक उद्यम क़ायम हो रहे थे। मेक्सिको, चिली, उरुग्वाय और क्यूबा में भी औद्योगिक विकास हो रहा था। थोड़ी बहुत औद्योगिक प्रगति अन्य देशों में भी देखी जा सकती थी। किंतु मध्य अमरीकी देश, जैसे ग्वाटेमाला, होंडूरास, निकारागुआ, सल्वेडोर, कोस्टा रीका और पनामा अभी भी लगभग पूरी तरह कृषिप्रधान देश बने हुए थे, क्योंकि उनकी अर्थव्यवस्था अमरीकी इजारेदारियों के नियंत्रण में थी। ये देश उस क्षेत्र में आते थे, जिसे युनाइटेड फ्रुट कंपनी का "केला साम्राज्य" कहा जाता है।



मेक्सिको में एक विशाल जन प्रदर्शन (१९२०)

लैटिन अमरीकी देशों के तीव्र पूंजीवादी विकास ने उनके राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ कर दिया था और फलस्वरूप वह अब राजनीति के क्षेत्र में भी अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए सक्रिय हो उठा था। किंतु यहां उसे सत्तारूढ़ अल्पतंत्र, यानी ज़मींदारों (लातीफ़ुंदिस्तों) तथा बड़े बूर्जुआज़ी के गुट के कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। उस गुट को विदेशी साम्राज्यवादी हल्क़ों का पूरा समर्थन प्राप्त था।

यह विदेशी पूंजीपतियों के हित में था कि लैटिन अमरीकी देश सदा पिछड़े बने रहें। अतः वे उनका औद्योगिक विकास रोकने, गांवों में प्राक्-पूंजीवादी आर्थिक संबंध तथा बड़ी ज़मींदारियां (लातीफ़ुंदियां) बनाये रखने की हर संभव कोशिश करते थे, क्योंकि सबसे बड़े लातीफ़ुंदिस्त वे ख़ुद ही थे।

पहले महायुद्ध के वर्षों में आये परिवर्तन साम्राज्यवादी इजारेदारियों के प्रभुत्व को न हिला सके। एकमात्र नयी चीज़ जो हुई, वह थी उनके शक्ति-संतुलन में बदलाव, यानी मध्य और दक्षिण अमरीकी देशों के अर्ध-औपनिवेशिक शोषण में अब प्रमुख स्थान संयुक्त राज्य अमरीका को प्राप्त हो गया। लैटिन अमरीकी देशों के औद्योगिक विकास में जो तेज़ी आयी थी, वह अल्पकालिक ही सिद्ध हुई। युद्ध समाप्त होते ही उत्पादन में कटौती कर देनी पड़ी, क्योंकि लैटिन अमरीकी कच्चे मालों की मांग एकाएक घट

गयी थी। १९२०-१९२१ के आर्थिक संकट के कारण स्थिति और भी बिगड़ गयी, विश्व मंडी पर उनकी निर्भरता और अर्थव्यवस्था के एकांगी होने की प्रक्रिया तेज़ी से बढ़ी। अर्जेंटीना के मांस पैकिंग उद्यम, मेक्सिको के तेल कूप और चिली की तांबा तथा नाइट्रेट खानें बंद होने लगीं। ब्राज़ील के विशाल कॉफ़ी स्टाकों का कोई ख़रीददार न रहा।

इसका नतीजा यह हुआ कि आम ज़रूरत की चीज़ों के दाम आसमान छूने लगे और रहन-सहन के स्तर में नयी गिरावट आयी। मिसाल के लिए, ब्राजील में कतिपय मालों के दाम १९२३ में १९१४ के मुक़ाबले ४००-६०० प्रतिशत ज़्यादा थे। पेरू में जीवन-निर्वाह व्यय युद्धपूर्व के स्तर से २५०-३०० प्रतिशत बढ़ गया था। अन्य लैटिन अमरीकी देशों में भी हालत ऐसी ही थी। जनता के बीच असंतोष बढ़ा और फलस्वरूप क्रांतिकारी आंदोलन में भी तेज़ी आयी।

अक्तूबर क्रांति और
वर्ग तथा साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष का उभार

रूस में सर्वहारा क्रांति होने और सोवियत सत्ता की स्थापना किये जाने का समाचार सुनकर लैटिन अमरीकी देशों के मज़दूरों तथा प्रगतिशील हल्क़ों में हर्ष और उल्लास की ज़बर्दस्त लहर दौड़ गयी थी। सर्वत्र मीटिंगें और सभाएं हुईं, जिनमें रूसी सर्वहारा के साथ एकता प्रदर्शन के प्रस्ताव पास किये गये। फिर जब प्रतिक्रांतिकारियों और विदेशी साम्राज्यवादियों ने रूस में गृहयुद्ध छेड़ा, तो सारे लैटिन अमरीका में सोवियत रूस की रक्षा के लिए एक व्यापक जन आंदोलन शुरू हो गया।

अर्जेंटीना में अक्तूबर क्रांति के समाचार की बहुत ही उत्साहजनक प्रतिक्रिया हुई। ब्यूनस आयर्स में वर्ग संघर्ष छिड़ गया। नवंबर, १९१८ में वसेना कंपनी के, जिसके मालिक ब्रिटिश पूंजीपति थे, एक धातुकर्म कारख़ाने के मजदूरों ने हड़ताल कर दी और काम का दिन आठ घंटे का नियत करने तथा काम की परिस्थितियां बेहतर बनाने की मांग की। ७ जनवरी, १९१९ को पुलिस ने हड़तालतोड़ुओं को काम पर लिये जाने का विरोध करने के लिए एकत्र हड़ताली मजदूरों पर गोलियां चलायीं, जिससे अनेक लोग हताहत हुए। ९ जनवरी को आम हड़ताल शुरू हो गयी। मारे गये लोगों के अंत्येष्टि जलूस में कोई २,००,००० आदमियों ने भाग लिया, मगर उसपर भी मशीन-गनों से गोलियां चलायी गयीं। क्रुद्ध मजदूरों की भीड़ ने इसके जवाब में हथियारों की दूकानों तथा शस्त्रागार पर क़ब्ज़ा कर लिया और फिर पुलिस तथा फ़ौज का डटकर मुक़ाबला किया।

लड़ाई १५ जनवरी तक चली। मज़दूर यद्यपि हार गये, फिर भी आंतरिक प्रतिक्रियावादियों और साम्राज्यवादी शिकंजे के खिलाफ़ उनका संघर्ष जारी रहा। १६१६ में मेंडोसा, चाको और सांटा फ़े में विदेशियों के स्वामित्व में स्थित उद्यमों में हड़तालें हुईं। १६२१ में पतागोनिया के खेत मज़दूरों के, जो अर्जेंटीनी सर्वहारा में सर्वाधिक शोषित तथा उत्पीड़ित थे, बलवे हुए। फ़ौज ने उन्हें कुचल दिया और मज़दूरों को पकड़कर बिना किसी जांच या मुक़दमे के गोलियों से भून डाला।

इस सामूहिक हत्याकांड से देश के सारे मज़दूर वर्ग का खून खौल उठा और ब्यूनस आयर्स, रोज़ारियो तथा तुकूमन में हड़तालों की लहर दौड़ गयी।

अक्तूबर क्रांति ने जिन लक्ष्यों की उद्घोषणा की थी, मेक्सिको में उनका सर्वत्र स्वागत हुआ। मेक्सिकी जनता को जब मालूम हुआ कि सोवियत सरकार ने आज्ञप्तियां जारी करके सारी भूमि को किसानों की और सभी कल-कारखानों को मज़दूरों की संपत्ति बना दिया है, तो उसने भी रूसी मिसाल का अनुकरण करने का प्रयास किया। सोनोरा राज्य में मज़दूरों ने खानों पर अधिकार कर लिया और स्वयं ही उन्हें चलाने की कोशिश की। पुएब्लो राज्य में बेरोज़गार कपड़ा मज़दूरों ने ज़मींदारों की ज़मीनें अपने क़ब्ज़े में ले लीं, ताकि एक फ़ार्मिंग कालोनी बनायी जा सके। १६२०-१६२१ में अनेक मेक्सिकी राज्यों और नगरों में सोवियतें क़ायम की गयीं और यूकातान के मज़दूरों ने तो मेक्सिको को सोवियत जनतंत्र घोषित किये जाने की मांग भी की।

कहना न होगा कि मेक्सिको में अभी इसके लिए अनुकूल परिस्थितियां न थीं। इसके बावजूद, मेक्सिकोवासियों द्वारा सोवियतों के नाम से क्रांतिकारी संगठनों की स्थापना सोवियत रूस की अपार लोकप्रियता तथा मज़दूरों एवं किसानों की नये जीवन, शोषण तथा उत्पीड़न से रहित जीवन के निर्माण की स्वतःस्फूर्त आकांक्षा को द्योतित करती थी। मेक्सिको के सत्तारूढ़ वर्ग आम जनता की और विशेषतः सर्वहारा की राजनीतिक सक्रियता में वृद्धि को देखकर बेहद घबड़ाये। फलस्वरूप ओब्रेगोनु की सरकार ने क्रांतिकारी संगठनों को कुचल डाला और सोवियतों को भंग कर दिया।

ब्राज़ील में सर्वहारा ने तत्कालीन राजधानी रियो दे जानीरो के मज़दूरों के नेतृत्व में अपने वर्ग शत्रुओं से डटकर लोहा लिया। नवंबर, १६१८ में यहां कपड़ा मज़दूरों के आह्वान पर एक आम हड़ताल हुई। धातुकर्म, निर्माण तथा छपाई उद्योगों के मज़दूरों ने कपड़ा मज़दूरों का समर्थन किया। जब हड़ताल अपनी पराकाष्ठा पर थी, अराजकतावादियों ने आम विद्रोह का नारा बुलंद कर दिया। कुछ मज़दूर भी उनसे जा मिले और सड़कों पर लड़ाइयां शुरू हो गयीं। किंतु अधूरी तैयारी के कारण विद्रोह को कुचल दिया गया।

१६१६ में रेलवे, कपड़ा तथा निर्माण मजदूरों ने अपना संघर्ष और बढ़ा दिया। उनकी मांगें थीं आठ घंटे का काम का दिन, वेतन वृद्धि और दामों में कटौती।

सरकार निर्माण मज़दूरों के लिए आठ घंटे का काम का दिन नियत करने, कुछ श्रेणियों के मज़दूरों का वेतन बढ़ाने और काम के समय दुर्घटना के लिए बीमा की व्यवस्था करने को बाध्य हुई। किंतु हड़तालों की लहर १६२० में भी शांत न हो पायी। मज़दूरों के बीच एकता की भावना उत्तरोत्तर ज़ोर ही पकड़ती गयी। इस काल की मज़दूर कार्रवाइयों से एक बात जो विशेषत: उभरकर सामने आयी, वह थी सर्वहारा और मेहनतकश तबक़ों के क्रांतिकारी आंदोलन का सुचारु नेतृत्व कर पाने में अराजकतावादियों तथा सुधारवादियों की असमर्थता।

चिली में भी घटनाक्रम लगभग इसी प्रकार का रहा। आर्थिक संकट के कारण हज़ारों मज़दूर बेरोज़गार हो गये थे। मेहनतकशों ने ग़रीबी और महंगाई के विरुद्ध आंदोलन १६१८ में ही शुरू कर दिया। चिली के मज़दूर फ़ेडरेशन की पहल पर मेहनतकशों के बुनियादी अधिकारों के लिए लड़ने हेतु एक असेंबली बनायी गयी, जिसने अनेक जन प्रदर्शनों तथा सभाओं का आयोजन किया। जनवरी, १६१६ में प्यूएर्तो नतालेस में दंगे हुए और मज़दूरों ने कुछ समय के लिए नगर पर क़ब्ज़ा कर लिया। सरकार को उन्हें कुचलने के लिए फ़ौज भेजनी पड़ी।

उसी वर्ष अगस्त में सांतियागो में कोई १,००,००० नंगे-भूखे लोगों ने जलूस निकाला। मज़दूरों की मांगें थीं आठ घंटे का काम का दिन, न्यूनतम मज़दूरी का निर्धारण, बेरोज़गारी तथा महंगाई का ख़ात्मा और सामाजिक बीमे की व्यवस्था। किंतु सरकार ने इन उचित मांगों का जवाब पाशविक हिंसा द्वारा दिया। उसकी मूक सहमति से ब्रिटिश तथा अमरीकी मालिकों ने अपने उद्यमों में तालाबंदी कर दी। पुलिस और फ़ौज ने वाल्पाराइसो के गोदी मज़दूरों, आंतोफ़गास्ता के खान मज़दूरों और पूंता आरेनास के खेत मज़दूरों पर गोलियां चलायीं।

पेरू में मज़दूर आंदोलन १६१८ से ही ज़ोर पकड़ने लग गया था। पेरू के सर्वहारा की भी वही मांगें थीं, जो कि चिली का सर्वहारा उठा रहा था। १६१६ में संघर्ष पराकाष्ठा पर पहुंच गया। पहली मई को लीमा में मेहनतकशों ने एक विराट् प्रदर्शन निकाला। हड़तालें बहुत से अन्य नगरों तथा इलाक़ों में भी हुईं। सरकार ने उन्हें दबाने के लिए पुलिस और फ़ौज इस्तेमाल की। रक्त की नदियां बहा दी गयीं और हड़ताल आंदोलन कुचल डाला गया। पेरू के मज़दूर असंगठित थे। उनकी न कोई पार्टी थी, न कोई ट्रेड यूनियन। किंतु उनके बलिदान व्यर्थ न गये।

लैटिन अमरीका में
कम्युनिस्ट आंदोलन का आरंभ

इसी काल में लैटिन अमरीकी देशों में राष्ट्रीय स्तर की ट्रेड यूनियनें और कम्युनिस्ट संगठन भी प्रकट होने लग गये थे। सामाजिक अंतर्विरोधों के बढ़ने के साथ मज़दूर वर्ग राजनीतिक संघर्ष में उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा था। किंतु लैटिन अमरीकी सर्वहारा पर अभी भी निम्न बूर्जुआ विचारधारा का प्रबल प्रभाव था। १६१८-१६२३ का क्रांतिकारी ज्वार ही उसके प्रबुद्ध हल्क़ों को क़ायल कर सका कि न तो अराजक सिंडिकेटवाद और न सामाजिक सुधारवाद ही मज़दूर वर्ग की लक्ष्य-सिद्धि में सहायक हो सकते हैं। वे समझ गये कि अराजकतावादियों की दुस्साहसिक विद्रोहों में आस्था (पुशिज़्म), अराजक सिंडिकेटवादियों की राजनीति-विमुखता और सामाजिक सुधारवादियों का संशोधनवाद, ये सभी मज़दूर आंदोलन के लिए हानिकर प्रवृत्तियां हैं।

अक्तूबर क्रांति के प्रभावस्वरूप अराजकतावादियों में विभाजन हो गया। उनमें से कुछ तो पुशिज़्म का और भी ज़ोर-शोर से समर्थन करने लगे और कुछ ने ऐसी नीतियों पर पुनर्विचार की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए मार्क्स-वाद-लेनिनवाद की ओर अपना रुझान व्यक्त किया। संकट समाजवादी आंदोलन में भी प्रकट हुआ। जहां एक ओर समाजवादी पार्टियों के संशोधन-वादी नेताओं ने रूसी सर्वहारा क्रांति के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया दिखाया, वहां, दूसरी ओर, इन पार्टियों के सदस्यों के एक काफ़ी बड़े भाग ने उसका बड़े उत्साह से स्वागत किया।

अर्जेंटीना में समाजवादी पार्टी का वामपंथी धड़ा उत्तरोत्तर सुदृढ़ होता जा रहा था। जनवरी, १६१८ में इस धड़े के नेताओं की कांग्रेस हुई, जिसमें उन पार्टी नेताओं की आलोचना की गयी, जिन्होंने शोवीवादी व साम्राज्यवाद-समर्थक दृष्टिकोण अपनाया था और अक्तूबर क्रांति पर कीचड़ उछाल रहे थे। कांग्रेस ने सोवियत सरकार को एक अभिवादन संदेश भेजा और अंतर्राष्ट्रीयतावादी समाजवादी पार्टी बनाने का फ़ैसला किया।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद में आस्था रखनेवाली इस पार्टी की स्थापना से अर्जेंटीना के मजदूर आंदोलन के विकास में आमूल परिवर्तन आ गया। १६१६ में पार्टी ने कोमिंटर्न की सदस्यता स्वीकार कर ली और साल भर बाद अपना नाम बदलकर अर्जेंटीना की कम्युनिस्ट पार्टी रख लिया।

मेक्सिको में भी रूसी अक्तूबर क्रांति के प्रभावस्वरूप अराजक सिंडिकेट-वादियों की प्रतिष्ठा काफ़ी गिर गयी थी। १६१८ में देश के प्रमुख औद्योगिक केंद्रों में कम्युनिस्ट ग्रुप स्थापित हुए। इसके साथ ही प्रगतिशील सर्वहारा

नवकों और क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों का मार्क्सवाद-लेनिनवाद के प्रति झुकाव बढ़ता गया। देश में अब कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के लिए आवश्यक आधार बन चुका था। अतः १४ सितंबर, १९१९ को जब मेक्सिको नगर में कम्युनिस्ट तथा समाजवादी ग्रुपों और कुछ मज़दूर संगठनों की कांग्रेस शुरू हुई, तो अधिकांश प्रतिनिधियों ने कम्युनिस्ट पार्टी स्थापित करने और उसे कोमिंटर्न का सदस्य बनाये जाने की मांग की।

इस प्रकार मेक्सिको में भी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। उसने अंतर्राष्ट्रीयतावादी नीति अपनायी, महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के साथ मेक्सिकी सर्वहारा की सहानुभूति की घोषणा की और सोवियत रूस का सक्रिय समर्थन किया।

रूसी सर्वहारा क्रांति की विजय, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की स्थापना और अर्जेंटीना व मेक्सिको में कम्युनिस्ट पार्टियों के निर्माण से अन्य लैटिन अमरीकी देशों के मज़दूर वर्ग में भी वामपंथी रुझान तथा कम्युनिज़्म के विचारों की लोकप्रियता बढ़ने में योग मिला। १९२० के आरंभ तक उरुग्वाय की समाजवादी पार्टी में वामपंथी धड़े का पलड़ा भारी हो गया। कोमिंटर्न में सम्मिलित होने के हिमायतियों ने अर्जेंटीना की अंतर्राष्ट्रीयतावादी समाजवादी पार्टी के नेताओं के साथ संपर्क क़ायम किये, जो तब तक कोमिंटर्न का कार्यक्रम अपनाने की घोषणा कर चुकी थी।

सितंबर, १९२० में आयोजित कांग्रेस में भारी बहुमत से उरुग्वाय की समाजवादी पार्टी ने कोमिंटर्न में शामिल होने का फ़ैसला कर लिया। इसके बाद अप्रैल, १९२१ में पार्टी की असाधारण कांग्रेस हुई, जिसमें निर्णय किया गया कि पार्टी अब से उरुग्वाय की कम्युनिस्ट पार्टी कहलायेगी।

चिली में भी समाजवादी मज़दूर पार्टी के अधिकांश सदस्य वामपंथी थे और अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन से संबंधित महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अंतर्राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण रखते थे। अक्तूबर क्रांति के प्रभावस्वरूप पार्टी कार्यक्रम अधिकाधिक मार्क्सवादी-लेनिनवादी बनता जा रहा था, जिसमें पार्टी के नेता लुई ई० रेकाबारेन ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

दिसंबर, १९२० की पार्टी कांग्रेस ने पार्टी नेताओं को इस बात का जिम्मा सौंपा कि वे कम्युनिस्ट इंटरनेशनल में शामिल होने और पार्टी का नाम बदलकर चिली की कम्युनिस्ट पार्टी रखने के बारे में स्थानीय पार्टी संगठनों की राय मालूम करें। इसके बाद जनवरी, १९२२ में पार्टी की जो अगली कांग्रेस हुई, वह कम्युनिस्ट पार्टी की ही कांग्रेस थी। उसमें कोमिंटर्न के लक्ष्यों तथा कार्यक्रम को अंगीकार करने का प्रस्ताव भी पास किया गया।

ब्राज़ील में पहला कम्युनिस्ट ग्रुप १९१८ में पोर्टो अलेग्रे में बना था। उसने अर्जेंटीना की अंतर्राष्ट्रीयतावादी समाजवादी पार्टी तथा उरुग्वाय के

कम्युनिस्टों के साथ संपर्क स्थापित किये। आगे चलकर इस प्रकार के ग्रुपों तथा मार्क्सवादी मंडलियों का गठन रियो दे जानीरो, रेसिफ़े, सांओ पाउलो और बहिया में भी हुआ। ७ नवंबर, १९२१ को अक्तूबर क्रांति की चौथी वर्षगांठ के दिन इनमें से कुछ ग्रुपों के प्रतिनिधियों की रियो दे जानीरो में बैठक हुई, जिसमें कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के लिए कांग्रेस बुलाने के प्रश्न पर विचार किया गया।

२५ मार्च, १९२२ को रियो दे जानीरो में कम्युनिस्ट पार्टी की संस्थापना कांग्रेस का उद्‌घाटन हुआ। उसमें पार्टी का संविधान अंगीकार किया गया और ब्राज़ील के मेहनतकशों के नाम एक अपील जारी की गयी। कांग्रेस ने रूस, अर्जेंटीना, उरुग्वाय तथा चिली की कम्युनिस्ट पार्टियों और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल को अभिवादन संदेश भी भेजे।

क्यूबा में भी १९१८-१९२३ में हड़ताल आंदोलन के प्रसार के साथ अराजक सिंडिकेटवादियों का प्रभाव घटता गया और समाजवादी तथा मार्क्स-वादी-लेनिनवादी विचार अधिकाधिक लोकप्रिय बनते गये। क्यूबाई मज़दूर आंदोलन के एक वरिष्ठ कार्यकर्ता कार्लोस बालीनियो और क्रांतिकारी युवा नेता एंटोनियो मेलिया ने इन विचारों के प्रचार में बड़ा योग दिया था।

हवाना में पहले कम्युनिस्ट ग्रुप की स्थापना मई, १९२३ में हुई। इसके बाद अन्य क्यूबाई नगरों में भी ऐसे ग्रुप बनाये जाने लगे। आगे चलकर, इन्हीं ग्रुपों ने मिलकर १९२५ में क्यूबाई कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की।

लैटिन अमरीका के बड़े और अपेक्षया उन्नत देशों में जिन कम्युनिस्ट संगठनों का प्रादुर्भाव हुआ था, वे यद्यपि कोई ख़ास बड़े न थे और वैचारिक तथा संगठनात्मक दृष्टियों से अभी कमज़ोर ही थे, फिर भी उनकी स्थापना अपने आप में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना थी। उनकी बदौलत लैटिन अमरीकी मज़दूर तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन ने एक नये ऐतिहासिक दौर में प्रवेश किया और मज़दूर वर्ग स्थानीय अल्पतंत्रों तथा विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में प्रमुख शक्ति की भूमिका अदा करने लगा।

लैटिन अमरीकी जनता का साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष (१९२४-१९२९)

इस बीच उत्तरी अमरीकी इजारेदारियां लैटिन अमरीकी देशों में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाती जा रही थीं। ब्रिटिश प्रतिद्वंद्वियों को खदेड़कर उन्होंने अर्जेंटीना के मांस पैकिंग उद्योग, चिली की तांबा खानों, बोलीविया के टिन

निक्षेपों, आदि को अपने अधिकार में ले लिया था। ऋण जैसे सुपरीक्षित नियंत्रण-साधन का व्यापक इस्तेमाल करके अमरीकी पूंजी लैटिन अमरीका के विदेश व्यापार पर हावी बन बैठी थी। १६१४ से १६२८ तक की अवधि में संयुक्त राज्य अमरीका ने लैटिन अमरीकी देशों को कुल मिलाकर कोई २,००,००,००,००० डालर ऋण के तौर पर दिये।

विदेशी पूंजी के प्रभुत्व और विशेषतः संयुक्त राज्य अमरीका के बढ़ते विस्तार का एक नतीजा यह निकला कि इन देशों का आर्थिक विकास अवरुद्ध हो गया। आम जनता स्थानीय शासक वर्गों और विदेशी पूंजी, दोनों के ही विकराल शोषण का शिकार बन रही थी। यही कारण था कि लैटिन अमरीका मे वर्ग संघर्ष साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष से इतने घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। ग्वाटेमाला में उत्तर अमरीकी युनाइटेड फ्रुट कंपनी के प्लांटेशनों के मजदूर अपनी मजदूरी बढ़वाने और काम की परिस्थितियां बेहतर बनवाने के लिए संघर्ष कर रहे थे। मेक्सिकी जनता मांग कर रही थी कि १६१७ के संविधान की साम्राज्यवादविरोधी धाराओं को लागू किया जाये। कोलंबिया मे अमरीकी तथा ब्रिटिश तेल कंपनियों के मज़दूरों की सामूहिक कार्रवाइयां जारी थी।

१६२४-१६२६ मे इस जन आंदोलन का सबसे अधिक विकास ब्राज़ील और निकारागुआ में हुआ।

ब्राज़ील मे राष्ट्रपति आर्तूरो बेर्नार्देस की प्रतिक्रियावादी घरेलू नीति और साम्राज्यवादसमर्थक विदेश नीति से देश के सभी जनवादी हल्क़े अत्यंत क्षुब्ध थे। जुलाई, १६२४ म एक प्रमुख औद्योगिक केंद्र सान पौलो में तैनात गैरीजन ने विद्रोह का झंडा बुलंद कर दिया। उसी वर्ष शरद में नौसेना में भी क्रांतिकारी हलचल शुरू हो गयी। इसके बाद दक्षिण में कप्तान लुइस कार्लोस प्रेस्तेस के नेतृत्व में विद्रोह फूट पड़ा। प्रेस्तेस ने तुरंत उत्तर की ओर कूच कर दिया, ताकि कठिनाई में पड़ी सान पौलो गैरीज़न की मदद की जा सके। किंतु सरकार विद्रोह और नौसैनिकों की हलचल को कुचलने में सफल हो गयी। तब प्रेस्तेस ने जगह बदल-बदलकर हमले करने की कार्यनीति अपना ली। दिन-रात लड़ते और अनगिनत कठिनाइयां झेलते हुए उसके दस्तों ने देश मे दूर-दूर तक धावे बोले, कोई २६,००० किलोमीटर का फ़ासला तय किया, सरकारी फ़ौजों को अपार क्षति पहुंचायी, राजनीतिक बंदियों को रिहा किया और क़र्जों के रजिस्टर जलाये।

फ़रवरी, १६२७ मे प्रेस्तेस के दस्ते सीमा पार करके बोलीविया में घुसने को बाध्य हो गये, जहां उन्हें नजरबंद कर लिया गया। पराजय के बावजूद प्रेस्तेस के दस्तों के शौर्यपूर्ण कारनामों से जनवादी शक्तियों को बड़ा प्रोत्साहन मिला और ब्राज़ीली जनता की राजनीतिक चेतना में बड़ी वृद्धि हुई।

प्रेस्तेस लोक किंवदंतियों का नायक, सभी प्रकार की तानाशाही के विरुद्ध संघर्ष का प्रतीक और ब्राज़ीली अल्पतंत्र तथा विदेशी साम्राज्यवादियों से मुक्ति का आशा-दीप बन गया। प्रेस्तेस के अभियान से लैटिन अमरीका के सभी जनों के साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष को बहुमूल्य मदद मिली।

१९२४ में संयुक्त राज्य अमरीका ने निकारागुआ से अपने मैरीन दस्ते हटा लिये थे, जो वहां १९१६ से तैनात थे। किंतु जनवरी, १९२६ में अमरीकी साम्राज्यवादी अपनी कठपुतली चामोर्रो को गद्दी पर बिठाने में सफल हो गये। इस पर देश के उदारपंथी तत्त्वों ने कठपुतली सरकार के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। संयुक्त राज्य अमरीका ने मुक्ति आंदोलन को कुचलने और निकारागुआ ही नहीं, अपितु सारे लैटिन अमरीका में अपने हितों की रक्षा के लिए पुनः निकारागुआ में सशस्त्र हस्तक्षेप किया।

इस हस्तक्षेप से निकारागुआ की देशभक्त शक्तियों के समर्थनार्थ एक अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन शुरू हो गया। स्वयं निकारागुआ में भी किसानों, खेत मज़दूरों और शहरी मेहनतकशों ने अमरीकासमर्थक प्रतिक्रियावादी सरकार के खिलाफ़ हथियार उठा लिये और अपनी राष्ट्रीय मुक्ति सेना बनायी। उसके छापामार कमांडरों में जिस व्यक्ति का नाम विशेष रूप से चमका, वह औगुस्तों सेज़र सांदीनो था। आम जनता के बीच से उभरे सांदीनो ने अपार लोकप्रियता अर्जित कर ली थी। अप्रैल, १९२७ में छापामार दस्तों ने देश की राजधानी और प्रतिक्रियावादियों के गढ़ मानागुआ पर धावा बोल दिया। अमरीकी साम्राज्यवादी मुक्ति सेना के खिलाफ़ अपने सैनिक भेजने की हिम्मत न कर पाये। अतः उन्होंने उदारपंथियों के बीच मौजूद समझौतापरस्त तत्त्वों की मदद से राष्ट्रीय शक्तियों पर प्रहार करने की सोची। अमरीकी राष्ट्रपति ने स्टिमसन को अपना विशेष दूत बनाकर निकारागुआ भेजा, जिसने सामरिक कार्रवाइयां बंद करने और दोनों पक्षों द्वारा अपने हथियार अमरीकी कमान को सौंप देने का प्रस्ताव रखा।

जनता की बढ़ती क्रांतिकारी सक्रियता से डरे हुए उदारपंथियों ने हथियार डाल दिये। किंतु क्रांतिकारी जनरल सांदीनो समर्पण के लिए तैयार न हुआ। अमरीकी सैनिकों ने उसके दस्तों के खिलाफ़ सामरिक कार्रवाइयां शुरू कर दीं। इसके साथ ही अमरीका जन आंदोलन का मुक़ाबला करने के लिए निकारागुआ के शासक वर्गों को एकजुट बनाने की कोशिशें भी करता रहा। सांदीनो को धोखा देकर पकड़ लेने और मार डालने के बाद ही अमरीकी साम्राज्यवादी और उनके सहयोगी निकारागुआई उदारपंथी निकारागुआ की जनता के मुक्ति संघर्ष को कुचलने में सफल हो सके।

लैटिन अमरीकी देशों में संयुक्त राज्य अमरीका के विस्तारवाद और निकारागुआ में उसके हस्तक्षेप ने लैटिन अमरीका के मज़दूर वर्ग के लिए,

जो सभी राष्ट्रीय और जनवादी शक्तियों का हरावल था, यह आवश्यक बना दिया कि वह एक होकर, मिल-जुलकर कार्य करे। इस दृष्टि से जून, १९२९ में ब्यूनोस आयर्स में आयोजित लैटिन अमरीकी कम्युनिस्ट पार्टियों की पहली कांफ़्रेंस एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। उसमें मुख्यतया साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष में कम्युनिस्ट पार्टियों की भूमिका और लैटिन अमरीकी क्रांति से संबंधित प्रश्नों पर विचार किया गया। प्रतिनिधियों की आम राय यह थी कि सर्वहारा के नेतृत्व में सामंतवादविरोधी, साम्राज्यवादविरोधी बूर्जुआ-जनवादी क्रांति करके ही लातीफ़ुंदी प्रणाली और विदेशी साम्राज्यवादी प्रभुत्व का ख़ात्मा किया जा सकता है। किंतु कांफ़्रेंस मध्यवर्गीय तबक़ों तथा राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के संबंध में सर्वहारा तथा उसकी अगुआ कम्युनिस्ट पार्टियों के लिए कोई सुस्पष्ट कार्यनीति निर्धारित न कर सकी।

कांफ़्रेंस के निर्णय लैटिन अमरीकी कम्युनिस्ट पार्टियों को वैचारिक व संगठनात्मक दृष्टि से सुदृढ़ बनाने में काफ़ी सहायक सिद्ध हुए। फिर भी मज़दूर आंदोलन को सुधारवाद के प्रभाव और अराजकतावाद के अवशेषों से मुक्ति दिलाने के लिए बहुत कुछ किया जाना बाक़ी था। फ़िरकापरस्ती तथा त्रोत्स्कीवाद से भी, जो क्रांतिकारी, साम्राज्यवादविरोधी शक्तियों में फूट डालते थे, मज़दूरों के ध्येय को बड़ी हानि पहुंच रही थी।

साम्राज्यवादविरोधी जन मोर्चे के निर्माण के लिए संघर्ष

१९२९-१९३३ के विश्व आर्थिक संकट का लैटिन अमरीकी देशों पर बहुत ही कुप्रभाव पड़ा था। उनके परंपरागत निर्यात मालों – खनिज तथा कृषि कच्चे मालों – की मांग घट गयी थी, जिससे वित्तीय अस्थायित्व, बेरोज़गारी और आम जनता की ग़रीबी और बढ़ गयी थी। संकट का असर मध्यवर्गीय तबक़ों, राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी पर भी पड़ा था, जिनके हितों की बलि देकर विदेशी साम्राज्यवादी अपने मुनाफ़ों में हुई कमी को पूरा करना चाहते थे। लैटिन अमरीकी खनिज संसाधनों की लूट और जनता का शोषण बढ़ते ही जा रहे थे। अनेक देशों में अल्पतांत्रिक सरकारों और विदेशी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध संघर्ष बढ़ गया था। स्वयं शासक वर्गों के विभिन्न गुटों के, जिनके पीछे प्रतिस्पर्धी साम्राज्यवादी शक्तियां खड़ी थीं, परस्पर विरोध भी उग्र होते जा रहे थे।

१९३० में पेरू में ब्रिटिश इजारेदारियों द्वारा समर्थित कर्नल सांचेस सेर्रो ने तानाशाह लेगिया की अमरीकासमर्थक सरकार का तख़्ता उलट दिया।

लेगिया गुट को गद्दी से हटाते समय सेर्रो ने घोषणा की थी कि उसका लक्ष्य "विदेशी साम्राज्यवाद" से लोहा लेना है। लेकिन इसके बजाय उसने तुरंत ही जनवादी तत्त्वों का दमन आरंभ कर दिया। जनता का ध्यान आंतरिक कठिनाइयों से हटाने के लिए १९३२ में उसने ग्रेट ब्रिटेन की सहमति से कोलंबिया के ख़िलाफ़, जिसे संयुक्त राज्य अमरीका का समर्थन प्राप्त था, युद्ध की घोषणा की। युद्ध १९३४ तक चला और पेरू को उससे कोई लाभ न हुआ। उल्टे, उससे दोनों देशों की जनता की तकलीफ़ें ही बढ़ीं।

१९३१ के ग्रीष्म में चिली की जनता ने कर्नल इबान्येस की अमरीका-समर्थक प्रतिक्रियावादी सरकार के ख़िलाफ़ विद्रोह किया, जिसके फलस्वरूप जुलाई में इबान्येस को देश से भाग जाना पड़ा। उसकी तानाशाही के पतन से संवैधानिक सरकार की स्थापना तथा विदेशी इजारेदारियों की लूट को रोकने के लिए और बेरोज़गारी तथा महंगाई के विरुद्ध चल रहे जन आंदोलन को बढ़ावा मिला। अगस्त में सांटियागो, वाल्पराइसो, आदि औद्योगिक केंद्रों में मज़दूरों की हड़तालें हुईं। सितंबर के आरंभ में नौसैनिकों ने बग़ावत कर दी। वे तनख़्वाह बढ़ाने, बेहतर राशन दिये जाने, प्रतिक्रियावादी अफ़सरों को हटाने और महंगाई-निरोधी क़दम उठाने की मांग कर रहे थे।

कम्युनिस्टों के आह्वान पर अनेक नगरों में नौसैनिकों के समर्थन में हड़तालें हुईं। कई गैरीज़नों के सैनिकों ने भी बाग़ी नौसैनिकों का साथ दिया। किंतु बाग़ियों में एकता का अभाव था और सरकार ने इससे भरपूर फ़ायदा उठाया। बाग़ी सैनिकों तथा वाल्पराइसो, किनटेरो और टल्काहुआनो के नायब अफ़सरों को दबाने के लिए बड़ी संख्या में सरकारी फ़ौजें भेजी गयीं। जिन युद्धपोतों पर बग़ावतें हुई थीं, उनपर बम बरसाये गये। इस प्रकार नौसेना तथा सेना की बग़ावतों को शीघ्र ही कुचल डाला गया।

किंतु देश का राजनीतिक संकट फिर भी ख़त्म न हो सका। मज़दूरों की हड़तालें तथा प्रदर्शन १९३१ के अंतिम दिनों तथा १९३२ के आरंभ में भी जारी रहे। किसान भी क्रांतिकारी कार्रवाइयों का सहारा लेने लग गये थे। ऐसी स्थिति में जन आंदोलन को अपने नियंत्रण में लेने के लिए बूर्जुआज़ी के कुछ हल्क़ों ने, जिनका नेता संयुक्त राज्य अमरीका में चिली का भूतपूर्व राजदूत कार्लोस दवीला था, वायुसेना के कमांडर मार्मदूक ग्रोवे के निम्न बूर्जुआ गुट के साथ गठबंधन कर लिया और इबान्येस के स्थान पर आयी सरकार को, जिससे जनता को सख़्त नफ़रत थी, सत्ताच्युत करने का फ़ैसला किया। ४ जून, १९३२ को ग्रोवे की वफ़ादार सैन्य टुकड़ियों ने विद्रोह कर दिया। जनता ने उनका समर्थन किया और ग्रोवे के नेतृत्व में एक नयी सरकार बनायी गयी। चिली को समाजवादी जनतंत्र घोषित किया गया। यह न केवल नया, न्यायसंगत समाज क़ायम करने की जनता की आकांक्षा का, अपितु

सोवियत संघ की बढ़ती प्रतिष्ठा का भी परिचायक था। ग्रोवे ने सोवियत संघ के साथ राजनयिक संबंध स्थापित करने की तत्परता भी प्रकट की।

नयी सरकार ने घोषणा की कि वह विदेश व्यापार पर राज्य का एकाधिकार कायम करेगी, पूंजी पर टैक्स लगायेगी और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विदेशी इजारेदारियों के चंगुल से छुड़ायेगी। सभी राजनीतिक बंदियों को क्षमादान दे दिया गया और मेहनतकशों की माली हालत में सुधार का वायदा किया गया। जनता ने सरकार के कार्यक्रम का हर्ष और उल्लास के साथ स्वागत किया। किंतु घरेलू प्रतिक्रियावादियों तथा विदेशी साम्राज्य-वादियों ने तो अभी पूरी तरह हथियार डाले नहीं थे। उनकी शह पर दवीला ने ग्रोवे को गिरफ़्तार कर लिया और देश में आपात-स्थिति की घोषणा कर दी।

इससे यद्यपि चिली की जनता के क्रांतिकारी अग्रदल को धक्का पहुंचा, फिर भी शासक हल्के तानाशाही की पुनर्स्थापना न कर पाये। एक और सत्ता-परिवर्तन हुआ और दवीला की सरकार उलट दी गयी। नये नेताओं ने संवैधानिक शासन स्थापित करने की घोषणा की। दिसंबर, १९३२ में चुनाव हुए और उदार दल का नेता आर्तूरो अलेस्सांद्री राष्ट्रपति बना।

किंतु अलेस्सांद्री सरकार की नीतियां न केवल मेहनतकश लोगों को, अपितु निम्न और मध्य बूर्जुआज़ी को भी संतुष्ट न कर पायीं। फलस्वरूप १९३६ में कम्युनिस्ट पार्टी की पहल पर जनवादी और साम्राज्यवादविरोधी शक्तियों का जन मोर्चा नामक एक सहबंध बना, जिसमें कम्युनिस्ट, समाज-वादी, रेडिकल और डेमोक्रेटिक पार्टियां और चिली मज़दूर महासंघ शामिल हुए।

१९३८ में प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के बीच विशेषतः उग्र संघर्ष हुआ। उस वर्ष वसंत में म्यूनिसिपल चुनावों में जन मोर्चे ने भारी सफलता पायी, जिससे प्रतिक्रियावादी शिविर का चिंतित हो उठना स्वाभा-विक ही था, ख़ास तौर से इसलिए भी कि शरद में राष्ट्रपति पद के लिए भी चुनाव होनेवाले थे। अल्पतंत्र ने अपना उम्मीदवार गुस्तावो रोस्स को चुना, जो रोम-बर्लिन धुरी का खुला हिमायती था। चुनावों से ठीक पहले, सितंबर, १९३८ में, चिली के राष्ट्रवादी समाजवादियों ने गृहयुद्ध भड़काने और जन मोर्चे को सफलता न पाने देने के लिए फ़ासिस्ट सत्ता-परिवर्तन करने की कोशिश की। किंतु इसमें वे कामयाब न हो सके।

राष्ट्रपति पद के लिए जन मोर्चे की सभी पार्टियों ने एक संयुक्त उम्मीद-वार नामज़द किया था और चुनावों में विजय उसी की हुई। यह रेडिकल पार्टी का नेता पेद्रो आगिर्रे सेर्दा था। आगिर्रे सेर्दा ने अमरीका महाद्वीप के इतिहास में पहली जन मोर्चा सरकार बनायी। अल्पतंत्र और साम्राज्यवादी

इजारेदारियों ने नयी सरकार के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाया और तांबे तथा नाइट्रेट का उत्पादन घटाकर, निर्यातों में कटौती करके और इस प्रकार देश को विदेशी मुद्रा आय से वंचित करके आर्थिक तथा वित्तीय कठिनाइयां पैदा करने की कोशिश की। दूसरी ओर, ज़मींदारों और व्यापारियों ने भी खाद्य-वस्तुओं के दाम बढ़ा दिये थे।

इस सबसे स्थिति बहुत ही जटिल हो गयी। फिर राष्ट्रपति आगिर्रे सेर्दा भी, जो राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के हितों का प्रतिनिधि था और साम्राज्यवाद और उससे संबद्ध बड़े वित्तीय तथा तिजारती बूर्जुआज़ी एवं ज़मींदारों का विरोध करता था, मेहनतकश जनता को विजयी नहीं देखना चाहता था। उसने बुनियादी सामाजिक और आर्थिक सुधार लागू करने में हर तरह से अड़ंगे डाले। तथापि जन मोर्चे की विजय की बदौलत चिली की मेहनतकश जनता अपनी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक हालत को कुछ हद तक बेहतर बनाने में सफल रही। रहन-सहन का स्तर कुछ ऊंचा हो गया, नागरिक स्वतंत्रताएं सुनिश्चित बन गयीं और राष्ट्रीय उद्योग के विकास के लिए क़दम उठाये गये।

चिली में जन मोर्चा सरकार के सत्ता में आने का मतलब प्रतिक्रियावादी उग्रपंथियों, अल्पतंत्र और साम्राज्यवादियों की पराजय था। चिली के मेहनतकशों की सफलता समूचे लैटिन अमरीका के लिए, विशेषतः नये महायुद्ध के दिनोंदिन बढ़ते ख़तरे को देखते हुए, बहुत बड़ा राजनीतिक महत्त्व रखती थी।

संयुक्त राज्य अमरीका पर निर्भरता और विश्व आर्थिक संकट के कुप्रभावों के कारण क्यूबा की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पूर्णतः ध्वस्त हो गयी थी तथा जनता की ग़रीबी और बढ़ गयी थी। देश की ४०,००,००० की आबादी में कोई ६,००,००० बेरोज़गार थे। अमरीकी इजारेदारियों के इशारे पर नाचनेवाले तानाशाह मचादो के प्रति जनता का असंतोष चरम पर पहुंच गया था। १९३२ में निम्न बूर्जुआ तत्त्व और राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी भी मचादोविरोधी संघर्ष में शामिल हो गये। शीघ्र ही इस संघर्ष ने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का रूप ले लिया, क्योंकि वास्तव में वह क्यूबा पर अमरीकी साम्राज्यवाद के प्रभुत्व के विरुद्ध ही लक्षित था। मचादो इसी साम्राज्यवाद का हुक्म बजा रहा था। १९३३ के वसंत और ग्रीष्म में जन संघर्ष का पैमाना और बढ़ गया। पहली अगस्त को हवाना में देशभक्त शक्तियों का एक विराट जलूस निकला। मचादो ने उसपर गोलियां चलवायीं। इस रक्तपात के विरोध में रेलवे कर्मचारियों, तंबाकू फ़ैक्टरियों के मज़दूरों, सरकारी नौकरों और विद्यार्थियों ने हड़ताल कर दी। ४ अगस्त को हड़ताल ने आम और राजनीतिक हड़ताल का रूप धारण कर लिया, जिसमें भाग लेनेवालों के मुख्य नारे थे: "मचादो मुर्दाबाद!" और "क्यूबा आज़ाद हो!"

अमरीकी साम्राज्यवादी समझ गये कि मचादो अब गद्दी पर और नहीं टिक सकता। अतः उन्होंने उसका उत्तराधिकारी तैयार कर लिया। ११ अगस्त की रात को मचादो गिरफ़्तार कर लिया गया, जिसमें अमरीकी राजदूत का भी हाथ था। अगले रोज भूतपूर्व तानाशाह ने देश छोड़ दिया और उसकी जगह वाशिंगटन में क्यूबा के भूतपूर्व राजदूत सेस्पेदेस ने शासन की बागडोर थाम ली। किंतु सेस्पेदेस सरकार अधिक दिन न चल पायी, क्योंकि अमरीका के प्रति उसके झुकाव ने उसे राष्ट्रवादी निम्न बूर्जुआ तत्त्वों तथा राष्ट्रीय बूर्जुआजी समेत सारी ही क्यूबाई जनता की घृणा का पात्र बना दिया था। सेस्पेदेसविरोधी आंदोलन की रीढ़ औद्योगिक मज़दूर वर्ग, शहरी मेहनतकश, कृषि मज़दूर, किसान और विद्यार्थी थे। किंतु क्रांति और देशभक्ति की भावनाएं सेना में भी ज़ोर पकड़ने लग गयी थी। सैनिकों ने सरकार के आदेश मानने से इन्कार कर दिया। सितंबर, १९३३ के आरंभ में बतीस्ता नामक एक सार्जेंट के नेतृत्व में सत्ता-परिवर्तन हुआ और सेस्पेदेस सरकार का तख़्ता उलट दिया गया। नयी सरकार का प्रमुख प्रोफ़ेसर ग्राव सान मार्टिन बना, जो जनता के बीच काफ़ी लोकप्रिय था।

इस प्रकार १९३३ की क्रांति के फलस्वरूप क्यूबा में पहली बार राष्ट्रीय बूर्जुआजी की सरकार सत्ता में आयी। जनता भी उसका समर्थन करती थी। यह संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा स्थापित अर्ध-औपनिवेशिक शासन-प्रणाली की गंभीर पराजय थी। नयी सरकार ने अमरीका द्वारा थोपे गये १९०१ के संविधान को और उस कुख्यात प्लाट संशोधन को रद्द कर दिया, जो संयुक्त राज्य अमरीका को क्यूबा में सशस्त्र हस्तक्षेप करने का अधिकार देता था। सरकार ने मजदूरों की मांगों की पूर्ति के लिए भी कई क़दम उठाये: आठ घंटे का काम का दिन नियत किया गया, मज़दूरी बढ़ायी गयी और कतिपय अमरीकी फ़र्मों के कार्यकलाप पर प्रतिबंध लगाये गये।

क्यूबा सरकार की ऐसी नीति से अमरीकी साम्राज्यवादी बौखला उठे। राष्ट्रपति फ़्रेंकलिन रूजवेल्ट द्वारा घोषित नेक पड़ोसियत की नीति को ताक़ पर रखकर क्यूबा के तटवर्ती सागर में अमरीकी युद्धपोत भेजे गये। किंतु स्वयं क्यूबा में और अन्य लैटिन अमरीकी देशों में भी ग्राव सरकार की व्यापक लोकप्रियता को देखते हुए संयुक्त राज्य अमरीका के शासक हल्के सीधे-सीधे सशस्त्र हस्तक्षेप करने का दुस्साहस नहीं कर सकते थे। अतः उन्होंने षड्यंत्र रचकर ग्राव सरकार को गिराना ही बेहतर समझा। इसके लिए उन्होंने सच्चे जनवादी संगठनों से ग्राव सान मार्टिन की शत्रुता को, उसके कम्युनिज़्म-विरोध को इस्तेमाल किया, जिनके कारण उसकी लोकप्रियता का सामाजिक आधार कुछ हद तक सीमित हो गया। जनवरी, १९३४ में बतीस्ता ने, जो अमरीकी एजेंटों के हाथ बिक गया था, ग्राव को इस्तीफ़ा देने पर मजबूर

कर दिया और इस तरह क्यूबा में प्रतिक्रांतिकारी शक्तियों का बोलबाला पुनः क़ायम हो गया।

इस बीच लैटिन अमरीका के सबसे बड़े देश ब्राज़ील में विदेशी साम्राज्यवाद और आंतरिक प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुद्ध जन आंदोलन बढ़ता जा रहा था। वर्गास सरकार द्वारा विदेशी इजारेदारियों के साथ किये गये राष्ट्रविरोधी आर्थिक समझौतों के कारण शहरी निम्न और मध्य बूर्जुआज़ी की माली हालत लगातार बिगड़ती जा रही थी। १६३४-१६३५ में देश में कई स्थानों पर किसानों के दंगे हुए और १५,००,००० से अधिक मजदूरों ने हड़तालें कीं। स्थलसेना और नौसेना में भी असंतोष उभर रहा था।

१६३४ के ग्रीष्म में ब्राज़ील की कम्युनिस्ट पार्टी ने फ़ासिज़्मविरोधी तथा साम्राज्यवादविरोधी मोर्चा बनाने के लिए देश की जनता का आह्वान किया। फलस्वरूप मार्च, १६३५ में जनवादी शक्तियों के राष्ट्रीय मुक्ति संश्रय की स्थापना हुई, जो जन मोर्चे का ही एक राजनीतिक रूप था। प्रेस्तेस को उसका अध्यक्ष चुना गया। अपनी सेना के लंबे अभियान की असफलता के बाद प्रेस्तेस इस निष्कर्ष पर पहुंचा था कि केवल मार्क्सवाद-लेनिनवाद ही ब्राज़ील को स्वाधीनता प्राप्ति और जनवाद की स्थापना का सही मार्ग दिखा सकता है। परिणामस्वरूप वह कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गया था और आगे चलकर उसका एक प्रमुख नेता भी बना।

राष्ट्रीय मुक्ति संश्रय ने जनवादी स्वतंत्रताओं, मेहनतकशों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति और साम्राज्यवादी शोषण के ख़ात्मे के लिए संघर्ष का एक कार्यक्रम बनाया और जनता ने उसका सक्रिय समर्थन किया। संश्रय के विभिन्न संगठनों में कम्युनिस्ट, समाजवादी, अराजकतावादी, जनवाद के सिद्धांतों में आस्था रखनेवाले सैनिक, महिला तथा युवा संस्थाओं के सदस्य और उदारपंथी राष्ट्रीय बूर्जुआ तत्त्व, सभी कंधे से कंधा मिलाकर काम करते थे। कांग्रेस और सेनेट के कतिपय सदस्य भी संश्रय में शामिल हो गये थे।

संश्रय की गतिविधियां ऐसी थीं कि उनसे बूर्जुआ-भूस्वामी अल्पतंत्र, कैथोलिक चर्च और साम्राज्यवादियों का भयभीत हो जाना स्वाभाविक था। फलस्वरूप जुलाई, १६३५ के मध्य में वर्गास की सरकार ने उसपर प्रतिबंध लगा दिया। इसके बाद बूर्जुआज़ी, बुद्धिजीवी और निम्न बूर्जुआज़ी संश्रय से अलग हो गये। संश्रय पर प्रतिबंध का विरोध करने की जनवादी संगठनों की सभी कोशिशों को बलप्रयोग द्वारा दबा दिया गया। किंतु मेहनतकशों ने दमन का उत्तर प्रदर्शनों और हड़तालों से दिया। नवंबर के अंत में नताल और रेसिफ़े में सशस्त्र विद्रोह हुए और नताल में क्रांतिकारी सरकार की स्थापना की गयी। विद्रोह अन्य स्थानों पर भी हुए, किंतु सरकारी फ़ौजों ने उन्हें

कुचल डाला। जन मोर्चा आंदोलन पराजित हो गया था, फिर भी उसका देश के इतिहास पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

१९३५ की क्रांतिकारी घटनाओं में ब्राज़ीली सर्वहारा ने पहली बार साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन के नेता की भूमिका निभायी थी और सच्चे जनवाद तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता का झंडा बुलंद किया था।

अर्जेंटीना में भी जन मोर्चे की स्थापना के लिए आंदोलन चल रहा था। विश्व आर्थिक संकट के कारण बढ़े राजनीतिक तनाव के वातावरण में १९३२ में जनरल आगस्तीन हुस्तो ने देश पर अपनी तानाशाही थोप दी थी। किंतु जनता ने सर्वत्र उसका विरोध किया। इस विरोध आंदोलन में कम्युनिस्ट पार्टी की सक्रिय भूमिका थी। ब्राज़ील की कम्युनिस्ट पार्टी के अनुभव को ध्यान में रखते और कोमिंटर्न की सातवीं कांग्रेस के निर्णयों को आधार बनाते हुए उसने संयुक्त साम्राज्यवादविरोधी, फ़ासिज़्मविरोधी मोर्चे की स्थापना के लिए अभियान चलाया।

१९३५ के शरद में कम्युनिस्ट पार्टी ने समाजवादी और रेडिकल पार्टियों के सामने सहयोग का प्रस्ताव रखा। फलस्वरूप कई नगरों में जन मोर्चा समितियां क़ायम हुई और जब जनवरी, १९३६ में ब्यूनोस आयर्स के निर्माण मज़दूरों ने हड़ताल की, तो कम्युनिस्टों, समाजवादियों, अराजकतावादियों तथा रेडिकलों ने साथ मिलकर काम किया। मार्च महीने में प्रतिनिधि सभा के चुनावों में बहुमत वामपंथी पार्टियों को प्राप्त हुआ, जिससे जनवादी आंदोलन के विकास में बड़ी मदद मिली। फ़्रांस तथा स्पेन में जन मोर्चों की विजय का अर्जेंटीना में सोत्साह स्वागत किया गया और जब स्पेन में फ़्रेंको का फ़ासिस्ट विद्रोह शुरू हुआ, तो अर्जेंटीनी मेहनतकशों ने स्पेनी गणराज्य के समर्थन में अपनी आवाज़ बुलंद की।

साम्राज्यवादविरोधी शक्तियों, विशेषतः कम्युनिस्ट पार्टी का बढ़ता प्रभाव अर्जेंटीना के शासक हल्क़ों के लिए चिंता का विषय था। अतः अर्जेंटीनी सरकार ने जवाबी हमले शुरू कर दिये। जून, १९३६ में कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के सदस्यों को गिरफ़्तार कर लिया गया। पुलिस और फ़ासिस्ट तत्त्वों ने एकता समितियों के कार्यालयों पर छापे मारे। इसका नतीजा यह निकला कि समाजवादी और रेडिकल पार्टियों के नेता कम्युनिस्ट पार्टी के साथ सहयोग से कतराने लगे और जन मोर्चा आंदोलन ठंडा पड़ने लग गया।

विचाराधीन काल में मेक्सिको में विदेशी साम्राज्यवादी प्रभुत्व के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष जारी रहा। मेक्सिको की कम्युनिस्ट पार्टी देश की सभी जनवादी व क्रांतिकारी शक्तियों को एकजुट बनाने का हर संभव प्रयास कर रही थी। फ़रवरी, १९३६ में वह संयुक्त कार्रवाइयों के बारे में मेक्सिकी

मज़दूर महासघ के माथ एक समझौता करने में सफल रही। साथ ही उसने जनवादी किसान संगठनों से संपर्क क़ायम किये। किंतु मज़दूर वर्ग इस जन आंदोलन का नेतृत्व संभालने में असमर्थ सिद्ध हुआ और इस मामले में पहल राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के हाथों में चली गयी, जिसने विभिन्न मज़दूर तथा किसान संगठनों को मिलाकर मेक्सिकी क्रांतिकारी पार्टी की स्थापना की। इस बीच जन आंदोलन को बढ़ता और मेक्सिकी राष्ट्र तथा साम्राज्यवादी शक्तियों के परस्पर विरोधों को तीव्रतर होता देखकर राष्ट्रपति लासरो कार्देनास के नेतृत्व में राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी देश में कई महत्त्वपूर्ण साम्राज्यवादविरोधी व जनवादी सुधार करने लग गया था।

१६३४ और १६३६ के बीच कार्देनास सरकार ने लातीफ़ुंदिस्तों से १,८०,००,००० हैक्टर ज़मीन छीनकर किसानों के बीच बांटी। २३ जून, १६३७ को विदेशियों के स्वामित्व में स्थित मुख्य रेलमार्गों के राष्ट्रीयकरण का क़ानून पास किया गया, जिससे मेक्सिको में विदेशी साम्राज्यवादियों के हितों को ज़बर्दस्त धक्का पहुंचा। १८ मार्च, १६३८ को राष्ट्रपति कार्देनास ने तेल उद्योग और ब्रिटिश तथा अमरीकी तेल कंपनियों की संपत्ति के राष्ट्रीय-करण की घोषणा भी कर दी। विदेशी इजारेदारियों ने इस निर्णय को मानने से इन्कार किया और अपनी सरकारों से मदद मांगी। संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने मेक्सिको से चांदी की खरीद पर रोक लगा दी। चांदी का निर्यात मेक्सिको की आय का एक प्रमुख स्रोत था। इस स्रोत को बंद करके अमरीकी सरकार मेक्सिको की अर्थव्यवस्था को नुक़सान पहुंचाना और आंतरिक राजनीतिक अशांति भड़काना चाहती थी। जहां तक ग्रेट ब्रिटेन का संबंध था, तो उसने इतना शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाया कि कार्देनास सरकार को मजबूर होकर उसके साथ राजनयिक संबंध तोड़ देने पड़े।

संक्षेप में, १६३४-१६३६ के सामाजिक व आर्थिक सुधारों ने लाती-फ़ुंदी प्रणाली और विदेशी पूंजी की जड़ों पर कुठाराघात किया और देश के तीव्र राष्ट्रीय विकास के लिए ज़मीन तैयार की।

छठा अध्याय

दूसरा महायुद्ध।
सोवियत जनता का महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध

दूसरा महायुद्ध: कारण और स्वरूप

१ सितंबर, १९३९ को हिटलर की सेनाओं ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया। इसके दो दिन बाद, ३ सितंबर को फ़्रांस और ब्रिटेन की सरकारों ने पोलैंड की सहायता के लिए आने के अपने वचन को पूरा करते हुए जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार दूसरा महायुद्ध, मानवजाति के इतिहास का सबसे विनाशकारी युद्ध आरंभ हुआ। यह युद्ध छह वर्ष चला और दुनिया के लगभग सभी देश इसकी गिरफ़्त में आये। इसमें ५,००,००,००० आदमी मारे गये और ३,५०,००,००० घायल या अपंग हुए। जहां तक सैन्य व्यय का प्रश्न है, तो युद्धरत राष्ट्रों को इसपर ११,१७,००,००,००,००० डालर ख़र्च करने पड़े, जो कि वस्तुतः अकल्पनीय राशि है।

पहले महायुद्ध की भांति यह महायुद्ध भी पूंजीवादी प्रणाली की उपज था और साम्राज्यवादी राष्ट्रों के परस्पर विरोधों के एकाएक बहुत बढ़ जाने के कारण छिड़ा था। आक्रामक फ़ासिस्ट गुट के देश – जर्मनी, इटली और जापान – बलात् विश्व का पुनर्विभाजन करना चाहते थे, क्योंकि, उनके अनुसार, उन्हें उनके हिस्से से "वंचित" कर दिया गया था। इस गुट के मुक़ाबले में पहले महायुद्ध के विजेता पश्चिमी देशों – ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका – का गुट खड़ा था, जिसने विश्व का अपनी इच्छानुसार विभाजन कर लिया था और अपने अधिकार तथा प्रभाव क्षेत्रों को न केवल सुरक्षित रखना, अपितु बढ़ाना भी चाहता था।

पहले महायुद्ध की भांति इस युद्ध की आग भी सैन्यवादी जर्मनी ने सुलगायी थी। हिटलर का जर्मनी और उसके "धुरी" सहयोगी ऐसा इसीलिए कर सके कि अन्य देशों, विशेषतः ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका के

साम्राज्यवादी हल्क़ों ने इस आशा से उनकी युद्ध तैयारियों में मदद की थी कि आक्रमण का रुख़ पूर्व की ओर, सोवियत संघ की ओर होगा। किंतु यथार्थ में साम्राज्यवादी राज्यों के परस्पर विरोध उन विरोधों से कहीं गहन, कहीं तीव्र सिद्ध हुए, जो साम्राज्यवादी देशों और विश्व के पहले समाजवादी देश के बीच मौजूद थे। परिणामस्वरूप जब युद्ध छिड़ा, तो दोनों ही पक्षों ने अपने को साम्राज्यवादी युद्ध में उलझा पाया।

लेकिन धीरे-धीरे उसका स्वरूप बदलने लगा। ज्यों-ज्यों जर्मन विभिन्न देशों को जीतते गये तथा उनमें बूर्जुआ-जनवादी स्वतंत्रताओं को कुचलकर नग्न आतंक का राज क़ायम करते गये और इसके जवाब में विजित देशों की जनता क़ब्ज़ाबरों से लोहा लेने के लिए अधिकाधिक कटिबद्ध होती गयी, त्यों-त्यों युद्ध जर्मनी के विरोधियों के लिए फ़ासिज़्मविरोधी मुक्ति युद्ध में परिवर्तित होता गया!

यह प्रक्रिया पराकाष्ठा पर तब पहुंची, जब जर्मनी ने सोवियत संघ पर हमला किया। सोवियत संघ को जो लड़ाई लड़नी पड़ी, उसका एकमात्र लक्ष्य मुक्ति था। इस क्षण से, अर्थात् जून, १९४१ में सोवियत संघ पर जर्मनी के आक्रमण क्षण से दूसरा महायुद्ध हिटलरविरोधी गठबंधन के सदस्य देशों के लिए न्याय युद्ध, मुक्ति युद्ध बन गया। इन देशों की जनता ने दृढ़ संकल्प कर लिया कि समस्त विश्व में अपना प्रभुत्व तथा निष्ठुर "नयी व्यवस्था" क़ायम करने पर आमादा फ़ासिस्ट प्लेग को हमेशा-हमेशा के लिए ख़त्म करके ही दम लेगी।

पोलैंड का पतन। पश्चिम में "सित्सक्रीग"

हिटलर की सेनाएं पोलैंड में तेज़ी से आगे बढ़ती गयीं और पोलिश प्रतिक्रियावादी सरकार को ग्रेट ब्रिटेन तथा फ़्रांस से कोई सहायता न मिल पायी, जिसपर उसने इतना भरोसा किया हुआ था। जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देने के बावजूद ब्रिटेन और फ़्रांस का वास्तव में लड़ने का कोई इरादा न था, क्योंकि उन्हें अभी भी आशा थी कि सोवियतविरोध के आधार पर वे हिटलर के साथ किसी समझौते पर पहुंचने में सफल हो जायेंगे। पश्चिम राजनेता अभी भी सोचते थे कि हिटलर की फ़ौजें पोलैंड पर अधिकार कर लेने के बाद निश्चय ही सोवियत संघ के विरुद्ध सामरिक कार्रवाइयां शुरू कर देंगी।

इधर जर्मन सेनाएं तेज़ी से सोवियत संघ की पश्चिमी सीमाओं की ओर बढ़ रही थीं, उधर पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों के शासक हल्क़े और

प्रेस हिटलर को "पूर्वी अभियान" शुरू करने के लिए खुले आम उकसा रहे थे। ऐसी स्थिति में सोवियत संघ के सामने अपनी सुरक्षा के लिए तत्काल क़दम उठाने के अलावा और कोई चारा न रह गया। १७ सितंबर, १९३९ को सोवियत सेना की टुकड़ियों ने पोलैंड की सीमा पार कर ली, जिसका एक राज्य के रूप में अब लगभग कोई अस्तित्व नहीं रह गया था, और मुक्ति का मिशन आरंभ किया, जिसकी परिणति पश्चिमी उक्रइना तथा पश्चिमी बेलारूस के उक्रइनी तथा बेलारूसी सोवियत समाजवादी जनतंत्रों से पुनर्मिलन में हुई (उल्लेखनीय है कि इन दोनों प्रदेशों पर पोलैंड के बूर्जुआ-ज़मींदार शासकों ने १९२० में बलात् क़ब्ज़ा कर लिया था)।

पोलैंड के पतन से पश्चिमी राष्ट्रों की रणनीति या कार्यनीति में कोई ख़ास परिवर्तन नहीं आया। पश्चिमी मोर्चे पर युद्ध का नाटक, युद्ध का दिखावा जारी रहा। इसीलिए महायुद्ध का यह दौर "सित्सक्रीग" (बैठे-बैठे युद्ध), "फ़ोनी वार" (नक़ली युद्ध), "स्ट्रेंज वार" (विचित्र युद्ध), आदि नामों से भी विज्ञात है। वाशिंगटन के सक्रिय समर्थन से लंदन और पेरिस बदली हुई परिस्थितियों में भी अपनी युद्धपूर्व की तुष्टीकरण नीति पर चलने का प्रयत्न करते रहे और अपने इस भ्रम से छुटकारा न पा सके कि जर्मन आक्रमण सोवियत संघ की ओर रुख़ करेगा और स्वयं उनपर कोई आंच न आयेगी।

पश्चिमी देशों के शासक हल्के नाज़ी जर्मनी से लड़ने से तो कतराते रहे, किंतु कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़, फ़ासिज़्म के सबसे कट्टर शत्रुओं के ख़िलाफ़ सचमुच का युद्ध छेड़ने में उन्हें कोई झिझक न हुई। इस मामले में सबसे अधिक सक्रियता फ़्रांसीसी सरकार ने दिखायी। १९३९ के शरद में उसने कम्युनिस्ट पार्टी तथा कम्युनिस्ट प्रेस पर प्रतिबंध लगा दिया और कम्युनिस्ट संसद-सदस्यों को संसदीय उन्मुक्ति से वंचित कर जेलों में बंद कर डाला। कम्युनिस्टों तथा अन्य प्रगतिमना तत्त्वों का दमन ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य पूंजीवादी देशों में भी जारी था।

बाल्टिक देशों का
सोवियत संघ में सम्मिलन

युद्ध आरंभ होते ही नाज़ी जर्मनी ने बाल्टिक देशों में अपनी घुसपैठ बढ़ा दी थी। इससे लाटविया, लिथुआनिया और एस्तोनिया की जनता का भयभीत हो जाना स्वाभाविक ही था। पड़ोसी देश पोलैंड की मिसाल उनकी आंखों के सामने थी, जहां जर्मन नाज़ियों ने आतंक-राज्य क़ायम कर

दिया था। बल्टिक देशों के भाग्य के प्रति सोवियत संघ उदासीन नहीं रह सकता था, जिससे ये तीनों देश अक्तूबर क्रांति के कुछ ही समय बाद अलग हुए थे। अतः उनकी जनता की आकांक्षा को ध्यान में रखते हुए सोवियत सरकार ने उनकी सरकारों के सामने परस्पर सहायता संधियों का प्रस्ताव रखा और सितंबर-अक्तूबर, १६३६ में उनपर हस्ताक्षर भी हो गये।

१६३६ के अंत और १६४० के पूर्वार्ध में लाटविया, लिथुआनिया और एस्तोनिया में क्रांतिकारी आंदोलन बहुत बढ़ गया। इसका कारण इन देशों की दिनोंदिन बिगड़ती आर्थिक हालत और इनके नाज़ीसमर्थक शासकों की प्रतिगामी नीतियां थीं। जून, १६४० में तीनों देशों की जनता ने विद्रोह कर दिया और अपनी नाज़ीसमर्थक सरकारों का तख़्ता उलट दिया। इसके बाद वस्तुतः स्वतंत्र चुनाव हुए और जन सरकारें बनायी गयीं। जुलाई में लाटविया, लिथुआनिया और एस्तोनिया की संसदों ने सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत से उनके देशों को सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ में सम्मिलित कर लेने का अनुरोध किया, जिसे स्वीकार कर लिया गया और एक महीने बाद, अगस्त में, तीनों देश सोवियत समाजवादी जनतंत्रों के रूप में सोवियत संघ के अंग बन गये।

पश्चिमी उक्रइना और पश्चिमी बेलारूस के सोवियत उक्रइना तथा सोवियत बेलोरूस से पुनर्मिलन और तीन बाल्टिक राज्यों के सोवियत संघ में सम्मिलन से सोवियत संघ की सामरिक स्थिति काफ़ी सुदृढ़ बन गयी, क्योंकि उसकी राजकीय सीमा पश्चिम में और २००-३५० किलोमीटर आगे खिसक गयी थी। किंतु लेनिनग्राद की सुरक्षा, जो फ़िनलैंड की सीमा से केवल ३२ किलोमीटर दूर था, सोवियत सरकार के लिए गंभीर चिंता का विषय बनी रही। सोवियत संघ ने प्रस्ताव रखा कि वह कारेलियाई स्थलसंयोजी के एवज में फ़िनलैंड को कारेलिया का कहीं बड़ा हिस्सा देने को तैयार है। किंतु फ़िनलैंड की प्रतिक्रियावादी सरकार ने न केवल इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया, बल्कि इसके बाद लेनिनग्राद के समीपवर्ती इलाक़ों में सामरिक तैयारियां भी बढ़ा दीं। इसका नतीजा यह निकला कि दोनों ही युद्धरत साम्राज्यवादी गुटों द्वारा समर्थित तथा उत्प्रेरित फ़िनलैंड के शासकों ने अंततः फ़िनलैंड तथा सोवियत संघ के बीच सशस्त्र झगड़े की शुरुआत कर ही दी।

सोवियत-फ़िनिश युद्ध नवंबर, १६३६ के अंतिम दिनों में शुरू हुआ था। इसके लगभग तुरंत बाद ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस भी सोवियत संघ पर हमले की ताबड़तोड़ तैयारियां करने लग गये। दोनों ने क्रमशः १,००,००० और ५०,००० सैनिकों के दो सैन्य अभियान दल बनाये, जिन्हें फ़िनिश सेना

की मदद के लिए भेजा जाना था। यह भी योजना थी कि बहुत बड़ी संख्या में बमवर्षक विमानों की मदद से एक आंग्ल-फ़्रांसीसी सेना दक्षिण में तुर्की, सीरिया और इराक़ से सोवियत संघ पर हमला करेगी।

किंतु फ़िनलैंड को मदद देने की पश्चिमी शक्तियों की सभी कोशिशों के बावजूद मार्च, १९४० में फ़िनलैंड की पराजय के साथ सोवियत-फ़िनिश युद्ध समाप्त हो गया। इसके बाद एक शांति संधि पर हस्ताक्षर हुए, जिसने लेनिनग्राद की सुरक्षा सुनिश्चित कर दी।

१९४० के ग्रीष्म में बेस्साराबिया की समस्या भी हल कर ली गयी। इस प्रदेश पर १९१८ में रूमानिया की बूर्जुआ-ज़मींदार सरकार ने अधिकार कर लिया था। सोवियत सरकार ने बेस्साराबिया लौटाने की मांग की, जिसे रूमानिया को मान लेना पड़ा, क्योंकि वह १९४० के जटिल अंतर्राष्ट्रीय वातावरण को देखते हुए सोवियत संघ से सशस्त्र झगड़ा मोल लेना नहीं चाहता था। इन्हीं दिनों उत्तरी बुकोविना भी, जिसकी आबादी उक्रइनी थी, सोवियत संघ में आ मिला।

इन सभी कार्रवाइयों ने सोवियत संघ की स्थिति को सुदृढ़ बनाया और उसकी प्रतिरक्षा क्षमता में वृद्धि की, हालांकि आगे चलकर इन अतिरिक्त सुविधाओं से उतना लाभ नहीं उठाया गया, जितना कि उठाया जा सकता था।

फ़्रांस की पराजय और आत्मसमर्पण

"सित्सक्रीग" द्वारा प्रदत्त अवकाश का भरपूर उपयोग करके १९४० के वसंत में नाज़ियों ने सक्रिय आक्रमणात्मक कार्रवाइयां शुरू कर दीं। अप्रैल में जर्मन सेनाएं डेनमार्क में घुस आयीं। साथ ही नार्वे में भी सैनिक उतारे गये। शीघ्र ही इन दोनों देशों पर जर्मनी का क़ब्ज़ा हो गया। १० मई की रात को जर्मन सेना ने बड़ी संख्या में टैंकों और विमानों की मदद से बेल्जियम, हालैंड और लक्ज़ेमबर्ग पर धावा बोल दिया। बेल्जियन और डच फ़ौजें इतने बड़े हमले के सामने टिक न पायीं और पीछे हटने को मजबूर हुईं। उन्होंने अपूर्व शौर्य का परिचय दिया, किंतु अंत में स्वयं उनके ही शासक हल्क़ों ने नाज़ियों के साथ समझौता करके उनके साथ धोखा किया। १५ मई को हालैंड ने और २८ मई को बेल्जियम ने आत्मसमर्पण कर दिया। अपनी सफलताओं को आगे जारी रखते हुए जर्मन पैंज़र (टैंक) तथा मोटराइज़्ड डिविजनों ने इसके बाद सेदान के पास फ़्रांसीसी रक्षा-पंक्ति को भेद डाला और फ़्रांस के क्षेत्र में ही सामरिक कार्रवाइयां शुरू कर दीं। फ़्रांसीसी युद्धनीतिज्ञ जिस

माजीनो लाइन पर इतनी आशा लगाये हुए थे, उत्तर की ओर से गुज़रकर उसे बड़ी आसानी से निरर्थक बना दिया गया।

बेल्जियम और हालैंड पर जर्मन हमले ने ब्रिटेन के लिए वास्तविक ख़तरा तो पैदा किया ही, पर साथ ही यह भी दिखाया कि चैंबरलेन की नीति पूरी तरह विफल रही है, जिसे अभी भी आशा थी कि हिटलर सोवियत संघ पर हमला करेगा। ब्रिटेन में गंभीर राजनीतिक संकट पैदा हो गया और देश के नेतृत्वकारी हल्क़े अंततः इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि चैंबरलेन को प्रधानमंत्री पद से हटा देना चाहिये। उसके स्थान पर कंसर्वेटिव पार्टी के ही एक अन्य प्रमुख नेता तथा विदेशनीति के क्षेत्र में उसके विरोधी विंस्टन चर्चिल को प्रधानमंत्री बनाया गया। नयी सरकार में एटली और बेविन जैसे कुछ लेबर पार्टी के नेताओं को भी शामिल किया गया, जो जर्मन आक्रमण का मुक़ाबला करने के लिए दृढ़ क़दम उठाने की आम जनता की मांग को देखते हुए निश्चय ही एक रिआयत थी।

पश्चिम में नाज़ियों की सफलताओं के फलस्वरूप फ़्रांस में भी दलादिये की सरकार गिर गयी। किंतु जहां ब्रिटेन में जर्मन हमले के ख़तरे ने नाज़ियों का प्रतिरोध करने के समर्थकों के हाथ मज़बूत किये थे, वहां फ़्रांस में इसका बिल्कुल उल्टा ही हुआ। इस देश में अब घोर प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञों तथा सैन्य नेताओं के बीच मौजूद पराजयवादी तत्त्वों का पलड़ा भारी हो गया। उन्होंने न केवल उस समय उपलब्ध बड़ी सैन्य यूनिटों को मोर्चों पर तैनात किये जाने से रोका, बल्कि अपने देश के साथ विश्वासघात करते हुए मोर्चों पर तैनात यूनिटों को भी वापस हटा लिया और ऐसे इलाक़ों में भेज दिया, जो जर्मन सेना के मुख्य हमले के रास्ते में नहीं पड़ते थे। यही कारण था कि फ़्रांसीसी सेना की महती शक्ति से लाभ क्यों नहीं उठाया गया और शत्रु को मुंहतोड़ जवाब देने की आम फ़्रांसीसी सैनिकों की आतुरता, उनमें से बहुतों द्वारा प्रदर्शित शौर्य तथा पराक्रम की अनगिनत मिसालें निरर्थक क्यों सिद्ध हुईं। जर्मन उच्च कमान बहुत बड़े इलाक़े में मोर्चे को भेदने, डंकर्क के समीप मित्रराष्ट्र सेनाओं के विशाल जमघट को घेरे में लेने तथा समुद्र तट तक खदेड़ने में सफल रही।

फ़्रांस के तत्कालीन शासक सबसे ज़्यादा अपनी जनता से डरते थे। इसीलिए उन्होंने फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के इस सुझाव को ठुकरा दिया कि जनता को हथियार बांटकर पेरिस की रक्षा की जाये, जिसपर तब तक दुश्मन के हमले का ख़तरा मंडराने लग गया था। इस भय से कि कहीं युद्ध जनता के क्रांतिकारी संग्राम में न बदल जाये, ये महानुभाव लड़ाई को शीघ्रातिशीघ्र ख़त्म हुआ देखना चाहते थे, चाहे इसका मतलब पूर्ण पराजय और नाज़ियों के सामने अपमानजनक आत्मसमर्पण ही क्यों न हो।

१० जून को जब जर्मन टैंक पेरिस के बिल्कुल समीप ही पहुंच गये, तो इटली ने फ़्रांस से युद्ध की घोषणा कर दी और उसके विरुद्ध सामरिक कार्रवाइयां शुरू कर दीं। १४ जून को बिना किसी प्रतिरोध के पेरिस जर्मनों को सौंप दिया गया और तीन दिन बाद मार्शल पेतें, जो एक घोर प्रतिक्रियावादी नेता और जर्मनी के साथ लड़ाई तुरंत बंद करने का हिमायती था, फ़्रांस की सरकार का प्रमुख बन गया।

जनता की भावनाओं की उपेक्षा करते हुए पेतें ने बर्लिन से युद्धविराम की याचना की। २२ जून, १९४० को कोंपियेन के वन में, संग्रहालय से विशेष रूप से पाये गये मार्शल फ़ोश के निजी रेलवे सैलून में, जिसमें २२ वर्ष पहले जर्मनी और एंटेंट (मित्रराष्ट्रों) ने युद्धविराम संधि पर हस्ताक्षर किये थे, हिटलर ने पेतें के प्रतिनिधियों को फ़्रांस का बिलाशर्त समर्पण कर देने पर मजबूर कर दिया।

पेरिस समेत दो तिहाई फ़्रांस पर जर्मन सेना का क़ब्ज़ा हो जाना था और इस सेना के रख-रखाव का सारा ख़र्च फ़्रांसीसी जनता को उठाना था। दक्षिणी फ़्रांस पेतें सरकार के अधिकार में रहना था, जिसने विशी नामक एक सेहतगाह में अपना मुख्यालय क़ायम कर लिया था। जर्मन क़ब्ज़े से मुक्त इस क्षेत्र को जर्मनी को खाद्य-वस्तुएं, ईंधन, कच्चे माल, आदि की सप्लाई से संबंधित कुछ दायित्व भी लेने थे।

लेकिन फ़्रांसीसी जनता जर्मन क़ब्ज़े को चुपचाप स्वीकार कर लेने को तैयार न थी। १८ जुलाई, १९४० को लंदन रेडियो पर बोलते हुए जनरल शार्ल दे गॉल ने सभी देशभक्तों से "संघर्षरत फ़्रांस" के गिर्द एकजुट होने की अपील की। देश के अंदर प्रतिरोध आंदोलन के दस्ते संगठित किये जाने लगे।

फ़्रांस के आत्मसमर्पण के बाद आंग्ल-जर्मन युद्ध। जर्मनी की सोवियत संघ पर आक्रमण की तैयारियां

इस प्रकार यूरोप का एक सबसे शक्तिशाली देश फ़्रांस कुछ ही हफ़्तों में नाज़ी राइख़ की मुट्ठी में आ गया। जहां तक ग्रेट ब्रिटेन का सवाल था, तो महाद्वीप पर लड़ने के लिए भेजी गयी उसकी अभियान सेना का कुछ ही हिस्सा डंकर्क से वापस इंग्लैंड पहुंचने में सफल हो सका और अपनी सारी सैन्य-सामग्री, रसद, आदि उसे पीछे ही छोड़ देनी पड़ी।

पश्चिमी मोर्चे की ग्रीष्म, १९४० की घटनाओं के अनर्थकारी उपसंहार ने सारे विश्व को स्पष्टतः दिखा दिया कि नाज़ी आक्रमण को प्रोत्साहन देने

रेक्याविक
आइसलैंड
नार्वे सागर
रिबाची अंतरीप
मूर्मांस्क
नार्विक
फिनलैंड
मस्योवन
नेम्सस
स्वीडन
फेरो द्वीपसमूह
ट्रांडहाइम
शेटलैंड द्वीपसमूह
बेर्गेन
ओस्लो
स्टावांगर
क्रिस्टियानसांड
स्टाकहोम
हेलसिंकी
लादोगा झील
लेनिनग्राद
तालिन
चुदस्कोये झील
प्स्कोव
रीगा
महासागर
एडिनबरा
उत्तरी सागर
बाल्टिक सागर
डब्लिन
लिवरपूल
कोपेनहेगन
कोनिग्सबर्ग
विलनियस
कोवेंट्री
जर्मनी
मीन्स्क
प्लाइमथ
लंदन
हेग
बर्लिन
स्टेटिन
ग्रोद्नो
वारसा
ब्रेस्ट
पोलैंड
अटलांटिक
इंगलिश चैनल
शेरबर्ग
ब्रेस्ट
पेरिस
वेर्डेन
ल्वोव
प्राग
चेकोस्लोवाकिया
आर्लियंस
वियेना
बुडापेस्ट
बर्न
स्विट्जरलैंड
आस्ट्रिया
हंगरी
किशिनेव
रूमानिया
बोर्दो
विशी
मार्सेल्स
बेलग्रेड
बुखारेस्ट
काला सागर
मैड्रिड
इटली
कोर्सिका द्वीप
रोम
सोफिया
बल्गारिया
बालियारिक द्वीपसमूह
सार्डीनिया द्वीप
टिरेनियन सागर
तिराना
सालोनिका
तुर्की
एड्रियाटिक सागर
भूमध्य सागर
सिसिली द्वीप
आयोनियन सागर
एथेंस
डोडेकानीस द्वीपसमूह
माल्टा द्वीप
क्रीट द्वीप
कैनिया

फासिस्ट आक्रमणकारी राज्य
1 सितंबर, १९३९ तक आक्रमणकारी राज्यों द्वारा आक्रांत क्षेत्र
जर्मनी के पिछलग्गू राज्य
1 सितंबर, १९३९ और २२ जून १९४१ के बीच आक्रमणकारी राज्यों द्वारा आक्रांत क्षेत्र
फासिस्ट सेनाओं के प्रमुख हमले और आक्रांतियों की तिथियां
आक्रमणकारी सेनाओं के अवतरण स्थल
फ्रांस के मुक्त क्षेत्र की सीमाएं
ब्रिटिश नगरों पर जर्मन हवाई हमले
अंकों का अर्थ - राज्य और आक्रांति की तिथियां
1 डेनमार्क: ९-४-१९४० 2 नीदरलैंड: १०-५-१९४० 3 बेल्जियम: १०-५-१९४० 4 लक्जेमबर्ग: १०-५-१९४० 5 यूनान: ६-४-१९४१
१९३९-१९४० में सोवियत संघ में पुनर्सम्मिलित क्षेत्र

यूरोप और बाल्कन में १९३९-१९४१ के सैनिक अभियान

की नीति कितनी सांघातिक थी। पश्चिमी राष्ट्रों, विशेषकर ब्रिटेन और फ़्रांस के शासक हल्क़ों ने वरसों तक जो नाज़ी नाग इस उम्मीद से पाला था कि उसे सोवियत संघ के खिलाफ छोड़ेंगे, उसने स्वयं उन्हीं को डस डाला।

फ़्रांस के आत्मसमर्पण के बाद ब्रिटेन की हालत सचमुच ही दयनीय बन गयी। लगता था कि उसकी भी फ़्रांस जैसी ही दुर्गति होने जा रही है। उसका कोई मित्र न था और महाद्वीप पर मुंह की खाने के बाद उसकी सशस्त्र सेनाओं का पूर्ण पुनर्गठन आवश्यक हो गया था। सागरों में गश्त लगाती जर्मन पनडुब्बियां एक के बाद दूसरा ब्रिटिश जहाज़ डुबोती जा रही थीं। ब्रिटिश द्वीपसमूह के गिर्द जर्मनों का घेरा कसता जा रहा था। आबादी को दहशत में डालने, उसका मनोबल तोड़ने और उद्योगों को बेकार कर देने के लिए अगस्त, १९४० में जर्मनों ने लंदन, बर्मिंघम, आदि ब्रिटिश नगरों और उद्योग केंद्रों पर बहुत बड़े पैमाने पर बमबारी शुरू कर दी। कोवेंट्री नगर तो पूरी तरह ख़ाक में ही मिल गया। इसके साथ ही जर्मन इंग्लैंड में अपने सैनिक उतारने की तैयारियां करते रहे, जिसका उन्होंने ढिंढोरा भी ख़ूब पीटा।

किंतु जैसा कि बाद में नाज़ी युद्ध अपराधियों पर न्यूरेंबर्ग में चलाये गये मुक़दमे में मालूम हुआ, ब्रिटिश द्वीपों पर जर्मनों के उतर आने का तत्काल कोई ख़तरा न था। हिटलर ने ब्रिटेन को हराने से पहले सोवियत संघ पर हमला करने का जून, १९४० में ही निर्णय कर लिया था, क्योंकि यूरोप तथा सारे विश्व पर जर्मन आधिपत्य की स्थापना में मुख्य अवरोध ब्रिटेन नहीं, वरन सोवियत संघ था। "यदि रूस को हरा दिया गया," उसने अपने अंतरंग साथियों से कहा था, "तो इंग्लैंड की रही-सही उम्मीदों पर पानी फिर जायेगा।" दिसंबर, १९४० में हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण की योजना को अपनी स्वीकृति दे दी। बारहवीं सदी में पूर्व में क्रूसेडों का नेतृत्व करनेवाले एक जर्मन सम्राट के सम्मान में इस योजना को "आपरेशन बारबरोसा" नाम दिया गया।

सितंबर, १९४० में नाज़ी जर्मनी, फ़ासिस्ट इटली और साम्राज्यिक जापान ने एक त्रिपक्षीय क़रार पर हस्ताक्षर किये, जो नाज़ी आक्रमण के विस्तार की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी थी। उसने यूरोप तथा एशिया में "नयी व्यवस्था" की स्थापना के लिए, दूसरे शब्दों में, सारे विश्व पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए तीनों फ़ासिस्ट देशों द्वारा संयुक्त रूप से संघर्ष करने के संकल्प की घोषणा की। सितंबर, १९४० – मार्च, १९४१ में जर्मनी ने हंगरी, रूमानिया, स्लोवाकिया और बुल्गारिया को जीतकर उन्हें भी त्रिपक्षीय क़रार में शामिल होने पर मजबूर कर लिया। अप्रैल, १९४१ में जर्मन सेनाएं यूगोस्लाविया में घुस आयीं। देश पर जर्मन क़ब्ज़ा हो जाने के बावजूद यूगोस्लाव जनता फ़ासिस्ट गुट में शामिल होने के लिए तैयार न हुई।

लगभग इसी समय जर्मनों ने यूनानी सेना का प्रतिरोध भी तोड़ डाला, जिसने इतालवी आक्रामकों के सभी प्रयासों के बावजूद घुटने नहीं टेके थे। इस प्रकार यूनान पर भी फ़ासिस्टों का क़ब्ज़ा हो गया।

मई, १९४१ तक लगभग सारा यूरोप जर्मनी के पैरों तले लोट रहा था, जो लगता था कि अपनी शक्ति के शिखर पर पहुंच गया है। विराट प्राकृतिक तथा जन संसाधनों का स्वामी और पश्चिमी व पूर्वी यूरोप के देशों की इतने कम समय में ही विजय से गर्वोन्मत्त नाज़ी जर्मनी अब सोवियत संघ से लड़ने की अपनी तैयारियों को अंतिम रूप देने में व्यस्त था। हिटलर और उसके साथियों का अनुमान था कि उनका भावी "आपरेशन" आठ हफ़्ते में पूरा हो जायेगा!

नाज़ी जर्मनी का सोवियत संघ पर आक्रमण। महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध का आरंभ

२२ जून, १९४१ की भोर में नाज़ी जर्मनी ने युद्ध की घोषणा किये बिना सोवियत संघ पर आक्रमण कर दिया। इटली, फ़िनलैंड, हंगरी और रूमानिया जर्मनी का साथ दे रहे थे। फ़ासिस्ट जर्मनी और उसके अनुचर राज्यों की कुल मिलाकर १९० डिविजनें सोवियत संघ के ख़िलाफ़ झोंकी गयीं। आक्रमण की तैयारी में जर्मनी ने उस समय उपलब्ध चारों टैंक ग्रुप और पांच में से चार हवाई बेड़े केंद्रित कर लिये थे। सुदूर पूर्व में जापान ने सोवियत सीमा के पास बहुत बड़ी सेना जमा की हुई थी, जिसकी वजह से सोवियत संघ अपनी काफ़ी सेना सुदूर पूर्व में ही रखने को बाध्य हो गया था।

सोवियत संघ से युद्ध आरंभ करने के पीछे नाज़ी आक्रामकों का लक्ष्य सोवियत राज्य को नष्ट कर देना, उसके सभी संसाधनों पर अधिकार जमा लेना और बूर्जुआ-ज़मींदार शासन की पुनर्स्थापना करना था।

किंतु सारी सोवियत जनता फ़ासिस्ट क़ब्ज़ावरों के ख़िलाफ़ महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध में भाग लेने के लिए उठ खड़ी हुई। सीमांत क्षेत्रों में हुई पहली ही लड़ाइयों में शौर्य और पराक्रम की जो मिसालें पेश की गयीं, उन्हें भावी पीढ़ियां कभी नहीं भुला पायेंगी। २२ जून को एक हवाई लड़ाई में विमानचालक द० व० कोकोरेव ने जब देखा कि उसके विमान की मशीनगनें बेकार हो गयी हैं, तो उसने प्रोपेलर से ही शत्रु विमान पर टक्कर मारकर उसे गिरा दिया और फिर स्वयं सुरक्षित ज़मीन पर लौट आया। महान देश-भक्तिपूर्ण युद्ध के इतिहास में विमान से विमान पर टक्कर मारने की यह

पहली मिसाल थी। उन दिनों और बाद में विमानचालक ल० ग० वुतेलिन, इ० इ० इवानोव, व० व० तलालीखिन और वहुत से दूसरों ने भी ऐसा ही किया। पहली हवाई लड़ाइयों में कप्तान निकोलाई गास्तेल्लो और उसके विमान के कर्मीदल ने असाधारण वीरता तथा आत्मत्याग का परिचय दिया। तेल की टंकी पर दुश्मन का गोला लगने से उनका विमान जलने लग गया था, किंतु गास्तेल्लो ने जलते विमान को नीचे खड़े जर्मन टैंकों और तेल की टंकियों पर जा गिराया, जिससे उनमें से वहुत से जलकर नष्ट हो गये। गास्तेल्लो और उसका कर्मीदल भी नहीं वच पाये और वीरों की मौत मर गये।

व्रेस्त के सीमांत दुर्ग की गैरीज़न की कीर्ति कभी धूमिल नहीं पड़ेगी। कप्तान इ० न० ज़ुवाच्योव, रेजीमेंटल कमिसार ये० म० फ़ोमिन, मेजर प० म० गव्रीलोव और अन्य अफ़सरों के नेतृत्व में इस गैरीज़न ने शत्रु से घिरे दुर्ग की २६ दिन तक अपूर्व दिलेरी के साथ रक्षा की थी और शत्रु की दो डिविज़नों को जान-माल की भारी क्षति पहुंचायी थी। वूग और प्रूत नदियों के किनारों पर और पेरेमीश्ल के निकट भी सोवियत सीमारक्षकों ने शत्रु से ज़वर्दस्त लोहा लिया था।

ओदेस्सा, कीयेव, लेनिनग्राद और मास्को, जिन्हें आगे चलकर वीर नगरों की सम्मानित पदवी से विभूषित किया गया, की रक्षा के लिए हुई लड़ाइयां महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के पहले दौर के इतिहास के सवसे गौरवमय पृष्ठों में से हैं। १६४२ में ऐसे ही सैन्य पराक्रम का परिचय सेवास्तोपोल और स्तालिनग्राद नगरों ने भी दिया। इन नगरों की रक्षा में सैनिकों और नागरिकों ने समान रूप से भाग लिया था और अपनी मातृभूमि को नाज़ियों की ग़ुलामी से वचाने के लिए हंसते-हंसते प्राणोत्सर्ग किया था।

किंतु वीरता और वहादुरी की इन अनगिनत मिसालों के वावजूद सोवियत सेनाओं को युद्ध के पहले दौर में, विशेषतः शत्रु द्वारा घेर लिये जाने के कारण, भारी पराजयें झेलनी पड़ीं और जनशक्ति, हथियारों व उपकरणों की अपार क्षति उठानी पड़ी। देश के वहुत वड़े हिस्से – वाल्टिक प्रदेश, मोल्दाविया, वेलारूस और अधिकांश उक्रइना, जिसमें कीयेव भी शामिल था – पर शत्रु का अधिकार हो गया। शत्रु लेनिनग्राद के निकट पहुंच गया और मास्को की ओर लपक रहा था। देश का सारा अस्तित्व ही ख़तरे में पड़ गया था। यह सव क्योंकर हो पाया?

युद्ध जर्मनी के लिए अनुकूल परिस्थितियों में आरंभ हुआ था। जर्मन सेना युद्ध के लिए न केवल काफ़ी पहले से और पूरी तरह तैयार थी, वल्कि पिछले दो वर्षों में वड़ी सामरिक कार्रवाइयों का प्रचुर अनुभव भी हासिल कर चुकी थी। जर्मन अर्थव्यवस्था का युद्ध से वहुत पहले से ही सामरिक

आवश्यकताओं के अनुरूप पुनर्गठन कर लिया गया था। जर्मनी को अधिकृत देशों के अपार संसाधन उपलब्ध थे और उनके उद्योग जर्मन सेना के लिए काम कर रहे थे। इसके विपरीत, सोवियत सेना को बड़ी लड़ाइयों का कोई नया अनुभव नहीं था – यह अनुभव उसे बहुत ही शक्तिशाली तथा चालाक शत्रु के विरुद्ध लड़ाइयों में ही अर्जित करना पड़ा। लाल सेना पूरी तरह लामबंद नहीं थी। यद्यपि पहली पंचवर्षीय योजनाओं के काल में एक शक्तिशाली प्रतिरक्षा उद्योग का निर्माण किया जा चुका था, तथापि देश की अर्थव्यवस्था आनेवाले युद्ध के लिए पूर्णतः तैयार नहीं थी। इसीलिए युद्ध के आरंभिक दौर में देश को भारी क्षति उठानी पड़ी और शक्ति संतुलन में जर्मनी तथा उसके अनुचर राज्यों का ही पलड़ा भारी रहा।

साम्राज्यवादी आक्रमण के मुक़ाबले के लिए देश को तैयार रखने में युद्धपूर्व काल की कुछ गंभीर चूकें और मिथ्यानुमान भी आड़े आये। स्तालिन और सोवियत सशस्त्र सेनाओं के सर्वोच्च अधिकारियों का सोचना था कि नाज़ी जर्मनी सोवियत संघ के साथ अनाक्रमण संधि की वजह से उसपर सीधे-सीधे हमला करने की हिम्मत नहीं करेगा। उन्होंने संभावित आक्रमण के विषय में विभिन्न स्रोतों से, जिनमें सोवियत गुप्तचर रिख़र्द ज़ोर्गे भी शामिल था, मिली चेतावनियों और यहां तक कि आक्रमण की लगभग ठीक-ठीक तिथि जैसी सूचनाओं को यथेष्ट गंभीरता से नहीं लिया। फलस्वरूप, नाज़ी जर्मनी अपने आक्रमण को इतना अप्रत्याशित बना सका और बहुत कुछ इसी वजह से आरंभ में इतनी सफलताएं पा सका। सोवियत जनता और सेना के लिए युद्ध का आरंभ इसलिए और भी अप्रत्याशित था कि उससे कुछ ही दिन पहले सोवियत समाचार समिति तास ने सोवियत संघ पर जर्मन हमले की तैयारियों और सोवियत सीमा पर जर्मन सेनाओं के जमाव की "अफ़वाहों" का खंडन किया था।

इन सबसे भी बड़ी ग़लती यह थी कि सोवियत संघ की पुरानी सीमा पर की गयी क़िलेबंदियों से सभी हथियारों तथा सैनिकों को हटा लिया गया था, जबकि नयी सीमाओं पर क़िलेबंदियों का निर्माण अभी अधूरा ही पड़ा हुआ था। नयी सीमाओं की रक्षा योजना देर से तैयार की गयी थी और फिर उसे कार्यरूप देने के लिए भी बहुत अधिक समय अपेक्षित था। इन्हीं सब कारणों से आक्रामक का पलड़ा कुछ समय के लिए भारी रहा।

किंतु युद्ध के आरंभिक दौर में जर्मनी की स्थिति कितनी भी बेहतर क्यों न रही हो, वह सोवियत संघ जैसी महान शक्ति के साथ टक्कर में निर्णायक न हो सकी। युद्ध शुरू होते ही सोवियत चंडावल ने अपनी अभेद्यता जाहिर कर दी। मोर्चे पर भारी पराजयों से सोवियत मज़दूरों तथा किसानों का संघ, सोवियत जातियों का साहचर्य कमज़ोर नहीं, उल्टे और सुदृढ़



मास्को में स्वयंसेवकों की सेना में भरती (२३ जून, १९४१)

ही बना। नाज़ी सैनिकों की अपेक्षा लाल सेना का मनोबल अपरिमेय रूप से ऊंचा था, क्योंकि वह एक न्यायसंगत ध्येय के लिए, मुक्ति के लिए, अपने देश के लिए लड़ रही थी। युद्ध के इसी महान, उदात्त लक्ष्य ने सोवियत सैनिकों को अतुलनीय शौर्य तथा पराक्रम का परिचय देने के लिए प्रेरित किया।

पार्टी और सरकार की पुकार पर सोवियत जनता अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गयी। भरती दफ़्तरों के सामने सेना में भरती होने के इच्छुक लाखों लोगों का तांता बंध गया। देखते ही देखते अधिकांश कल-कारख़ाने युद्ध-सामग्री का उत्पादन करने लग गये। १९४१ के अंत तक १३६० से ज़्यादा औद्योगिक उद्यमों की मशीनरी और उपकरण उखाड़कर उनके मज़दूरों और कर्मचारियों सहित मोर्चे से दूर पूर्वी इलाक़ों में पहुंचा दिये गये। उन्हें ढोने के लिए कोई १५,००,००० वैगनों की आवश्यकता पड़ी। नयी जगहों पर इन उद्यमों को शीघ्रातिशीघ्र फिर से चालू करने के लिए मज़दूर दिन-रात काम करते रहे।

लाखों औरतें कल-कारख़ानों में अपने पतियों, पिताओं और भाइयों की जगह काम करने लगीं, जो मोर्चों पर लड़ने चले गये थे। पेंशनयाफ़्ता बूढ़े भी स्वेच्छा से औद्योगिक उद्यमों में काम करने लौट आये।



मास्कोवासी टैंकरोधक खाइयां वना रहे हैं (अक्तूवर, १९४१)

सारे देश में एक आदमी द्वारा दो-दो, तीन-तीन आदमियों का कोटा पूरा किये जाने का आंदोलन छिड़ गया – एक कोटा अपनी ओर से और शेष मोर्चे पर गये हुए अपने साथियों की ओर से। एक ही आदमी कई-कई मशीनों पर या कई-कई तरह के काम करता था। कल-कारख़ानों में मोर्चा टोलियां वनायी गयीं, जो नियमित रूप से अपने उत्पादन लक्ष्यों की काफ़ी अधिक अतिपूर्ति करती थीं। शीघ्र ही ऐसा अर्थव्यवस्था की अन्य शाखाओं में भी किया जाने लगा। कम्युनिस्ट सुब्वोत्निकों – स्वैच्छिक श्रमदान – की गृहयुद्ध के ज़माने की प्रथा को फिर से चालू किया गया।

काम करनेवालों और मशीनों के काफ़ी वड़े हिस्से को मोर्चे के लिए लामवंद कर लिये जाने के फलस्वरूप उत्पन्न कठिनाइयों के वावजूद सामूहिक फ़ार्म १९४१ में खेती के सभी कामों को पूरा करने, फ़सल वटोरने और देश के पूर्वी भागों में शीतकालीन वोवाई-क्षेत्रफल काफ़ी अधिक वढ़ा लेने में सफल रहे।

सोवियत जनता का देशप्रेम और भी वहुत से रूपों में व्यक्त हुआ। मिसाल के लिए, एक विशेष प्रतिरक्षा कोष खोला गया, जिसमें मेहनतकश अपने वेतन का कुछ हिस्सा, राजकीय ऋणपत्र, सोने-चांदी के गहने, आदि

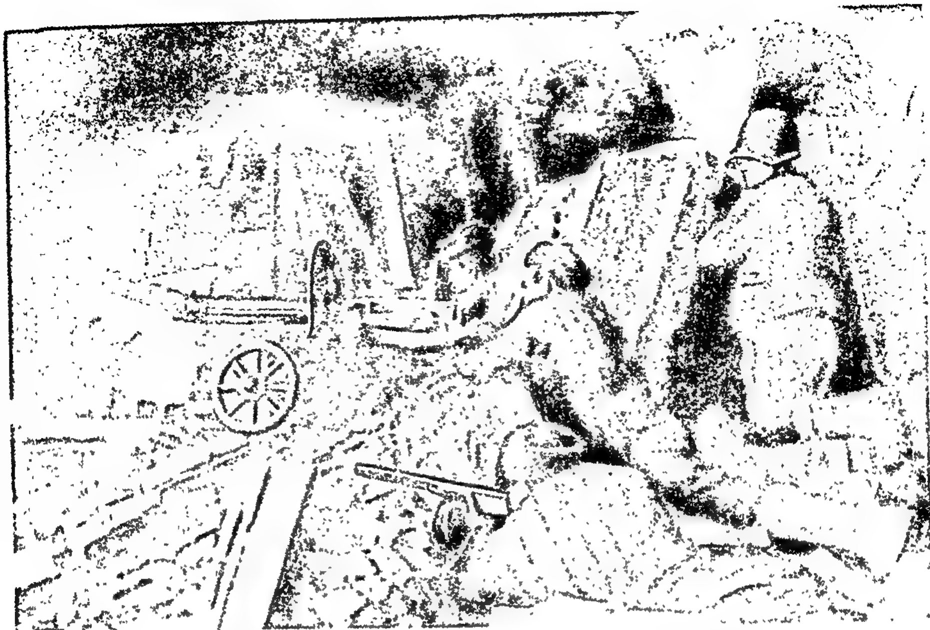


नाज़ी सैनिक जोया कोस्मोदेम्यांस्काया को फांसी देने ले जा रहे हैं (नवंबर, १९४१)

दान करते थे। १९४१ के शरद में सिपाहियों के लिए गरम कपड़े एकत्र करने का अभियान चला। मोर्चे पर लड़ रहे लोगों को उपहार पार्सल, पत्र, आदि भेजना तो आम बात थी।

मोर्चों पर नयी-नयी कुमुकें पहुंच रही थीं। अग्रिम इलाक़ों में सेना की मदद के लिए जन स्वयंसेवक दस्ते बनाये जा रहे थे। जिन इलाक़ों पर शत्रु का क़ब्ज़ा हो चुका था, उनमें कम्युनिस्ट संगठनों के निदेशन में छापामार युद्ध उत्तरोत्तर व्यापक बनता जा रहा था। इस प्रकार के युद्ध का उद्देश्य जर्मनों के चंडावल में अव्यवस्था पैदा करना, संचार मार्गों व साधनों को विनष्ट करना और अन्य बहुत से तरीक़ों से लाल सेना को सहायता देना था।

ज्यों ही सोवियत-जर्मन मोर्चे पर युद्ध आरंभ हुआ, सारे विश्व की जनता सोवियत संघ के समर्थन के लिए तुरंत एकजुट हो गयी, क्योंकि वह ठीक ही सोचती थी कि सोवियत संघ ही ऐसा एकमात्र देश है, जो जर्मन युद्ध मशीनरी को चकनाचूर और विश्व सभ्यता की नाज़ी बर्बरों से रक्षा



सोवियत सैनिक स्तालिनग्राद के क्रास्नी ओक्त्याब्र कारखाने की रक्षा कर रहे हैं (१६४२)

कर सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और अन्य देशों की जनता ने, जो नाज़ीवाद को यथाशीघ्र विनष्ट हुआ देखना चाहती थी, अपनी सरकारों से सोवियत संघ को तत्काल हर संभव सहायता देने की ज़ोरदार मांग की। दूसरी ओर, पश्चिमी राष्ट्रों के नेता भी अब महसूस करने लग गये कि नाज़ी आक्रमण से सोवियत संघ के अस्तित्व तथा अन्य देशों की जनता के बुनियादी हितों को ही नहीं, अपितु स्वयं उनके देशों के प्रभावशाली बूर्जुआ हल्क़ों के हितों को भी ख़तरा उत्पन्न हो गया है। जनमत के दबाव और स्वयं अपने हितों की रक्षा की आवश्यकता, इन दो कारकों ने ही पश्चिमी सरकारों को सोवियत संघ के साथ मिलकर हिटलरविरोधी गठबंधन बनाने के लिए प्रेरित किया।

२२ जून, १६४१ को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल ने और दो दिन बाद संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति फ़्रेंकलिन रूज़वेल्ट ने अधिकृत तौर पर घोषणा कर दी कि वे नाज़ी जर्मनी के विरुद्ध सोवियत संघ के सशस्त्र संघर्ष का समर्थन करते हैं और सोवियत सरकार की हर प्रकार से मदद करने को तैयार हैं। जुलाई, १६४१ में सोवियत संघ और ब्रिटेन ने जर्मनी के ख़िलाफ़ संयुक्त सामरिक कार्रवाइयों के बारे में एक समझौते पर हस्ताक्षर

किये। बाद में कुछ अन्य देश भी इस संधि में शामिल हुए। मई-जून, १९४२ में जर्मनी तथा उसके यूरोपीय सहयोगी देशों के विरुद्ध युद्ध में सहबंध तथा युद्ध के उपरांत सहयोग विषयक सोवियत-आंग्ल संधि और आक्रमण के विरुद्ध संघर्ष में परस्पर सहायता के सिद्धांत विषयक सोवियत-अमरीकी समझौता संपन्न किये गये।

इस प्रकार युद्ध की ज्वालाओं के बीच आंग्ल-सोवियत-अमरीकी गठबंधन का निर्माण हुआ, जो विभिन्न सामाजिक प्रणालियोंवाले देशों के परस्पर सहयोग का एक ज्वलंत उदाहरण था।

फ़ासिज़्मविरोधी गठबंधन में दो नीतियों की टक्कर

किंतु पश्चिम के साम्राज्यवादी बूर्जुआज़ी ने अतीत की भांति अब भी अपने उन लक्ष्यों को तिलांजलि नहीं दी, जो फ़ासिज़्म के विरुद्ध जूझ रहे जनों के प्रगतिशील आदर्शों, मुक्ति के आदर्शों के सर्वथा विपरीत थे। अमरीकी तथा ब्रिटिश बूर्जुआज़ी के घोर प्रतिक्रियावादी हल्कों में ट्रूमैन, टैफ़्ट, मूर-ब्रैवाज़न जैसे लोगों की कमी नहीं थी, जो आशा लगाये बैठे थे – इस बारे में बाद में प्रकाश में आये वक्तव्यों से पता चला – कि सोवियत संघ और जर्मनी की लड़ाई अंततः दोनों को ही निःशक्त कर देगी और तब युद्धोत्तर विश्व पर आंग्ल-अमरीकी आधिपत्य की स्थापना आसान बन जायेगी।

इस प्रकार सारे युद्धकाल में हिटलरविरोधी गठबंधन में दो नीतियां लगातार आपस में टकराती रहीं। एक ओर सोवियत संघ की नीति थी, जो मानवजाति को फ़ासिस्ट प्लेग से मुक्ति दिलाने के महान ऐतिहासिक मिशन की पूर्ति के लिए, नाज़ी आक्रामकों का यथाशीघ्र सफ़ाया करने के लिए अपना सर्वस्व तक न्यौछावर करने को उद्यत था, और दूसरी ओर आंग्ल-अमरीकी शासक हल्कों की नीति थी, जो युद्ध को अपनी स्वार्थपूर्ति का साधन बना देखना चाहते थे। उनका लक्ष्य यही था कि जर्मनी, इटली और जापान विश्व मंडी में उनके ख़तरनाक प्रतिद्वंद्वी न बन सकें और सारे विश्व में आंग्ल-अमरीकी साम्राज्यवादियों का प्रभुत्व क़ायम हो जाये।

संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन की सरकारें यूरोप में दूसरा मोर्चा खोलने को लगातार स्थगित करती गयीं, जिससे न केवल सोवियत सेना की कठिनाइयां और बढ़ीं, बल्कि दूसरे महायुद्ध का अंत भी टलता गया। सोवियत सरकार ने दूसरा मोर्चा खोलने की आवश्यकता की ओर पश्चिमी

मित्रराष्ट्रों का ध्यान १९४१ में ही आकृष्ट कर दिया था और स्पष्टतः कहा था कि दूसरे मोर्चे से उसका मतलब उत्तरी फ़्रांस में आंग्ल-अमरीकी सैनिकों के विशाल दस्ते उतारे जाने से है। अपने देशों के जनमत के दबाव में आकर संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन ने यूरोप में दूसरा मोर्चा १९४२ में खोलने का वचन दिया, किंतु "अधूरी तैयारियों" के बहाने उसपर अमल नहीं किया गया। दूसरा मोर्चा १९४३ में भी नहीं खुला। उसे केवल १९४४ के ग्रीष्म में ही खोला गया, जब सोवियत सेना की शानदार सफलताओं के कारण विजय लगभग पूरी तरह सुनिश्चित हो चुकी थी। फ़्रांसीसी तट पर आंग्ल-अमरीकी सैनिक उतारने के लिए यह समय वास्तव में इसलिए चुना गया था कि सोवियत सेनाओं को पश्चिमी यूरोप में घुसने, उसे मुक्त करने से रोका जा सके।

ब्रिटिश और अमरीकी सरकारों ने दूसरा मोर्चा खोलने में देरी इसलिए भी की कि वे अपनी शक्ति को सुरक्षित रखना और साथ ही अपने सहयोगी सोवियत संघ को ज़्यादा से ज़्यादा निःशक्त बना देखना चाहते थे, ताकि फ़ासिस्ट क़ब्ज़ावरों के साथ दीर्घकालीन भीषण संघर्ष से थकी-मांदी, निढाल सोवियत जनता को युद्ध की समाप्ति के बाद आंग्ल-अमरीकी साम्राज्यवाद पर आर्थिक रूप से निर्भर बनाया जा सके।

संयुक्त राज्य अमरीका पर जापान का हमला। प्रशांत क्षेत्र में युद्ध का आरंभ

लाल सेना के प्रबल प्रतिरोध ने जर्मन कमान की इन आशाओं पर पानी फेर दिया था कि सोवियत संघ को कुछ ही हफ़्तों में धराशायी कर दिया जायेगा। शरद, १९४१ तक जर्मन सेनाओं ने लेनिनग्राद की नाकाबंदी, कीयेव पर अधिकार और मास्को के लिए प्रत्यक्ष ख़तरा उत्पन्न कर दिया था, फिर भी उनका तड़ित आक्रमण (ब्लित्सक्रीग) बुरी तरह असफल रहा था।

इधर सुदूर पूर्व में जापानी सैन्यवादियों ने यह देखकर कि आठ हफ़्तों में सोवियत संघ से घुटने टिकवाने की हिटलर की योजना विफल हो गयी है और सोवियत जनता के विरुद्ध युद्ध स्वयं उनके लिए भी बहुत महंगा सिद्ध हो सकता है, सोवियत संघ से सशस्त्र संघर्ष में उलझने के अपने इरादे त्याग दिये। इसके बजाय उन्होंने संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन पर हमले की बहुत ही गुप्त रूप से तैयारियां शुरू कर दीं। शत्रु की सतर्कता शिथिल

बनाने और उसके अधीनस्थ सुदूर पूर्वी क्षेत्रों पर अप्रत्याशित आक्रमण की तैयारियों के वास्ते पर्याप्त समय पाने के उद्देश्य से जापानियों ने एक कुटिल चाल चली: उन्होंने संयुक्त राज्य अमरीका और जापान के मतभेदों के "शांतिमय समाधान" के लिए वाशिंगटन में राजनयिक वार्ताएं शुरू कर दीं। इधर ये वार्ताएं चल ही रही थीं कि उधर ७ दिसंबर, १९४१ को जापानी हवाई और समुद्री बेड़ों ने हवाई द्वीपसमूह पर संयुक्त राज्य अमरीका के मुख्य नौसैनिक अड्डे पर्ल हार्बर पर ज़बर्दस्त धावा बोल दिया। कुछ ही घंटों में संयुक्त राज्य अमरीका का लगभग सारा प्रशांत महासागरीय नौसैनिक बेड़ा बेकार बना दिया गया। इसके साथ ही सुदूर पूर्व में ब्रिटेन के मुख्य नौसैनिक अड्डे सिंगापुर पर भीषण बमबारी की गयी और प्रशांत तथा हिंद महासागरों में स्थित अन्य अमरीकी व ब्रिटिश सामरिक अड्डों पर हमला किया गया।

अमरीकी व ब्रिटिश नौसेनाओं को अपरिमित क्षति पहुंचाने के बाद जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में दूर-दूर तक हमले शुरू कर दिये। अपेक्षया बहुत कम समय में ही (मई, १९४२ तक) उसने मलाया, बर्मा, फ़िलीपीन तथा इंडोनेशिया पर और ब्रिटेन तथा अमरीका के अधिकार में स्थित अनेक प्रशांत महासागरीय द्वीपों पर क़ब्ज़ा कर लिया। इस प्रकार दूसरे महायुद्ध का भौगोलिक पैमाना उत्तरोत्तर बढ़ता गया और नये-नये देश व राष्ट्र उसकी चपेट में आते गये। दिसंबर, १९४१ में जापान के मित्रदेश फ़ासिस्ट जर्मनी ने संयुक्त राज्य अमरीका के विरुद्ध युद्ध की बाक़ायदा घोषणा कर दी।

१ जनवरी, १९४२ को वाशिंगटन में सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, चीन, पोलैंड, यूगोस्लाविया, आदि २६ मित्रराष्ट्रों ने एक संयुक्त घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये, जिसमें उन्होंने प्रण किया कि जब तक साझे शत्रु – फ़ासिस्ट गुट – पर विजय नहीं पा ली जाती, वे आपस में सहयोग करते रहेंगे और कोई भी शत्रु से पृथक् शांति संधि नहीं करेगा।

सोवियत-जर्मन मोर्चा –
दूसरे महायुद्ध का निर्णायक मोर्चा।
यूरोप में प्रतिरोध आंदोलन का विस्तार

सुदूर पूर्व तथा उत्तर-पूर्वी अफ़्रीका की, जहां १९४०-१९४१ में ब्रिटिश फ़ौजों ने जर्मनों तथा इतालवियों से कई बार सफल टक्कर ली थी, और अन्य क्षेत्रों की सामरिक कार्रवाइयां चाहे कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न रही

हों, दूसरे महायुद्ध की असली, निर्णायक लड़ाइयां सोवियत-जर्मन मोर्चे पर ही लड़ी गयीं। इसी मोर्चे पर समस्त मानवजाति के भाग्य का निर्णय हो रहा था और इसी मोर्चे पर विश्व के करोड़ों लोगों का सारा ध्यान भी केंद्रित था, जो नाज़ी बर्बरता से मानव सभ्यता की रक्षा के लिए सोवियत जनता द्वारा लड़ी जा रही विकराल लड़ाई को दम साधे देख रहे थे।

दूसरे महायुद्ध की पहली महत्त्वपूर्ण घटना थी १६४१-१६४२ की सरदियों में मास्को के निकट जर्मन सेना का सफ़ाया। यह इस युद्ध में जर्मनों की पहली गंभीर पराजय थी। जर्मन कमान ने दो बार – पहले अक्तूबर और फिर नवंबर, १६४१ में – विशाल सेना के साथ मास्को पर बड़े पैमाने पर चढ़ाई के प्रयास किये। किंतु सोवियत सैनिकों ने दृढ़तापूर्वक मुक़ाबला किया और अतुलनीय शौर्य ही नहीं, बढ़ते युद्ध-कौशल का भी परिचय दिया।

मास्को की लड़ाई में जनरल इ० व० पन्फ़ीलोव की ३१६वीं डिविजन (आगे चलकर ८वीं गार्ड्स डिविजन) के २८ योद्धाओं का बेमिसाल कारनामा कभी नहीं भुलाया जायेगा। अपने राजनीतिक प्रशिक्षक व० ग० क्लोच्कोव के नेतृत्व में यह टुकड़ी वोलोकोलाम्स्क इलाक़े में दुबोसेकोवो स्टेशन के पास एक मोर्चाबंदी की रक्षा कर रही थी। १६ नवंबर, १६४१ को ५० जर्मन टैंकों ने और टामीगनों से लैस एक बड़े शत्रु दस्ते ने उसपर हमला कर दिया। सोवियत सैनिकों ने अपूर्व दृढ़ता और वीरता के साथ उनका सामना किया। उनके राजनीतिक प्रशिक्षक के शब्द थे; "रूस विशाल अवश्य है, मगर हम पीछे नहीं हट सकते, क्योंकि पीछे मास्को है!" और सैनिक सचमुच जान पर खेल गये। उस लड़ाई में क्लोच्कोव समेत २३ सोवियत योद्धा खेत रहे। किंतु दुश्मन आगे नहीं बढ़ पाया।

मास्को के जन स्वयंसेवक दस्तों की डिविजनों ने भी कोई कम बहादुरी व दिलेरी का परिचय नहीं दिया। कम्युनिस्ट पार्टी और कोम्सोमोल संगठन ने कोई १,००,००० कम्युनिस्टों और २,५०,००० कोम्सोमोल युवाओं को मास्को की रक्षा के लिए मोर्चों पर भेजा। लगभग ५,००,००० नर-नारियों ने राजधानी के गिर्द रक्षा-पट्टी – टैंक-विरोधी खाइयों, बैरीकेडों, कंटीले तारों की बाड़ों, खंदकों, बंकरों, कवच-कोठरियों, आदि – के निर्माण में भाग लिया।

इसी बीच दुश्मन के पिछवाड़े में छापामार अधिकाधिक सक्रिय होते जा रहे थे। १६४१ के अंत तक मास्को के आसपास शत्रु-अधिकृत इलाक़ों में ४० छापामार दस्ते काम कर रहे थे, जिनमें कुल मिलाकर कोई १०,००० आदमी थे। बहुत कम समय में ही उन्होंने १८,००० शत्रु सैनिक मार डाले और २२२ टैंक तथा बख़्तरबंद गाड़ियां, ६ विमान और २६ सप्लाई डिपो तथा गोला-बारूद भंडार विनष्ट किये।

मोर्चे पर लड़ रहे सैनिकों की तरह इन छापामारों का शौर्य भी देखने योग्य था। सोवियत लोग ज़ोया कोस्मोदेम्यान्स्काया की पावन स्मृति सदा अपने हृदयों में संजोये रहेंगे। इस अठारहवर्षीया निर्भीक कोम्सोमोल युवती ने स्वेच्छा से मातृभूमि के रक्षकों की क़तारों में शामिल होकर शत्रु के पिछवाड़े में अनेक ख़तरनाक काम किये थे। किंतु शत्रु के एक महत्त्वपूर्ण सामरिक ठिकाने को आग लगाते हुए वह पकड़ ली गयी। घोर अमानवीय यंत्रणाएं दिये जाने पर भी उसने साथियों का नाम नहीं बताया। फ़ासिस्ट जब उसे फांसी दे रहे थे, तो फांसी के तख़्ते से अपने सामने खड़े लोगों को संबोधित करते हुए, जिन्हें बलात् वध-स्थल पर जमा किया गया था, वह चिल्लायी: "साथियो, मुझे मौत का भय नहीं! मेरा सौभाग्य है कि मैं अपनी जनता के लिए प्राणोत्सर्ग कर रही हूं!" हज़ारों अन्य सोवियत लोगों ने भी ऐसे ही हंसते-हंसते मृत्यु का वरण किया था।

इधर मास्को के उपांत में घमासान प्रतिरक्षात्मक लड़ाइयां चल रही थीं, उधर सोवियत चंडावल में नये सैन्य दस्तों का, टैंकों, विमानों, तोपख़ानों और मार्टरों से लैस डिविजनों का गठन तथा मास्को के निकट जमाव किया जा रहा था।

६ दिसंबर, १९४१ को जब यह पूरी तरह स्पष्ट हो गया कि सोवियत राजधानी के प्राचीरों के पास हफ़्तों से चल रही विकट लड़ाइयों से शत्रु सेना की शक्ति क्षीण हो गयी है और उसकी संचार व्यवस्था भी गड़बड़ा गयी है, सोवियत सेना ने बड़ी भारी संख्या में टैंकों और विमानों के साथ प्रत्याक्रमण आरंभ कर दिया।

लाल सेना के दबाव के आगे जर्मन सैनिकों को अपने शस्त्रास्त्र, रसद तथा अन्य सैन्य-सामग्री जहां की तहां छोड़कर हड़बड़ाहट में पीछे हटने को मजबूर होना पड़ा। इस शीतकालीन अभियान में सोवियत सेना ने शत्रु की ५० डिविजनों का सफ़ाया और ११,००० से ज़्यादा बस्तियों को मुक्त किया, जिनमें ६० नगर भी थे। मास्को और लेनिनग्राद पर क़ब्ज़ा करने की शत्रु की योजनाओं पर तुषारापात हो गया।

जर्मन फ़ासिस्ट सेनाओं की यह पराजय महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के पहले वर्ष की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी। उससे बिजली सी तेज़ी से सोवियत संघ पर अधिकार कर लेने की जर्मन आशाओं के साथ जर्मनी की अविजेयता की धाक भी ख़ाक में मिल गयी।

मास्को के निकट सोवियत सेनाओं की विजय का दूर-दूर तक असर पड़ा। उसने यूरोप के विजित देशों की जनता को नाज़ी क़ब्ज़ावरों से जमकर लोहा लेने के लिए प्रेरित किया। प्रतिरोध आंदोलन का सर्वत्र तेज़ी से प्रसार हुआ और मजदूर, किसान और निम्न तथा मंझोला बूर्जुआज़ी, सभी उसके

समर्थन के लिए एकताबद्ध होने लगे। कम्युनिस्टों के नेतृत्व में फ़्रांस, यूगोस्लाविया, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, यूनान, नार्वे तथा अन्य यूरोपीय राष्ट्रों की देशभक्त शक्तियों ने आक्रामकों पर ज़ोरदार चोटें कीं, शत्रु सैनिकों तथा उनके मुकामी गुर्गों को मौत के घाट उतारा, हवाई अड्डे तथा पुल नष्ट किये और शत्रु सैनिकों को ले जानेवाली ट्रेनों को पटरी से उतारा। सभी जगह फ़ासिस्ट क़ब्ज़ावरों के पैरों तले ज़मीन जलने लग गयी।

स्तालिनग्राद की लड़ाई और उसका अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व। उत्तरी अफ़्रीका में मित्रराष्ट्रों की सामरिक कार्रवाइयां

किंतु नाज़ी जर्मनी अभी भी काफ़ी शक्तिशाली था। १९४२ की गरमियों में उसने पूर्वी मोर्चे पर २४० डिविजनें जमा करके एक और वृहद् आक्रमण शुरू कर दिया। इस बार चूंकि वह १९४१ की भांति सारे मोर्चे पर आक्रामक कार्रवाइयां नहीं कर सकता था, अतः उसने अपने को मोर्चे के दक्षिणी भाग तक ही सीमित रखा। इस अभियान का उद्देश्य काकेशिया के तेल क्षेत्रों, स्तालिनग्राद के औद्योगिक क्षेत्र और कुवान तथा दोन घाटियों के उपजाऊ कृषि इलाक़ों पर अधिकार जमाना था। सोवियत संघ के मुक़ाबले निश्चय ही कहीं अधिक प्रबल सैन्य शक्ति तथा साधन जुटाकर जर्मनों ने दोन नदी की ओर कूच कर दिया।

सोवियत सैनिकों ने असामान्य वीरता के साथ शत्रु का सामना किया। इन लड़ाइयों में अमरता को प्राप्त होनेवालों में लेफ़्टिनेंट कोचेत्कोव के १६ गार्ड्स सैनिक भी थे, जो स्तालिनग्राद के निकट एक महत्त्वपूर्ण टीले की रक्षा कर रहे थे। एक इतालवी पैदल दस्ते के चार हमलों के विफल रहने के बाद जर्मनों ने इन मुट्ठीभर सोवियत सैनिकों के खिलाफ़ एक पूरी की पूरी जर्मन कंपनी झोंक दी थी। किंतु जब वह भी अपना लक्ष्य पाने में नाकामयाब रही, तो अगले रोज़ सुबह १२ जर्मन टैंकों ने उनपर हमला कर दिया। तब तक कमांडर समेत बहुत से सैनिक घायल हो चुके थे। फिर भी टैंकों को आगे नहीं बढ़ने दिया गया। सोवियत वीरों ने हथगोलों के बंडल लेकर अपने को टैंकों के नीचे फेंक दिया। सोलह के सोलह सूरमा वहीं मारे गये। किंतु जैसा कि बाद में मदद को पहुंचे दूसरे सैनिकों ने देखा, टीले के ढलान पर छह जर्मन टैंक भी धू-धू करके जल रहे थे।

अपनी संख्यात्मक श्रेष्ठता और निरंतर पहुंच रहे नये रिज़र्वों के बूते पर जर्मन आखिरकार सोवियत मोर्चे को भेदने और अगस्त में दोन नदी को पार करने में सफल हो ही गये। २३ अगस्त तक शत्रु भारी नुक़सान

उठाने के बावजूद स्तालिनग्राद के उत्तर-पश्चिम में वोल्गा के तट तक पहुंच चुका था। यहां से उसने पहले नगर पर घनघोर बमवर्षा की और फिर लगे हाथों उसपर क़ब्ज़ा कर लेने का प्रयास भी किया। किंतु नगर के रक्षकों ने अपूर्व युद्ध-कौशल तथा बहादुरी दिखाते हुए उसका मुक़ाबला किया और अपूर्व दृढ़ता के साथ नगर की हर सड़क, हर घर की रक्षा की। इस संबंध में सार्जेंट या० पाव्लोव और उसके साथियों का कारनामा सदा याद किया जायेगा, जिन्होंने एक इमारत में डटे रहकर, उसे दुर्भेद्य क़िला सा बनाकर शत्रु से ५८ दिन तक लोहा लिया था।

अपने १९१८ के कारनामे (त्सारीत्सिन की शौर्यपूर्ण रक्षा) को दोहराते हुए स्तालिनग्राद के कल-कारखानों के मज़दूरों ने भी नगर की रक्षा में सक्रिय भाग लिया। नगर की प्रतिरक्षा में वोल्गा बेड़े के जहाज़ियों ने भी कोई कम महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभायी। शत्रु द्वारा अनवरत गोलाबारी और बमबारी के बावजूद बेड़े ने हज़ारों सैनिक और हज़ारों टन गोला-बारूद तथा रसद वोल्गा के पार पहुंचाये और अपनी तोपों से शत्रु के मोर्चों पर गोले बरसाकर स्तालिनग्राद के रक्षकों की सामरिक कार्रवाइयों में मदद की।

लड़ाई उत्तरोत्तर प्रचंड बनती गयी। दोनों पक्षों से उसमें २०,००,००० से अधिक सैनिक, २६,००० तोपें तथा मार्टर, २,००० से अधिक टैंक और कोई २,००० हवाई जहाज़ भाग ले रहे थे। जर्मन वायुसेना ने नगर पर १,००,००० से अधिक हमले किये और कोई १०,००,००० टन बम बरसाये।

किंतु सोवियत सैनिकों के शौर्यपूर्ण प्रतिरोध के आगे जर्मनों का आक्रमण उतना प्रभावी सिद्ध न हो सका। इस बीच लाल सेना भी पहले से कहीं अधिक ताक़तवर बन चुकी थी और कठिनतम परिस्थितियों में भी लड़ना सीख चुकी थी। इसके अलावा सोवियत चंडावल से उत्तरोत्तर विशाल मात्रा में हथियार तथा गोला-बारूद भी स्तालिनग्राद पहुंच रहे थे।

१९ नवंबर, १९४२ को लाल सेना ने स्तालिनग्राद के निकट जवाबी हमला शुरू कर दिया और कुछ ही दिनों में उस इलाक़े में अधिकांश शत्रु सेना को घेरे में ले लिया। घेरे से निकलने की सभी जर्मन कोशिशें नाकामयाब रहीं। जर्मन कमान द्वारा हथियार डालने से इंकार करने पर १० जनवरी, १९४३ को सोवियत सेना ने स्तालिनग्राद मोर्चे पर स्थित सारी शत्रु सेना के सफ़ाये के लिए अपना आपरेशन शुरू कर दिया।

फ़रवरी के आरंभ में सोवियत सेना की शानदार विजय के साथ स्तालिनग्राद की लड़ाई समाप्त हो गयी। शत्रु की २२ सर्वश्रेष्ठ डिविजनों को ध्वस्त किया जा चुका था और फ़ील्ड-मार्शल पाउंलस तथा उसकी कमान में स्थित जर्मन छठी सेना के ९०,००० से ज़्यादा अफ़सरों तथा सिपाहियों से आत्मसमर्पण करवाया जा चुका था। विशाल मात्रा में शत्रु सेना के हथियारों

तथा अन्य सैन्य-सामग्री पर भी क़ब्ज़ा कर लिया गया था। स्तालिनग्राद के मोर्चे पर शुरू किया गया प्रत्याक्रमण शीघ्र ही सारे सोवियत-जर्मन मोर्चे पर आम सोवियत अभियान में बदल गया। जर्मन प्रतिरक्षा पंक्तियों को रौंदते हुए सोवियत सैनिक कुछ क्षेत्रों में ६००-७०० किलोमीटर पश्चिम तक बढ़ गये और रास्ते में उन्होंने नाज़ियों तथा उनके पिछलग्गुओं की ११२ डिविजनों को नष्ट किया। लाल सेना अपार उत्साह और शौर्य के साथ नाज़ी आक्रामकों को सोवियत धरती से खदेड़ती गयी। मातृभूमि के रक्षकों के वीरतापूर्ण कृत्यों के समाचार सभी मोर्चों से आ रहे थे। २३ फ़रवरी, १९४३ को २५४ वीं गार्ड्स रेजीमेंट के सैनिक अलेक्सांद्र मत्रोसोव ने तो अपनी रेजीमेंट के आगे बढ़ने में बाधक शत्रु की मशीनगन को चुप कराने के लिए उस कवच-कोठरी का छेद अपने सीने से ही बंद कर दिया, जहां से वह मशीनगन गोलियां बरसा रही थी। युद्धकाल में इस प्रकार का कारनामा २०० से ज़्यादा सोवियत सैनिकों ने दिखाया था।

वोल्गा तट पर सोवियत सेना की विजय अपार अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की घटना थी। हिटलर के जर्मनी पर ऐसा आघात किया गया था कि वह फिर कभी नहीं संभल पाया। आंग्ल-अमरीकी सेनाएं अब उत्तरी अफ़्रीका में अपनी सामरिक कार्रवाइयां आसानी से शुरू कर सकती थीं। नवंबर, १९४२ में मित्रराष्ट्रों की एक काफ़ी बड़ी सेना अल्जीरिया और मोरक्को में उतारी गयी और उसने अपने से संख्या तथा हथियारों की दृष्टि से कमज़ोर शत्रु सेना से टक्कर ली। इस अभियान का अंत मई, १९४३ में जर्मन-इतालवी फ़ौजों के आत्मसमर्पण के साथ हुआ।

धुरी राष्ट्रों का संकट। फ़ासिज़्मविरोधी गठबंधन का सुदृढ़ीकरण

मित्रराष्ट्रों के अफ़्रीकी अभियान की सफल परिणति से यूरोप में दूसरा मोर्चा खोलना निश्चय ही आसान हो गया था। फ़्रांस और पड़ोसी पश्चिमी यूरोपीय देशों में बृहद पैमाने पर आक्रामक कार्रवाइयां शुरू करने में यह बात भी सहायक थी कि स्तालिनग्राद में जर्मनी की पराजय के बाद से इन देशों का जन प्रतिरोध आंदोलन काफ़ी बढ़ गया था। इसके बावजूद ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका ने इंगलिश चैनल के पार यूरोप में निर्णायक आक्रमण फिर स्थगित कर दिया और सिसिली में सैनिक उतारना ही बेहतर समझा (जुलाई, १९४३)। पश्चिमी शक्तियों के शासकों को आशा थी कि सिसिली पर अधिकार कर लेने के बाद वे इटली होते हुए दक्षिण-पूर्वी और

मध्य यूरोप में घुस जायेंगे और इस तरह वहां सोवियत सैनिकों के प्रवेश को रोक सकेंगे तथा साथ ही इस भूभाग के देशों में प्रतिक्रियावादी बूर्जुआ-ज़मींदार सरकारों की पुनर्स्थापना में मदद दे सकेंगे।

इस बीच सोवियत-जर्मन मोर्चे पर जर्मनों की पराजयों ने फ़ासिस्ट शिविर में गंभीर संकट पैदा कर दिया था। इटली, रूमानिया, फ़िनलैंड और हंगरी में युद्ध को लेकर असंतोष बढ़ता जा रहा था और अधिकाधिक व्यापक हल्क़ों के लोग उसे निरर्थक तथा निराशाजनक महसूस करने लगे थे। १६४३ के ग्रीष्म में कूर्स्क के निकट जर्मन अभियान की घोर विफलता ने जर्मनी के पिछलग्गू राज्यों में युद्धविरोधी और सरकारविरोधी भावनाओं के प्रसार में और योग दिया। स्तालिनग्राद की हार का बदला लेने के उद्देश्य से जर्मन उच्च कमान ने कूर्स्क के समीप एक छोटे से सीमित इलाक़े में विशाल संख्या में फ़ौजें, तोपखाना, टैंक तथा विमान जमा कर लिये थे। किंतु कूर्स्क की लड़ाई का परिणाम भी स्तालिनग्राद जैसा ही निकला। जर्मनों की सभी योजनाओं पर पानी फिर गया और घमासान लड़ाई से थके-हारे जर्मन सैनिक लाल सेना के उत्तरोत्तर प्रचंड प्रहारों के सामने पीछे हटते गये। लाल सेना के प्रहारों ने अब एक विशाल मोर्चे पर फैले आक्रमण का रूप ले लिया था। १६४३ के अंत तक शत्रु अधिकृत दो तिहाई सोवियत क्षेत्र मुक्त करवा लिया गया। शत्रु को सोवियत भूमि से पूरी तरह खदेड़ देने का अभियान अब पूरे ज़ोरों पर था।

लगभग इसी समय इटली में, जहां फ़ासिज़्म का जन्म हुआ था, एक गंभीर राजनीतिक संकट विकसित हो रहा था। इतालवी जनता न केवल लड़ना नहीं चाहती थी, बल्कि नाज़ी जर्मनी से संबंध विच्छेद की मांग भी कर रही थी। अफ़्रीका में इतालवी सैनिकों को ज़बर्दस्त मुंह की खानी पड़ी थी और मुसोलिनी द्वारा पूर्वी मोर्चे पर प्रेषित दस इतालवी डिविजनों का भी पूरी तरह सफ़ाया हो गया था। इटली का अधिकांश नौसैनिक बेड़ा डुबोया या बेकार कर दिया जा चुका था। सिसली पर आंग्ल-अमरीकी सेनाओं के क़ब्ज़े के बाद इतालवी बूर्जुआज़ी के नेताओं ने युद्ध जारी रखना निरर्थक समझ मुसोलिनी को गद्दी से हटाने और मित्रराष्ट्रों के साथ वार्ताएं शुरू करने का निर्णय किया। जुलाई, १६४३ के अंत में मुसोलिनी को गिरफ़्तार कर लिया गया और मार्शल बोदोलियो के नेतृत्व में एक नयी सरकार बनायी गयी। बोदोलियो के साथ किये गये एक समझौते के अनुसार ब्रिटेन और अमरीका ने दक्षिणी इटली मे अपने सैनिक उतारे। ८ सितंबर को इटली ने आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद जर्मन सेनाएं उत्तरी तथा मध्य इटली में घुस आयीं। १३ अक्तूबर को बोदोलियो सरकार को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देनी पड़ी। जर्मनों ने अपने अधिकार में स्थित इतालवी क्षेत्र

में एक कठपुतली "गणराज्य" की स्थापना की, जिसका प्रमुख नाज़ियों की मदद से क़ैद से भागे मुसोलिनी को बनाया गया।

स्तालिनग्राद और कूर्स्क की लड़ाइयों में सोवियत सेना की विजयों ने, जिन्होंने दूसरे महायुद्ध का रूप बुनियादी तौर पर बदल डाला था, हिटलर-विरोधी गठबंधन के सदस्य देशों को और अधिक एकजुट होने में मदद की और सोवियत संघ की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा तथा प्रभाव को सुदृढ़ बनाया। यह संयोग की बात नहीं थी कि मित्रराष्ट्र शक्तियों – सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन – के समय-समय पर होनेवाले उच्चस्तरीय सम्मेलन १९४३ के शरद के बाद ही शुरू हुए थे। अक्तूबर, १९४३ में मास्को में इन देशों के विदेशमंत्रियों की कांफ्रेंस ने सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन के शासनाध्यक्षों के सम्मेलन के आयोजन की तैयारियां कीं। यह सम्मेलन उसी वर्ष २८ नवंबर से १ दिसंबर तक तेहरान में हुआ। उसमें तय किया गया कि मई, १९४४ में यूरोप में दूसरा मोर्चा खोल दिया जायेगा। इसके साथ ही तीनों देशों की समन्वित रणनीति की बुनियादी रूपरेखा भी निर्धारित की गयी। सम्मेलन ने नाज़ी जर्मनी के विरुद्ध संयुक्त सामरिक कार्रवाइयों और युद्धोत्तरकालीन सहयोग से संबंधित एक घोषणापत्र भी स्वीकार किया, जिसने महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका निभायी। इस प्रकार तेहरान में – और बाद के अन्य सम्मेलनों में भी – विशेषतः सोवियत प्रतिनिधिमंडल के अथक प्रयासों की बदौलत फ़ासिस्ट गुट के विरुद्ध युद्ध से संबंधित प्रश्नों और युद्धोत्तर काल से संबंधित कतिपय प्रश्नों पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गये।

लाल सेना की निर्णायक विजयें। यूरोप में दूसरा मोर्चा

लाल सेना के लिए १९४४ का वर्ष जर्मनी और उसके अनुचर राज्यों की सेनाओं पर निर्णायक विजयें पाने का वर्ष था। जनवरी-फ़रवरी में सोवियत सैनिकों ने शत्रु के उत्तरी सैन्य ग्रुप को ज़बर्दस्त मातें दीं और वीर नगर लेनिनग्राद को उसकी ९०० दिन लंबी नाकेबंदी से मुक्त करवा लिया। लगभग उसी समय उक्रइना में कोरसुन-शेव्चेंकोव्स्की के इलाक़े में शत्रु की दस से ज़्यादा डिविजनों के जमाव को घेर लिया गया और आत्मसमर्पण से इन्कार करने पर सभी को नष्ट कर दिया गया या बंदी बना लिया गया। फ़रवरी, मार्च और अप्रैल में शत्रु के दक्षिणी सैन्य ग्रुप का भी सफ़ाया करके लाल सेना ने द्नेप्र से पश्चिम के उक्रइनी क्षेत्र को मुक्त कर लिया और चेकोस्लोवाक

तथा रूमानियाई सीमा पार करके शत्रु का पीछा करते हुए अन्य जर्मन-अधिकृत देशों को मुक्त करने के अभियान में जुट गयी। अप्रैल में क्रीमिया पर सोवियत सैनिकों का अधिकार हो गया। लाल सेना के शीत और वसंतकालीन अभियानों के दौरान १७५ शत्रु डिविजनों को पराजित किया गया और १०,००,००० से अधिक अफ़सरों तथा सैनिकों को हताहत या बंदी बनाया गया।

लाल सेना की उत्तरोत्तर बढ़ती प्रहार शक्ति से स्पष्ट हो गया था कि वह अकेले भी नाज़ी जर्मनी को कुचलने और फ़ासिस्टों द्वारा क़ब्ज़े में लिये गये देशों को मुक्ति दिलाने के अपने उदात्त मिशन को पूरा करने में समर्थ है। ऐसी परिस्थिति में ब्रिटिश और अमरीकी इजारेदारियों के लिए दूसरा मोर्चा खोलने के प्रश्न पर टालमटोल करना फ़ायदेमंद न रह गया। फलस्वरूप ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका ने ६ जून को फ़्रांस के उत्तरी तटक्षेत्र में अपने सैनिक उतारने शुरू कर दिये। किंतु इस युद्धक्षेत्र में जल, स्थल और नभ में शत्रु से कहीं अधिक शक्तिशाली होने के बावजूद उत्तरी फ़्रांस में वे बहुत ही मंद गति से और रुक-रुककर आगे बढ़े। १५ अगस्त को ब्रिटिश और अमरीकी सैनिक दक्षिणी फ़्रांस में भी उतारे गये, जहां से वे उत्तर की ओर बढ़ने लगे। इस बीच प्रतिरोध आंदोलन के आह्वान पर फ़्रांसीसी जनता ने भी क़ब्ज़ावरों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया था और एक-एक करके अपने नगरों को मुक्त करने लगी थी। १८ अगस्त को फ़्रांसीसी देशभक्तों ने पेरिस स्थित जर्मन गैरीज़न पर धावा बोल दिया। २५ अगस्त को मित्रराष्ट्र सेनाओं के पेरिस में प्रवेश करने तक फ़्रांसीसी राजधानी पर देशभक्तों का क़ब्ज़ा हो चुका था।

यूरोप में दूसरा मोर्चा खुल जाने के बाद भी दूसरे महायुद्ध की निर्णायक लड़ाइयां सोवियत-जर्मन मोर्चे पर ही लड़ी गयीं। जर्मन कमान ने अब भी अपनी अधिकांश सेनाएं इसी मोर्चे पर संकेंद्रित की हुई थीं।

सोवियत धरती से क़ब्ज़ावरों का पूर्ण निष्कासन। फ़ासिस्ट गुट का विखंडन

१९४४ के ग्रीष्म और शरद में लाल सेना ने शत्रु पर और भी भीषण प्रहार किये। जून-जुलाई में उसने शत्रु के शक्तिशाली केंद्रीय सैन्य ग्रुप को, जिसमें १०,००,००० से अधिक सैनिक थे, घेरे में लेकर विनष्ट कर डाला और बेलोरूस को आज़ाद कर लिया। यह महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के काल की एक सबसे विशाल सामरिक कार्रवाई थी। १९४४ के उत्तरार्ध में जर्मन

सेना के उत्तरी बाजू – बाल्टिक क्षेत्र में स्थित सैन्य ग्रुप – को कुचल दिया गया। इसके साथ ही उत्तरी उक्रइना और दक्षिणी उक्रइना में स्थित कोई ६० शत्रु डिविजनों का सफ़ाया हुआ जिससे जर्मन सेना का दक्षिणी बाज़ू भी ढह गया।

सोवियत सेनाओं की १६४४ की सफल कार्रवाइयों से नाज़ी सैन्य शक्ति की रीढ़ ही टूट गयी और फिर वह कभी नहीं संभल पायी। इन कार्रवाइयों के दौरान फ़ासिस्ट क़ब्ज़ावरों की १८३ डिविजनें नष्ट की गयीं और २६,००,००० के क़रीब अफ़सर और सिपाही मारे गये। फ़ासिस्टों को उस सारे सोवियत क्षेत्र से खदेड़ दिया गया, जिसपर कुछ समय के लिए उनका क़ब्ज़ा हो गया था, और उत्तर में बारेंट सागर से लेकर दक्षिण में काला सागर और डेन्यूब तक सोवियत संघ की पुरानी राज्य सीमा फिर बहाल हो गयी।

लाल सेना ने जर्मनी के पिछलग्गू देशों की सशस्त्र सेनाओं को भी तहस-नहस कर डाला, जिससे मुजरिमाना धुरी गुट का विघटन अवश्यंभावी बन गया। लड़ाई में लाखों लोगों की मौत, मेहनतकशों को पहुंची अपार तकलीफ़ें और मुसीबतें और युद्ध के अनौचित्य तथा निरर्थकता का अहसास – इन सब बातों ने फ़ासिस्ट गुट के देशों की जनता पर ज़बर्दस्त असर डाला। आम लोगों में युद्धविरोधी भावनाएं बढ़ीं और उन प्रतिक्रियावादी शासक गिरोहों का उन्मूलन करने की इच्छा पैदा हुई, जिन्होंने हिटलर के आदेश पर अपने देशों को विश्वयुद्ध की आग में झोंक दिया था।

जब मार्शल र० या० मलीनोव्स्की की दूसरे उक्रइनी मोर्चे और मार्शल फ़० इ० तोल्बूख़िन की तीसरे उक्रइनी मोर्चे की सेनाओं ने किशिनेव तथा यास्सी के निकट शत्रु की डिविजनों को धराशायी कर दिया, तो रूमानियाई देशभक्तों ने भी सशस्त्र विद्रोह करके २३ अगस्त, १६४४ को तानाशाह अंतोनेस्कू का तख़्ता उलट डाला। एक नयी सरकार बनायी गयी, जिसने मित्रराष्ट्रों के साथ युद्धविराम संधि पर हस्ताक्षर किये और जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा की।

बुल्गारिया के शासक हल्क़ों ने चूंकि सारे युद्ध में हिटलर का सक्रिय साथ दिया था, इसलिए सोवियत सरकार ने ५ सितंबर, १६४४ को सोवियत संघ तथा बुल्गारिया के बीच युद्ध-स्थिति की घोषणा कर दी। सोवियत सेनाएं सीमा पार करके बुल्गारिया में घुस गयीं। ६ सितंबर को कम्युनिस्टों के नेतृत्व में बुल्गारियाई देशभक्त मोर्चे ने प्रतिक्रियावादी शासक गिरोह के ख़िलाफ़ आम बग़ावत का झंडा बुलंद कर दिया और देशभक्त मोर्चा सरकार की स्थापना की। उसने भी मित्रराष्ट्रों के साथ युद्धविराम संधि संपन्न करके जर्मनी से युद्ध की घोषणा कर दी।

सितंबर, १९४४ में फ़िनलैंड ने भी फ़ासिस्ट गुट से नाता तोड़ लिया। अक्तूबर, १९४४ में लाल सेना जर्मनों का पीछा करते हुए हंगरी में घुस आयी और हंगेरियाई व फ़ासिस्ट फ़ौजों के प्रबल प्रतिरोध को कुचलते हुए बुडापेस्ट की ओर बढ़ने लगी। दिसंबर, १९४४ में देब्रेसेन में एक अस्थायी हंगेरियाई सरकार की स्थापना हुई, जिसने हिटलरविरोधी गठबंधन से युद्ध-विराम संधि संपन्न की और जर्मनी के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान किया। यूगोस्लाविया में भी सोवियत सेनाओं ने नाज़ियों को निकाल बाहर करने में योसेफ़ ब्रोज़ टीटो की लोक मुक्ति सेना की मूल्यवान सहायता की।

पूर्वी यूरोप के देशों को नाज़ी क़ब्ज़ावरों और उनके स्थानीय दलालों से मुक्त करते हुए सोवियत संघ ने अपनी राज्य प्रणाली स्वयं चुनने के इन देशों की जनता के अधिकार में कोई दख़ल नहीं दिया। मुक्त देशों के आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप की नीति बरतते हुए सोवियत संघ ने इसका भी पूरा-पूरा ख़्याल रखा कि दूसरे देश, विशेषतः ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका, भी उनकी सर्वसत्ता तथा स्वतंत्रता का उल्लंघन न कर पायें। इस प्रकार ब्रिटिश तथा अमरीकी साम्राज्यवादियों को पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी यूरोप के देशों पर प्रतिक्रियावादी बूर्जुआ-ज़मींदार सरकारें थोपने के अवसरों से, इन देशों में बुनियादी जनवादी और फिर समाजवादी सुधार लागू किये जाने में अड़ंगे डालने के मौक़ों से वंचित कर दिया गया।

सोवियत सेनाओं की निर्णायक विजयों के फलस्वरूप जर्मनी यूरोप में अपने सभी सहयोगी खो बैठा और बिल्कुल अकेला पड़ गया। दो मोर्चों के बीच फंसी उसकी सेना अब केवल प्रतिरक्षात्मक लड़ाइयां ही लड़ सकती थी।

लाल सेना द्वारा पोलैंड, आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया की मुक्ति

यूरोप में युद्ध अब अपने अंतिम चरण में प्रवेश कर चुका था। किंतु पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया और आस्ट्रिया को मुक्त करना और शत्रु को स्वयं उसकी धरती पर कुचलना अभी बाक़ी था। यह आसान काम न था। इसके लिए शत्रु की पिछले कई वर्षों में निर्मित प्रबल रक्षा प्रणालियों को ध्वस्त करना आवश्यक था। अपना सर्वनाश निकट आया जानकर फ़ासिस्ट निराशोन्मत्तों की भांति लड़े। मोर्चे पर और चंडावल में लाखों लोगों को निरर्थक प्रतिरोध के लिए मजबूर करने के वास्ते उन्होंने आतंक, झूठे प्रचार, आदि सभी तरह के हथकंडे अपनाये। जर्मनी के पास अभी भी काफ़ी शक्ति बची हुई थी।

दिसंबर, १९४४ के अंत में जर्मन सेना ने पश्चिमी मोर्चे पर धावा वोल दिया और आर्देनेस के इलाक़े में आंग्ल-अमरीकी मोर्चे को भेदने में सफल भी हो गयी। योजना यह थी कि एंटवर्प पहुंचकर मित्रराष्ट्रों की मुख्य फ़ौजों को घेर लिया जाये, ब्रिटेन को लड़ाई से हाथ खींच लेने को वाध्य कर दिया जाये और उसे तथा संयुक्त राज्य अमरीका को पृथक् शांति संधि के लिए सहमत कर लिया जाये। आंग्ल-अमरीकी फ़ौजों को पराजय के कगार पर खड़ा देख ६ जनवरी, १९४५ को ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल ने सोवियत सरकार से पूर्वी मोर्चे पर तुरंत एक बड़ा सोवियत आक्रमण अभियान शुरू करने का अनुरोध किया, ताकि पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनों का दवाव घट सके।

मित्रराष्ट्रों की सहायता के लिए लाल सेना ने १२ जनवरी को बाल्टिक सागर से लेकर कार्पेथिया पहाड़ों तक सारे मोर्चे पर एक वृहद् धावा बोल दिया, यद्यपि उसकी योजना इसे २० जनवरी को शुरू करने की थी। फलस्वरूप १२ जनवरी को ही जर्मन उच्च कमान को ब्रिटिश तथा अमरीकी फ़ौजों पर अपना आक्रमण रोक देना पड़ा। पश्चिम पर नये आक्रमण के लिए जो रिज़र्व तैयार रखे गये थे, उन्हें भी सोवियत मोर्चे पर भेज दिया गया।

सोवियत सेना ने जर्मनों पर बहुत ही ज़बर्दस्त धावा बोला था। उनकी कोई १२०० किलोमीटर लंबी शक्तिशाली रक्षा प्रणाली ध्वस्त कर दी गयी। मार्शल इ० स० कोनेव के पहले उक्रइनी मोर्चे के सैनिकों ने एक ही हमले में सिलेशिया को आज़ाद कर लिया और ओडर नदी के पार पहुंच गये। फ़रवरी के अंत तक वे नीस के तट तक पहुंच चुके थे। १७ फ़रवरी तक मार्शल ग० क० जूकोव की कमान में स्थित पहले वेलारूसी मोर्चे की सेनाओं ने प्रथम पोलिश वाहिनी के कंधे से कंधा मिलाकर लड़ते हुए वारसा से जर्मनों को खदेड़ दिया और फिर तेज़ी से पश्चिम की ओर बढ़ते हुए ओडर के पश्चिमी तट पर पहुंचकर वहां क्यूस्त्रिन के इलाक़े में, जो जर्मन राजधानी से साठ ही किलोमीटर दूर था, बर्लिन पर हमले के लिए मोर्चा वना लिया।

इधर मार्शल क० क० रोकोस्सोव्स्की तथा जनरल इ० द० चेर्न्याख़ोव्स्की (लड़ाई में उसकी मृत्यु के वाद मार्शल अ० म० वसिल्येव्स्की) की कमान में दूसरे और तीसरे वेलोरूसी मोर्चों की सेनाओं ने भी १९४५ के आरंभ में जर्मनों के पूर्वी प्रशा सैन्य ग्रुप को, जिसमें ३८ डिविजनें थीं, घेर लिया और नष्ट कर डाला। ९ अप्रैल को सोवियत सैनिकों ने कोनिग्ज़वर्ग (वर्तमान कालीनिनग्राद) पर क़ब्ज़ा कर लिया। जनरल अ० इ० येर्योमेंको की चौथे उक्रइनी मोर्चे की सेनाओं ने लगातार आगे वढ़कर चेकोस्लोवाकिया

को आज़ाद करवा लिया। मार्च-अप्रैल, १९४५ में सोवियत सैनिकों ने आस्ट्रिया में जर्मन प्रतिरोध को कुचलकर १३ अप्रैल को वियेना को भी मुक्ति दिला दी।

फ़रवरी के अंत तक पश्चिम में आंग्ल-अमरीकी सेनाओं ने पुनः आगे बढ़ना आरंभ कर दिया था।

याल्ता सम्मेलन और उसके निर्णय

युद्ध से संबंधित अंतिम कार्रवाइयों के समन्वयन और कतिपय महत्त्वपूर्ण युद्धोत्तरीय प्रश्नों पर विचार-विमर्श के लिए फ़रवरी, १९४५ में याल्ता (क्रीमिया) में सोवियत, अमरीकी और ब्रिटिश सरकारों के प्रमुखों का दूसरा सम्मेलन हुआ। उसमें जर्मनी को पूरी तरह पराजित करने तथा उससे बिलाशर्त आत्मसमर्पण करवाने की योजना बनायी गयी। सोवियत संघ ने जर्मनी के सैनिक व आर्थिक निरस्त्रीकरण का एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। नाज़ी जर्मनी को पराजित करने में सोवियत संघ के निर्णायक योगदान और उसकी बढ़ती अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की उपेक्षा न कर पाने के कारण संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन के शासनाध्यक्षों को यह कार्यक्रम स्वीकार कर लेना पड़ा। उसके अनुसार जर्मन सैन्यवाद और फ़ासिज़्म का पूर्ण ख़ात्मा और इस बात की गारंटी की जानी थी कि जर्मनी फिर कभी युद्ध न छेड़ सके।

याल्ता सम्मेलन ने जो दूसरा महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ स्वीकार किया, वह था 'मुक्तिप्राप्त यूरोप विषयक घोषणापत्र', जिसके अनुसार तीनों महाशक्तियों ने उत्तरदायित्व लिया कि वे नाज़ी तानाशाही से आज़ाद हुए देशों को जनवादी शासनों की स्थापना में सहयोग देंगे और साथ ही उन्हें आर्थिक सहायता भी प्रदान करेंगे।

सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना का निर्णय किया गया। संयुक्त राष्ट्र को जिन महान और उदात्त लक्ष्यों के लिए काम करना था, वे थे: शांति तथा राष्ट्रों की सुरक्षा बनाये रखना, राज्यों के परस्पर विवादों को केवल शांतिमय तरीक़ों से हल करना, आक्रामक कार्रवाइयां न होने देना और राष्ट्रों के बीच मैत्री, परस्पर समझ तथा सहयोग का संवर्धन करना। संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र का मसविदा तैयार करने में सोवियत राजनयज्ञों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी और उनकी दृढ़ता तथा अडिगता की बदौलत उसमें कई महत्त्वपूर्ण प्रगतिशील बातें शामिल की गयी थीं। संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र राष्ट्रों के बीच, चाहे उनकी सामाजिक व राजनीतिक प्रणालियां कैसी भी क्यों न हों, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व तथा सहयोग के सिद्धांतों पर आधारित था।



उत्तरी फ़्रांस में आंग्ल-अमरीकी फ़ौजों का उतरना (६ जून, १९४४)

संयुक्त राष्ट्र संघ की संरचना के प्रश्न को अंतिम औपचारिक रूप अप्रैल, १९४५ में सान-फ़्रांसिस्को सम्मेलन में दिया गया। ऐसे संगठन की स्थापना अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की दृष्टि से एक बहुत बड़ी घटना थी और युद्ध से घृणा तथा स्थायी शांति की कामना करनेवाले सभी जनों की आकांक्षाओं से पूरी तरह मेल खाती थी। फिर भी यदि उसकी गतिविधियों में ये आदर्श सदा ही प्रतिबिंबित नहीं हो पाये, तो इसका कारण १९४५ में स्वीकृत सिद्धांतों से पश्चिमी राष्ट्रों के विचलन और विश्व के राष्ट्रों पर अपनी इच्छा तथा अपने तौर-तरीक़े थोपने के उनके प्रयासों में ढूंढ़ा जाना चाहिए।

याल्ता सम्मेलन में जो एक और निर्णय लिया गया – उसके लिए अनुरोध ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका ने किया था – वह यह था कि यूरोप में युद्ध की समाप्ति के तीन महीने बाद सोवियत संघ भी जापान के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो जायेगा।

बर्लिन विजय।
जर्मनी का बिलाशर्त आत्मसमर्पण

हिटलरी जर्मनी की पूर्ण व अंतिम पराजय बर्लिन पर तीन सोवियत मोर्चों की सेनाओं के संयुक्त धावे का परिणाम थी। इस धावे की हर पहलू से पूरी-पूरी तैयारी कर ली गयी थी। उसके लिए विशाल मात्रा में सैन्य-सामग्री – ४१,६०० तोपें तथा मार्टर, ८,००० हवाई जहाज़, ६,३०० भारी टैंक, आदि जुटा लिये गये थे। बर्लिन पर चढ़ाई में भाग लेनेवाले सोवियत सैनिकों का मनोबल बहुत ऊंचा था। उन्होंने प्रण कर लिया था कि जैसे भी हो, राइख़श्ताग पर सोवियत विजय पताका फहराकर रहेंगे।

१६ अप्रैल, १९४५ की सुबह सोवियत तोपखाने ने जर्मन रक्षा-पंक्तियों पर धुआंधार गोलाबारी आरंभ कर दी। इसके साथ ही टैंकों ने भी धावा बोल दिया, जिन्हें आकाश से बमवर्षक विमानों का समर्थन मिल रहा था।



विंस्टन चर्चिल, फ़्रेंकलिन रूजवेल्ट और जोज़ेफ़ स्तालिन याल्ता (क्रीमिया) सम्मेलन में (१९४५)

बर्लिन की घेराबंदी और पतन

सोवियत सेना के हमले

शत्रु सेनाओं की घेराबंदी और पराजय

कास्ट्रिन

फ्रैंकफर्ट

ओडर नदी

नीस नदी

कोट्बस

बर्लिन

नार्वे

पेचेंगा

मूर्मांस्क

श्वेत सागर

फिनलैंड

पेत्रोज़ावोद्स्क

ओनेगा झील

हेलसिंकी

लादोगा झील

लेनिनग्राद

तालिन

नोवगोरोद

प्स्कोव

वोल्गा नदी

मास्को

रीगा

पश्चिमी द्विना नदी

स्मोलेंस्क

ब्रियांस्क

ओर्योल

कुर्स्क

मिन्स्क

वारसा

ब्रेस्त

ल्वोव

कीयेव

किशिनेव

ओदेसा

सेवास्तोपोल

काला सागर

ओस्लो

स्वीडन

स्टाकहोम

बाल्टिक सागर

उत्तरी सागर

कोपेनहेगन

कोनिग्सबर्ग

लंदन

हेग

नीदरलैंड्स

ब्रसेल्स

पेरिस

जर्मनी

पोलैंड

प्राग

चेकोस्लोवाकिया

वियेना

आस्ट्रिया

बुडापेस्ट

हंगरी

रूमानिया

बुखारेस्ट

बेलग्रेड

यूगोस्लाविया

सोफिया

डेन्यूब नदी

बुल्गारिया

तिराना

इटली

रोम

भूमध्य सागर

कोर्सिका द्वीप

सार्डीनिया द्वीप

बर्न

स्विट्ज़रलैंड

तुर्की

सोवियत सेना का निर्णायक आक्रमण: नाज़ी जर्मनी की अंतिम पराजय

यूगोस्लाविया सेना के हमले

दूसरे मोर्चे की शुरुआत: मित्रराष्ट्र सेनाओं के आक्रमण

मित्रराष्ट्र सेनाओं के मोर्चों की रेखा

फासिस्ट जर्मन सेनाओं की घेराबंदी और पराजय

यूरोप और बाल्कन में सैनिक अभियान

भीषण प्रतिरोध के बावजूद जर्मन सेनाओं की रक्षा-प्रणाली ध्वस्त कर दी गयी। २१ अप्रैल तक मोर्चा बर्लिन के उपांत तक पहुंच चुका था और २५ अप्रैल को पहले बेलोरूसी और पहले उक्रइनी मोर्चों की फ़ौजों का पोट्सडाम के इलाक़े में मिलन हो गया। इसका मतलब था कि बर्लिन स्थित शत्रु सैन्य समूह की घेराबंदी पूरी हो चुकी है।

घेरे में पड़ी हुई जर्मन सेनाओं की स्थिति निराशाजनक थी, फिर भी जर्मन कमान ने लड़ाई रोकी नहीं। हिटलर को उम्मीद थी कि शीघ्र ही अमरीकी सेनाएं पहुंच जायेंगी और उनके तथा लाल सेना के बीच टक्कर होगी। किंतु २५ अप्रैल को एल्बा के पश्चिमी तट पर टार्गव के इलाक़े में जब पहले उक्रइनी मोर्चे और पहली अमरीकी सेना की टुकड़ियों का मिलन हुआ, तो यह दो मित्र सेनाओं का ही मिलन था। जर्मन कमान ने बर्लिन के सैन्य समूह की सहायता के लिए नवगठित बारहवीं जर्मन सेना भेजी, किंतु वह भी कुछ न कर पायी। बर्लिन के दक्षिण-पूर्व में जर्मनों के ६०,००० सैनिक मारे गये और १,२०,००० बंदी बनाये गये।

स्वयं बर्लिन में जर्मनों ने सब कुछ दांव पर लगा दिया था। सोवियत सैनिकों को हर मुहल्ले, हर घर को लड़कर लेना पड़ा। राइख़श्ताग की इमारत पर क़ब्ज़े के लिए तो बहुत ही भीषण लड़ाई हुई। अंततः ३० अप्रैल की रात को सार्जेंट म० येगोरोव और म० कंतारिया राइख़श्ताग पर विजय पताका फहराने में सफल हो ही गये। २ मई को बर्लिन गैरीज़न ने हथियार डाल दिये। हिटलर और गोएबेल्स ने आत्महत्या कर ली थी। ३,००,००० से अधिक जर्मन अफ़सरों और सैनिकों ने सोवियत सैनिकों के समक्ष आत्मसमर्पण किया।

८ मई की रात को जर्मन उच्च कमान के प्रतिनिधियों ने जर्मनी की ओर से बिलाशर्त आत्मसमर्पण प्रपत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके उपरांत बाल्टिक क्षेत्र, डेनज़िग के पूर्व और अन्य इलाक़ों में घिरे हुए जर्मन सैनिक भी हथियार डालने लगे। किंतु चेकोस्लोवाकिया और आस्ट्रिया के क्षेत्र में जनरल शोएर्नर की कमान में स्थित एक बड़े सैन्य समूह ने हथियार फिर भी नहीं डाले। इसके विरुद्ध तुरंत निर्णायक कार्रवाई किये जाने और चेकोस्लोवाक देशभक्तों को, जिन्होंने ५ मई को जर्मन क़ब्ज़ावरों के विरुद्ध बग़ावत कर दी थी, मदद दिये जाने की ज़रूरत थी। पहले उक्रइनी मोर्चे की तीसरी और चौथी गार्ड्स टैंक सेनाओं ने, जिनके कमांडर क्रमशः जनरल प० स० रिबाल्को और द० द० लेल्यूशेंको थे, तेज़ी से प्राग की ओर कूच कर दिया। ९ मई की सुबह सोवियत टैंकों ने प्राग में प्रवेश किया। उनके पीछे-पीछे मोटराइज़्ड पैदल दस्ते भी आ रहे थे। १० बजे तक पूरा नगर सोवियत सैनिकों के हाथों में आ गया और उसे विनाश से बचा लिया गया। प्राग-वासियों ने बड़े हर्षोल्लास के साथ अपने मुक्तिदाताओं का स्वागत किया। उसी



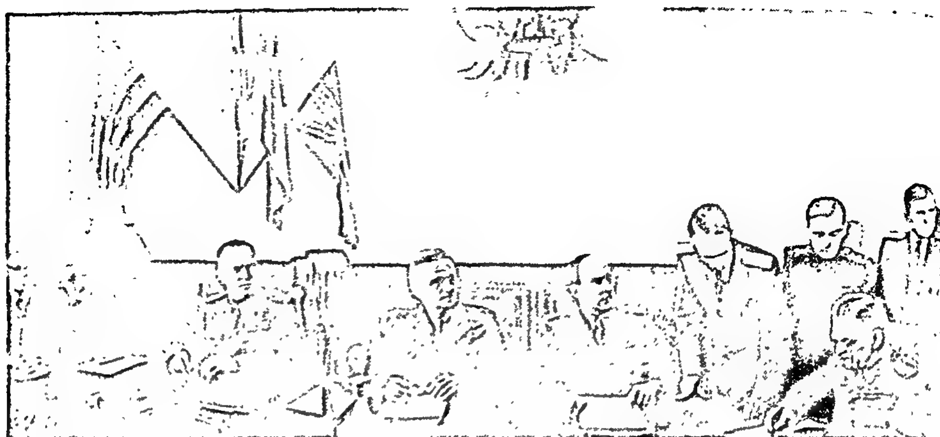
आत्मसमर्पण करनेवाली हिटलरी सेना की अंतिम टुकड़ियां (मई, १९४५)

रोज़ पहले और दूसरे उक्रइनी मोर्चों की सचल टुकड़ियां प्राग से ३५ किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में एक दूसरे से मिल गयीं और शोएर्नर का सारा सैन्य समूह, जिसमें ६० डिविजनें यानी कोई १०,००,००० सैनिक थे, घेरे में ले लिया गया। जनरल शोएर्नर को आत्मसमर्पण कर देना पड़ा।

सोवियत-जर्मन मोर्चे पर जर्मनी की कुल मिलाकर ५०६ डिविजनों और उसके पिछलग्गू राज्यों की कम से कम १०० डिविजनों को ध्वस्त किया गया था। सोवियत संघ के विरुद्ध युद्ध में जर्मनी को हताहतों के रूप में अपने १,००,००,००० आदमी गंवाने पड़े, जो दूसरे महायुद्ध में हुई उसकी कुल जनक्षति का ७३.५ प्रतिशत था। लाल सेना ने शत्रु के कोई ७७,००० विमान, ४८,००० टैंक और १,६७,००० तोपें भी नष्ट कीं।

पोट्सडास सम्मेलन

पराजित नाज़ी राइख की सर्वोच्च सत्ता अब मित्रराष्ट्र शक्तियों – सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस – के हाथों में आ गयी। जर्मनी का सोवियत, अमरीकी, ब्रिटिश और फ़्रांसीसी, इन चार अध्यासित क्षेत्रों (ज़ोन्स ऑफ़ ऑक्यूपेशन) में वंटवारा किया गया। अपनी सद्भावना और सहयोग की आकांक्षा का प्रदर्शन करने के लिए सोवियत संघ वर्लिन को



हिटलरी जर्मनी द्वारा बिलाशर्त आत्मसमर्पण के प्रपत्र पर हस्ताक्षर। बायें से दायें : चीफ़ एयर मार्शल ए० टेड्डेर, सोवियत मार्शल ग० क० ज़ूकोव, जनरल कै० स्पाट्ज़, जनरल द लात्र द तस्सीन्ये और फ़ील्डमार्शल-जनरल कैतेल (८ मई, १९४५)

भी चार भागों में बांटने और उन्हें अध्यासी शक्तियों के प्रतिनिधि सैनिक अधिकारियों के सुपुर्द करने को सहमत हो गया, यद्यपि वह सोवियत अध्यासित क्षेत्र के अंदर आता था।

१७ जुलाई, १९४५ को बर्लिन के निकट पोट्सडाम में सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन के शासनाध्यक्षों का सम्मेलन आरंभ हुआ, जो २ अगस्त तक चला। उसने जर्मनी के संबंध में मित्रराष्ट्र शक्तियों के निम्न मुख्य लक्ष्यों की घोषणा की: विसैन्यीकरण, विनाज़ीकरण और जनवादीकरण। एक महत्त्वपूर्ण निर्णय यह था कि अस्थायी क़ब्ज़े और चार क्षेत्रों में विभाजन के बावजूद जर्मनी को एक ही राजनीतिक व आर्थिक इकाई माना जायेगा और चारों क्षेत्रों की आबादी के संबंध में एक ही प्रकार की नीति बरती जायेगी। प्रमुख जर्मन युद्धापराधियों पर मुक़दमा चलाने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय सैन्य न्यायाधिकरण स्थापित किया गया।

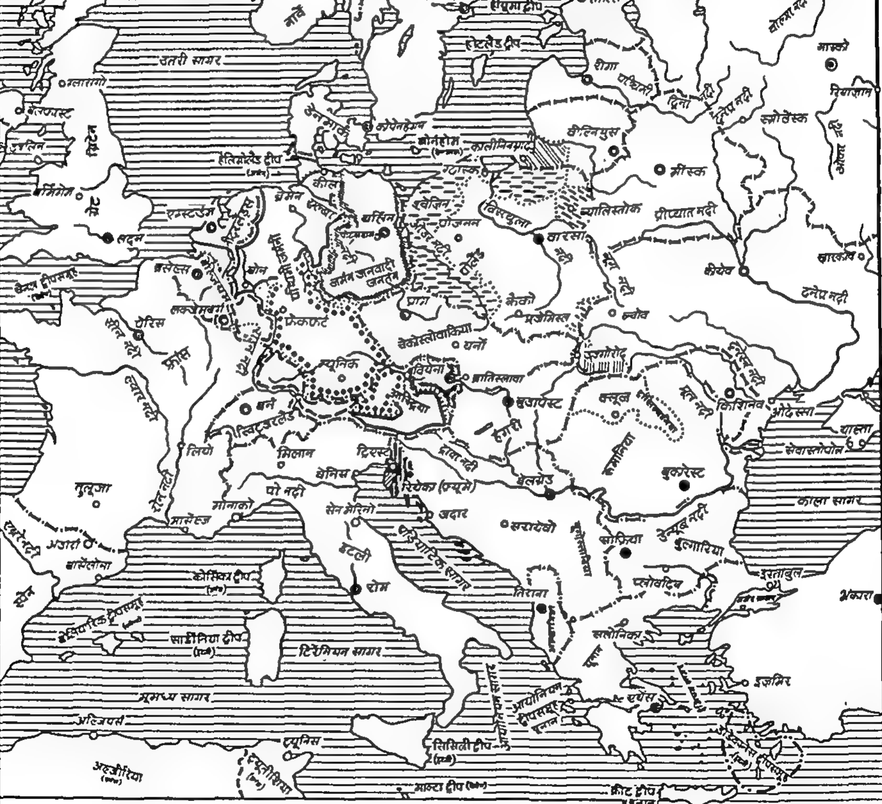
चारों भूतपूर्व मित्रराष्ट्रों के विदेशमंत्रियों की एक परिषद को जर्मनी तथा उसके भूतपूर्व सहयोगी राज्यों के साथ की जानेवाली शांति संधियों के प्रारूप तैयार करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। सम्मेलन ने निर्णय किया कि क्षेत्रीय प्रश्नों का अंतिम समाधान कैसे भी क्यों न हो, पूर्वी प्रशा का एक भाग, जिसमें कोनिग्ज़बर्ग भी शामिल था, सोवियत संघ को और शेष पोलैंड को हस्तांतरित कर दिया जायेगा। ओडर और नीस नदियों को पोलैंड की पश्चिमी सीमा माना गया।

पोट्सडाम सम्मेलन के निर्णयों का बहुत बड़ा अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व था। सारे विश्व ने स्थायी शांति की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान और बड़ी शक्तियों के बीच सहयोग की संभावना के ठोस प्रमाण के रूप में उनका स्वागत किया। यह समझ पाने के लिए कि संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन के शासक हल्के अपनी योजनाओं और लक्ष्यों के काफ़ी हद तक विरुद्ध जानेवाले समझौते करने को क्यों सहमत हुए, यह जानना ज़रूरी है कि पोट्सडाम सम्मेलन किस वातावरण में हुआ था। विश्वभर में फ़ासिज़्मविरोधी भावनाएं अपनी पराकाष्ठा पर थीं। फ़ासिज़्म ने लाखों-करोड़ों लोगों को जो घाव पहुंचाये थे, वे अभी ताज़ा थे और सभी इस बारे में एकमत थे कि फ़ासिज़्म के ख़तरे का सदा-सदा के लिए जड़ोच्छेदन कर दिया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात थी, ब्रिटिश तथा अमरीकी बूर्जुआज़ी के घोर प्रतिक्रियावादी हल्कों की सभी कोशिशों के बावजूद युद्ध ने सोवियत संघ को निःशक्त नहीं बना दिया था। ब्रिटिश तथा अमरीकी शासक हल्कों को सोवियत संघ की सैन्य शक्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी बढ़ी हुई प्रतिष्ठा को ध्यान में रखना ही पड़ा।

१९४३-१९४५ में सुदूर पूर्व में सामरिक कार्रवाइयां। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति

युद्धरत गठबंधनों के शक्ति-संतुलन में आये परिवर्तन से प्रशांत क्षेत्रीय युद्ध-प्रांगण में भी स्थिति बदल गयी थी। १९४३ से अमरीकी तथा ब्रिटिश बेड़ों ने यहां और उनकी स्थल सेनाओं ने एशिया महाद्वीप पर प्रत्याक्रमण शुरू कर दिये थे। इस बीच जापान अधिकृत देशों की जनता का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन भी ज़ोर पकड़ता जा रहा था। वियतनाम, बर्मा, इंडोनेशिया, कोरिया और फ़िलीपीन की देशभक्त शक्तियां अपनी स्वाधीनता के लिए सशस्त्र संघर्ष कर रही थीं। चीन में भी मुक्त क्षेत्रों का उत्तरोत्तर विस्तार और सुदृढ़ीकरण हो रहा था।

१९४४ के अभियानों में मित्रराष्ट्र सेनाओं ने प्रशांत महासागर में मैरियन और मार्शल द्वीपसमूहों पर अधिकार कर लिया और फ़िलीपीन के लिए लड़ाई शुरू कर दी। दूसरे महायुद्ध की एक सबसे बड़ी समुद्री लड़ाई फ़िलीपीन के लीते द्वीप के समीप अक्तूबर, १९४४ में लड़ी गयी, जिसका अंत जापानी नौसेना की घोर पराजय में हुआ। उसे तीन रणपोतों, चार विमानवाहक पोतों, दस क्रूज़रों, नौ विध्वंसकों और कई अन्य जहाज़ों से हाथ धोना पड़ा। मित्रराष्ट्र सेनाओं को बर्मा में भी सफलता मिली और



मूर्मांस्क
स्वीडन
फ़िनलैंड
ओनेगा झील
लादोगा झील
हेलसिंकी
ओस्लो
स्टाकहोम
तालिन
लेनिनग्राद
उत्तरी सागर
रीगा
मास्को
ब्रिटेन
कोपेनहेगन
विल्नियुस
मीन्स्क
बर्लिन
वारसा
जर्मन जनवादी जनतंत्र
प्राग
क्राको
कीयेव
पेरिस
फ्रांस
म्यूनिख
वियेना
ब्रातिस्लावा
बुडापेस्ट
चेकोस्लोवाकिया
बर्न
स्विट्ज़रलैंड
मिलान
त्रियस्त
बुखारेस्ट
बेलग्रेड
काला सागर
तूलूज़ा
मोनाको
रोम
इटली
सोफ़िया
बुल्गारिया
तिराना
सालोनिका
इस्तांबुल
अंकारा
सार्डीनिया द्वीप
टिरेनियन सागर
भूमध्य सागर
अल्जीरिया
ट्यूनिस
सिसिली द्वीप
माल्टा द्वीप
एथेंस
इज़मिर
क्रीट द्वीप

१९४४ के अंत तक जापानियों को उत्तरी बर्मा से पूरी तरह और मध्य बर्मा से आंशिकत: खदेड़ दिया गया। जापानी इस प्रकार तेल और रबड़ के महत्त्वपूर्ण स्रोतों से वंचित हो गये। कुल मिलाकर यहां स्थिति आंग्ल-अमरीकी सेनाओं के पक्ष में थी, जिन्होंने दक्षिणी चीन सागर तथा दक्षिणी द्वीपसमूहों को अपनी सामरिक कार्रवाइयों का मुख्य निशाना बना लिया था।

किंतु सुदूर पूर्व और दक्षिण-पूर्वी एशिया में हालत फिर भी काफ़ी जटिल बनी रही। जापान को यद्यपि ऐसे कई इलाक़ों से खदेड़ दिया गया था, जो उसके अधिकार में थे, तथापि उसके पास अभी काफ़ी प्रबल सैन्य शक्ति थी। स्थल सेनाओं ने तो अभी संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन से युद्ध में सक्रिय भाग लिया ही नहीं था। इन सेनाओं में, जिनका नाभिक चुनिंदा क्वांगतुंग सेना थी, कुल मिलाकर ५०,००,००० से अधिक सैनिक थे। वे १९४४ के चीन अभियान में अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर चुकी थीं, जब उन्होंने कुछ ही महीनों में कई सौ किलोमीटर अंदर तक तटवर्ती क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था और फिर दक्षिण-पश्चिमी प्रांतों में घुसकर हिंदचीन में युद्धरत अन्य जापानी सेनाओं से जा मिली थीं।

अपेक्षया कम समय में ही जापान को हरा पाने की अपनी क्षमता में विश्वास न होने के कारण ब्रिटिश और अमरीकी सरकारों ने सोवियत संघ से भी जापान के विरुद्ध युद्ध में शामिल होने का आग्रह किया। फलस्वरूप, याल्ता में लिये गये दायित्व को पूरा करते हुए ९ अगस्त, १९४५ को सोवियत संघ ने जापान से युद्ध की घोषणा कर दी। मंगोलियाई लोक जनतंत्र की सरकार ने भी सोवियत संघ का अनुसरण किया। मंगोल सैनिकों के साथ एक व्यापक मोर्चे पर हमला करके सोवियत सेना ने शत्रु की रक्षा-पंक्तियों को भेद दिया और क्वांगतुंग सेना को हथियार डालने पर मजबूर कर दिया। शीघ्र ही उत्तर-पूर्वी चीन, उत्तरी कोरिया, दक्षिण सखालीन और क्युरील द्वीप-समूह पर भी ज़ापानियों के बचे-खुचे प्रतिरोध को कुचल डाला गया।

२ सितंबर, १९४५ को टोकियो खाड़ी में अमरीकी रणपोत 'मिसूरी' पर अंतिम धुरी राष्ट्र जापान ने भी बिलाशर्त आत्मसमर्पण के प्रपत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके साथ ही दूसरा महायुद्ध समाप्त हो गया।

६ और ९ अगस्त को, यानी जापान के आत्मसमर्पण से कोई साढ़े तीन-चार हफ़्ते पहले राष्ट्रपति हैरी ट्रूमैन के आदेश पर अमरीकी विमानों ने जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर परमाणु बम फेंके थे, जिससे दोनों ही नगर राख के ढेर बन गये थे और असंख्य लोगों की जान गयी थी। जापान के विरुद्ध परमाणु अस्त्र का उपयोग सैनिक दृष्टि से कतई भी आवश्यक न था। इस नृशंसतापूर्ण निरर्थक कार्रवाई का, जो एक ऐसे समय की गयी थी, जब जापान का भाग्य लगभग पूरी तरह तय हो चुका



सोवियत सैनिक मंचूरिया में महा-हिंगान पर्वत पार करते हुए (अगस्त, १९४५)

था, उद्देश्य प्रशांत क्षेत्र में युद्ध के अंत को समीप लाना नहीं, वरन कुछ और ही था, यानी यह कि विश्व की जनता और सबसे पहले सोवियत संघ की जनता भयभीत हो जाये और संयुक्त राज्य अमरीका की चौधराहट को, युद्धोत्तर विश्व में अमरीकी साम्राज्यवादियों की "नेतागिरी" को कभी चुनौती न दे सके। किंतु, जैसा कि बाद की घटनाओं ने दिखाया, अमरीकी परमाणविक रणनीतिज्ञों की इन आशाओं को कभी साकार नहीं बनना था।

दूसरे महायुद्ध के दौरान पूंजीवादी प्रणाली को गंभीर क्षति उठानी पड़ी थी। इस प्रकार उसके आम संकट का दूसरा चरण आरंभ हुआ और विश्व पूंजीवादी प्रणाली की स्थिति उत्तरोत्तर कमजोर बनती गयी।

सातवां अध्याय

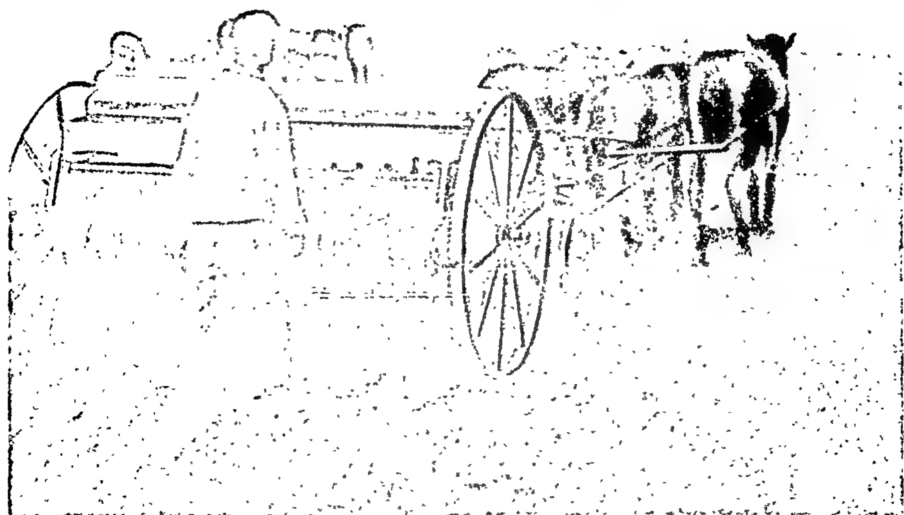
युद्धोत्तरकालीन सोवियत संघ।
सोवियत देश में
कम्युनिज़्म का निर्माण

शांतिमय सृजन का पुनरारंभ

महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध समाप्त हो चुका था। शांति पुनः स्थापित हो गयी थी। सोवियत जनता शांतिमय सृजन में, जिसमें युद्ध के कारण व्यवधान पड़ गया था, अब फिर पूर्ववत् उत्साह से जुट सकती थी।

युद्ध और नाज़ी क़ब्ज़े ने सोवियत संघ को अनिर्वचनीय क्षति पहुंचायी थी। २,००,००,००० से अधिक सोवियत लोग असमय कालकवलित हो गये थे। फ़ासिस्टों ने १,७१० नगरों को लूटकर खंडहर बना दिया था, ७०,००० से अधिक गांव और बस्तियां ख़ाक में मिला दी थीं और कोई ३२,००० औद्योगिक उद्यमों को ध्वस्त कर डाला था। उन्होंने जो धातुकर्म कारख़ाने नष्ट किये थे, वे युद्ध से पहले देश का ७० प्रतिशत से अधिक इस्पात तैयार करते थे और जिन खानों में पानी भर दिया था, वे कुल राष्ट्रीय कोयला उत्पादन का कोई ६० प्रतिशत देती थीं। नाज़ी हमलावरों ने ४,१०० रेलवे स्टेशनों और ६५,००० किलोमीटर रेल लाइनों को उड़ा डाला था।

सोवियत कृषि को भी भयंकर नुक़सान पहुंचा था। फ़ासिस्टों ने १,८७६ राजकीय फ़ार्मों, २,८९० मशीन-ट्रैक्टर स्टेशनों और ९८,००० सामूहिक फ़ार्मों को तबाह कर डाला था। ७,१०,००,००० मवेशी मारे या चुरा लिये गये थे। इसका मतलब था कि भूतपूर्व क़ब्ज़ाग्रस्त क्षेत्रों में कृषि के समूचे माली व तकनीकी आधार का नये सिरे से निर्माण किया जाना आवश्यक था। सांस्कृतिक तथा चिकित्सा संस्थाओं और रिहायशी इमारतों को अपार क्षति पहुंचायी गयी थी। युद्ध के कारण देश को कुल मिलाकर जितना नुक़सान हुआ था, उसका कुल मूल्य २६,००,००,००,००,००० रूबल आंका गया है। इसमें सैनिक व्यय और देश के कुछ भाग पर शत्रु के क़ब्ज़े के कारण राष्ट्रीय आय में हुई अस्थायी कमी भी शामिल थीं। युद्ध ने देश का विकास कम से कम १० वर्ष के लिए रोक दिया था।



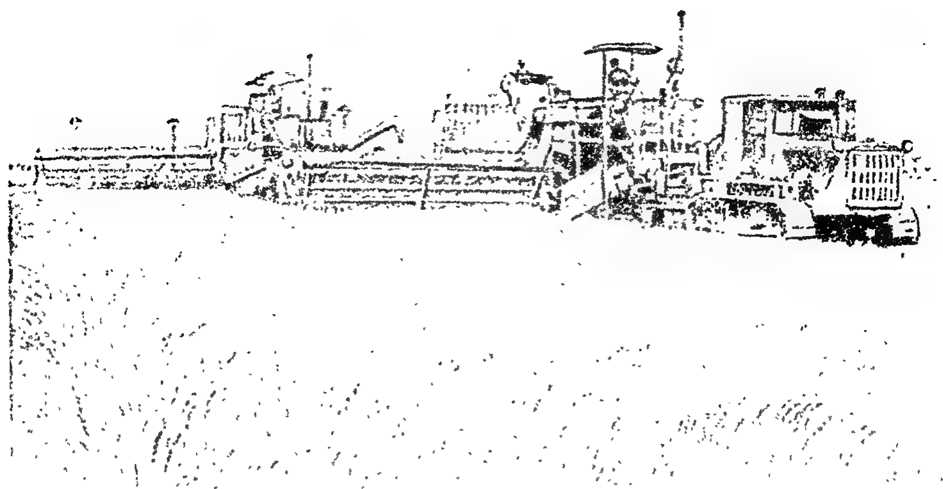
कीयेव प्रदेश के तीसरी पंचवार्षिकी सामूहिक फ़ार्म में जाड़े की फ़सल की बुवाई (१६४६)

खाद्य समस्यां विकराल बनी हुई थी। तैयार मालों का भी अभाव था। आवास समस्या अलग मुंह बाये खड़ी थी: शहरों में भी और गांवों में भी लाखों लोगों को तहखानों व झोंपड़ियों में रहना पड़ रहा था।

किंतु सोवियत जनता, जो युद्धकाल की भीषणतम परीक्षा से गुज़र चुकी थी, इन कठिनाइयों से हतोत्साह नहीं हुई और अपार जोश के साथ अपनी अर्थव्यवस्था के पुनरुद्धार तथा विकास के काम में प्रवृत्त हो गयी।

जर्मनी पर विजय के तुरंत बाद जून, १६४५ में सोवियत सरकार ने सैन्य-विघटन आरंभ कर दिया, जो मार्च, १६४८ में पूरा हुआ। सोवियत सेना में सैनिकों की संख्या अव १,१४,००,००० से घटकर २६,००,००० रह गयी, अर्थात केवल इतनी, जितनी कि देश की सुरक्षा के लिए अत्यावश्यक थी। सोवियत सरकार ने इस प्रकार समस्त मानवजाति को दिखाया कि वह वस्तुतः शांतिकामी है और किसी पर आक्रमण करने का कोई इरादा नहीं रखती।

सोवियत राज्य ने सेना से वर्खास्त किये गये लोगों के कल्याण पर विशेष ध्यान दिया और उन्हें नक़द भत्ते, रोजगार, रिहायश, ईधन, आदि



अल्मा-अता प्रदेश के एक राजकीय फ़ार्म में भूतपूर्व परती भूमि पर गेहूं की कटाई (१९५६)

मुहैया किये। शत्रु के क़ब्ज़े के दौरान जिन इलाक़ों में नुक़सान हुआ था, उनमें रिहायशी मकान बनाने के लिए इमारती लकड़ी मुक्त प्रदान की गयी और नक़द ऋण भी दिया गया।

सोवियत सरकार ने उन सोवियत लोगों की शीघ्रातिशीघ्र स्वदेश वापसी के लिए आवश्यक क़दम उठाये, जिन्हें क़ब्ज़ावर बलात् जर्मनी ले गये थे। १९४५ के अंत तक कोई ५२,००,००० लोगों को, जिनमें ६,००,००० से ज़्यादा बच्चे भी थे, स्वदेश लौटा लिया गया।

युद्ध ख़त्म होते ही आपात स्थिति उठा दी गयी थी। युद्ध-प्रयास में योग देनेवाले उद्योग और बहुत से प्रतिरक्षा सामग्री तैयार करनेवाले उद्यम भी असैनिक मालों के उत्पादन में प्रवृत्त किये जाने लगे। आठ घंटे के कार्य-दिवस की व्यवस्था पुनः लागू कर दी गयी और युद्धकाल में अनिवार्य अतिरिक्त समय कार्य का जो नियम बनाया गया था, उसे रद्द कर दिया गया। मज़दूर और कर्मचारी पुनः नियमित रूप से सवेतन वार्षिक छुट्टियां पाने लगे (युद्ध-काल में छुट्टियों के बदले नक़द मुआवज़ा दिया जाता था)।

१० फ़रवरी, १९४६ को सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत के चुनाव हुए। उन्होंने जनता की व्यापक राजनीतिक सक्रियता तथा उत्साह का प्रदर्शन

किया। लगभग सभी निर्वाचकों (६६,७ प्रतिशत) ने कम्युनिस्टों तथा अदलीयों के गठबंधन द्वारा नामज़द उम्मीदवारों को अपना मत दिया। फ़रवरी, १६४७ में संघीय जनतंत्रों तथा स्वायत्त जनतंत्रों की सर्वोच्च सोवियतों और १६४७ के अंत तथा १६४८ के आरंभ में स्थानीय सोवियतों के भी चुनाव हुए।

अर्थव्यवस्था का पुनरुद्धार

युद्ध-ध्वस्त सोवियत अर्थव्यवस्था के पुनरुद्धार की प्रक्रिया में समाजवादी योजनाबद्ध अर्थप्रणाली के लाभ एक बार फिर प्रकट हुए। योजनानिर्मात्री संस्थाओं द्वारा निर्मित और सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत द्वारा स्वीकृत १६४६-१६५० की चौथी आर्थिक पुनर्निर्माण तथा विकास योजना ने निर्धारित किया कि राष्ट्र की अर्थव्यवस्था, संस्कृति तथा सोवियत जन के जीवन-स्तर का उत्थान कैसे और किन साधनों से किया जाना है। तदनुसार सोवियत सरकार ने सभी उपलब्ध माली व जन संसाधन जुटाये और अधिकांश पूंजी संसाधन सर्वोपरि महत्त्व की परियोजनाओं में निविष्ट किये।

राष्ट्रव्यापी स्तर पर युद्धकालीन उत्पादन से शांतिकालीन उत्पादन में संक्रमण सभी कठिनाइयों के बावजूद एक ही वर्ष में पूरा कर लिया गया। करोड़ों नर-नारियों ने शांतिमय निर्माण में, नयी योजना के लक्ष्यों की समयपूर्व पूर्ति के लिए आयोजित समाजवादी प्रतियोगिताओं में सोत्साह भाग लिया। लाखों मज़दूरों ने प्रतिज्ञा की कि वे अपने वार्षिक या पंचवार्षिक उत्पादन कोटा निर्धारित समय से पहले ही पूरा कर लेंगे। मज़दूरों की पहलक़दमी और भी कई रूपों में प्रकट हुई, जैसे विभिन्न उत्पादन प्रक्रियाओं की रफ़्तार बढ़ाना, कच्चे मालों, सामग्रियों, ईंधन और बिजली की किफ़ायत करना और इस बचत से निर्धारित लक्ष्य से अधिक मालों का उत्पादन करना। मास्को के कुछ उद्यमों के मज़दूरों ने बेहतर उत्पादन संगठन, उच्चतर श्रम उत्पादिता, न्यूनतर लागत, शीघ्रतर पूंजी आवर्त, आदि के ज़रिये लक्ष्योपरि उत्पादन करने का अभियान चलाया। फलस्वरूप अकेले १६४६ में ही निर्धारित लक्ष्य से २०,००,००,००,००० रूबल से भी ज़्यादा मूल्य के अतिरिक्त माल का उत्पादन हुआ।

मज़दूरों, तकनीशियनों और इंजीनियरों ने युद्धकाल में नष्ट हुए औद्योगिक उद्यमों के शीघ्रातिशीघ्र पुनर्निर्माण के लिए असामान्य सूझ-बूझ तथा उपाय-कुशलता का परिचय दिया। मिसाल के लिए, मारिऊपोल के अज़ोवस्ताल धातुकर्म कारख़ाने की पार्टी समिति की पहल पर इंजीनियरों और मज़दूरों ने कारख़ाने की एक १,३०० टन वज़नी विशाल धमनभट्ठी को, जिसे जर्मनों

ने बारूद से उड़ाने की कोशिश में बहुत नुक़सान पहुंचाया था (ऐसा ही अन्य भट्ठियों के साथ भी किया गया था), डेढ़ महीनों में ही मरम्मत करके फिर से काम करने योग्य बना दिया, यद्यपि पहले यह सोचा गया था कि उसे तोड़कर उसकी जगह नयी भट्ठी बनायी जानी चाहिये।

इसी प्रकार द्नेप्र पनबिजलीघर के कामगरों ने बांध के तल में पड़ी दरारों को बंद करने की एक नयी विधि इस्तेमाल की, जिससे बिजलीघर का पुनर्निर्माण निर्धारित समय से काफ़ी पहले ही पूरा हो गया और वह मार्च, १९४७ से पुनः काम करने लगा। अत्यल्प समय में देश के सबसे महत्त्वपूर्ण कोयला सप्लाई केंद्र – दोनेत्स कोयला क्षेत्र – का भी पुनरुद्धार कर दिया गया। यहां खानों से ६५,००,००,००० घनमीटर पानी बाहर पंप करना पड़ा, जो कि ७० वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल की एक १० मीटर गहरी झील को जल-रहित करने के समान था। मज़दूरों को कुल २,५०० किलोमीटर से भी ज़्यादा लंबी धंसी हुई खानों को साफ़ करना पड़ा। यह काम कोई ७०० मीटर की गहराई पर मास्को से पेरिस तक एक सुरंग खोदने और पक्की करने के बराबर था।

उद्योग और परिवहन के क्षेत्रों में पुनर्निर्माण की गति उत्तरोत्तर तीव्र होती गयी। औद्योगिक उत्पादन १९४६ में २० प्रतिशत, १९४७ में २२ प्रतिशत और १९४८ में २७ प्रतिशत बढ़ा। युद्धपूर्व वर्ष १९४० में औद्योगिक उत्पादन का जो औसत मासिक स्तर था, वह अक्तूबर, १९४७ में ही, यानी योजना में निर्धारित समय से पहले ही पा लिया गया और १९४८ में तो उत्पाद की सकल वार्षिक मात्रा की दृष्टि से भी १९४० के स्तर को पीछे छोड़ दिया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सोवियत जनता को नये आधुनिक तकनीकी आधार पर अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण का जटिल तथा कठिन कार्य पूरा करने में तीन साल से भी कम समय लगा। यह समाजवादी अर्थप्रणाली की अपार क्षमताओं का ज्वलंत प्रमाण था।

चौथी पंचवर्षीय योजना में सोवियत संघ ने युद्ध-ध्वस्त उद्यमों का पुनर्निर्माण ही नहीं किया, बल्कि अनेक नये उद्यमों का निर्माण और पुराने उद्यमों का विस्तार भी किया। इन पांच वर्षों में कुल मिलाकर ६,००० महत्त्वपूर्ण औद्योगिक उद्यमों का पुनर्निर्माण या नवनिर्माण हुआ। १९५० के अंत तक सोवियत उद्योग युद्धपूर्व काल की अपेक्षा ७० प्रतिशत अधिक उत्पादन करने लग गये थे।

नये सोवियत जनतंत्रों की उपलब्धियां

समाजवादी अर्थप्रणाली की श्रेष्ठता का एक प्रमाण एस्तोनिया, लाटविया और लिथुआनिया की उपलब्धियां भी थीं, जो १९४० में ही सोवियत समाजवादी जनतंत्रों के परिवार में सम्मिलित हुए थे। जर्मन आक्रमणकारियों ने उनकी अर्थव्यवस्था को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया था: औद्योगिक उद्यम नष्ट कर दिये गये थे, बिजलीघर उड़ा दिये गये थे और लाखों नर-नारियों को जर्मनी में काम करने के लिए बलात् भेज दिया गया था। युद्ध समाप्त होते ही मारे सोवियत संघ ने इन युवा जनतंत्रों की ओर सहायता का हाथ बढ़ाया। देश के सभी भागों से उन्हें मशीनें, उपकरण, कच्चे माल, ईंधन, आदि भेजे गये। रूस के मज़दूरों और इंजीनियरों ने बाल्टिक जनतंत्रों के मेहनतकशों को समाजवाद निर्माण के अपने अनुभव से परिचित कराया। फलस्वरूप, मिसाल के लिए, एस्तोनिया १९५० में ही १९४० की अपेक्षा तिगुना औद्योगिक उत्पादन करने लग गया। उसके शेल उद्योग का आमूल पुनर्गठन किया गया: नयी, उत्कृष्ट, यंत्रीकृत खानें बनायी गयीं, जिनमें अन्य सोवियत जनतंत्रों से प्राप्त कटाई उपकरण, कंवेयर और विद्युत रेलवे इंजन काम करते थे। नार्वा की केनहोल्म कपड़ा मिल, ताल्लिन की बाल्टिक कपड़ा मिल और अन्य उद्यमों का भी पुनर्निर्माण करके उनमें सर्वोत्तम सोवियत मशीनें तथा उपकरण लगाये गये। एस्तोनिया में जलपोत, मोटरें, रेडियो सेट, मशीन-यंत्र, आदि भी बनाये जाने लगे।

लाटविया में भी पुराने औद्योगिक उद्यमों का पूर्ण पुनर्निर्माण तथा यांत्रिक पुनर्सज्जा की गयी और अनेक नये उद्यम बनाये गये। १९५० में जनतंत्र के उद्योगों ने १९४० की अपेक्षा तिगुना और उत्पादन के साधनों का दोगुना अधिक उत्पादन किया। लिथुआनिया में अनेक नये उद्योग क़ायम किये गये, जो बिजली मोटरों, खरादों, निर्माण मशीनों, रेडियो उपकरणों, मापन यंत्रों, आदि का उत्पादन करने लगे। बूर्जुआ लिथुआनिया के कुल आर्थिक उत्पादन में उद्योगों का हिस्सा अगर केवल २५ प्रतिशत था, तो सोवियत लिथुआनिया में १९४९ में वह बढ़कर ५० प्रतिशत से ऊपर हो गया।

कृषि के क्षेत्र में कठिनाइयां

युद्धकाल में कृषि को बहुत अधिक नुक़सान पहुंचा था। बोवाई क्षेत्रफल और पैदावार, दोनों में कमी आ गयी थी। फलस्वरूप १९४५ में १९४० के ६० प्रतिशत जितना ही कृषि उत्पादन हुआ। ट्रैक्टरों और अन्य कृषि मशीनों

की संख्या घटकर केवल दो-तिहाई रह गयी थी और ये दो-तिहाई भी कोई ख़ास अच्छी हालत में न थे। सामूहिक फ़ार्मों में युद्ध के पहले के मुक़ाबले काफ़ी कम श्रम-सक्षम लोग रह गये थे।

१९४६ में जो सूखा पड़ा, वह १९२१ के सूखे से भी कहीं ज़्यादा भयंकर था। कृषि के पुनरुद्धार में कठिनाई इस बात से भी पैदा हुई कि सरकार के पास जो थोड़े-वहुत संसाधन थे, उन्हें मुख्यतया भारी उद्योगों और परिवहन की वहाली पर ही ख़र्च किया जा रहा था।

फिर भी शत्रु से मुक्त किये गये इलाक़ों में सभी सामूहिक व राजकीय फ़ार्मों और मशीन-ट्रैक्टर स्टेशनों को राज्य की सक्रिय सहायता से पुनः वहाल कर दिया गया और उन्हें ट्रैक्टर, लारियां, कृषि उपकरण, मवेशी, बीज तथा चारा मुहैया किये गये। कृषि का माली व तकनीकी आधार मज़बूत बनाने पर विशेष ध्यान दिया गया। पुराने कारख़ानों में ट्रैक्टरों का उत्पादन पुनः आरंभ करने के साथ-साथ चार ट्रैक्टर कारख़ाने भी बनाये गये। चौथी पंचवर्षीय योजना के अंत तक फ़ार्मों के पास युद्ध से पहले से भी ज़्यादा ट्रैक्टर व अन्य कृषि यंत्र हो गये। १९५१ में उनमें कोई ६,००,००० ट्रैक्टर (१९४० की अपेक्षा १० प्रतिशत अधिक) और २,११,००० हार्वेस्टर कंबाइन (१९४० की अपेक्षा १६ प्रतिशत अधिक) काम कर रहे थे।

छठे दशक के आरंभ में छोटे सामूहिक फ़ार्मों को मिलाकर वड़े सामूहिक फ़ार्म क़ायम किये जाने लगे। इस प्रकार २,५४,००० छोटे-छोटे फ़ार्मों के स्थान पर ९३,००० वड़े सामूहिक फ़ार्म बनाये गये, जो उत्पादन का विविधीकरण, यंत्रों तथा उपकरणों का वेहतर उपयोग, विक्रययोग्य माल का अधिक उत्पादन, ऊपरी ख़र्चों में कमी, आदि कर सकते थे। कृषि कामगरों के बीच यंत्रों-उपकरणों के अधिक कारगर इस्तेमाल, वेहतर पैदावार और पशुपालन कर्म की उच्चतर उत्पादिता के लिए समाजवादी प्रतियोगिताओं का प्रचलन हुआ।

ये सव वातें कृषि के पुनरुद्धार में सहायक थीं। फिर भी कतिपय कारणों से कृषि का पर्याप्त तेज़ी से विकास न हो पाया। सामूहिक फ़ार्मों को अपने उत्पाद का काफ़ी बड़ा हिस्सा राज्य को कम दामों पर वेचना पड़ता था। अनाज तथा आलू की खेती और पशुपालन से फ़ार्मों को कोई ख़ास आमदनी नहीं होती थी। कतिपय सामूहिक फ़ार्मों में किसानों को पर्याप्त मेहनताना नहीं दिया जाता था, जिससे वे अपने काम में भरपूर दिलचस्पी नहीं लेते थे। इसके विपरीत, नक़द फ़सलें उगानेवाले फ़ार्मों में स्थिति दूसरी ही थी। कपास और चुकंदर के ऊंचे क्रय मूल्य के कारण इन फ़सलों की खेती में कहीं अधिक रुचि ली जाती थी। मिसाल के लिए, १९५० में कपास की पैदावार योजना में निर्धारित लक्ष्य से ६,५०,००० टन अधिक रही।

खाद्यान्न उत्पादन देश की आवश्यकताओं की तुलना में पिछड़ता ही गया। १९५३ में केवल ८,००,००,००० टन अनाज पैदा हुआ। सरकार उसमें से २,९६,००,००० टन ही खरीद पायी, जो कतई पर्याप्त नहीं था और फलस्वरूप उसे आवादी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए २५,६०,००० टन अपने आपात स्टॉक में से निकालना पड़ा। पशुपालन के पिछड़ने का मुख्य कारण भी अनाज उत्पादन की असंतोषजनक स्थिति ही थी। ऐसी हालत में कृषि के उत्थान के लिए गंभीर उपाय किये विना काम नहीं चल सकता था।

* * *

इस वीच राष्ट्रीय जीवन पर स्तालिन की व्यक्तिपूजा का अनिष्टकारी प्रभाव भी वढ़ता जा रहा था। स्तालिन राज्य की नीति से संवंधित महत्त्वपूर्ण सवालों पर अकेले ही निर्णय लेकर सामूहिक नेतृत्व के सिद्धांतों का उल्लंघन करता रहा। तेरह साल तक पार्टी की कोई कांग्रेस नहीं बुलायी गयी, यद्यपि पार्टी नियमावली के अनुसार कम से कम चार साल में एक बार पार्टी कांग्रेस का आयोजन अनिवार्य था। पार्टी की केंद्रीय समिति के प्लेनम भी कभी-कभार ही वुलाये जाते थे। स्तालिन की आलोचना करनेवाला लगभग कोई न था।

व्यक्तिपूजा सोवियत सामाजिक और राजकीय व्यवस्था की प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल थी और उसने कम्युनिज़्म की ओर सोवियत जनता के अग्रसारण में गंभीर वाधा उत्पन्न की। अतः राजनीतिक दृष्टि से यह अत्यावश्यक था कि व्यक्तिपूजा और उसके कुपरिणामों का तुरंत उन्मूलन किया जाये।

पूर्ण और अपरिवर्तनीय विजय

लेनिनीय प्रतिमानों की पुनर्स्थापना

सोवियत संघ के लिए छठा दशक समाजवाद निर्माण की सफल निष्पत्ति और समाजवाद की पूर्ण व अपरिवर्तनीय विजय का काल था। यह ऐसी असाधारण उपलब्धियों का काल था, जैसे उद्योगों की ज़बर्दस्त प्रगति, परती भूमिवाले विशाल इलाक़ों को आवाद करना, विश्व के प्रथम परमाणु विजलीघर का निर्माण, पृथ्वी का प्रथम मानवनिर्मित उपग्रह छोड़ा जाना और जनता की ख़ुशहाली, संस्कृति तथा प्रविधि को नयी ऊंचाइयों पर पहुंचाना।

ये सव सफलताएं सोवियत जनता की सृजनात्मक सक्रियता, पार्टी तथा जनता के परस्पर संपर्कों के विस्तार तथा सुदृढ़ीकरण और कम्युनिज़्म

निर्माण के निदेशन तथा संगठन में पार्टी की बढ़ी हुई भूमिका की बदौलत ही प्राप्त हो सकी थीं।

मार्च १९५३ में स्तालिन की मृत्यु के वाद पार्टी और राज्य के कार्यकलाप के लेनिनीय प्रतिमानों की पुनर्स्थापना तथा विकास के लिए, पार्टी तथा राज्य में वस्तुतः सामूहिक नेतृत्व सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक क़दम उठाये गये। अव पार्टी की केंद्रीय समिति के प्लेनम नियमित रूप से होने लगे और सभी महत्त्वपूर्ण सवाल इन्हीं में हल किये जाने लगे। सोवियत संघ तथा जनतंत्रों की सर्वोच्च सोवियतों ने अपने विधिक कार्यकलाप का दायरा बढ़ा दिया और उनके अध्यक्षमंडल भी बाक़ायदा सामूहिक संस्थाओं के रूप में काम करने लगे। स्थानीय सोवियतें और सार्वजनिक संगठन भी पहले से कहीं अधिक सक्रियतापूर्वक काम करने लगे थे।

इनके साथ ही समाजवादी वैधता के सुदृढ़ीकरण के लिए निर्णायक क़दम उठाये गये। राजकीय सुरक्षा संगठनों के स्वेच्छाचार तथा निरंकुशता पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

१९५३ में कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति ने बेरिया और राजकीय सुरक्षा संगठनों में महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन उसके साथियों के आपराधिक कार्यों का भंडाफोड़ किया और ऐसे कार्यों की पुनरावृत्ति न हो पानें की व्यवस्था की। वेरिया और उसके साथियों को उनके जनविरोधी अपराधों के लिए कठोर दंड दिया गया। जो लोग राजनीतिक दमन के शिकार बने थे, उनके मामलों की फिर से जांच की गयी और सभी निरपराध व्यक्तियों को पुनर्प्रतिष्ठित कर दिया गया।

सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस

फ़रवरी, १९५६ में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस हुई। यह एक ऐतिहासिक कांग्रेस थी। उसने कम्युनिस्ट पार्टी के जीवन, सोवियत समाज के विकास और विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन में एक नये युग का सूत्रपात किया। उसने दिखाया कि पार्टी और उसकी लेनिनवादी केंद्रीय समिति सामूहिक राजनीतिक व संगठनात्मक केंद्र ही नहीं हैं, अपितु मार्क्सवादी सिद्धांत के विकास का सामूहिक स्रोत भी हैं। केंद्रीय समिति की रिपोर्ट में और पार्टी के ७२,००,००० से अधिक सदस्यों के प्रतिनिधियों द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत प्रस्तावों में इस बात पर बल दिया गया कि समाजवाद का एक ही देश तक सीमित न रहना और विश्व प्रणाली में बदल जाना हमारे युग का मुख्य अभिलक्षण है। कांग्रेस इस महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष

पर पहुंची कि वर्तमान परिस्थितियों में महायुद्धों की संभावना को रोका जा सकता है। उसने विभिन्न देशों द्वारा विभिन्न रास्तों तथा तरीक़ों से समाजवाद में पहुंचने से संबंधित लेनिनीय प्रस्थापना का विशदीकरण किया। उसने सोवियत विदेशनीति के लक्ष्य इस प्रकार निर्धारित किये: शांति के लिए निरंतर प्रयास करते रहना, लोक जनवादी राज्यों के साथ बंधुत्वपूर्ण संबंधों को सभी प्रकार से सुदृढ़ बनाना और सोवियत जनता तथा अन्य देशों के मेहनतकशों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंधों का संवर्धन करना।

कांग्रेस ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति के विकास और जनता के रहन-सहन के स्तर के उत्थान के लिए एक व्यापक कार्यक्रम निर्धारित किया। उसकी रूपरेखा छठी पंचवर्षीय योजना (१९५६-१९६०) से संबंधित कांग्रेस के निर्देशों में प्रस्तुत की गयी। कांग्रेस ने स्तालिन की व्यक्तिपूजा की घोर निंदा की और लेनिन ने पार्टी के कार्यकलाप और सामूहिक नेतृत्व के जो प्रतिमान व सिद्धांत निर्धारित किये थे, उनके कठोरतापूर्वक पालन की आवश्यकता पर बल दिया।

सोवियत जनता ने बीसवीं पार्टी कांग्रेस के निर्णयों का हार्दिक स्वागत किया और उन्हें व्यवहार में चरितार्थ करने में जुट गयी।

देहात में नये परिवर्तन

छठे दशक के आरंभ में कृषि के विकास की दर देश की बढ़ती आवश्यकताओं को देखते हुए पर्याप्त नहीं थी। कृषि उत्पादों की मांग और सप्लाई के अंतर ने एक ख़तरनाक स्थिति को जन्म दे दिया था।

कृषि के इस पिछड़ेपन के लिए वस्तुपरक और आत्मपरक, दोनों ही तरह के कारक उत्तरदायी थे।

पूर्ववर्ती वर्षों में देश भारी उद्योग, हल्के उद्योग और कृषि का समान तेज़ी से विकास नहीं कर सका था। उसे अपनी अधिकांश शक्ति और साधन उत्पादन साधनों के उत्पादन पर ख़र्च करने पड़े थे, क्योंकि वे ही समाजवादी अर्थव्यवस्था की मुख्य बुनियाद थे। इसलिए कृषि में अधिक पूंजी न लगायी जा सकी। युद्धकाल में कृषि को पहुंची अपार क्षति के कारण भी कई वर्षों के लिए उसका विकास अवरुद्ध हो गया था। एक और कारण १९४६ का सूखा और उसके भयंकर कुपरिणाम थे। १९५३, १९५४ और १९५५ में अपने प्लेनमों में कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति ने कृषि के विकास में बाधक सभी कारकों की जांच की और कृषि उत्पादन की वृद्धि के लिए एक क्रियात्मक कार्यक्रम निर्धारित किया।

इस कार्यक्रम के अनुसार कृषि के माली व तकनीकी आधार के सुदृढ़ीकरण को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाना था। फलस्वरूप फ़ार्मों को ट्रैक्टरों, लारियों और अन्य कृषि यंत्रों की सप्लाई काफ़ी बढ़ा दी गयी। १९५८ में प्रति कृषि कामगर पीछे कृषि मशीनों की संख्या १९४० के मुक़ाबले लगभग तिगुनी हो गयी। १९५४-१९५८ में सरकार ने कृषि यंत्रीकरण पर पूर्ववर्ती पांच वर्षों की अपेक्षा ढाईगुनी पूंजी व्यय की।

सामूहिक फ़ार्मों द्वारा राज्य को वेचे जानेवाले कृषि उत्पादों के क्रय-मूल्य में उल्लेखनीय वृद्धि की गयी और अनाज, आलू, साग-सब्ज़ियों आदि की लेवी की मात्रा घटायी गयी। इसी प्रकार किसानों के निजी प्लाटों की उपज पर जो लेवी थी, उसमें भी कमी की गयी और १९५८ से तो उसे ख़त्म ही कर दिया गया।

सामूहिक फ़ार्म आमदनी वितरण की अधिक युक्तिसंगत प्रणाली अपनाने लगे। किसानों को उनके काम के लिए मासिक या त्रैमासिक पेशगी मेहनताना दिया जाने लगा। फलस्वरूप कृषि मालों का उत्पादन बढ़ाने में वे अधिक रुचि लेने लगे। १९५४-१९५८ में कृषि उत्पादन में ५० प्रतिशत से अधिक



व० गगानोवा अपनी टोली के साथ

वृद्धि हुई। किसानों की आमदनी और फलस्वरूप उनके रहन-सहम के स्तर में भी इज़ाफ़ा हुआ।

सामूहिक फ़ार्मों की स्थिति सुधर जाने से अब ट्रैक्टर तथा अन्य कृषि मशीनें खुद फ़ार्मों को ही सौंप देना संभव हो गया। १९५८ से पहले तक फ़ार्मों को सभी मशीनी सेवाएं मशीन-ट्रैक्टर स्टेशनों द्वारा मुहैया की जाती थीं। जब तक फ़ार्म छोटे और आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर थे, ऐसा करना युक्तिसंगत भी था और लाभकर भी। मगर अब चूंकि उनका आकार बढ़ गया था और उनकी आर्थिक स्थिति भी बेहतर बन गयी थी, वे मशीनों को अपनी इच्छानुसार इस्तेमाल करना अधिक लाभकर पाने लगे थे। फलस्वरूप, १९५८ में राष्ट्रव्यापी बहस के बाद सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत ने एक नया क़ानून पास किया, जिसके अनुसार मशीन-ट्रैक्टर स्टेशनों का पुनर्गठन करके उन्ह मरम्मत वर्कशाप बनाया जाना था और ट्रैक्टर तथा अन्य कृषि मशीनें फ़ार्मों को बेच दी जानी थीं।

यह काम ५-६ साल में पूरा किया जाना था, किंतु अनावश्यक जल्दबाज़ी दिखाकर सामूहिक फ़ार्मों को १-२ साल में ही सभी मशीनें ख़रीदने के लिए विवश किया गया, जिसमे उनकी माली हालत पुनः बिगड़ गयी। दूसरी ओर, मशीनों की मरम्मत की सुचारु व्यवस्था नहीं की गयी। इसका भी काफ़ी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। फिर भी कुल मिलाकर उपरोक्त सुधार लाभकर ही सिद्ध हुआ।

कृषि उत्पादों की वसूली के क्षेत्र में भी राज्य और सामूहिक फ़ार्मों के संबंधों में ऐसा परिवर्तन किया गया, जो सामूहिक फ़ार्मों के लिए अधिक फ़ायदेमंद था। किंतु इस नयी व्यवस्था की एक कमी यह थी कि मूल्य-निर्धारण में विभिन्न इलाक़ों की विभिन्न उत्पादन लागतों को ध्यान में नहीं रखा गया था। कतिपय इलाक़ों के लिए निर्धारित क्रय-मूल्य तो उत्पादन लागत से भी कम थे। इसी प्रकार पशु उत्पादों के क्रय-मूल्य भी लागत से कम ही थे, जिसकी वजह से सामूहिक फ़ार्म कृषि की इस शाखा के विकास में पर्याप्त दिलचस्पी नहीं दिखाते थे।

परती भूमि का उद्धार

देश के अन्न कोष की वृद्धि में परती तथा बंजर ज़मीनों को कृषियोग्य बनाने के उस विराट अभियान से बड़ी मदद मिली, जो छठे दशके के मध्य में पूर्वी इलाक़ों में शुरु किया गया था।

फ़रवरी, १९५४ में कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के प्लेनम में निर्णय किया गया था कि दो वर्ष के अंदर-अंदर कोई १,३०,००,०००

हैक्टर परती तथा बंजर भूमि को कृषियोग्य बनाना है। सोवियत जनता ने पार्टी के आह्वान का न केवल हार्दिक समर्थन किया, बल्कि सभी प्रकार की कठिनाइयों को झेलते हुए अगस्त १९५४ तक देश के पूर्वी इलाक़ों में १,४०,००,००० हैक्टर से ज़्यादा परती भूमि को कृषियोग्य तथा आबाद करके भी दिखा दिया। जो स्तेपियां अनादि काल से निर्जन, वीरान पड़ी थीं, उनमें देखते ही देखते अनाज के खेत, बाग-बगीचे लहलहाने लगे, आधुनिक सुविधाओं से संपन्न बस्तियां पैदा हो गयीं। १९५४-१९५६ में कुल मिलाकर ३,६०,००,००० हैक्टर परती और बंजर भूमि को आबाद किया गया।

परती भूमि उद्धार अभियान के परिणामों की एक ज्वलंत मिसाल कज़ाख़स्तान का कायाकल्प है, जहां ३३७ राजकीय फ़ार्म क़ायम किये गये थे। कज़ाख़स्तान के फ़ार्मों ने १९५८ में सरकार को १,५२,००,००० टन अनाज बेचा, जबकि १९५३ में केवल २३,३६,००० टन ही बेचा गया था। परती भूमि उद्धार में योगदान के लिए १९५६ में लेनिनवादी युवा कम्युनिस्ट लीग को लेनिन पदक और ३०,००० से अधिक युवक-युवतियों को विभिन्न पदक और तमग़े प्रदान किये गये।

औद्योगिक उत्कर्ष

कृषि के उत्थान के साथ-साथ उद्योगों ने अपने विकास की रफ़्तार तेज़ कर दी थी। कूइबिशेव तथा स्तालिनग्राद में वोल्गा नदी पर, कख़ोव्का में द्नेप्र नदी पर और उत्तर में कामा नदी पर विशाल पनबिजलीघरों का निर्माण पूरे ज़ोर-शोर से चल रहा था। कुछ समय से समाचारपत्रों में ब्रात्स्क का नाम भी अधिकाधिक प्रकट होने लगा था। साइबेरियाई ताइगा में खोये जिस गांव को पहले लगभग कोई भी नहीं जानता था, वह रातों-रात विश्व-विख्यात बन बैठा था, क्योंकि इर्कूत्स्क से ७०० किलोमीटर उत्तर और मास्को से ४,००० किलोमीटर पूर्व में यहां अंगारा नदी पर दुनिया के सबसे बड़े पनबिजलीघर का निर्माण आरंभ हुआ था।

१९५५ के ग्रीष्म में मास्को से ३७५ किलोमीटर उत्तर में चेरेपोवेत्स में एक नये धातुकर्म कारख़ाने का जन्म हुआ और उसमें दुनिया की सबसे बड़ी धमनभट्ठी काम करने लगी। नगर के संग्रहालय में अब अन्य प्रदर्शों के साथ एक लोहे का टुकड़ा भी प्रदर्शित किया जाने लगा, जिसपर यह संक्षिप्त-सा लेख खुदा था: "चेरेपोवेत्स धातुकर्म कारख़ाना। २४ अगस्त, १९५५: पहला ढलवां लोहा।" इसी प्रकार ओर्स्क-ख़लीलोवो धातुकर्म कारख़ाने,



कूइविशेव पनविजलीघर का निर्माणस्थल

ट्रांस-काकेशियाई धातुकर्म कारखाने, वाकू पाइप-रोलिंग कारखाने और वहुत से अन्य उद्यमों का जन्म भी मनाया गया।

किंतु इन महती उपलब्धियों के वावजूद सोवियत उद्योग में कुछ कमियां फिर भी वनी रहीं, जिनके कारण वह और भी तेज़ गति से विकास न कर पाया। अनेक उद्यमों में और यहां तक कि उद्योग शाखाओं में भी नयी मशीनें लगाये जाने या नयी उत्पादन प्रविधियां अपनाये जाने में विलंब किया जा रहा था और विश्व मानकों से घटिया स्तर के मालों का उत्पादन किया जा रहा था। रसायन उद्योग तो वहुत ही धीमी गति से विकास कर रहा था। रेलवे द्वारा माल की ढुलाई के लिए पहले की भांति अव भी अधिकांशतः वाष्पइंजन ही इस्तेमाल किये जा रहे थे। इसका राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अन्य शाखाओं पर वुरा प्रभाव पड़ा। निर्माण तथा वन उद्योग में हस्तश्रम का व्यापक इस्तेमाल अव भी जारी था।

जुलाई, १९५५ में कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के प्लेनम में सोवियत उद्योग के विकास के संदर्भों के वारे में विस्तार से विचार किया गया। इसके पहले उद्योगों के अधिकारियों, निर्माताओं और अग्रणी कामगरों की सभाएं हुई थीं, जिनसे कमियों का पता लगाने में मदद मिली। प्लेनम

ने प्राविधिक प्रगति की रफ़्तार तेज़ करने, आविष्कारकों तथा नवाचारकों की सृजनात्मक पहल को प्रश्रय देने और औद्योगिक उद्यमों के विशिष्टीकरण तथा सहयोग में जो भी बाधाएं थीं, उन्हें दूर करने का लक्ष्य निर्धारित किया।

सोवियत जनता का सृजन उत्साह निरंतर बढ़ता तथा व्यापक बनता गया। इसका प्रमाण इन आंकड़ों से मिलता है: १९५८ में देश में कोई १७,२५,००० आविष्कारक तथा नवाचारक थे, यानी १९५० के मुक़ाबले तीनगुना से अधिक।

१९५४ में सोवियत संघ में विश्व का पहला परमाणु बिजलीघर चालू किया गया। १९५८ तक एक अन्य परमाणु बिजलीघर का पहला चरण भी काम करने लग गया। १९५७ के अंत में सोवियत संघ ने विश्व के पहले परमाणु हिमभंजक पोत – 'लेनिन' – का भी जलावतरण किया था।

किंतु इन सब उपलब्धियों से भी महत्तर उपलब्धि थी विश्व के प्रथम मानवनिर्मित भू-उपग्रह का छोड़ा जाना। इस प्रथम कृत्रिम उपग्रह ने ४ अक्तूबर, १९५७ को पृथ्वी की कक्षा में प्रवेश किया था। १९५८ में तीसरा सोवियत उपग्रह भी, जिसका भार १,३२७ किलोग्राम था, पृथ्वी की परिक्रमा करने लगा।

सोवियत सत्ता अपने पांचवें दशक की देहरी पर

सोवियत संघ ने समाजवादी समाज का निर्माण बुनियादी तौर पर अपने अस्तित्व के पहले दो दशकों (१९१७-१९३७) में ही पूरा कर लिया था। किंतु इसे अभी पूर्णतः विकसित समाजवाद नहीं कहा जा सकता था। समाजवाद की विजय को पूर्ण निष्पत्ति पर पहुंचाना, सभी प्रकार से निरापद बनाना अभी शेष था।

फिर दो दशक (१९३८-१९५८) और बीते। ये युद्धपूर्व वर्षों के, युद्धकालीन अग्नि-परीक्षा के और युद्धजनित गंभीर घावों की मरहमपट्टी करने के दशक थे, यानी ऐसे दशक जिनमें शांतिमय निर्माण के हिस्से में इने-गिने वर्ष ही आते थे। और इतने पर भी देश ने सोवियत व्यवस्था के अंतर्गत वस्तुतः महान, भव्य उपलब्धियां प्राप्त करके दिखायी थीं।

१९३८-१९५८ के काल में समाजवादी समाज के माली व तकनीकी आधार का अपरिमित विकास हुआ था। देश में कोई १८,६०० बड़े औद्योगिक उद्यम बनाये गये थे। नये छोटे और मझोले उद्यमों की संख्या तो और भी बड़ी थी। १९३७ में देश का औद्योगिक उत्पादन १९१३ से केवल छहगुना अधिक था, मगर १९५८ में वह ३३ गुना तक पहुंच चुका था। उत्पादन साधनों

के मामले में तो यह वृद्धि ७२ गुना थी। सोवियत बिजलीघरों की कुल क्षमता १९३७ में ८२,००,००० किलोवाट, यानी १९१३ के मुक़ाबले सातगुना अधिक थी। १९५८ तक वह बढ़कर ५,३६,००,००० किलोवाट – क्रांति से पहले की तुलना में ४७ गुना – हो गयी थी। उपभोक्ता मालों के उत्पादन में भी यद्यपि १९१३ की अपेक्षा १३ गुना वृद्धि हुई थी, फिर भी वह भारी उद्योगों में हुई वृद्धि के मुक़ाबले कहीं कम थी और आबादी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कई मायनों में पर्याप्त नहीं थी।

सोवियत उद्योग में परिमाणात्मक ही नहीं, बुनियादी गुणात्मक परिवर्तन भी आये थे। तकनीकी प्रगति के मामले में विशाल डग भरे गये और मेहनतकशों का तकनीकी व सांस्कृतिक स्तर पहले से कहीं ऊंचा हो गया था। फलस्वरूप उद्योगों में श्रम की उत्पादिता में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। काम के घंटे काफ़ी कम कर दिये जाने के बावजूद १९५८ में श्रम उत्पादिता का स्तर १९१३ के मुक़ाबले दसगुना ऊंचा था। छठे दशक के अंत तक सोवियत संघ अति विकसित, तकनीकी दृष्टि से अग्रणी औद्योगिक देशों की श्रेणी में आ गया। ऐसी कोई आधुनिक मशीनें या उपकरण न थे, जिन्हें सोवियत उद्योग न तैयार करते हों।

१९५८ में देश की समाजवादी कृषि का आधार ६७,७०० सामूहिक फ़ार्म और ६,००० से अधिक राजकीय फ़ार्म थे। कुल बोवाई क्षेत्रफल १९,५६,००,००० हैक्टर के बराबर था, यानी १९१३ की तुलना में ७,७४,००,००० हैक्टर ज़्यादा। कृषि के यंत्रीकरण में भी उल्लेखनीय सफलताएं पायी जा चुकी थीं: कृषि फ़ार्मों के पास १०,००,००० से ज़्यादा ट्रैक्टर, ६,००,००० से ज़्यादा हार्वेस्टर कंबाइन, ७,००,००० लारियां और बहुत सी दूसरी कृषि मशीनें थीं।

सोवियत जनता के रहन-सहन का स्तर भी काफ़ी ऊंचा उठ गया था। क्रांति के बाद से १९५८ तक प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में, जो कि राष्ट्र की समृद्धि का मुख्य सूचक मानी जाती है, १५.४ गुना वृद्धि हो चुकी थी। सोवियत संघ में तीन-चौथाई राष्ट्रीय आय काम के अनुसार मेहनताना देने के समाजवादी सिद्धांत के आधार पर समाज के सदस्यों की ज़रूरतों की तुष्टि के लिए उनके बीच बांटी जाती है और शेष एक चौथाई समाज के संचय खाते में जाती है। छठे दशक में वितरण के समाजवादी सिद्धांत को सुधारने के लिए कई महत्त्वपूर्ण क़दम उठाये गये, जैसे उच्च और निम्न वेतनभोगी श्रेणियों के बीच अंतर कम किया जाना, सामूहिक किसानों की आय में वृद्धि, वग़ैरह।

छठे दशक के उत्तरार्ध में सभी मज़दूरों और कर्मचारियों के काम का दिन सात घंटे और ज़मीन के नीचे तथा स्वास्थ्य के लिए हानिकर काम

क़रनेवालों का काम का दिन छह घंटे का कर दिया गया था। पेंशनों की मात्रा बढ़ायी और माध्यमिक विद्यालयों की अंतिम कक्षाओं तथा उच्च शिक्षा संस्थाओं में शिक्षा निःशुल्क कर दी गयी थी (अन्य कक्षाओं में शिक्षा पहले से ही निःशुल्क थी)। विभिन्न प्रकार के सामाजिक भत्तों और स्वास्थ्य सेवाओं पर राज्य द्वारा किया जानेवाला खर्च काफ़ी बढ़ा दिया गया था।

सोवियत शासन काल में, विशेषकर गत २० वर्षों में जनता के जीवन में जो गहन परिवर्तन आये थे और समाजवादी व्यवस्था ने जो महती सफलताएं प्राप्त की थीं, उनका अनुमान १५ जनवरी, १९५९ की जनगणना के आंकड़ों से भी लगाया जा सकता है (इससे पहले की जनगणना १७ जनवरी, १९३९ को हुई थी)। १९५९ के आरंभ में देश की कुल जनसंख्या २०,८८,००,००० थी, यानी १९३९ के मुक़ाबले १,८१,००,००० अधिक। यह वृद्धि युद्ध काल में सोवियत संघ की भारी जनहानि के बावजूद हुई थी। जन्म-दर में उल्लेखनीय वृद्धि (१९५८ में प्रति १००० व्यक्तियों पीछे २५.३) और मृत्युदर में, विशेषतः बाल मृत्यु-दर में बहुत अधिक कमी हो गयी थी। इसमें जो कारक मुख्य रूप से सहायक हुए थे, वे थे राज्य द्वारा बहुत बच्चोंवाली और अविवाहिता अथवा विधवा मांओं को दी जानेवाली माली इमदाद (१९५९ में कोई ७०,००,००० मांओं को ऐसी इमदाद मिलती थी), मातृ तथा शिशु देखभाल व्यवस्था का विस्तार, स्वास्थ्य सेवाओं का विकास तथा सुधार और सोवियत जनता की ख़ुशहाली में निरंतर वृद्धि।

सघन औद्योगिक विकास के कारण नगरों की आबादी बहुत बढ़ गयी थी, जो अब १०,००,००,००० थी, यानी १९३९ की अपेक्षा ४,००,००,००० अधिक। १९३९ के बाद से सोवियत संघ के मानचित्र पर ५०३ नये नगर और १,३५४ नये क़सबे प्रकट हो गये थे।

१९५९ की जनगणना ने सोवियत जनता की तीव्र सांस्कृतिक प्रगति का भी प्रमाण प्रस्तुत किया। देश की ९८.५ प्रतिशत जनता साक्षर बन चुकी थी। १९३९ में, शारीरिक श्रम करनेवालों में से केवल ४.३ प्रतिशत ने माध्यमिक शिक्षा पूरी की हुई थी, किंतु १९५९ तक ३९ प्रतिशत मज़दूर और २१ प्रतिशत किसान उच्च या माध्यमिक शिक्षा प्राप्त बन चुके थे। दसियों लाख जन बुद्धिजीवियों के विशाल समुदाय का निर्माण सोवियत व्यवस्था की एक सबसे महान उपलब्धि थी।

कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में पायी गयी ये सभी सफलताएं दिखाती थीं कि सोवियत जनता ने समाजवाद के सुदृढ़ीकरण और विकसित समाजवादी समाज के निर्माण का ऐतिहासिक कार्यभार संपन्न कर लिया है।

इस बीच विश्व मंच पर पूंजीवादी और समाजवादी शिविरों के शक्ति-

संतुलन में भी आमूल परिवर्तन आ गया था। वे दिन कभी के लद चुके थे, जब सोवियत संघ विश्व में एकमात्र समाजवादी देश था और साम्राज्यवाद सैनिक हस्तक्षेप करके उसे पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की धमकी दे सकता था। छठे दशक तक समाजवादी देशों का एक पूरा समूह अस्तित्व में आ चुका था। इसके अलावा, सोवियत संघ और समाजवादी शिविर सैन्य दृष्टि से पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली बन चुके थे। सैनिक बल का प्रयोग करके सोवियत संघ में समाजवादी व्यवस्था को नष्ट करने का कोई भी साम्राज्यवादी प्रयास अब सफल नहीं हो सकता था।

संक्षेप में, आंतरिक और अंतर्राष्ट्रीय दोनों ही पहलुओं से समाजवाद सोवियत संघ में पूर्ण, अंतिम और अपरिवर्तनीय विजय प्राप्त कर चुका था।

सोवियत राज्य जिन बुनियादी विशेषताओं को लेकर जन्मा था, उनके विकास के फलस्वरूप वह अब सर्वहारा अधिनायकत्व के राज्य से समग्र जनता के समाजवादी राज्य में परिणत हो गया था। उसके समस्त कार्यकलाप का निदेशन कम्युनिस्ट पार्टी करती थी, जो अब सारी जनता की नेता थी और सारी जनता की ओर से काम करती थी।

इन सब भव्य सफलताओं और असामान्य उपलब्धियों की पृष्ठभूमि में स्वाभाविक ही था कि सोवियत जनता महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति की चालीसवीं जयंती अपूर्व गर्व और हर्षोल्लास के साथ मनाती। सभी समाजवादी देशों एवं ६४ बंधु कम्युनिस्ट तथा मज़दूर पार्टियों के प्रतिनिधि और सैकड़ों अन्य विदेशी अतिथि भी जयंती समारोहों में भाग लेने मास्को पहुंचे। उनमें से बहुत से सोवियत संघ पहले भी आ चुके थे।

अब हर किसी की जिह्वा पर स्पूत्निक (कृत्रिम भू-उपग्रह) की ही चर्चा थी। स्पूत्निक का छोड़ा जाना सोवियत संघ की औद्योगिक शक्ति का, सोवियत अर्थव्यवस्था के विकास और सोवियत सांस्कृतिक उपलब्धियों का प्रतीक बन गया था।

कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत जनता के कठिन कार्य का उल्लेख करते हुए सोवियत सत्ता के उषाकाल में व्ला० इ० लेनिन ने उन्नीसवीं सदी के रूसी कवि नेक्रासोव की अगाध पीड़ा तथा गहन विश्वास से ओतप्रोत इन पंक्तियों की याद दिलायी थी :

तुम दरिद्र,
तुम हो समृद्ध,
तुम अबला,
तुम हो सबला,
जननी रूस!

और बोल्शेविकों का दृढ़ संकल्प व्यक्त करते हुए लेनिन ने तब घोषणा की थी कि "कुछ भी हो, रूस की दरिद्रता तथा अबलता ख़त्म करनी है और उसे सच्चे अर्थों में सबल तथा समृद्ध बनाना है।"

यह संकल्प सोवियत शासन के पहले चार दशकों में काफ़ी हद तक पूरा हो गया था। अगर १९१३ में संयुक्त राज्य अमरीका के मुक़ाबले रूस का औद्योगिक उत्पादन कुल मात्रा की दृष्टि से १४.५ गुना और प्रति व्यक्ति की दृष्टि से २१.४ गुना कम था, तो १९५८ में यह अंतर क्रमशः २ और २.५ गुना तक ही सीमित रह गया था और लौह खनिज, तेल, कोयला, इस्पात, कच्चा लोहा, सीमेंट, आदि कुछ औद्योगिक मालों के उत्पादन में तो सोवियत संघ संयुक्त राज्य अमरीका से आगे भी निकल चुका था।

ब्रिटिश बूर्जुआ समाचारपत्र 'टाइम्स' ने अक्तूबर, १९५७ में लिखा था, "जब शीत प्रासाद पर धावा बोला जा रहा था और विजय की घोषणा करने के लिए सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस हो रही थी, रूसी पंचांग के अनुसार उस दिन तिथि २५ अक्तूबर थी। रूस तब पश्चिमी पंचांग से १३ ही दिन पीछे था परंतु औद्योगिक विकास की दृष्टि से पश्चिम से पूरे १०० वर्ष और अपनी राजनीतिक तथा सामाजिक संरचना की दृष्टि से कम से कम १५० वर्ष पीछे था। अब ७ नवंबर को महान अक्तूबर क्रांति की चालीसवीं वर्षगांठ की तैयारियां करते हुए सोवियत संघ और उसके मित्रदेश अपनी महती सफलताओं का लेखा-जोखा कर रहे हैं। निश्चय ही वे उनपर गर्व कर सकते हैं। विश्व में ऐसा कोई देश नहीं है, जिसपर शक्ति-संतुलन में आये इस परिवर्तन का किसी न किसी रूप में प्रभाव न पड़ा हो। रूस का दूसरा सबसे बड़ा औद्योगिक राष्ट्र और सैन्य दृष्टि से संभवतः सबसे शक्तिशाली बन जाना, चीन और पूर्वी यूरोप में कम्युनिस्ट शासन का प्रसार, एक राज्य के रूप में सोवियत संघ के प्रभाव का एशिया में विस्तार, कम्युनिस्ट पार्टियों की अभिवृद्धि और सक्रियता – इन सब कारकों ने विश्व को आमूल बदल डाला है और कोई नहीं कह सकता कि वे अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुके हैं।"

शीत प्रासाद पर धावे और अंतरिक्ष पर चढ़ाई के बीच के सोवियत सत्ता के ये पहले चार दशक मानवजाति के इतिहास का एक वस्तुतः शौर्यपूर्ण दौर थे, जिसकी परिणति सोवियत संघ में समाजवाद की पूर्ण और चिरस्थायी विजय में हुई। अपने अस्तित्व के पांचवें दशक की देहरी पर खड़ा सोवियत संघ अब कम्युनिस्ट समाज के निर्माण से प्रत्यक्षतः संबद्ध लक्ष्यों के लिए काम करने लग गया था।

कम्युनिज़्म का सर्वतोमुखी निर्माण

कम्युनिज़्म की ओर प्रगति का कार्यक्रम

"समाजवाद और कम्युनिज़्म के बीच एकमात्र वैज्ञानिक अंतर यह है," व्ला० इ० लेनिन ने लिखा था, "कि पहला शब्द पूंजीवाद में से पैदा हो रहे नये समाज की पहली अवस्था के लिए प्रयोग किया जाता है और दूसरा उसकी अगली, उच्चतर अवस्था के लिए।" कम्युनिज़्म समाजवाद में से पैदा होता है, मगर साथ ही वह उसका सिलसिला और विकसित रूप भी है।

सोवियत समाज की यथार्थ क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए १९५९ में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की इक्कीसवीं कांग्रेस ने देश में कम्युनिज़्म के सर्वतोमुखी निर्माण के दौर के आरंभ की घोषणा की। इस दौर में कम्युनिज़्म के माली व तकनीकी आधार का निर्माण, कम्युनिस्ट सामाजिक संबंधों का विकास और सोवियत लोगों को कम्युनिज़्म की भावना में शिक्षित किया जाना था। इक्कीसवीं कांग्रेस ने १९५९-१९६५ के लिए देश के आर्थिक विकास की सातवर्षीय योजना स्वीकार की, जिसे कम्युनिज़्म निर्माण की पहली सीढ़ी का काम करना था।

अक्तूबर, १९६१ में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की बाईसवीं कांग्रेस ने, जिसमें कोई १,००,००,००० सोवियत कम्युनिस्टों के ५,००० प्रतिनिधि और ८० देशों की कम्युनिस्ट तथा मज़दूर पार्टियों के प्रतिनिधि उपस्थित थे, पार्टी का नया, तीसरा कार्यक्रम अंगीकार किया। उसका मसविदा एक विशेष आयोग ने तैयार किया था और पार्टी की केंद्रीय समिति द्वारा अनुमोदन के बाद उसपर राष्ट्रव्यापी बहस हुई थी, जिसमें कोई ७,३०,००,००० लोगों ने भाग लिया था। इस नये पार्टी कार्यक्रम में कम्युनिज़्म निर्माण के तरीक़ों तथा साधनों का सर्वांगीण विवेचन और भावी कम्युनिस्ट समाज का विस्तृत विवरण दिया गया था। उसमें सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के समाजवाद निर्माण के अनुभव का लेखा-जोखा किया गया था और कम्युनिज़्म की ओर बढ़ने का मार्ग दर्शाया गया था। यह कार्यक्रम मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सृजनात्मक स्वरूप का परिचय देनेवाला एक महान दस्तावेज़ है।

कार्यक्रम के अनुसार कम्युनिज़्म की ओर बढ़ने के लिए सर्वप्रथम कम्युनिज़्म के माली व तकनीकी आधार का निर्माण अत्यावश्यक है, जिसका अर्थ है देश का पूर्ण बिजलीकरण और इस आधार पर उत्पादन प्रविधि तथा संगठन का आधुनिकीकरण, उत्पादन प्रक्रियाओं का सर्वांगीण यंत्रीकरण तथा अधिकाधिक स्वचलीकरण, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में रसायनों का व्यापक

इस्तेमाल और विज्ञान तथा उद्योग को हर प्रकार से परस्पर संबद्ध बनाना।

फलस्वरूप देश की उत्पादक शक्तियां ऐसे स्तर पर पहुंच जायेंगी कि भौतिक वस्तुओं तथा सुविधाओं की कोई कमी नहीं रहेगी। समाजवादी स्वामित्व के वर्तमान काल में जो दो रूप हैं, उनके शनैः शनैः परस्पर विलयन से वर्गीय अंतर मिट जायेंगे और मज़दूर तथा किसान एक वर्गविहीन समाज में रहने लगेंगे। नगर तथा देहात, शारीरिक श्रम और बौद्धिक श्रम के बीच आज जो अंतर मौजूद हैं, वे भी अधिकांशतः समाप्त हो जायेंगे और देश की सभी जातियों के बीच आर्थिक तथा आत्मिक एकता बढ़ जायेगी। सोवियत जनवाद ज्यों-ज्यों विकसित और परिष्कृत होगा और सोवियत नागरिक शासन, सामाजिक कार्यकलाप और उत्पादन में अधिकाधिक भाग लेंगे, त्यों-त्यों सामाजिक स्वशासन संस्थाएं राज्य सत्ता की विभिन्न संस्थाओं का स्थान लेने लगेंगी।

सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का नया कार्यक्रम समूची सोवियत ज़नता का कार्यक्रम था। उसके उदात्त लक्ष्य सभी सोवियत लोगों के बुनियादी हितों पर आधारित थे। यह सुखद भविष्य के लिए, कम्युनिज़्म के लिए, जो समस्त धरती पर शांति, श्रम, स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व तथा सुख की प्रतिष्ठा करता है, संघर्ष की यथार्थपरक योजना थी। इसीलिए सोवियत लोगों ने उसका हार्दिक समर्थन किया और उसे अपनी पूर्ण स्वीकृति प्रदान की।

कम्युनिस्ट श्रम आंदोलन

सोवियत जनता अपार श्रमोत्साह का परिचय देते हुए सातवर्षीय योजना को साकार बनाने में जुट गयी। इस काल में सोवियत मेहनतकशों की पहलक़दमी की सबसे ज्वलंत मिसाल मास्को के उसी रेलवे मार्शलिंग यार्ड के मज़दूरों ने प्रस्तुत की, जहां १९१९ के वसंत में पहला कम्युनिस्ट सुब्बोत्निक (शनिवासरीय श्रमदान) हुआ था। अक्तूबर, १९५८ में इन मज़दूरों ने कम्युनिस्ट श्रम की टोलियों या अग्रणी कम्युनिस्ट कामगर की पदवियों के लिए प्रतियोगिता अभियान का समारंभ किया।

मास्को के रेल मज़दूरों की पहलक़दमी का देश में सर्वत्र स्वागत हुआ और कम्युनिस्ट श्रम अभियान शीघ्र ही सारे देश में फैल गया। उसमें भाग लेनेवालों की संख्या २,३०,००,००० तक पहुंच गयी।

श्रम के प्रति कम्युनिस्ट रवैये की एक अन्य शानदार अभिव्यक्ति थी अग्रणी कामगरों द्वारा पिछड़ी हुई टोलियों, शॉपों या उद्यमों की सहायता। इस आंदोलन की शुरुआत विश्निवोलोचोक सूती मिल की टोली मुखिया वालेंतीना गगानोवा ने की थी। उसकी टोली अग्रणी टोलियों में गिनी जाती

थी और वहां कमाई भी काफ़ी ज़्यादा थी, फिर भी उसने स्वेच्छा से उसे छोड़ दिया और एक पिछड़ी हुई टोली में शामिल हो गयी। उसकी मदद से कुछ ही समय बाद यह टोली भी अग्रणी टोलियों की श्रेणी में आ गयी। गगानोवा की मिसाल का अनुकरण उद्योग, परिवहन तथा कृषि के क्षेत्रों में हज़ारों अन्य अग्रणी कामगरों ने किया।

कम्युनिस्ट श्रम आंदोलन में इंजीनियरों और तकनीशियनों ने भी भाग लिया। श्रम के प्रति प्रदर्शित ऐसे उत्साह के कारण उद्योग तथा परिवहन के विकास के मुख्य-मुख्य योजना लक्ष्य सफलतापूर्वक पूरे कर लिये गये।

सातवर्षीय योजना काल में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास

सातवर्षीय योजना के वर्षों में विराट पैमाने पर, विशेषतः औद्योगिक क्षेत्र में, पूंजीगत निर्माण हुआ। १६५६ तथा १६६५ के बीच ५,५०० से अधिक बड़े औद्योगिक उद्यम बनाये और चालू किये गये। राज्य ने उद्योग, परिवहन तथा कृषि के विकास और रिहायशी मकानों, सांस्कृतिक संस्थाओं तथा सामुदायिक सेवा प्रतिष्ठानों के निर्माण पर २,००,००,००,००,००० रूबल से भी अधिक व्यय किया, यानी जितना कि समाजवाद निर्माण के सारे काल में व्यय किया गया था।

इन सात वर्षों में औद्योगिक उत्पादन ८४ प्रतिशत बढ़ा, जबकि योजना लक्ष्य केवल ८० प्रतिशत था।

देश के पूर्ण बिजलीकरण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सफलता पायी गयी। देश में अनेक नये बिजलीघरों का निर्माण हुआ, जिनमें से हर कोई अपने पूर्ववर्ती से कहीं अधिक शक्तिशाली था, जैसे कामा पर वोत्किन्स्क बिजलीघर (१०,००,००० किलोवाट), वोल्गा पर बाईसवीं पार्टी कांग्रेस बिजलीघर (२३,००,००० किलोवाट), अंगारा पर विश्व का सबसे बड़ा ब्रात्स्क बिजलीघर (४१,००,००० किलोवाट), आदि। १६६५ तक सोवियत बिजलीघरों की कुल क्षमता ११,००,००,००० किलोवाट तक और उत्पादित ऊर्जा की कुल मात्रा ५,०७,००,००,००,००० किलोवाट-घंटे तक पहुंच गयी। परमाणु बिजलीघरों के निर्माण में उल्लेखनीय प्रगति हुई, जिनकी कुल क्षमता अब १०,००,००० किलोवाट तक पहुंच चुकी थी। सभी बिजलीघरों को देश के संयुक्त ऊर्जा ग्रिड से जोड़ने में भी काफ़ी सफलता पायी गयी।

धातुकर्म उद्योग के क्षेत्र में भी सातवर्षीय योजना के लक्ष्य प्राप्त कर लिये गये। १६६५ में ६,१०,००,००० टन इस्पात का उत्पादन हुआ, जबकि योजना लक्ष्य ८,६०,००,०००-६,१०,००,००० टन था। धातुकर्म संयंत्रों,

विशेषतः गैस लाइनों के लिए बड़े व्यास के पाइप बनानेवाले संयंत्रों के निर्माताओं ने भी बड़ा श्रम पराक्रम दिखाया था।

गैस पाइपलाइनों का निर्माण सफलतापूर्वक जारी रहा। १९४० में देश में केवल ३२५ किलोमीटर लंबी गैस पाइपलाइनें थीं, किंतु १९६४ के आरंभ तक उनकी कुल लंबाई ३३,४०० किलोमीटर हो गयी, जिसमें से कोई दो तिहाई सातवर्षीय योजना के दौरान बिछायी गयी थी। नवनिर्मित पाइपलाइनों में २००० किलोमीटर लंबी बुखारा–उराल लाइन भी थी।

रासायनिक कारखानों का निर्माण विशेषतः बृहद् पैमाने पर हुआ। इसमें कोम्सोमोली स्वयंसेवकों–उनकी संख्या कोई १,६०,००० थी–ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया। सातवर्षीय योजना के वर्षों में रसायन उद्योग का उत्पादन २.५ गुना बढ़ा।

१९५९-१९६५ में देश के ईंधन उत्पादन के ढांचे में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये। कोयले के उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ तेल और विशेषतः गैस का उत्पादन भी तेज़ी से बढ़ा। उत्तरी उराल और मध्य एशिया में तेल और गैस के विशाल भंडार पाये गये। मार्च, १९६२ में लेना नदी के किनारे पर ताइगा में बसे मारकोवो गांव के पास साइबेरियाई तेल संपदा का पहली बार दोहन शुरू हुआ। १९६५ में २४,३०,००,००० टन तेल का उत्पादन किया गया, जबकि सातवर्षीय योजना में २३,००,००,०००-२४,००,००,००० टन का ही लक्ष्य निर्धारित किया गया था। ईंधन संतुलन में तेल तथा गैस का हिस्सा १९५८ में ३२ प्रतिशत से बढ़कर १९६५ में ५२ प्रतिशत हो गया।

१९६५ तक देश के रेल परिवहन में डीज़ल तथा बिजली लोकोमोटिव निर्णायक भूमिका अदा करने लग गये। सातवर्षीय योजना के अंत में ७१,००० किलोमीटर रेलमार्गों पर डीज़ल तथा विद्युत कर्षण प्रयोग किया जा रहा था।

इन सब उपलब्धियों की बदौलत सातवर्षीय योजना का बुनियादी लक्ष्य सफलतापूर्वक पा लिया गया। यह लक्ष्य था सर्वाधिक विकसित पूंजीवादी देशों से आर्थिक प्रतियोगिता में यथाशीघ्र आगे निकलना। १९५९-१९६५ में सोवियत संघ का औद्योगिक उत्पादन हर साल औसतन ९.१ प्रतिशत की दर से बढ़ा, जबकि प्रमुख पूंजीवादी देशों में यह औसत दर इस प्रकार रही: संयुक्त राज्य अमरीका (१९५८-१९६४) – ३.९ प्रतिशत, ग्रेट ब्रिटेन – ३.५ प्रतिशत, फ़्रांस – ५.६ प्रतिशत, पश्चिमी जर्मनी – ६.३ प्रतिशत। १९५७ में सोवियत संघ का कुल औद्योगिक उत्पादन संयुक्त राज्य अमरीका के ४७ प्रतिशत के बराबर था, किंतु छह साल बाद, यानी १९६३ में वह लगभग ६५ प्रतिशत के बराबर हो गया। इस बीच सोवियत संघ लौह अयस्क, कोक, कोयला, धातु काटने की लेथों, डीज़ल तथा बिजली लोकोमोटिवों, ट्रैक्टरों,

अनाज हार्वेस्टरों, सीमेंट, कंक्रीट के ब्लाकों, ऊनी तथा फ़्लैक्स के कपड़ों, आदि के उत्पादन में संयुक्त राज्य अमरीका से आगे निकल चुका था।

फिर भी सोवियत उद्योग की प्रगति पूर्णतः संतोषजनक न थी। अनेक नये उद्यमों की उत्पादन क्षमताओं का भरपूर इस्तेमाल नहीं किया जा रहा था। श्रम उत्पादिता की वृद्धि-दर भी कुछ धीमी पड़ गयी थी, जिसका मुख्य कारण यह था कि उत्पादन में विज्ञान और प्रविधि की उपलब्धियों से पर्याप्त लाभ नहीं उठाया जा रहा था। कतिपय माल विदेशी मालों की तुलना में अभी भी घटिया क्वालिटी के थे।

औद्योगिक आयोजन तथा प्रबंध में भी कई गंभीर त्रुटियां रह गयी थीं। मिसाल के लिए, १६५७ में क्षेत्रीय प्रबंध प्रणाली लागू की गयी थी, यानी प्रत्येक आर्थिक क्षेत्र का प्रबंध उसकी आर्थिक परिषद (सोवनरख़ोज़) को सौंप दिया गया था। इस सुधार से उत्पादन विशिष्टीकरण तथा सहयोग की वृद्धि, छोटे-छोटे उद्यमों के एकीकरण, आदि में कुछ हद तक योग अवश्य मिला, किंतु कुल मिलाकर वह कोई ख़ास लाभदायी सिद्ध न हुआ। ऐसी स्थिति में यह अत्यावश्यक बन गया था कि आर्थिक प्रबंध तथा आयोजन में बुनियादी सुधार किया जाये और सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में आर्थिक प्रोत्साहन की प्रणाली अधिक दृढ़ता के साथ लागू की जाये।

कृषि के क्षेत्र में असंतोषजनक प्रगति

औद्योगिक क्षेत्र में तो सातवर्षीय योजना के लक्ष्य सामान्यतया पूरे कर लिये गये थे, किंतु कृषि के क्षेत्र में ऐसा न हो पाया। योजना में कृषि के विकास के जो ऊंचे लक्ष्य निर्धारित किये गये थे, उनकी प्राप्ति के लिए पर्याप्त पूंजी-निवेश का प्रावधान नहीं किया गया था। योजना के पहले वर्षों में तो कृषि में पहले से भी कम पूंजी लगायी गयी। सातवर्षीय योजना के दौरान कृषि का माली व तकनीकी आधार कुछ सुदृढ़ अवश्य बना, मगर सामूहिक और राजकीय फ़ार्मों में कृषि मशीनों और उपकरणों का फिर भी अभाव बना रहा और उपलब्ध मशीनों तथा उपकरणों का भी भरपूर उपयोग नहीं किया गया। यह बात पशुपालन के क्षेत्र पर विशेष रूप से लागू होती थी।

कृषि की प्रगति में १६५६, १६६० और विशेषतः १६६३ के ख़राब मौसमों के कारण भी बड़ी बाधा पड़ी। १६६३ में पहले तो सख़्त ठंड पड़ी, फिर वसंत का मौसम देर तक बना रहा और इसके बाद गरमियों में भयंकर सूखा पड़ा। उस वर्ष सरकार केवल ४,४८,००,००० टन अनाज की ही वसूली कर पायी, जो १६६२ की तुलना में कोई १,२०,००,००० टन कम था। फलस्वरूप उसे बड़ी मात्रा में विदेशों से अनाज ख़रीदना पड़ा।

पार्टी की केंद्रीय समिति का
अक्तूबर (१९६४) प्लेनम

अक्तूबर, १९६४ में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति का प्लेनम हुआ, जिसने अनेक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक व आर्थिक समस्याओं के समाधान में बहुत बड़ी भूमिका निभायी। प्लेनम ने आर्थिक प्रश्नों के समाधान में आत्मपरकता तथा संकल्पवाद दिखाने और प्रशासनिक तरीक़ों पर भरोसा करने की प्रवृत्ति की निंदा की। उसने निकीता सेर्गेयेविच ख़ुश्चोव को पार्टी की केंद्रीय समिति के प्रथम सचिव के पद से हटा दिया और लेओनीद इल्यीच ब्रेज्नेव को प्रथम सचिव निर्वाचित किया। उसी समय सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत ने भी अलेक्सेई निकोलायेविच कोसीगिन को सोवियत मंत्रिपरिषद का अध्यक्ष नियुक्त किया।

सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति का अक्तूबर प्लेनम देश के विकास में एक महत्त्वपूर्ण मंज़िल सिद्ध हुआ। उसका पार्टी तथा राज्य के कार्यकलाप के सभी पहलुओं पर हितकर प्रभाव पड़ा और देश में कम्युनिज़्म की माली व तकनीकी बुनियाद के निर्माण की प्रक्रिया तीव्रतर हो गयी।

केंद्रीय समिति के सितंबर, १९६५ के प्लेनम के औद्योगिक प्रबंध तथा आयोजन में सुधार तथा आर्थिक प्रोत्साहन नीति से संबंधित निर्णय भी कम महत्त्वपूर्ण न थे। प्लेनम ने उद्योगों में क्षेत्रीय प्रबंध के स्थान पर मंत्रालयों के माध्यम से शाखागत प्रबंध की प्रणाली लागू करने और मंत्रालयों को अपने अधीन स्थित उद्योग-शाखाओं का विज्ञान तथा प्रविधि की नवीनतम उपलब्धियों के आधार पर सर्वतोमुखी विकास करने के लिए उत्तरदायी बनाने का निर्णय किया। इसके साथ ही यह फ़ैसला किया गया कि उद्यमों की कार्य तथा आर्थिक स्वतंत्रता का विस्तार तथा उनके कार्य पर लगे अनावश्यक प्रतिबंधों का ख़ात्मा किया जायेगा, उन्हें उत्पादन के विस्तार तथा सुधार के लिए आवश्यक साधन मुहैया किये जायेंगे और लाभ, क़ीमत बोनस तथा उधार जैसे महत्त्वपूर्ण आर्थिक उत्तोलकों का व्यापक प्रयोग किया जायेगा।

इन सब कार्रवाइयों का मुख्य उद्देश्य उद्योगों के प्रबंध व संचालन में आर्थिक तरीक़ों को सर्वोपरि महत्त्व देना था।

कृषि से संबंधित प्रश्नों पर केंद्रीय समिति के मार्च, १९६५ के प्लेनम में विचार किया गया। उसने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की इस महत्त्वपूर्ण शाखा के यथाशीघ्र विकास के उद्देश्य से कतिपय आर्थिक कार्रवाइयां प्रस्तावित कीं, जैसे कृषि के क्षेत्र में कहीं ज़्यादा पूंजी लगाना, कृषि मशीनों तथा उपकरणों का उत्पादन और अधिक बढ़ाना, खेती में बिजली तथा रसायनों का व्यापक उपयोग और सिंचाई तथा भूउद्धरण का विकास। कृषि उत्पादन के नियोजन

तथा राज्य द्वारा खरीद की व्यवस्था में सुधार किया गया। अनाज के क्रय मूल्य काफ़ी बढ़ा दिये गये।

सामूहिक तथा राजकीय फ़ार्मों की प्रबंध व्यवस्था सुधारने और सामूहिक फ़ार्म जनवाद को सुदृढ़ बनाने के बारे में भी महत्त्वपूर्ण निर्णय किये गये। फ़ार्मों को उनके आर्थिक कार्यकलाप, उत्पादन योजनाओं के निर्माण, आय के वितरण, इत्यादि मामलों में व्यापक स्वतंत्रता दी गयी। सामूहिक तथा राजकीय फ़ार्मों में सामाजिक उत्पादन के विकास को सर्वोपरि महत्त्व देने के साथ-साथ पार्टी और राज्य ने किसानों, मज़दूरों तथा कर्मचारियों की व्यक्तिगत पूरक कृषि और विशेषतः मवेशी रखने के अधिकार पर लगी कई पाबंदियां हटा दीं।

देहाती मेहनतकशों ने केंद्रीय समिति के मार्च, १९६५ के प्लेनम के निर्णयों का स्वागत किया। इन निर्णयों पर अमल किये जाने से सामूहिक तथा राजकीय फ़ार्मों की और कृषि कामगरों की भी आर्थिक स्थिति में उल्लेखनीय सुधार आने लगा।

आर्थिक खुशहाली में वृद्धि

१९६० के अंत तक सभी मज़दूरों और कर्मचारियों के लिए काम का दिन सात और छह घंटे का कर दिया गया था। किंतु इससे लोगों के वेतनों में कमी के बजाय, उल्टे, उल्लेखनीय वृद्धि ही हुई। मिसाल के लिए, रसायन उद्योग के कामगरों का वेतन १२ प्रतिशत और लौह उद्योग के कामगरों का वेतन ११ प्रतिशत बढ़ा। न्यूनतम वेतनों में एक बार पुनः वृद्धि की गयी और इस प्रकार उच्च और निम्न वेतन कोष्ठकों के बीच अंतर कम करने की दिशा में एक और क़दम बढ़ाया गया। राज्य ने नागरिकों पर लगाये जानेवाले करों में भी निरंतर कटौती की। १ अक्तूबर, १९६० से ६० रूबल तक की मासिक आय को करमुक्त बना दिया गया। १९६४ के ग्रीष्म में सरकार ने सामूहिक किसानों के लिए भी पेंशन तथा भत्तों की व्यवस्था करने और शिक्षा, स्वास्थ्य, आवासीय तथा सामुदायिक सेवाओं, व्यापार, सार्वजनिक आहार और कतिपय अन्य सेवा उद्योगों में काम करनेवालों के वेतन बढ़ाने की घोषणा की। देश के एक चौथाई मज़दूरों और कर्मचारियों के वेतन में इस प्रकार औसतन २१ प्रतिशत वृद्धि हुई।

सामाजिक उपभोग कोषों की भी निरंतर अभिवृद्धि होती गयी, जो कि बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। फलस्वरूप निःशुल्क शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, पेंशनों तथा विभिन्न भत्तों, सवेतन छुट्टियों, आदि सुविधाओं का भी उत्तरोत्तर विस्तार हुआ। मिसाल के लिए, १९६३ में २,६०,००,००० लोग राज्य

से और आंशिकत: सामूहिक फ़ार्मों से पेंशन पाते थे ; ५०,००,००० से अधिक विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां और छात्रावास सुविधाएं मिलती थीं ; कोई १,००,००,००० बच्चों के लिए किंडरगार्टनों तथा शिशुगृहों की व्यवस्था थी ; और ६०,००,००० से अधिक मेहनतकशों और उनके बच्चों ने सेनेटोरियमों, विश्रामगृहों, पायनियर शिविरों, आदि में विश्राम या स्वास्थ्यलाभ किया, जिसका पूरा या आंशिक ख़र्च सामाजिक बीमा कोषों और सामूहिक फ़ार्मों ने उठाया। १९६३ में बचत बैंकों में लोगों के १४,००,००,००,००० रूबल जमा थे, जबकि १९५३ में ऐसी बचतों की कुल रक़म केवल ३,८०,००,००,००० रूबल थी।

वास्तविक आमदनी में वृद्धि के साथ लोगों की क्रयशक्ति और उत्कृष्ट क्वालिटी के उपभोक्ता मालों की ख़पत भी बढ़ती गयी।

१९५९-१९६५ में रिहायशी मकानों का निर्माण अभूतपूर्व पैमाने पर हुआ। अकेली इस अवधि में ही लगभग इतने मकान बनाये गये, जितने कि सोवियत सत्ता के पहले सभी वर्षों में कुल मिलाकर बनाये गये थे।

काम और रहन-महन की परिस्थितियों में सर्वतोमुखी सुधार से देश में, एक ओर, मृत्यु-दर घटी और, दूसरी ओर, सोवियत नागरिकों की आयु-संभाविता ७० वर्ष की सीमा पार कर गयी। जन्म-दर पहले जैसी ही ऊंची बनी रही, जिससे आबादी में काफ़ी वृद्धि हुई। १९६५ में देश की कुल जनसंख्या २३,००,००,००० से अधिक थी, जिसका यह मतलब था कि गत सात वर्षों में उसमें २,००,००,००० से ज़्यादा की वृद्धि हुई थी।

अंतरिक्ष विजय

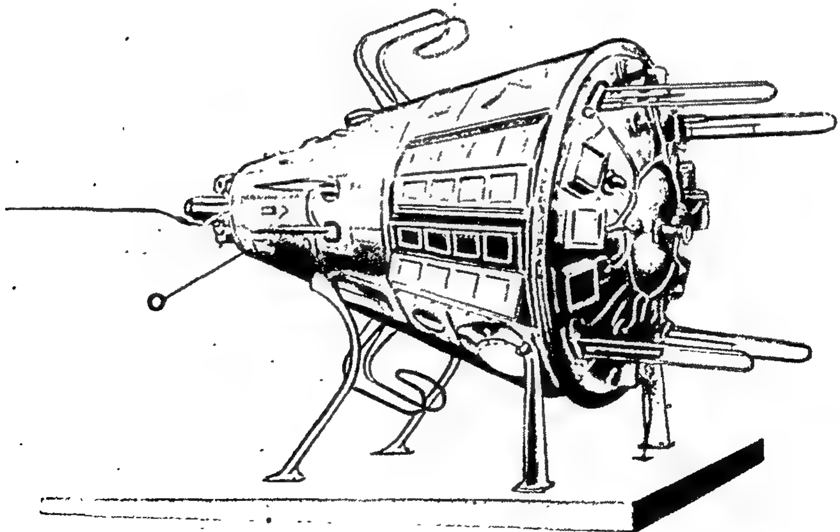
सातवर्षीय योजना के वर्षों में सोवियत विज्ञान और प्रविधि ने अनेकानेक महती सफलताएं पायीं, जिनमें सबसे असाधारण बाह्याकाश के अनुसंधान के क्षेत्र में प्राप्त सफलताएं थीं।

१९५७ में विश्व का पहला कृत्रिम भू-उपग्रह छोड़े जाने के बाद से सोवियत अनुसंधान कार्यक्रम का निरंतर विस्तार होता गया था। १९५९ में एक सोवियत राकेट ने चंद्रमा पर सोवियत संघ के राज्यचिह्न से युक्त धातु फलक पहुंचाया। उसी वर्ष अक्तूबर में एक सोवियत स्वचालित अंतर्ग्रहीय स्टेशन ने चंद्रमा के पृथ्वी से अदृष्ट भाग के चित्र खींचकर टेलीविजन द्वारा उन्हें पृथ्वी पर भेजा।

किंतु इस अंतरिक्ष विजय कार्यक्रम का पराकाष्ठा-बिंदु था बाह्याकाश में मानव की उड़ान। १२ अप्रैल, १९६१ को कम्युनिस्ट, विमानचालक-

22*

अंतरिक्षयात्री यूरी गगारिन ने 'वोस्तोक' अंतरिक्षयान में बैठकर इतिहास में पहली बार बाह्याकाश में १०८ मिनट तक पृथ्वी की परिक्रमा की और धरती पर पूर्वनिर्धारित स्थान पर सकुशल लौट आया। मानव की प्रथम उड़ान के समाचार से सारे विश्व में सनसनी मच गयी। ६ अगस्त, १९६१ को गेर्मान तितोव ने 'वोस्तोक-२' अंतरिक्षयान द्वारा गगारिन के कारनामे की पुनरावृत्ति की। २५ घंटे और १८ मिनट में पृथ्वी की १७ परिक्रमाएं करके 'वोस्तोक-२' पृथ्वी पर पूर्वनिर्धारित स्थान पर सकुशल उतर गया। ११ और १५ अगस्त, १९६२ के बीच अंद्रियान निकोलायेव और पावेल पोपोविच ने 'वोस्तोक-३' और 'वोस्तोक-४' यानों में इतिहास में पहली बार सामूहिक अंतरिक्ष उड़ान पूरी की। इससे भी महत्वाकांक्षापूर्ण उड़ान जून, १९६३ में वलेरी बिकोव्स्की और विश्व की पहली महिला अंतरिक्षयात्री वलेंतीना तेरेश्कोवा की उड़ान थी, जो अंतरिक्ष में क्रमशः ११९ और ७१ घंटे रहे। अक्तूबर, १९६४ में 'वोस्खोद' नामक मानवचालित अंतरिक्षयान छोड़ा गया, जिसमें तीन आदमी सवार थे: यान का कमांडर व्लादीमिर कोमारोव, अनुसंधानकर्मी कोंस्तान्तिन फ़ेओक्तीस्तोव और चिकित्साशास्त्री बोरीस येगोरोव।



सोवियत कृत्रिम उपग्रह



अंतरिक्ष-यात्री यूरी गगारिन

१८ मार्च, १९६५ को 'वोस्खोद-२' यान ने अंतरिक्ष में प्रवेश किया, जिसका कमांडर पावेल वेल्यायेव था। उसके सहयात्री अलेक्सेई लेओनोव ने विशेष पोशाक पहनकर यान के बाहर खुले बाह्याकाश में क़दम रखा और इस प्रकार निस्सीम अंतरिक्ष में विचरण करनेवाला पहला मानव होने का श्रेय प्राप्त किया।

सामाजिक उत्पादन की परिणामदायिता बढ़ाने की दिशा में

१९६६ के मार्च अंत और अप्रैल आरंभ में मास्को में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की तेईसवीं कांग्रेस हुई, जिसमें आगामी वर्षों के लिए सोवियत जनता के कार्यभार निर्धारित किये गये। कांग्रेस ने अपने निर्णयों में सोवियत समाज के विकास के तत्कालीन चरण और अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं तथा प्रक्रियाओं का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया। उसने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबंध की प्रणालियों तथा विधियों में सुधार से संबंधित पार्टी की केंद्रीय समिति के प्रस्तावों और योजना-निर्माण तथा आर्थिक प्रोत्साहनों की नयी व्यवस्था का अनुमोदन किया और १९६६-१९७० की अवधि के लिए देश की नयी (आठवीं) पंचवर्षीय आर्थिक विकास योजना विषयक पार्टी निर्देशों की पुष्टि की। इस योजना में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सभी शाखाओं का आगे भी तीव्र गति से विकास करते रहने पर ज़ोर दिया गया था।

नयी योजना के क्रियान्वयन के पहले वर्ष में ही अनेक ठोस व महत्त्वपूर्ण सफलताएं पा ली गयीं। औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्यों की कुल मिलाकर पूर्ति ही नहीं, अतिपूर्ति भी की गयी। उन उद्योगों का विशेषत: तीव्र गति से विकास हुआ, जो आधुनिक परिस्थितियों में प्राविधिक प्रगति के स्तर के सूचक माने जाते हैं, जैसे इंजीनियरिंग, रसायन, धातुकर्म, विद्युत-ऊर्जा, आदि। अनेक नये औद्योगिक उद्यमों ने उत्पादन शुरू किया। इनमें उल्लेखनीय थे ब्रात्स्क अल्यूमीनियम कारख़ाना, अरागात्स्क पेर्लाइट कारख़ाना (वह देश में अपने प्रकार का सबसे बड़ा उद्यम था), प्रिमोर्स्क उत्खनन तथा रसायन उद्योग समूह, नोवोलिपेत्स्क धातुकर्म कारख़ाना, इजेव्स्क मोटर-गाड़ी कारख़ाना और द्नेप्रोद्ज़ेर्जीन्स्क पनबिजलीघर। साथ ही साथ खाद्य-वस्तु तथा हल्के उद्योगों के तीव्र विकास के लिए और उत्पादन साधनों तथा उपभोक्ता मालों की उत्पादन वृद्धि-दरों के बीच संतुलन स्थापित करने के लिए भी आवश्यक क़दम उठाये गये। सोवियत जनता के रहन-सहन का स्तर और ऊंचा उठाने के लिए यह अत्यावश्यक था।

यही उन बहुविध क़दमों का भी उद्देश्य था, जो पार्टी की केंद्रीय समिति के मार्च, १९६५ के प्लेनम के कृषि संबंधी निर्णयों को व्यावहारिक रूप देने के लिए उठाये गये थे। १९६६ के अंत तक अधिसंख्य सामूहिक फ़ार्मों ने गारंटीशुदा मासिक मेहनताने की प्रणाली अपना ली, जिसके फलस्वरूप कृषि उत्पादन की परिणामदायिता की वृद्धि में मदद मिली। ऊंचे क्रय-मूल्यों का निर्धारण, राज्य को कोटा से अधिक कृषि उत्पाद बेचने के लिए अतिरिक्त बोनस, आदि उपाय भी बहुत कारगर सिद्ध हुए। १९६६ में सोवियत संघ

में रिकार्ड मात्रा में पैदावार हुई। इतनी फ़सल देश के सारे इतिहास में पहले कभी नहीं हुई थी। इस प्रकार कृषि के दीर्घकालीन पिछड़ेपन का अंत करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण क़दम उठाया गया, जिसके बिना उन आर्थिक सुधारों की सफलता अकल्पनीय थी, जो १९६६ में शुरू किये गये थे और जिनका उद्देश्य समाजवादी उत्पादन को एक नये, अधिक ऊंचे और आधुनिक वैज्ञानिक प्राविधिक क्रांति के अनुरूप स्तर पर पहुंचाना था।

विज्ञान तथा प्रविधि के क्षेत्र में सोवियत संघ की उपलब्धियों को विश्वव्यापी मान्यता प्राप्त हुई। इस क़ाल में सोवियत विज्ञान तथा प्रविधि ने चंद्रमा के अध्ययन में असाधारण सफलताएं पायीं। फ़रवरी, १९६६ में इतिहास में पहली बार एक सोवियत स्वचालित अंतरिक्ष स्टेशन – 'लुना-९' – ने चांद्र धरातल पर सहज अवतरण किया और वहां से रेडियो तथा टेलीविजन द्वारा अपार वैज्ञानिक महत्त्व की सूचनाएं पृथ्वी पर भेजीं। उसी वर्ष दिसंबर में 'लुना-१३' स्वचालित स्टेशन ने भी चंद्रमा पर सहज अवतरण किया। उससे ऐसी वैज्ञानिक जानकारियां प्राप्त हुईं, जो अन्य ग्रहों तक मानव की उड़ानों की तैयारियों के लिए आवश्यक थीं। अप्रैल, १९६६ में 'लुना-१०' नामक सोवियत स्वचालित स्टेशन चंद्रमा की कक्षा में भेजा गया और वह कृत्रिम उपग्रह के रूप में चंद्रमा की परिक्रमा करने लगा। उससे लगातार रेडियो संपर्क रखा गया था। यह भी अपने प्रकार की पहली घटना थी। अंतरिक्षीय विस्तार के अनुसंधान तथा अध्ययन के क्षेत्र में सोवियत संघ द्वारा प्राप्त इन और अन्य उपलब्धियों ने प्रदर्शित किया कि सोवियत अर्थव्यवस्था, विज्ञान, प्रविधि और संस्कृति विकास के कितने ऊंचे स्तर पर पहुंच गये हैं।

अक्तूबर क्रांति की पचासवीं जयंती

सोवियत जनता ने मानव कार्यकलाप के सभी क्षेत्रों में अत्यंत भव्य सफलताओं के साथ महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति की पचासवीं जयंती मनायी। सोवियत लोग अपने सोवियत राज्य की ऐतिहासिक उपलब्धियों पर गर्व कर सकते थे, जिनकी बदौलत क्रांति से पहले का पिछड़ा, कृषिप्रधान रूस अब आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से उन्नत आधुनिक राष्ट्र बन बैठा था। अपार प्राकृतिक संपदा का स्वामी होने के बावजूद १९१३ में ज़ारशाही रूस का विश्व के औद्योगिक उत्पादन में योगदान ४ प्रतिशत से कुछ ही अधिक था और १९१७ में तो वह ३ प्रतिशत जितना भी नहीं रह गया था। मगर सोवियत सत्ता के ५० वर्षों में वह बढ़कर २० प्रतिशत तक हो गया! महान

अक्तूबर समाजवादी क्रांति के अर्ध-शताब्दी वर्ष में सोवियत समाजवादी उद्योग ने क्रांतिपूर्व रूस की अपेक्षा ७३ गुना अधिक उत्पादन किया। यह तीव्र और अनवरत प्रगति अर्थव्यवस्था का समाजवादी ढंग से संचालन करने का परिणाम थी। यदि हम, मिसाल के लिए, १६२६ से लेकर १६६७ तक का काल लें, तो पायेंगे कि इस काल में सोवियत संघ में औद्योगिक उत्पादन प्रति वर्ष औसतन ११.१ प्रतिशत की दर से बढ़ा, जबकि संयुक्त राज्य अमरीका में ४ प्रतिशत और ग्रेट ब्रिटेन तथा फ़्रांस में २.५ प्रतिशत की दर से ही। अकेले १६६७ में ही सोवियत संघ ने उतना माल उत्पादित किया, जितना युद्धोत्तर काल की पहली पंचवर्षीय योजना (१६४६-१६५०) के सभी वर्षों में कुल मिलाकर किया गया था।

इन आंकड़ों का पूरा महत्त्व समझने के लिए हमें यह भी याद रखना होगा कि सोवियत जनता को अपनी समाजवादी अर्थव्यवस्था का निर्माण किन परिस्थितियों में करना पड़ा था। अक्तूबर क्रांति के बाद के ५० वर्षों में मे २० वर्ष या तो उन युद्धों में गुज़रे, जो विश्व साम्राज्यवाद ने सोवियत मंघ पर थोपे थे और जिनके फलस्वरूप देश में अपार विनाश हुआ था, या फिर युद्धध्वस्त अर्थव्यवस्था के पुनरुद्धार में, जिससे विकास की रफ़्तार काफ़ी धीमी हो गयी थी। फिर भी सोवियत जनता एक ऐसे उद्योग की स्थापना करने में सफल रही, जिसका वास्तव में न केवल नये सिरे से निर्माण किया गया था, वल्कि जो अपनी शक्ति और क्षमता की दृष्टि से केवल संयुक्त राज्य अमरीका के उद्योग से ही उन्नीस था, हालांकि यह अंतर भी उत्तरोत्तर घटता जा रहा था। सोवियत उद्योग न केवल राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था, बल्कि आर्थिक सहायता कार्यक्रम के अंतर्गत अन्य देशों, विशेषतः समाजवादी देशों और अफ़्रेशियाई विकासमान देशों को भेजे जाने के लिए भी बड़ी मात्रा में माल तैयार करता था।

जयंती वर्ष में कोई ४०० बड़े औद्योगिक उद्यमों ने उत्पादन शुरू किया। उनमें ब्रात्स्क का पनविजलीघर भी था, जिसकी कुल क्षमता ४१,००,००० किलोवाट थी और जो आज भी विश्व का सबसे बड़ा पनबिजलीघर है। उसी वर्ष क्रास्नोयार्स्क पनविजलीघर की, जिसकी कुल क्षमता ६०,००,००० किलोवाट होगी, पहली दो जेनरेटिंग यूनिटें भी काम करने लगीं। जयंती की पूर्ववेला में क्रिवाई रोग के व्ला० इ० लेनिन धातुकर्म कारख़ाने में विश्व की सबसे वड़ी धमनभट्ठी चालू की गयी और मध्य एशिया को सोवियत संघ के केंद्रीय भाग से जोड़नेवाली पाइपलाइन से उज़्वेकिस्तान तथा तुर्कमानिस्तान की गैस उराल क्षेत्र, मास्को और लेनिनग्राद को मिलने लगी। इस पाइपलाइन की लंबाई २७५० किलोमीटर है और वह प्रतिवर्ष १०,५०,००,००,००० घनमीटर गैस पहुंचा सकती है। प्राविधिक प्रगति के अनुरूप देश के ईंधन

संतुलन में सुधार लाने के लिए कई अन्य गैस तथा तेल पाइपलाइनों का निर्माण भी चल रहा था। १९६७ तक देश के ईंधन संतुलन में गैस और तेल का हिस्सा ५५ प्रतिशत हो गया, जबकि १९६० में वह ३८.४ प्रतिशत ही था।

धातुकर्म उद्योग ने भी बड़ी प्रगति कर ली थी। जयंती वर्ष में देश के इतिहास में पहली बार १०,००,००,००० टन से अधिक इस्पात तैयार किया गया। कोयले का उत्पादन ६०,००,००,००० टन तक पहुंच गया। महत्त्वपूर्ण ईंधनों के उत्पादन लक्ष्य नियत समय के भीतर-भीतर पूरे कर लिये गये। यंत्र-निर्माण, रसायन, हल्के और खाद्यसामग्री उद्योग भी तीव्र गति से विकास कर रहे थे। १९६७ में आर्थिक सुधार के प्रभाव अनुभव किये जाने लगे। इस सुधार के परिणामस्वरूप योजना-प्रणाली अधिक विज्ञान-सम्मत बन गयी और वैज्ञानिक व प्राविधिक उपलब्धियों का उत्पादन में उपयोग आसान बन गया। १९६७ के अंत तक कोई ७००० उद्यम, जिनके हिस्से में देश का ४० प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन आता था, नयी प्रणाली के अनुसार काम करने लग गये। औद्योगिक क्षेत्र में अनेक प्रकार के नये, उत्कृष्ट क्वालिटी के मालों का बृहद पैमाने पर उत्पादन आरंभ हुआ। उत्पादन प्रक्रियाओं का सर्वांगीण यंत्रीकरण तथा स्वचलीकरण और भी तेज़ी से पूरा किया जाने लगा।

समाजवादी उद्योग की इन सभी सफलताओं का श्रेय सोवियत मज़दूर वर्ग को था। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में वही सबसे आगे रहकर कम्युनिज़्म का निर्माण कर रहा था और अपने अथक श्रम से मार्क्सवाद-लेनिनवाद के आदर्शों को व्यावहारिक रूप दिया जाना सुनिश्चित बना रहा था। अपने देश की आर्थिक क्षमता बढ़ाने के लिए सोवियत जनता किन्हीं भी कठिनाइयों से नहीं घबरायी, चाहे वे कितनी भी भीषण क्यों न रही हों। ग्रीष्म, १९६७ के भूचाल से बुरी तरह ध्वस्त उज़्बेक राजधानी ताशक़ंद के पुनर्निर्माण के लिए सोवियत संघ के सभी मेहनतकशों द्वारा दी गयी सहायता इस आत्मत्याग की एक शानदार मिसाल थी।

सोवियत अर्थव्यवस्था की सफलताओं में जयंती वर्ष के समाजवादी श्रम प्रतियोगिता आंदोलन ने बड़ा योगदान किया था। करोड़ों मेहनतकशों ने उसमें भाग लिया। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति, सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत के अध्यक्षमंडल, सोवियत संघ की मंत्रिपरिषद और अखिल संघीय ट्रेड यूनियन परिषद ने इन प्रतियोगिताओं के विजेता सर्वोत्कृष्ट उद्यमों और संगठनों के कर्मीदलों को स्मारक पताकाएं देकर सम्मानित किया।

समाजवादी कृषि के क्षेत्र में काम करनेवाले मेहनतकशों ने भी महान अक्तूबर की पचासवीं जयंती ससम्मान मनायी। मौसम काफ़ी अधिक ख़राब

रहने के बावजूद १९६७ में उन्होंने १९६६ से भी अधिक अनाज पैदा करके दिखाया। उस वर्ष पूर्ववर्ती पांच वर्षों के वार्षिक औसत से १३ प्रतिशत अधिक अनाज बटोरा गया। इसके साथ ही मुख्य नक़द फ़सलों की पैदावार भी काफ़ी बढ़ी। यह सब कृषि क्षेत्र में आये महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का ही प्रमाण था। सोवियत सत्ता के पहले ५० वर्षों में सोवियत संघ का कृषि उत्पादन लगभग तिगुना बढ़ गया था।

और अब जयंती वर्ष में सोवियत विज्ञान तथा तकनीक द्वारा प्राप्त सफलताओं पर दृष्टिपात करें। जून, १९६७ में 'वेनेरा-४' स्वचालित अंतरिक्ष स्टेशन छोड़ा गया, जो ३५,००,००,००० किलोमीटर का फ़ासला तय करके अक्तूबर महीने में शुक्र ग्रह पर पहुंचा। अंतरिक्ष अध्ययन के क्षेत्र में इससे भी बड़ी उपलब्धि थी अक्तूबर के अंत में पहली बार अंतरिक्ष में दो कृत्रिम भू-उपग्रहों – 'कोस्मोस-१८६' और 'कोस्मोस-१८८' – का स्वचालित संयोजन और वियोजन। परमाणु नाभिक के अनुसंधानकर्ताओं के लिए इस वर्ष उच्च ऊर्जा भौतिकी संस्थान में विश्व का सबसे बड़ा प्रोटोन त्वरित्र चालू किया गया, जिसकी मदद से ७०,००,००,००,००० इलेक्ट्रोन-वोल्ट का प्रोटोन किरण-पुंज पैदा किया जा चुका है। राकेट तथा विमानन इंजीनियरी, इलेक्ट्रा-निकी, ऊर्जाविज्ञान, यंत्रनिर्माण और बहुत सी दूसरी विज्ञान तथा प्रविधि शाखाओं में सोवियत वैज्ञानिकों की खोजों की ख्याति दूर-दूर तक फैली।

किंतु उद्योग, कृषि और विज्ञान का निरंतर विकास अपने आप में अंतिम लक्ष्य न था। वास्तविक लक्ष्य तो यह था कि इनके विकास के माध्यम से सोवियत मेहनतकशों की भौतिक व आत्मिक आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति के लिए सभी जरूरी साधन जुटाये जायें। सितंबर, १९६७ में हुए पार्टी की केंद्रीय समिति के प्लेनम ने इस संबंध में एक कार्यक्रम बनाया। न्यूनतम वेतन की मात्रा में पुनः वृद्धि की गयी; कतिपय श्रेणियों के मज़दूरों की सवेतन छुट्टियां बढ़ायी गयीं और पेंशन नियमों में सुधार किया गया। इन कार्रवाइयों से ५,००,००,००० से अधिक मेहनतकशों को लाभ पहुंचा। आवास समस्या के हल के लिए भी बहुत कुछ किया गया। छठे और सातवें दशकों में सोवियत संघ में विश्व के किसी भी दूसरे देश की अपेक्षा अधिक तेज़ी से नये रिहायशी मकानों का निर्माण किया जा रहा था। १९५७ और १९६७ के बीच देश की लगभग आधी आबादी को नये मकान मिले या उनकी आवास परिस्थितियां बेहतर बनायी गयीं। यह भी उल्लेखनीय है कि सोवियत संघ में मकान का किराया परिवार की आय के ४-५ प्रतिशत से अधिक नहीं होता है।

सोवियत सत्ता के पहले ५० वर्षों में मज़दूरों की वास्तविक आमदनी ६.५ गुना और किसानों की वास्तविक आमदनी ८.५ गुना बढ़ी। १९६७ में

५ दिन का कार्य-सप्ताह भी लागू कर दिया गया। शेष दो दिन छुट्टी होती है।

संक्षेप में ये थीं कुछेक शानदार उपलब्धियां, जिनके साथ सोवियत जनता ने अपने महान पर्व, अपनी क्रांति की पचासवीं जयंती का स्वागत किया। विश्व के सभी महाद्वीपों के ९५ देशों के बहुसंख्य प्रतिनिधि भी जयंती समारोहों में भाग लेने मास्को पहुंचे।

समारोहों का आरंभ क्रेमलिन में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत राज्य के संस्थापक व्ला० इ० लेनिन की प्रतिमा के अनावरण के साथ हुआ। ३ नवंबर, १९६७ को क्रेमलिन के सम्मेलन प्रासाद में महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति की पचासवीं जयंती के उपलक्ष्य में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति, सोवियत संघ व रूसी संघ की सर्वोच्च सोवियतों का संयुक्त अधिवेशन हुआ। उसमें वे लोग उपस्थित थे, जिनके शौर्य, श्रम तथा आत्मत्याग की बदौलत सोवियत संघ ने युद्ध और शांतिमय निर्माण में इतनी शानदार विजयें प्राप्त की थीं। अधिवेशन में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के महासचिव लेओनीद ब्रेज्नेव ने "समाजवाद की महान विजयों के ५० वर्ष" शीर्षक रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें उन ५० वर्षों में सोवियत जनता द्वारा तय किये गये संघर्ष तथा सफलताओं के पथ का सिंहावलोकन और समस्त प्रगतिशील मानवजाति के आगे-आगे आत्मविश्वास के साथ कम्युनिज़्म के शिखरों की ओर बढ़ रहे सोवियत देश की ऐतिहासिक उपलब्धियों की प्रेरक शक्तियों का गहन विश्लेषण किया गया था। रिपोर्ट में बताया गया था कि समाजवादी व्यवस्था द्वारा प्रदत्त अपार अवसरों से अधिकतम लाभ उठाने के लिए अभी क्या-क्या किया जाना बाक़ी है।

विदेशी प्रतिनिधिमंडलों के नेताओं ने अपने अभिनंदन भाषणों में सोवियत जनता की उन शानदार सफलताओं की प्रशंसा की, जो विश्व के सभी क्रांतिकारियों को उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध संघर्ष के लिए प्रेरित करती हैं। उदाहरण के लिए, फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव वाल्देक रोशे ने अपने भाषण में कहा था, "ये सभी विजयें, जिनकी शानदार मिसाल आपकी अंतरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में प्राप्त सफलताएं तथा उपलब्धियां हैं, इसीलिए संभव हो सकी हैं कि सोवियत संघ लेनिन की पार्टी – सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी – के नेतृत्व में, एक ऐसी, नये प्रकार की मज़दूर पार्टी के नेतृत्व में समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है, जिसका सारा कार्यकलाप वैज्ञानिक समाजवाद पर आधारित है और जो जनसामान्य से घनिष्ठ संबंध बनाये रखती है तथा उसे क्रांतिकारी संघर्ष तथा सृजनात्मक श्रम के लिए संगठित करती है।" वक्ताओं ने सोवियत जनता को समाजवाद तथा कम्युनिज़्म के प्रथम निर्माता होने के उसके गौरवपूर्ण पथ पर नित नयी सफलताओं की कामना की।

५ नवंबर, १९६७ को सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत के अध्यक्षमंडल और सोवियत मंत्रिपरिषद ने "सोवियत जनता के नाम, सोवियत समाजवादी जनतत्र सघ के सभी मेहनतकशों के नाम" शीर्षक एक आह्वानपत्र प्रकाशित किया। इस दस्तावेज़ में विगत का लेखा-जोखा और यह दृढ़ विश्वास प्रकट किया गया था कि सोवियत जनता कम्युनिज़्म निर्माण के अपने ध्येय में और भी बड़ी सफलताएं प्राप्त करेगी। महान अक्तूबर क्रांति की पचासवीं जयंती के सम्मान में एक नया पदक – अक्तूबर क्रांति पदक स्थापित किया गया। वह सबसे पहले क्रांति की जन्मस्थली लेनिनग्राद और सोवियत संघ की राजधानी मास्को को प्रदान किया गया। जयंती के उपलक्ष्य में १,२८,००० से अधिक लोगों को सोवियत संघ के विभिन्न पदक तथा तमगे देकर सम्मानित किया गया, जिन्होंने अक्तूबर क्रांति तथा गृहयुद्ध में सक्रिय भाग लिया था। उनमें अनेक विदेशी क्रांतिकारी भी थे। जयंती समारोहों ने सारे विश्व के क्रांतिकारियों की अंतर्राष्ट्रीय एकता का शानदार प्रदर्शन किया।

विश्व शांति और राष्ट्रों की स्वाधीनता के लिए संघर्ष

अपनी विदेशनीति के लेनिनीय सिद्धांतों से न डिगते हुए सोवियत संघ राष्ट्रों के बीच शांति और निरस्त्रीकरण के लिए दृढ़ संघर्ष और उन सभी जनों का भरपूर समर्थन करता रहा, जो साम्राज्यवाद और प्रतिक्रिया के हमलों से अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर रहे थे। विश्व जनमत द्वारा वियतनाम की धरती से अमरीकी फ़ौजें हटाये जाने की उत्तरोत्तर दृढ़ मांगों के बावजूद छठे दशक के उत्तरार्ध में वियतनाम में अमरीकी आक्रमण अपने चरम पर पहुंच गया था। उधर जून, १९६७ में पड़ोसी अरब देशों पर इजरायल के आक्रमण और उसके द्वारा सिनाई प्रायद्वीप, जोर्डन नदी के पश्चिमी तट तथा गोलान पहाड़ियों में विशाल अरब इलाक़ों पर क़ब्ज़ा कर लिये जाने की वजह से अंतर्राष्ट्रीय तनाव का एक और खतरनाक स्रोत पैदा हो गया था। किंतु इन कठिन परिस्थितियों में भी सोवियत संघ ने अंतर्राष्ट्रीय तनाव में कमी और विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओंवाले राज्यों के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व पर आधारित संबंधों की स्थापना के अपने प्रयास त्यागे नहीं। अंतर्राष्ट्रीय तनावशैथिल्य की नीति द्वारा आठवें दशक में प्राप्त ऐतिहासिक सफलताओं का पथ सोवियत संघ के इन्हीं प्रयासों ने प्रशस्त किया था। सोवियत संघ की ऐसी नीति के कतिपय शुभ परिणाम विचाराधीन काल में भी प्रकट होने लग गये थे। मिसाल के लिए, अनेक उग्र अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं

के बारे में सोवियत संघ तथा फ्रांस काफ़ी हद तक एक सा रवैया अपनाने लगे और दोनों देशों के परस्पर संबंध विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओंवाले राज्यों के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की मिसाल पेश करने लगे।

वियतनाम पर अमरीकी आक्रमण, जिसकी वजह से सारा अंतर्राष्ट्रीय वातावरण विषाक्त हो गया था, तुरंत रोकने की दृढ़ मांग करने के साथ-साथ सोवियत संघ ने वियतनाम की हर संभव सहायता भी की और उसे आधुनिक शस्त्रास्त्र, अन्य सैन्य सामग्री, मशीनरी, खाद्यान्न, वग़ैरह मुफ़्त सप्लाई किये। यह सहायता और भी कारगर हो सकती थी, यदि माओवादी चीन के इलाक़े से मदद-सामग्री के परिवहन में बाधा न डालते। जैसा कि बाद में पता चला, माओवादी नहीं चाहते थे कि वियतनामी देशभक्त विजयी हों। फिर भी अगर वियतनामी जनता १९७३ में अमरीकी साम्राज्यवादियों पर पूर्ण विजय पाने में सफल हुई, जिसके फलस्वरूप देश का एकीकरण और सारे वियतनाम में समाजवाद की स्थापना संभव हो सकी, तो इसका बहुत कुछ श्रेय उसे सोवियत संघ से मिले बंधुत्वपूर्ण समर्थन को है।

सोवियत संघ ने इज़रायली आक्रमण के शिकार मिस्र, सीरिया और अन्य देशों की भी बड़ी मदद की। सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशों ने इज़रायल को अपना आक्रमण रोकने पर बाध्य करने के लिए तुरंत उससे अपने राजनयिक संबंध तोड़ लिये और संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में और फिर संयुक्त राष्ट्र महासभा के असाधारण अधिवेशन में, जो सोवियत संघ की पहल पर बुलाया गया था, उसकी कार्रवाइयों की कटु भर्त्सना किये जाने की मांग की। नवंबर, १९६७ में सुरक्षा परिषद ने एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें कहा गया था कि इज़रायल ने मिस्र, सीरिया और जोर्डन के जिन इलाक़ों पर क़ब्ज़ा किया हुआ है, उनसे वह तुरंत हट जाये, क्योंकि इसके (और स्वतंत्र फ़िलिस्तीनी राज्य की स्थापना के) बिना मध्य पूर्व में शांति स्थापित नहीं हो सकती। इस प्रस्ताव के पास किये जाने में सोवियत राजनय ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। सोवियत संघ ने मिस्र को शस्त्रास्त्र मुहैया किये, जिनके बिना वह १९७३ के अरब-इज़रायली युद्ध के समय इज़रायली फ़ौजों के नये हमलों का मुक़ाबला न कर पाता।

तनाव के कतिपय ख़तरनाक स्रोत यूरोप में भी थे। पश्चिमी जर्मनी में सक्रिय रूप से काम करनेवाले प्रतिशोधवादी ही नहीं, पश्चिमी जर्मन शासक हल्क़े भी, जिनमें उस समय प्रमुख स्थान क्रिश्चियन डेमोक्रेट और क्रिश्चियन सोशलिस्ट नेताओं को प्राप्त था, दूसरे महायुद्ध के परिणामों को मानने से लगातार इंकार करते आ रहे थे। सोवियत संघ ने बार-बार आग्रह किया कि यूरोप की युद्धोत्तरकालीन वास्तविकता, राज्यों की मौजूदा सीमाओं और दो जर्मन राज्यों के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाना

चाहिये। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों का दीर्घकालीन संघर्ष अंततः सफल हो ही गया: १९७० में सोवियत संघ और जर्मन संघात्मक गणराज्य व पोलैंड और जर्मन संघात्मक गणराज्य के बीच और अगले वर्षों में चेकोस्लोवाकिया और जर्मन संघात्मक गणराज्य व जर्मन जनवादी जनतंत्र और जर्मन संघात्मक गणराज्य के बीच संधियां संपन्न हुई, जिनके अनुसार जर्मन संघात्मक गणराज्य ने पूर्वी यूरोपीय देशों के क्षेत्रों पर अपने दावे अधिकृत तौर पर त्याग दिये और जर्मन जनवादी जनतंत्र को एक स्वतत्र जर्मन राज्य के रूप में मान्यता दे दी। यूरोपीय तनाव में कमी लाने में सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस के १९७१ के पश्चिमी बर्लिन संबंधी चारपक्षीय समझौते से भी बड़ी मदद मिली। पश्चिमी बर्लिन की हैसियत का निर्धारण ये चार राष्ट्र ही करते थे।

१९७१ में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की चौबीसवीं कांग्रेस हुई। उसने शांति का एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसे तनावशैथिल्य की नीति के विकास तथा गहनीकरण में बहुत ही रचनात्मक और संगठनकारी भूमिका निभानी थी। इस कार्यक्रम पर अमल करते हुए सोवियत सरकार ने (बंधु समाजवादी देशों की सरकारों के साथ मिलकर) यूरोप में सामूहिक सुरक्षा प्रणाली की स्थापना तथा सभी देशों के बीच शांतिपूर्ण सहयोग के विकास की अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था करने और विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओंवाले देशों के परस्पर संबंधों के सर्वस्वीकृत नियमों के तौर पर शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धांतों को मान्यता देने का महत्त्वपूर्ण और दूरगामी प्रस्ताव रखा।

सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशों का मत था कि परस्पर संबंधों में बल का प्रयोग न करने और उसकी धमकी भी न देने के बारे में सभी यूरोपीय राज्यों को एक समझौता कर लेना चाहिये और इस दिशा में पहले क़दम के तौर पर एक अखिल यूरोपीय सम्मेलन बुलाया जाना चाहिये, जिसमें यूरोपीय सुरक्षा तथा शांतिपूर्ण सहयोग से संबंधित प्रश्नों पर विचार किया जाये। एतद्संबंधी प्रस्ताव वारसा प्रतिरक्षा संधि के सदस्य देशों ने १९६६ में ही रख दिया था, किंतु उसे मनवाने के लिए उन्हें अनेक वर्षों तक संघर्ष करना पड़ा। फिर उसकी तैयारी के लिए भी काफ़ी समय और परिश्रम की ज़रूरत पड़ी। समाजवादी राष्ट्रमंडल की शांति की ओर लक्षित इस महान पहलक़दमी की परिणति १ अगस्त, १९७५ को हेल्सिंकी में ३३ यूरोपीय राज्यों और संयुक्त राज्य अमरीका व कनाडा के शासनाध्यक्षों द्वारा यूरोपीय सुरक्षा व सहयोग सम्मेलन के समापन दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर किये जाने में हुई, जिसने यूरोप को शांति का महाद्वीप बनाये जाने का पथ प्रशस्त किया।

सोवियत संघ की विदेशनीति का सारे विश्व की प्रगतिशील शक्तियों ने ही नहीं, विभिन्न देशों के गंभीरतापूर्वक सोचनेवाले व्यावसायिक हल्कों ने भी हार्दिक अनुमोदन किया है। १९७६ में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की पचीसवीं कांग्रेस ने शांति, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और राष्ट्रों की स्वाधीनता के हेतु संघर्ष बढ़ाने का एक नया कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उसपर अमल किये जाने से काफ़ी महत्त्वपूर्ण परिणाम हासिल हुए हैं, हालांकि उसे तनावशैथिल्य के शत्रुओं के बढ़ते विरोध का भी सामना करना पड़ा है, जो सोचते हैं कि तनावशैथिल्य में वृद्धि से उनकी आशाओं के अनुरूप वर्ग संघर्ष में शिथिलता नहीं आयेगी, बल्कि, उल्टे, वह और उग्र हो जायेगा। तनावशैथिल्य के विरुद्ध सैन्य-औद्योगिक गंठजोड़ के सरग़नों ने भी अपनी विध्वंसात्मक कार्रवाइयां बढ़ा दी हैं, जिन्हें डर है कि उससे उनके मुनाफ़े कम हो जायेंगे। इस संबंध में अमरीकी प्रतिक्रियावादी हल्के विशेषतः सक्रिय हैं। उनकी भरसक कोशिश है कि आठवें दशक के पूर्वार्ध में सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमरीका के बीच हुए विभिन्न समझौते रद्दी काग़ज़ मात्र बनकर रह जायें और साम्राज्यवादियों ने विश्व पर हथियारों की जो होड़ थोपी है, उसे रोकने के लिए और कोई क़दम न उठाये जायें, हालांकि मानवजाति के बुनियादी हित इस होड़ को रोकने का तक़ाज़ा करते हैं। हथियारों के और विशेषतः नाभिकीय हथियारों के भंडारों में वृद्धि से न केवल आम जनता पर सैन्य ख़र्चों का कमरतोड़ बोझ बढ़ता है और जो पूंजी व साधन लोगों की सामाजिक व सांस्कृतिक ज़रूरतों की पूर्ति पर ख़र्च किये जाने चाहिये थे, वे व्यर्थ बहाये जाते हैं, बल्कि उससे नये विश्वयुद्ध का ख़तरा भी ज्यों का त्यों बना रहता है। यही कारण है कि समस्त मानवजाति की नियति के लिए असामान्य महत्त्व रखनेवाले प्रश्न – निरस्त्रीकरण के प्रश्न के समाधान की ओर लक्षित विभिन्न सोवियत प्रस्तावों का सारे विश्व में इतना व्यापक समर्थन किया जाता है।

आठवां अध्याय

विश्व समाजवादी प्रणाली

नये जीवन का निर्माण

मध्य और दक्षिण-पूर्वी यूरोप के लोक जनवादी राज्य

दूसरा महायुद्ध अभी समाप्त भी न हो पाया था कि मध्य और दक्षिण-पूर्वी यूरोप के अनेक देशों में नये जीवन के अंकुर फूटने लग गये थे। सोवियत सेना द्वारा फ़ासिस्ट जर्मनी के मुख्य सैन्य समूहों को धराशायी कर दिये जाने के बाद जो अनुकूल स्थिति पैदा हो गयी थी, उससे लाभ उठाकर पोलैंड, यूगोस्लाविया, बुल्गारिया, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी और अल्बानिया की जनता ने १९४४-१९४५ में ही न केवल अपने को जर्मन क़ब्ज़ावरों से मुक्त कर लिया था, बल्कि ज़मींदारों और पूंजीपतियों के प्रभुत्व का अंत करके अपने देशों के शासन की बागडोर ख़ुद थाम ली। इस प्रकार यूरोप के मध्य में ऐसे राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ, जो अपने को लोक जनवादी राज्य (पीपुल्ज़ डेमोक्रेसी) कहने लगे। आरंभिक वर्षों में वहां जो सरकारें क़ायम हुई, वे मजदूर वर्ग तथा किसानों की क्रांतिकारी-जनवादी तानाशाहियां थीं।

पूंजीवादी विश्व के प्रतिक्रियावादी हल्क़े आज भी दोहराते नहीं थकते कि मध्य और दक्षिण-पूर्वी यूरोप में जो क्रांतियां हुई थीं, वे ऐतिहासिक विकास का परिणाम न होकर "सोवियत संगीनों के बूते पर" की गयी क्रांतियां थीं। किंतु ऐसे दावे सत्य से कोसों दूर हैं।

मध्य और दक्षिण-पूर्वी यूरोप के देशों में जब तक पुरानी सरकारें थीं, वहां की जनता ने दुखों, कष्टों और उत्पीड़न के अलावा और कुछ जाना ही न था। इन देशों की सारी संपदा – भूमि, खनिज, कल-कारख़ाने, बैंक, बड़ी दूकानें, आदि पर मुट्ठीभर थैलीशाहों का क़ब्ज़ा था, जो मेहनतकश जनता का निर्मम शोषण किया करते थे। शासक वर्गों ने इनमें से अधिकांश देशों को ऐसी स्थिति में पहुंचा दिया था कि उनपर बड़े साम्राज्यवादी देशों



बुख़ारेस्ट में प्रदर्शनकारी सरकार से प्रतिगामी तत्वों को निकाल वाहर करने की मांग कर रहे हैं

का शिकंजा लगातार कसता ही जा रहा था। मेहनतकश जनता दोहरा उत्पीड़न – आंतरिक और विदेशी उत्पीड़न – झेलने को वाध्य थी।

फिर दूसरा महायुद्ध आया और इन देशों के समाजों को छिन्न-भिन्न करनेवाले अंतर्विरोध पराकाष्ठा पर पहुंच गये। युद्ध का सारा बोझ पुनः मेहनतकशों के कंधों पर ही डाल दिया गया।

मेहनत करके रोटी कमानेवाली जनता का जीवन असह्य बन वैठा। रोटी का दैनिक राशन घटकर केवल १५०-२०० ग्राम रह गया। दूसरी ओर, काम का दिन १२-१४ घंटे का हो गया। कारख़ानों, फ़ैक्टरियों और ज़मींदारियों में काम करनेवालों की हालत क़ैदियों से वेहतर न थी। जर्मनों या इतालवी फ़ासिस्टों द्वारा गुलाम बना लिये गये पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया और अल्वानिया जैसे देशों की जनता पर तो फ़ासिस्ट जेलों या यातना शिविरों में शारीरिक संहार का ख़तरा ही मंडराने लगा। हंगरी, रूमानिया और बुल्गारिया अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता खोकर नाज़ी जर्मनी के चाकर बन वैठे थे।

किंतु इन देशों की जनता हिम्मत न हारी और फ़ासिस्ट आक्रामकों

तथा उनके स्थानीय अनुचरों के विरुद्ध संघर्ष के लिए उठ खड़ी हुई। मज़दूर वर्ग के नेतृत्व तथा कम्युनिस्टों के निदेशन में मध्य और दक्षिण-पूर्वी यूरोप के देशों की देशभक्त शक्तियों ने सोवियत सेनाओं की मदद से आक्रामकों और घरेलू फ़ासिस्टों के दोहरे जुए को उतार फेंका।

आरंभ में लोक जनवादी राज्यों के शासन संचालन में उद्योगपतियों, व्यापारियों, बैंकरों, उच्च वेतनभोगी सरकारी कर्मचारियों, कुलकों, आदि समृद्ध तबक़ों के प्रतिनिधियों ने भी मज़दूरों और किसानों का साथ दिया।

युद्ध के अंतिम वर्षों में जर्मन फ़ासिस्टों और उनके स्थानीय समर्थकों ने जो लूटमार मचायी थी, उससे इन देशों के बूर्जुआज़ी के काफ़ी बड़े भाग में असंतोष पैदा हो गया था और वह भी आक्रामकों को खदेड़ने के आंदोलन में मेहनतकश तबक़ों के साथ मिलकर काम करने लगा था। फलस्वरूप आबादी के कतिपय अल्पसमृद्ध तबक़ों, विशेषतः कारीगरों, दस्तकारों और छोटे किसानों के बीच बूर्जुआ पार्टियों ने काफ़ी प्रभाव जमा लिया था। सामान्यतः ये पार्टियां अपने वास्तविक इरादों को छिपाने के लिए "जनवाद", "स्वतंत्रता", "वास्तविक जन सरकार" जैसे जनोत्तेजक नारे इस्तेमाल करती थीं और ऐसे लोगों की तादाद भी अभी काफ़ी बड़ी थी, जिनके लिए यह पहचान पाना कठिन था कि कौन उनके हितों का सच्चा हिमायती है – मेहनतकशों की पार्टियां या बूर्जुआज़ी की पार्टियां?

लोक जनवादी राज्यों की स्थापना से जनता के जीवन में अनेक परिवर्तन आये। नयी सरकारों ने मेहनतकशों को भाषण, प्रेस, सभा और संगठन की स्वतंत्रता और उसे साकार बनाने के लिए आवश्यक सुविधाएं प्रदान कीं। फ़ासिस्ट राजनीतिक व सैनिक संगठनों को विघटित तथा पूर्णतः प्रतिबंधित कर दिया गया। औद्योगिक उद्यमों में मज़दूर नियंत्रण लागू किया गया।

लोक जनवादी व्यवस्था के आविर्भाव के बाद जो सुधार किये जाने लगे, वे शुरू से ही बूर्जुआ जनवादी सुधारों के मुक़ाबले कहीं अधिक मूलगामी थे। उन्होंने न केवल फ़ासिज़्म का और सामंती संबंधों के अवशेषों का उन्मूलन किया, अपितु बड़े और मध्यम बूर्जुआज़ी द्वारा मेहनतकशों के शोषण पर पाबंदियां भी लगायीं।

भूमि का किसानों को हस्तांतरण

किसानों के जीवन में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये, जिनकी इन देशों में बहुसंख्या थी। १९४४-१९४६ में अल्बानिया, हंगरी, पोलैंड, रूमानिया और यूगोस्लाविया में भूमि सुधार लागू किये गये और ज़मींदारों की ज़मीनें

किसानों के वीच वांट दी गयीं। इस प्रकार ज़मींदारों के प्रतिगामी वर्ग का निर्मूलन कर दिया गया और किसानों को पूरी तरह अपने ही लिए काम करने की संभावना प्राप्त हुई। चेकोस्लोवाकिया में वड़ी ज़मींदारियों का उन्मूलन वसंत, १९४८ में किया गया।

बुल्गारिया में वड़ी ज़मींदारियां नहीं थीं। यहां मार्च, १९४६ में अल्प-भूमि या भूमिहीन किसानों के वीच वह ज़मीन वांटी गयी, जो कुलकों, साहूकारों, नफ़ाख़ोरों और गिरजों से छीनी गयी थी।

फ़ासिज़्मविरोधी बूर्जुआज़ी ने जिन लक्ष्यों से मेहनतकशों का साथ दिया था, जैसे फ़ासिज़्म का उन्मूलन, राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति और भूमि सुधार, उनकी पूर्ति के बाद बूर्जुआज़ी और मज़दूर वर्ग के रास्ते अलग हो गये। अगर मज़दूर वर्ग और उसके सहयोगी क्रांति को जारी रखने, यानी शोषक वर्गों पर और भी पावंदियां लगाने तथा अंततः उनका पूर्ण उन्मूलन कर देने और जनता की सत्ता को उत्तरोत्तर सुदृढ़ बनाने के लिए कृतसंकल्प थे, तो बूर्जुआज़ी सामंतविरोधी, बूर्जुआ जनवादी सुधारों से आगे जाने को, विल्कुल तैयार न था। बूर्जुआज़ी नहीं चाहता था कि लोक जनवादी क्रांति समाजवादी क्रांति में परिवर्तित हो जाये।

बूर्जुआ और ज़मींदार वर्गों का प्रतिरोध

जिन शोषक वर्गों का तख़्ता उलटा जा चुका था और जो शोषक वर्ग अभी भी बने हुए थे, दोनों ने ही अपनी स्थिति वचाने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाया। ज़मींदारों ने शासनतंत्र पर बूर्जुआ पार्टियों के प्रभाव को इस्तेमाल करके अपनी खोयी ज़मींदारियां वापस हथियानी चाहीं। प्रशासनिक संस्थाओं में जड़ें जमाये हुए पुराने कर्मचारियों ने भरसक कोशिश की कि शासनतंत्र से उन प्रतिक्रियावादी अधिकारियों का सफ़ाया न हो, जो युद्ध-ध्वस्त अर्थ-व्यवस्था की वहाली में हर तरह से रोड़े अटका रहे थे। अनेक पूंजीपति पेशेवर दलालों की मदद से चोरबाज़ारी करने लगे, जिससे उन्हें वेशुमार मुनाफ़ा हुआ और साथ ही मुद्रास्फीति बढ़ी। स्वाभाविकतः इसके सभी कुप्रभाव मेहनत-कशों को भुगतने पड़े।

संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और अन्य पूंजीवादी देशों की इजारेदारियों ने प्रतिक्रियावादी तत्त्वों की सक्रिय मदद की। जन सरकारों से लड़ने के लिए आंतरिक शत्रुओं और उनके परदेसी हिमायतियों ने आतंक, जासूसी, भीतरघात, आर्थिक तोड़-फोड़, आदि सभी तरह के हथकंडे इस्तेमाल किये। अकेले पोलैंड में ही लोक जनवादी सत्ता की स्थापना और सुदृढ़ीकरण

के वर्षों मे प्रतिक्रांतिकारी गिरोहों के हाथों कम्युनिस्ट और दूसरे जनवादी संगठनो के २०,००० से अधिक सदस्य मारे गये थे।

कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में मेहनतकशों ने बूर्जुआ-ज़मींदार प्रतिक्रिया की साज़िशों का दृढ़तापूर्वक पर्दाफ़ाश किया और उन्हें विफल बनाया। अनगिनत मीटिंगों, सभाओ और प्रदर्शनों में मज़दूरों और किसानों ने लौह-प्रतिज्ञा की कि ज़मीदारो से छीनी हुई ज़मीनें उन्हे वापस नहीं देंगे, शासनतंत्र से सभी जनविरोधी तत्त्वों का सफ़ाया करके रहेंगे और आतंक-कारियों, नफ़ाख़ोरों और तोड़-फोड़ करनेवालों के प्रति कोई दया नहीं दिखायेंगे। फलस्वरूप, जनमत के दबाव में आकर एक-एक करके सभी प्रतिक्रियावादी मंत्रियो को सरकार से इस्तीफ़ा दे देना पड़ा।

जनविरोधी षड्यंत्र और उनकी विफलता

जनवरी-मई, १९४७ मे हंगरी में जनतंत्रविरोधी षड्यंत्र का पता चला और उसे नाकाम बना दिया गया। षड्यंत्रकारियों के नेता फ़ेरेंस नाड, बेला वर्गा, आदि थे, जो लोक जनवादी सरकार का तख़्ता उलटकर देश मे फिर से बूर्जुआ-ज़मीदार सत्ता क़ायम करना चाहते थे। उन्हें भूतपूर्व ज़मींदारों, शहरी बूर्जुआज़ी और कुलकों का समर्थन प्राप्त था और यह आशा की गयी थी कि विदेशी, विशेषतः ब्रिटिश तथा अमरीकी साम्राज्यवादी भी उनकी मदद करेंगे।

उसी वर्ष ग्रीष्म में रूमानिया में एक प्रतिक्रियावादी साज़िश का पर्दाफ़ाश किया गया, जिसका सरग़ना राष्ट्रीय किसान पार्टी का नेता यू० मानिऊ था। जैसा कि मुक़दमे के दौरान पता चला, उसमें भाग लेनेवालों का इरादा सरकार उलटने का था और उन्हें अमरीकी व ब्रिटिश गुप्तचर सेवाओं से सक्रिय मदद मिली थी।

ऐसा ही हश्र चेकोस्लोवाकिया में किये गये प्रतिक्रांतिकारी विद्रोह की कोशिश का भी हुआ। प्रतिक्रियावादी तत्त्व जब खुली लड़ाई में क्रांति को न हरा सके, तो उन्होंने भी षड्यंत्र का रास्ता अपना लिया। वे चुपके-चुपके अपने को हथियारबंद करने लगे, ताकि राजधानी और उसके बाहर महत्त्वपूर्ण रणनीतिक ठिकानों पर कब्जे की अपनी योजना को साकार बना सकें।

इस षड्यंत्र में कतिपय पूंजीवादी राज्य भी शामिल थे। षड्यंत्र-कारियों को वेटिकन से भी सक्रिय समर्थन मिला। फ़रवरी, १९४८ में १२ प्रतिक्रियावादी बूर्जुआ मंत्रियों ने पूरे दिखावे के साथ सरकार से त्यागपत्र

दे दिया। इसे विद्रोह की शुरुआत के संकेत का काम करना था। इन मंत्रियों को आशा थी कि उनकी इस कार्रवाई से सरकार गिर जायेगी और तब वे एक नयी सरकार बना सकेंगे, जिसमें कम्युनिस्टों और अन्य प्रगतिशील नेताओं के लिए कोई स्थान न होगा।

किंतु चेकोस्लोवाक जनता ने प्रतिक्रियावादियों को मुंहतोड़ जवाब दिया। मज़दूरों, दस्तकारों और मेहनतकश किसानों ने क्रांतिकारी व्यवस्था बनाये रखने के लिए एक्शन कमेटियां बनायीं। औद्योगिक उद्यमों की सुरक्षा के लिए उनमें मज़दूर मिलिशिया दस्ते गठित किये गये। २१ फ़रवरी, १९४८ को प्राग के स्तारोमेस्तो चौक में एक विशाल जन सभा हुई, जिसने दिखाया कि जनता प्रतिक्रियावादियों की साज़िशों को कुचलने के लिए कृतसंकल्प है। सभा ने कम्युनिस्ट पार्टी में जनता की पूर्ण आस्था का भी प्रदर्शन किया।

जनमत के दबाव के कारण राष्ट्रपति बेनेश को मंत्रियों के त्यागपत्र स्वीकार कर लेने पड़े और कम्युनिस्ट पार्टी के नेता क्लीमेंट गोटवाल्ड द्वारा प्रस्तावित सरकार को अपना अनुमोदन देना पड़ा, जिसमें अब चेकोस्लोवाकिया के जनवादी विकास के कई अन्य समर्थकों को भी शामिल कर लिया गया था। नयी सरकार को जनता का पूर्ण समर्थन प्राप्त था, जो किसी भी क़ीमत पर पुरानी व्यवस्था की वापसी नहीं चाहती थी। संक्षेप में, फ़रवरी, १९४८ की घटनाओं ने लोक जनवादी शासन की जड़ें मज़बूत कीं और मज़दूर वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना में योग दिया।

बूर्जुआ पार्टियों के प्रभाव का ह्रास

इन सभी प्रतिक्रियावादी साज़िशों के भंडाफोड़ से बूर्जुआ और कुलक पार्टियों की प्रतिष्ठा तथा प्रभाव को गंभीर आघात पहुंचा। अब अधिकाधिक लोग महसूस करने लगे कि उनके नारे अपनी संपत्ति और उस व्यवस्था को बचाने की बूर्जूआज़ी की इच्छा पर परदा डालने के लिए प्रयुक्त हथकंडे मात्र थे, जिसमें मुट्ठीभर लोग शेष सारी आबादी को खून-पसीना बहाने पर मजबूर करते हैं और स्वयं ऐशो-आराम से जीवन व्यतीत करते हैं। जनता के बीच प्रभाव क्षीण हो जाने से संसदों, सरकारों, मंत्रालयों, सार्वजनिक संगठनों की नेतृत्वकारी संस्थाओं, आदि में भी बूर्जुआ पार्टियों के प्रतिनिधियों की स्थिति कमज़ोर बनी।

१९४७-१९४८ में सभी यूरोपीय लोक जनवादी राज्यों में शासन सत्ता पूर्णतः मज़दूर वर्ग और उसके साथ घनिष्ठतः संबद्ध मेहनतकश किसान समुदाय

के हाथों में आ गयी। लोक जनवादी राज्य अब सर्वहारा अधिनायकत्व के राज्यों के रूप में काम करने लगे।

सत्ता प्रतिष्ठानों में बुर्जूआजी के प्रतिनिधियों का निष्कासन अपेक्षया शांतिमय तरीकों से ही हुआ। जन समर्थन के अभाव में बूर्जुआजी अब खुले आम सशस्त्र प्रतिरोध नहीं कर सकता था। ऐसी परिस्थिति में मज़दूर वर्ग और उसके सहयोगियों ने समाज के अंदर मौजूद विरोधों को शांतिमय तरीक़ों से ही हल करना उचित समझा, न कि संपत्तिवान वर्गों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष छेड़कर।

कल-कारख़ानों पर जनता का स्वामित्व

राजनीतिक सत्ता के लिए संघर्ष बढ़ाने के साथ-साथ मेहनतकश जनता ने कारखानों, फ़ैक्टरियों, बैंकों और परिवहन पर भी अधिकार जमाना आरंभ कर दिया था। १९४७-१९४८ में चेकोस्लोवाकिया, बुल्गारिया, हंगरी और रूमानिया में अधिकांश कल-कारख़ानों को राज्य, यानी समस्त जनता के स्वामित्व में ले लिया गया। वे अब किसी की निजी संपत्ति नहीं रह गये थे। पोलैंड, अल्बानिया और यूगोस्लाविया में यह काम और भी पहले, १९४८-१९४९ में ही पूरा कर लिया गया था।

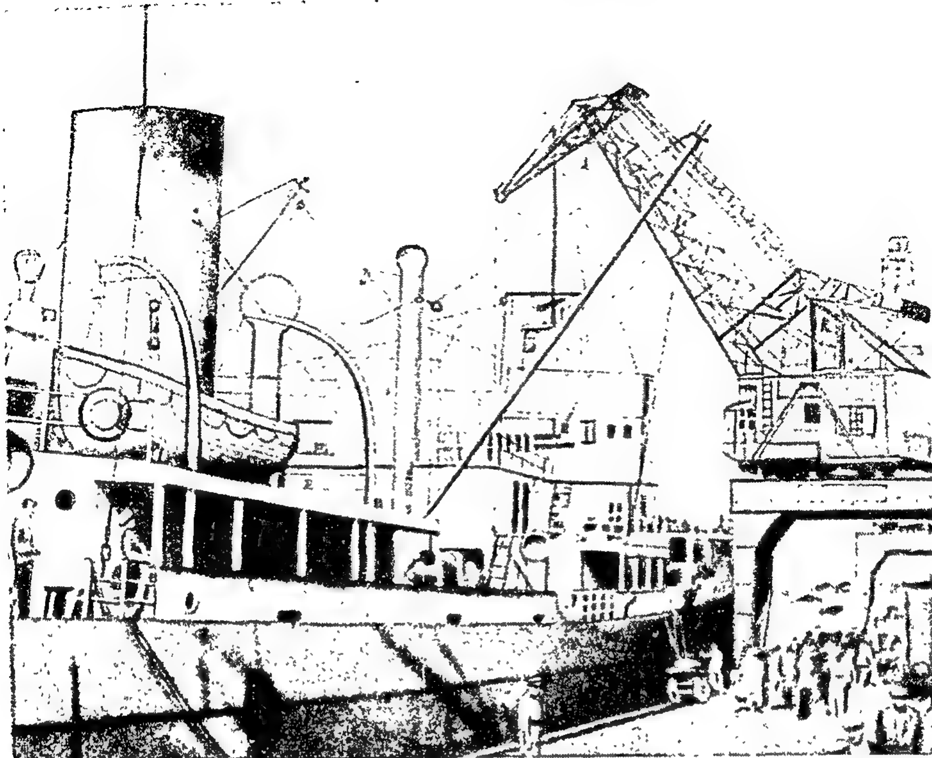
छोटी-मोटी दूकानें और वर्कशाप निजी मालिकों की ही संपत्ति बने रहे।

इस प्रकार ज़मींदार वर्ग के उन्मूलन के बाद लोक जनवादी शासनों ने बड़े और मझोले शहरी पूंजीपतियों के वर्ग का भी उन्मूलन कर दिया और समाजवादी समाज का निर्माण करने लगे, जिसमें सभी नागरिकों को कहने को नहीं, बल्कि वास्तव में समान अधिकार प्राप्त होते हैं और हर कोई अपने श्रम के अनुसार सुविधाएं पाता है।

दूसरे महायुद्ध के दौरान कम्युनिस्टों ने जिस अद्भुत आत्मत्याग का परिचय देते हुए फ़ासिज्म से लोहा लिया था और फिर युद्धोत्तर वर्षों में जिस दृढ़ता के साथ मेहनतकशों के अधिकारों तथा हितों की रक्षा की थी, उससे जनसामान्य के बीच उनकी प्रतिष्ठा में अपार वृद्धि हो गयी थी। अतः स्वाभाविक ही था कि इन देशों में समाजवाद निर्माण की बागडोर कम्युनिस्ट और मज़दूर पार्टियां थामतीं।

जर्मन जनवादी जनतंत्र की स्थापना

दूसरे महायुद्ध में नाज़ी जर्मनी की पराजय से जर्मन जनता को नाज़ी शासन के बारह वर्ष लंबे दुःस्वप्न से मुक्ति मिल गयी थी। सोवियत, अमरीकी और ब्रिटिश नेताओं के पोट्सडाम सम्मेलन के निर्णयों के अनुसार जर्मनी



बुल्गारियाई बंदरगाह वुर्गास में माल की उतराई

की धरती पर फ़ासिज़्म को फिर कभी नहीं पनपने देना था। नाज़ी राइक के खंडहरों पर एक नये, जनवादी जर्मनी का, सभी जनों और देशों के साथ शांति और मैत्री के वातावरण में रहनेवाले जर्मनी का निर्माण किया जाना था।

किंतु पोट्सडाम सम्मेलन के निर्णयों पर सुसंगत अमल केवल पूर्वी जर्मनी में ही किया गया, जो सोवियत सेना के क़ब्ज़े में था। अन्य लोक जनवादी राज्यों की भांति यहां भी मेहनतकश ही अपने देश के भाग्यविधाता बने।

नाज़ी पार्टी और उससे संबद्ध सभी संगठनों पर कठोर प्रतिबंध लगा दिया गया। १९४५ में ज़मींदारों के वर्ग का निर्मूलन करके उनकी सारी ज़मीन अल्पभूमि किसानों और कृषि मज़दूरों को दे दी गयी। बड़े पूंजीपतियों या सक्रिय नाज़ियों के कल-कारख़ानों, बैंकों, रेलमार्गों, आदि को छीनकर समस्त जनता की संपत्ति बना दिया गया।

जर्मनी की समाजवादी एकता पार्टी के नेतृत्व में, जो अध्यासित क्षेत्र में १९४६ में जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी और जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी के परस्पर विलयन के फलस्वरूप बनी थी, जर्मन मेहनतकशों ने सोवियत

सैनिक प्रशासन की मदद से युद्ध-ध्वस्त नगरों और गांवों का पुनरुद्धार आरम्भ किया।

पश्चिमी जर्मनी में, जिसपर अमरीकी, ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सेनाओं का क़ब्ज़ा था, हालत बिल्कुल दूसरी ही थी। पश्चिमी राष्ट्रों ने पोट्सडाम सम्मेलन के निर्णयों की जानबूझकर उपेक्षा करते हुए न केवल बड़ी पूंजीवादी इजारेदारियों के पुनर्जन्म में मदद दी, बल्कि विभिन्न प्रतिक्रियावादी संगठनों के पुनः सक्रिय बनने में भी कोई अवरोध नहीं डाला। दूसरी ओर, उन संगठनों और नागरिकों का दमन किया गया, जो विकास के जनवादी पथ के लिए लड़ रहे थे।

संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस के शासक हल्के चाहते थे कि जर्मनी दो भागों में विभक्त हो जाये और पश्चिमी भाग सोवियत संघ तथा लोक जनवादी राज्यों के विरुद्ध विध्वंसात्मक कार्रवाइयों का अड्डा बन जाये। फलस्वरूप पश्चिमी राष्ट्रों के नेताओं और पश्चिमी जर्मन साम्राज्य-वादियों के बीच हुए एक समझौते के अनुसार सितंबर, १९४९ में जर्मन संघात्मक गणराज्य की स्थापना कर दी गयी और बोन को उसकी राजधानी बनाया गया। इस राज्य के कर्णधार न तो समाजवादी देशों के प्रति अपने द्वेष को छिपाते थे, न सैनिक शक्ति के बल पर उन इलाक़ों को हथिया लेने के इरादों को ही, जो पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया और अन्य देशों को लौटा दिये गये थे। बोन के तत्कालीन शासक पूर्वी जर्मनी को जर्मन संघात्मक गणराज्य में "मिलाने" के अपने इरादों की भी खुले आम घोषणा करते थे।

ऐसी स्थिति में जर्मन मेहनतकशों के सामने यही विकल्प रह गया कि सभी देशभक्त शक्तियों को एकजुट बनायें और ऐसे सच्चे जनवादी राज्य की स्थापना करें, जो पूर्वी जर्मनी की जनता की प्रगतिशील उपलब्धियों की रक्षा कर सके और शांतिकामी; जनवादी संयुक्त जर्मनी के निर्माण के लिए लड़ सके।

७ अक्तूबर, १९४९ को जर्मन जनवादी जनतंत्र की स्थापना की उद्घोषणा कर दी गयी। जर्मन जनता के लिए यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना थी। उसके सारे इतिहास में पहली बार एक ऐसा राज्य क़ायम किया गया था, जिसकी घरेलू और विदेश नीति का लक्ष्य आम जनता के हितों की सिद्धि करना था, न कि मुट्ठीभर शोषकों के हितों की।

जर्मन जनवादी जनतंत्र का प्रथम राष्ट्रपति जर्मन और अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन के नेता, जर्मनी की समाजवादी एकता पार्टी के अध्यक्ष विल्हेल्म पीक को चुना गया। प्रधानमंत्री ओत्तो ग्रोतेवोहल बना, जो जर्मन सामाजिक जनवाद की सर्वोत्तम परंपराओं का प्रतिनिधि था और जर्मन मज़दूर आंदोलन में फूट का अंत करने के लिए हमेशा लड़ता रहा था।

चीन में जन क्रांति की विजय

सोवियत सेनाओं के हाथों जापान की क्वांगतुंग सेना की पराजय ने चीन की देशभक्त शक्तियों और जापानी क़ब्ज़ावरों के बीच चल रही लड़ाई का परिणाम पूर्वनिश्चित कर दिया था। सितंबर, १९४५ तक जापानियों को उन सभी चीनी प्रांतों से, जिनपर जापान का क़ब्ज़ा था, खदेड़ दिया गया।

दूसरा महायुद्ध समाप्त होने पर चीन ने अपने को दो शिविरों में बंटा पाया। तीन चौथाई देश च्यांग काई-शेक सरकार के अधिकार में था, जिसके पास कई दर्जन लाख की सेना थी। इस सेना का काफ़ी बड़ा हिस्सा अमरीकियों द्वारा प्रशिक्षित और शस्त्रसज्जित किया गया था। दूसरी ओर, मुक्त इलाक़ो में जन सरकार का शासन था, जिसे देश की अधिसंख्य आबादी, लोक मुक्ति सेना और जन स्वयंसेवक दस्तों का समर्थन प्राप्त था। क्रांति क़ी इन मुख्य प्रहार शक्तियों की नेता व निदेशक चीन की कम्युनिस्ट पार्टी थी।

१९४६ में कांप्रेडोर बूर्जुआज़ी के उकसावे में आकर च्यांग काई-शेक गिरोह ने लोक मुक्ति सेना के विरुद्ध सामरिक कार्रवाइयां शुरू कर दीं। गृहयुद्ध तीन वर्ष से ज़्यादा चला और इस सारे काल में अमरीकी साम्राज्यवादी कुओमिंतांग फ़ौजों को शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद तथा अन्य सैन्य सामग्रियां सप्लाई करते रहे, जिनका कुल मूल्य ६,००,००,००,००० डालर आंका गया है। किंतु इसके बावजूद भाग्य ने च्यांग गिरोह और समुद्र पार स्थित उसके सरपरस्तों का साथ न दिया। अपूर्व साहस और शौर्य के साथ लड़ते हुए लोक मुक्ति सेना ने कुओमिंतांग सेनाओं को ऐसी बुरी तरह पराजित किया कि च्यांग काई-शेक को भागकर ताइवान द्वीप पर शरण ले लेनी पड़ी, जिसपर उस समय संयुक्त राज्य अमरीका की सेनाओं ने अवैध अधिकार जमाया हुआ था।

१ अक्तूबर, १९४९ को पीकिंग में एक विशाल जनसभा में चीनी लोक गणराज्य की स्थापना की विधिवत घोषणा की गयी। गणराज्य का शासन एक लोक जनवादी अधिनायकत्व के राज्य के रूप में चलाया जाना था। विदेशी साम्राज्यवादियों और "घरेलू" शोषकों से पूर्ण मुक्ति पाकर चीनी जनता अब समाजवाद के निर्माण में जुट गयी।

कोरियाई लोक जनवादी जनतंत्र की स्थापना

दूसरे महायुद्ध में पराजय ने कोरिया में भी जापान के आधिपत्य की समाप्ति की पूर्वसूचना दे दी थी। विजेता राज्यों के बीच हुए एक समझौते के अनुसार जापान के आत्मसमर्पण की शर्तों के क्रियान्वयन का निरीक्षण उत्तरी कोरिया (अड़तीसवें अक्षांश से उत्तर) में सोवियत सैनिक कमान द्वारा किया जाना था और दक्षिणी कोरिया में अमरीकी सैनिक कमान द्वारा।

आक्रामकों के निष्कासन के बाद उत्तरी कोरिया में जनवादी सुधार लागू किये गये और शासन सत्ता फ़रवरी, १९४६ में गठित अस्थायी लोक समिति तथा उसके स्थानीय अंगों ने संभाल ली। सोवियत कमान की सहायता से उन सभी कल-कारख़ानों, खानों और रेलमार्गों का पुनरुद्धार किया जाने लगा, जो जापानी क़ब्ज़े के दौरान ध्वस्त हो गये थे।

मार्च, १९४६ में अस्थायी लोक समिति ने एक भूमि सुधार अध्यादेश जारी करके जमीदारों से छीनी गयी १०,००,००० हैक्टर से अधिक भूमि किसानों को बांट दी। उसी वर्ष सभी औद्योगिक उद्यमों, बैंको और परिवहन तथा संचार साधनों का राष्ट्रीयकरण भी किया गया, जो पहले जापानी क़ब्ज़ावरों और कोरियाई देशद्रोहियों की संपत्ति थे। कल-कारख़ानों में आठ घंटे का काम का दिन नियत हुआ और नारियों तथा अवयस्कों को पुरुषों के समान श्रम के लिए उनके जितना ही मेहनताना मिलने लगा। सवेतन छुट्टियों, श्रम सुरक्षा और निःशुल्क चिकित्सा सहायता की व्यवस्था की गयी। स्कूलों में शिक्षा कोरियाई भाषा के माध्यम से दी जाने लगी।

अगस्त, १९४६ में कोरियाई कम्युनिस्ट पार्टी और नव लोक पार्टी (१९४६ में स्थापित प्रगतिशील बुद्धिजीवियों, मज़दूरों और किसानों की पार्टी) के परस्पर विलयन के फलस्वरूप उत्तरी कोरिया की श्रमिक पार्टी अस्तित्व में आयी, जिसका अध्यक्ष किम इल सुंग बना। इस पार्टी की पहल पर मज़दूरों, किसानों, दफ़्तरी कर्मचारियों और उन लघु उद्यमियों का संयुक्त जनवादी राष्ट्रीय मोर्चा गठित किया गया, जो जनवादी दिशा में देश के विकास के पक्ष में थे।

दक्षिणी कोरिया में घटनाओं का क्रम बिल्कुल दूसरा ही रहा। अमरीकी सैनिक कमान ने पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था को ज्यों का त्यों क़ायम रखा, यद्यपि जनता को उससे घोर नफ़रत थी। एकमात्र परिवर्तन यह हुआ कि जापानियों के स्थान पर अमरीकी आ गये। अनेक दक्षिणी कोरियाइयों के भाग्य में अभी भी भुखमरी, बेरोज़गारी और कंगाली ही बदी हुई थी। मई, १९४८ में देशघाती सिंगमैन री को दक्षिणी कोरियाई राज्य का राष्ट्रपति बना दिया गया।

कोरियाई जनवादी शक्तियों ने सिंगमैन री के शासन के ख़िलाफ़ सक्रिय संघर्ष किया। अगस्त, १९४८ में उत्तरी तथा दक्षिणी कोरिया की प्रगतिशील पार्टियों के संयुक्त प्रयासों की बदौलत सर्वोच्च जन सभा के चुनाव हुए, जिसे देश का सर्वोच्च शासी निकाय बनना था। मतदान देश के दोनों ही भागों में हुआ, किंतु दक्षिण में लोगों को उसमें गुप्त रूप से भाग लेना पड़ा। चुनाव परिणामों ने दिखाया कि कोरिया की जनता का विशाल बहुमत अपने देश को संयुक्त स्वतंत्र जनवादी राज्य बना देखना चाहता है।

सितंबर, १९४८ में सर्वोच्च जन सभा के प्रथम अधिवेशन में कोरियाई लोक जनवादी जनतंत्र की स्थापना की घोषणा की गयी। इस प्रकार समस्त कोरियाई राष्ट्र की इच्छा से एक स्वतंत्र राज्य का निर्माण हुआ। यह देश के एकीकरण के लिए कोरियाई जनता द्वारा चलाये जा रहे संघर्ष के एक नये, महत्त्वपूर्ण दौर के आरंभ का सूचक था।

सर्वोच्च जन सभा के अधिवेशन ने कोरियाई लोक जनवादी जनतंत्र का संविधान अंगीकार किया, जिसमें उत्तरी कोरिया के मेहनतकशों द्वारा प्राप्त सफलताओं को विधिक आधार प्रदान किया गया था। संविधान में कोरियाई लोक जनवादी जनतंत्र का मुख्य लक्ष्य समाजवाद की बुनियाद का निर्माण बताया गया था। जन सभा ने संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ, दोनों से एक साथ अपनी सेनाएं कोरिया से हटा लेने का आग्रह किया, क्योंकि तब कोरियाई जनता को स्वयं अपने भविष्य का निर्धारण करने का अवसर मिल सकता था।

सोवियत सरकार ने सर्वोच्च जन सभा का अनुरोध तत्काल स्वीकार कर लिया और १९४८ अंत तक अपनी सभी फ़ौजें उत्तरी कोरिया के क्षेत्र से हटा लीं।

किंतु संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने न केवल दक्षिणी कोरिया से अपनी अध्यासी सेना को वापस नहीं बुलाया, बल्कि उसे कोरियाई लोक जनवादी जनतंत्र के विरुद्ध युद्ध के लिए तैयार करना भी आरंभ कर दिया।

वियतनामी जनवादी जनतंत्र की स्थापना

दूसरे महायुद्ध के दौरान साम्राज्यवादी जापान ने वियतनाम पर क़ब्ज़ा कर लिया था। किंतु वियतनामी जनता ने इन क़ब्ज़ावरों के सामने भी वैसे ही घुटने नहीं टेके, जैसे कि पहले फ़्रांसीसी उपनिवेशवादियों के सामने नहीं टेके थे। किसानों, मज़दूरों और देश की स्वाधीनता के लिए संघर्षरत निम्न

बूर्जुआ तत्वों ने जापानी क़ब्ज़ावरों के विरुद्ध छापामार युद्ध छेड़ दिया। इस मुक्ति संग्राम में सबसे आगे-आगे कम्युनिस्ट लड़ रहे थे। आक्रामकों के विरुद्ध संघर्ष की आग में से ही वियतनामी जन सेना का जन्म हुआ और उसी में तपकर ही वह फ़ौलाद जैसी मज़बूत बनी। लड़ाई के साथ ही साथ मुक्त क्षेत्रों में नयी शासन संस्थाएं – जन समितियां – क़ायम की जाने लगीं।

जापान के विरुद्ध युद्ध में सोवियत संघ के शामिल हो जाने का वियतनामी जनता के मुक्ति संग्राम पर असामान्य रूप से प्रबल प्रभाव पड़ा। अगस्त, १९४५ में सारे देश में विद्रोह की लहर दौड़ गयी, जिसने क़ब्ज़ावरों और उनकी कठपुतलियों को सत्ताच्युत कर दिया। २ सितंबर को वियतनामी जनवादी जनतंत्र की स्थापना की घोषणा हुई और वियतनामी कम्युनिस्टों के नेता, वियतनाम के स्वाधीनता संघर्ष के एक प्रमुख सेनानी हो ची मिन्ह को उसका राष्ट्रपति नियुक्त किया गया। राज्य सत्ता अब जनतांत्रिक सरकार और जन समितियों के हाथों में आ गयी। देश में जनवादी सुधार किये जाने लगे।

किंतु वियतनामी मेहनतकशों ने शांतिमय कार्यों की ओर ध्यान देना शुरू किया ही था कि सितंबर के अंत में जापान का आत्मसमर्पण सुनिश्चित करने के बहाने दक्षिण से ब्रिटिश फ़ौजें और उत्तर से कुओमिंतांग फ़ौजें वियतनाम में घुस आयीं। फ़्रांस ने भी अपनी रही-सही शक्ति जुटाकर दिसंबर, १९४६ में वियतनाम के सारे इलाक़े पर व्यापक हमला बोल दिया। इस प्रकार वियतनाम के विरुद्ध उपनिवेशवादियों का, फ़्रांसीसी मेहनतकशों के शब्दों में, "गंदा युद्ध" शुरू हुआ। फ़्रांसीसी साम्राज्यवादियों ने उसे इसलिए छेड़ा था कि वियतनाम को पुनः अपना उपनिवेश बना लें और उसे जनवादी ढंग से विकास न करने दें।

आठ वर्ष तक वियतनाम के खेतों और जंगलों में गोलियां बरसती रहीं, बम और गोले फटते रहे, नपाम बम निरीह गांवों और शहरों को जलाते रहे, नागरिक आबादी बेमौत मारी जाती रही और मवेशियों तथा खेतों में खड़ी फ़सलों का विनाश होता रहा। किंतु उपनिवेशवादी अपना लक्ष्य पाने में सफल न हो सके। वियतनाम की मेहनतकश पार्टी के नेतृत्व में, जिसका नाभिक कम्युनिस्ट कार्यकर्ता थे, और सभी शांतिप्रेमी जनों के समर्थन से वियतनामी देशभक्त एक के बाद दूसरी विजय प्राप्त करते गये।

मई, १९५४ में उत्तर में उपनिवेशवादियों का अंतिम गढ़ दियेन बियेन फू भी ढह गया। हताहतों के रूप में अपने दसियों हज़ार आदमी खोकर और अरबों फ़्रैंक पानी में बहाकर भी जब कुछ हाथ न लगा, तो फ़्रांसीसी आक्रमणकारियों को युद्धविराम के लिए वार्ताएं शुरू करने को बाध्य होना पड़ा। जुलाई, १९५४ में जेनेवा में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में युद्धविराम समझौते पर हस्ताक्षर हुए। सत्रहवें अक्षांश के साथ गुज़रनेवाली एक सीमा-

रेखा द्वारा देश को उत्तरी और दक्षिणी, दो भागों में बांट दिया गया। सम्मेलन का एक निर्णय यह भी था कि दो वर्ष बाद एक अखिल वियतनामी संसद के लिए चुनावों का आयोजन किया जायेगा, जिसके बाद देश के दोनों भागों का एकीकरण हो सकता है। किंतु समझौते की इस धारा पर कभी अमल नहीं किया गया। दक्षिणी वियतनाम की सरकार ने, जिसे फ़्रांसीसियों की जगह आये अमरीकी साम्राज्यवादियों का सक्रिय समर्थन प्राप्त था, चुनाव नहीं होने दिये और देश को विभाजित ही बनाये रखा।

दक्षिणी वियतनाम में ज़मींदारों और पूंजीपतियों का प्रतिक्रियावादी आतंक राज स्थापित हुआ, जिसका एकमात्र अवलंब अमरीकी संगीनें और डालर थे। जन असंतोष की छोटी सी भी अभिव्यक्ति को निर्ममतापूर्वक कुचल डाला जाता था। अगर संयुक्त राज्य अमरीका दक्षिणी वियतनाम के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करता, तो जनता ने बहुत जल्दी ही इस घृणित शासन को जड़ से उखाड़ फेंका होता।

वियतनामी जनवादी जनतंत्र में सारी सत्ता नगरों और देहातों के मेहनतकशों के हाथों में थी। अपनी मेहनतकश पार्टी के नेतृत्व में जनवादी वियतनाम सफलतापूर्वक समाजवाद का निर्माण करता रहा।

विश्व समाजवादी प्रणाली का उदय

यूरोप और एशिया के देशों में हुई क्रांतियां १९१७ की रूस की अक्तूबर क्रांति की विजय के बाद से विश्व इतिहास की सबसे बड़ी घटना थीं। इन क्रांतियों के फलस्वरूप यूरोप और एशिया के १३ देशों ने विश्व पूंजीवादी प्रणाली से संबंध-विच्छेद कर लिया, पूंजीवाद का आम संकट गहनतर बना और क्रांतिकारी व साम्राज्यवादविरोधी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का और अधिक विस्तार हुआ।

लोक जनवादी राज्यों के आविर्भाव के बाद समाजवाद दो ही देशों के दायरे में सीमित नहीं रह गया। समाजवाद के पथ पर अब निम्न देश अग्रसर हो रहे थे: अल्बानियाई लोक जनतंत्र, बुल्गारियाई लोक जनतंत्र, हंगेरियाई लोक जनतंत्र, वियतनामी जनवादी जनतंत्र, जर्मन जनवादी जनतंत्र, चीनी लोक गणराज्य, कोरियाई लोक जनवादी जनतंत्र, मंगोलियाई लोक जनतंत्र, पोलिश लोक जनतंत्र, रूमानियाई लोक जनतंत्र*, सोवियत समाजवादी

* जुलाई, १९६५ के संविधान के अनुसार यह देश अब रूमानियाई समाजवादी जनतंत्र कहलाता है।

जनतंत्र संघ, यूगोस्लावियाई संघात्मक लोक जनतंत्र* और चेकोस्लोवाक लोक जनतंत्र**। विश्व समाजवादी प्रणाली समाजवाद और कम्युनिज़्म के पथ पर अग्रसर और हितों व लक्ष्यों की समानता तथा एकता के अटूट बंधनों मे आपस में बंधे हुए स्वतंत्र तथा सर्वसत्तासंपन्न जनों का आर्थिक व राजनीतिक राष्ट्रमंडल है। दूसरे महायुद्ध से पहले समाजवाद निर्माण में प्रवृत्त देशों के हिस्से में विश्व की कोई ६ प्रतिशत जनसंख्या और १७ प्रतिशत क्षेत्रफल आता था, मगर विश्व समाजवादी राष्ट्रमंडल के आविर्भाव के बाद विश्व के एक चौथाई से अधिक भाग में रहनेवाली एक तिहाई से अधिक मानवजाति समाजवाद की ओर बढ़ने लग गयी। विश्व पूंजीवादी प्रणाली के मुक़ाबले में, जो अपने अनिवार्य विनाश की ओर बढ़ रही है, विश्व समाजवादी प्रणाली उत्तरोत्तर विकसित व सुदृढ़ बनती जा रही है।

समाजवाद और जनवाद के विचारों की अविजेय शक्ति व आकर्षण की एक ज्वलंत मिसाल क्यूबा की जन क्रांति भी प्रस्तुत करती है।

क्यूबा में क्रांति की विजय

१९५६ के दिसंबर की एक अंधियारी रात में द्वीप के निर्जन दक्षिण-पूर्वी तट पर कुछ लोगों का एक दल उतरा। ये वे क्यूबाई देशभक्त व क्रांतिकारी थे, जिन्होंने अमरीकियों के पिट्ठू बतीस्ता की जनविरोधी सरकार का तख़्ता उलटने को अपना जीवन-लक्ष्य बनाया हुआ था और दमन से बचने के लिए जिन्हें अपना देश छोड़ देना पड़ा था। दल का नेता फ़ीदेल कास्त्रो नामक एक युवा वकील था। बतीस्ता के सैनिकों के साथ एक असमान मुठभेड़ के बाद दल के ८२ सदस्यों में से केवल १२ ही जीवित बच पाये। किंतु आत्मसमर्पण करने के बजाय फ़ीदेल कास्त्रो और उसके साथी सियेरा माएस्त्रा पहाड़ों के जंगलों में जा छिपे, ताकि वहां से क्यूबाई जनता की मुक्ति के लिए लड़ाई जारी रखी जा सके।

---

* ७ अप्रैल, १९६३ को यूगोस्लाविया में नया संविधान लागू हुआ था। उसके अनुसार देश का नाम अब यूगोस्लावियाई समाजवादी संघात्मक जनतंत्र है।

** चेकोस्लोवाकिया की राष्ट्रीय सभा द्वारा ११ जुलाई, १९६० को स्वीकृत संविधान में समाजवाद की बुनियाद के निर्माण के तथ्य को विधिक आधार प्रदान किया गया था और देश का नाम बदलकर चेकोस्लोवाक समाजवादी जनतंत्र रख दिया गया था।

इस जंगल-दुर्ग से एक छोटे से रेडियो ट्रांसमिटर ने क्यूबा के कोने-कोने में संदेश प्रसारित किया कि विद्रोहियों का लक्ष्य बतीस्ता की तानाशाही को उखाड़ फेंकना ही नहीं, देश को आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक मुक्ति दिलाना भी है। पहाड़ों में छिपे हुए देशभक्तों के शौर्यपूर्ण संघर्ष की ख़बर आग की तरह आसपास के सभी इलाक़ों में फैल गयी। बतीस्ता के शासन से जिन्हें भी नफ़रत थी और जो भी उसके ख़िलाफ़ हथियार हाथ में लेकर लड़ने को तैयार थे, वे सभी कास्त्रो के दस्ते में शामिल होने को लालायित हो उठे। छापामार सेना बर्फ़ के गोले की तरह बढ़ती ही चली गयी। १९५८ के अंत तक "बरबूदोसों" ("दढ़ियलों") – छापामारों को यह नाम इसलिए मिला था कि उन्होंने तब तक दाढ़ी न बनाने की शपथ खायी थी, जब तक तानाशाही का तख़्ता नहीं उलटा जाता और क्यूबाई जनता के दुश्मनों का सफ़ाया नहीं हो जाता – की तादाद कई हज़ार तक पहुंच चुकी थी।

अब विद्रोहियों के नेताओं ने तय किया कि दो छापामार दस्ते देश के मध्यवर्ती भाग में भेजने और राजधानी हवाना को मुक्त कराने का समय आ गया है। विद्रोही रास्ते में पड़नेवाले छोटे-मोटे नगरों और गांवों को आज़ाद करने के साथ-साथ ज़मींदारों की ज़मीनें छीनकर उन्हें भूमिहीन और अल्पभूमि किसानों को बांटते गये। इससे क्रांति के विचारों के प्रसार में बड़ी मदद मिली।

१९५८ के शरद तक देश के सभी पूर्वी प्रांतों पर छापामारों का क़ब्ज़ा हो गया। संयुक्त राज्य अमरीका की सक्रिय सहायता के बावजूद बतीस्ता की फ़ौजें लगातार पीछे हटती गयीं। जब विद्रोहियों ने रणनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सांता क्लारा नगर पर भी अधिकार कर लिया, तो तानाशाह की स्थिति बहुत ही गंभीर बन गयी। फिर ज्यों ही स्पष्ट हो गया कि छापामारों से लड़ाई में कामयाबी नहीं मिल सकती, बतीस्ता लूट के सारे माल-मते के साथ डोमीनिकन गणराज्य भाग गया, जहां उसी जैसा तानाशाह त्रुहील्यो राज कर रहा था।

१ जनवरी, १९५९ को हर्षोन्मत्त जनता के जय-जयकार के नारों के बीच विद्रोहियों ने राजधानी हवाना में प्रवेश किया। क्यूबा की जन क्रांति, क्यूबाई जनता की जनवादी, साम्राज्यवादविरोधी क्रांति विजयी हो गयी थी। क्यूबा स्वतंत्रता का द्वीप बन गया था। शीघ्र ही एक जन सरकार की स्थापना की गयी, जिसका प्रमुख फ़ीदेल कास्त्रो बना।

विजयी क्रांतिकारी शक्तियों ने एक पहला काम जो किया, वह था देश से संयुक्त राज्य अमरीका के सैनिक मिशन का निष्कासन। इसके साथ ही जनवाद के दमन के लिए बतीस्ता द्वारा स्थापित सैनिक गुप्तचर सेवा

और कम्युनिस्टविरोधी ब्यूरो को भी भंग कर दिया गया। क्यूबाई जनता के पूर्ण समर्थन से नयी सरकार अब दूरगामी क्रांतिकारी व जनवादी सुधारों के अपने कार्यक्रम को साकार बना सकती थी।

समाजवाद का निर्माण

यूरोपीय लोक जनवादी राज्यों का औद्योगीकरण

जन सत्ता के वर्षो में समाजवादी दशों ने असाधारण प्रगति की।

पूंजीवाद के अंतर्गत इन देशों की जनता को अनिर्वचनीय कष्ट और दुख भोगने पड़े थे। पूंजीवाद की एक सबसे घृणित उपज दूसरे महायुद्ध ने तो इन देशों को सर्वनाश के कगार पर ही खड़ा कर दिया था। इस युद्ध में मिसाल के लिए, पोलैंड और हंगरी को कुल मिलाकर जितनी क्षति उठानी पडी, वह उनकी १९३८ की कुल राष्ट्रीय आय से पांचगुना से ज़्यादा थी।

राज्य सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लेने और भूमि, कारख़ानों तथा फ़ैक्टरियों का मालिक बन जाने के बाद लोक जनवादी राज्यों के मेहनतकश समाजवाद के निर्माण में जुट गये। इनमें से अधिकांश देश युद्ध से पहले औद्योगिक दृष्टि से काफ़ी पिछड़े हुए थे। युद्धोतर वर्षो में उनकी अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन तथा विकास की योजना इस ढंग से बनायी गयी कि उद्योग को प्रमुखता प्राप्त हो जाये। अत: ज्यों ही युद्ध-ध्वस्त अर्थव्यवस्था का पुनरुद्धार पूर्ण हुआ मध्य और दक्षिण-पूर्वी यूरोप के देशों में समाजवादी औद्योगीकरण का कार्यक्रम आरंभ कर दिया गया। इसके लिए अधिकांश पूंजी उद्योग, व्यापार और कृषि में राजकीय क्षेत्र के संचयों से जुटायी गयी। इसी प्रकार राजकीय ऋणपत्रों के रूप में लोगों की निजी बचतों को और पराये श्रम का शोषण करनेवालों की आय पर कराधान से प्राप्त साधनों को भी औद्योगीकरण के वित्तीयन के लिए इस्तेमाल किया गया। आर्थिक विकास का विनियमन देश की अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं तथा क्षमताओं को ध्यान में रखकर बनायी गयी राजकीय आर्थिक योजनाओं द्वारा किया जाता था।

बुल्गारिया

जन शासन के वर्षों में बुल्गारिया की अर्थव्यवस्था का स्वरूप बिल्कुल ही बदल गया। फ़ासिस्ट राजतंत्र के ज़माने में देश में न धातुकर्म उद्योग था न बहुत सी दूसरी आधुनिक उद्योग शाखाएं ही। बिजली के उत्पादन में व

यूरोप का एक सबसे पिछड़ा हुआ देश था। वहां ऐसे कोई कल-कारख़ाने नहीं थे, जो कृषि के लिए मशीनें और रासायनिक खादें बना सकते। अतः जब देश की पहली पंचवर्षीय योजना (१९४९-१९५३) बनायी गयी, तो उसमें सबसे अधिक बल भारी उद्योगों – खनिज, धातुकर्म, मशीन-निर्माण, रसायन तथा बिजली उद्योगों – पर ही दिया गया। इस योजना में देश के भावी आर्थिक विकास की मुख्य दिशा निर्धारित की गयी थी।

बुल्गारिया का समाजवादी औद्योगीकरण दूसरी पंचवर्षीय योजना (१९५३-१९५७) के दौरान भी जारी रहा। इन वर्षों में अनेक महत्त्वपूर्ण उद्यमों का निर्माण पूरा किया गया, जैसे ईसकिर पनबिजलीघर, वाताक परियोजना का प्रथम चरण तथा अन्य जलविद्युत प्रतिष्ठान, व्ला० इ० लेनिन धातुकर्म कारख़ाना, सीसा तथा जस्ता कारख़ाना, सुपरफ़ास्फ़ेट उर्वरक संयंत्र, पेनीसिलीन फ़ैक्टरी, इत्यादि।

इस काल का बुल्गारिया एक विशाल निर्माणस्थली की याद दिलाता था। देश में सर्वत्र नये कारख़ाने तथा फ़ैक्टरियां बनायी जा रही थीं, उच्च-वोल्टता बिजली लाइनें बिछायी जा रही थीं, नये रेल तथा मोटर मार्ग बनाये जा रहे थे। पश्चिमी रोदोपी पहाड़ों में वाताक परियोजना का निर्माण पूरा हो चुका था। इस परियोजना के अंतर्गत निर्मित सभी जलाशयों, पन-बिजलीघरों, सुरंगों और नहरों को देखने के लिए कोई ६०० किलोमीटर का चक्कर लगाना पड़ेगा। १९६५ में बुल्गारिया के उद्योगों ने १९३९ की अपेक्षा २१.६ गुना अधिक मालों का उत्पादन किया। १९५६-१९६४ में मशीन-निर्माण, धातु-विधायन और रसायन उद्योगों का उत्पादन प्रतिवर्ष औसतन २१.७ प्रतिशत की दर से बढ़ा, जो कि केवल लोक जनवादी शासन में ही संभव हो सकता था।

१९६६ में अन्य समाजवादी देशों की भांति बुल्गारिया में भी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास का नया दौर शुरू हुआ। देश में आर्थिक आयोजन तथा प्रबंध की पहले से बेहतर प्रणाली अपनायी जाने लगी। १९६६ में कुल उत्पादन में १२.२ प्रतिशत वृद्धि हुई। आयोजन तथा प्रबंध प्रणाली में सुधार आगे भी जारी रखा गया। १९६७ में औद्योगिक उत्पादन १३.४ प्रतिशत और कतिपय महत्त्वपूर्ण मालों का उत्पादन तो इससे भी ज़्यादा बढ़ा।

जर्मन जनवादी जनतंत्र

जर्मनी का यह भाग, जो पहले औद्योगिक रूप से काफ़ी पिछड़ा हुआ था, अब अपनी जनता के प्रयासों की बदौलत कुल औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से यूरोप में पांचवें स्थान पर पहुंच गया।

जर्मन जनवादी जनतंत्र के मेहनतकशों ने जब जर्मन धरती पर समाजवाद की बुनियाद रखनी शुरू की थी, तो उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। जर्मनी के विभाजन के बाद पूर्वी जर्मनी में खनिज और धातुकर्म उद्योग नाममात्र को भी नहीं रह गये थे, क्योंकि वे लगभग पूरी तरह देश के पश्चिमी भाग में संकेंद्रित थे। जर्मन जनवादी जनतंत्र की स्थापना के समय उसके क्षेत्र में केवल पांच पुरानी धमन भट्ठियां थीं, जबकि पश्चिमी जर्मनी में १२० आधुनिकतम धमन भट्ठियां थीं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि १९६१ तक जनवादी जर्मनी की अर्थव्यवस्था लगातार जर्मन संघात्मक गणराज्य द्वारा की जानेवाली आर्थिक तोड़-फोड़ की कार्रवाइयों का शिकार बनती रही, क्योंकि जनवादी जर्मनी और पश्चिमी बर्लिन के बीच आवागमन पर किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं थी।

फिर भी सोवियत संघ, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड और अन्य समाजवादी देशों की बंधुत्वपूर्ण सहायता से जनवादी जर्मनी के मेहनतकशों ने शीघ्र ही अपने यहां पोत-निर्माण, रसायन मशीन-निर्माण, तेल-रसायन, इलेक्ट्रानिक उपकरण, आदि भारी उद्योगों की स्थापना कर ली। उद्योगों की धातु आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ब्रैंडनबर्ग, हेगिंग्ज़डोर्फ़ और रीज़ा के पुराने कारख़ानों का पुनर्निर्माण और विस्तार किया गया। इसके साथ ही 'ओस्ट' और 'वेस्ट' नामक दो नये विराट धातुकर्म संयंत्रों का निर्माण भी किया गया। जनवादी जर्मनी में भूरे कोयले के विशाल भंडार हैं, किंतु अल्प कैलोरी-मान के कारण वह कच्चे माल के रूप में धातुकर्म उद्योग के लिए अधिक उपयुक्त नहीं था पर जनवादी जर्मनी के वैज्ञानिकों और मज़दूरों ने ऐसा तरीक़ा खोज निकाला, जिसकी बदौलत उसे धातुकर्म उद्योग में सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया जाने लगा। फलस्वरूप भूरे कोयले का उत्पादन बहुत बढ़ गया। आज जनवादी जनतंत्र विश्व में भूरे कोयले का सबसे बड़ा उत्पादक है।

कोयला उत्पादन के विस्तार के साथ-साथ बिजली का उत्पादन बढ़ाने के लिए भी क़दम उठाये गये। ट्रेट्टनडोर्फ़, वेंज़डोर्फ़ और फ़ोक्केरोहडे में नये शक्तिशाली बिजलीघरों का निर्माण किया गया। लूबेनाऊ और फ़ेचाऊ में मध्य यूरोप के विशालतम तापबिजलीघर बनाये गये, जो भूरा कोयला इस्तेमाल करते हैं। सातवें दशक में प्रतिव्यक्ति विद्युत-ऊर्जा उत्पादन की दृष्टि से जनवादी जर्मनी समाजवादी देशों में प्रथम और यूरोप में द्वितीय स्थान पर था।

मजदूर वर्ग की पार्टी और सरकार के निर्देशन में जनवादी जर्मनी के मज़दूरों, इंजीनियरों और वैज्ञानिकों के प्रयासों का नतीजा यह निकला कि १९६४ में जनतंत्र का औद्योगिक उत्पादन १९३६ के सारे जर्मनी जितना हो गया, हालांकि उसका क्षेत्रफल तत्कालीन जर्मनी के एक चौथाई के बराबर भी नहीं था। औद्योगिक विकास के क्षेत्र में जर्मन जनवादी जनतंत्र की सफलताएं

वास्तव में एक आर्थिक चमत्कार थीं, क्योंकि उन्हें ऐसी कठिन परिस्थितियों में हासिल किया गया था, जिनकी कि पश्चिमी जर्मनी के युद्धोत्तरकालीन आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रसंग में हम कल्पना भी नहीं कर सकते। पश्चिमी जर्मनी का आर्थिक पुनर्निर्माण दशकों से विकसित आर्थिक ढांचे और अत्यंत समृद्ध प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित था, जब कि जनवादी जर्मनी के पास इनमें से कुछ भी न था।

१९६६-१९७० की राष्ट्रीय आर्थिक विकास योजना के दौरान जर्मन जनवादी जनतंत्र के औद्योगिक उत्पादन में और भी अधिक वृद्धि हुई, जो लगभग पूरी तरह श्रम उत्पादिता के बढ़ने का परिणाम थी। यह छलांग योजना प्रणाली का आर्थिक उत्तोलकों के साथ अधिकतम ताल-मेल बिठाये जाने की बदौलत ही संभव हो पायी थी। जर्मन जनवादी जनतंत्र विश्व समाजवादी प्रणाली के उन पहले देशों में से था, जिन्होंने आर्थिक सुधार लागू किया और औद्योगिक उत्पादन की परिणामदायिता बढ़ाने में असाधारण सफलताएं प्राप्त कीं।

देश में स्वार्ट्ज़े पांपे भूरा कोयला संयंत्र जैसे अनेक नये बड़े उद्यमों ने उत्पादन शुरू किया। एक पाइपलाइन द्वारा पहुंचनेवाले सोवियत तेल की बदौलत जनवादी जर्मनी के औद्योगिक कारख़ाने निर्बाध काम कर सकते थे। सातवें दशक के अंत में इस पाइपलाइन को श्वेद्त से मेर्ज़ेबुर्ग तक बढ़ा दिया गया, जिससे लोइना में स्थित विशाल रासायनिक कारख़ाने को सोवियत तेल सीधे ही मिलने लगा।

हंगरी

हंगरी में भी औद्योगिक पिछड़ेपन का शीघ्र अंत कर दिया गया था। देश के मानचित्र पर अनेक नये औद्योगिक नगर और क्षेत्र प्रकट हुए, जैसे दुनाइवारोश, वेकेवारोश, कोम्लो और बोर्शोद औद्योगिक क्षेत्र। दियोशदियोर में स्थित देश के सबसे बड़े लेनिन धातुकर्म कारख़ाने का पुनर्निर्माण और आधुनिकीकरण किया गया। दर्जनों नये कल-कारख़ानों और खानों ने उत्पादन शुरू किया। यंत्र-निर्माण, मोटरगाड़ी, बाल-बियरिंग, आदि नये उद्योगों की स्थापना की गयी। फलस्वरूप १९६५ तक हंगरी १९३८ की तुलना में ६.१ गुना अधिक औद्योगिक मालों का उत्पादन करने लगा।

हंगरी में निर्मित डीज़ल रेल इंजनों, बिजली ट्रेनों, नदी पोतों, क्रेनों, बसों, वायरलैस उपकरणों और बिजली यंत्रों की ख्याति आज दूर-दूर तक फैल चुकी है और उन्हें अनेक देशों को निर्यात किया जाता है। पारस्परिक

आर्थिक सहायता परिषद की सिफ़ारिशों पर अमल करते हुए हंगरी ने अपना मुख्य ध्यान उन्हीं उद्योगों पर केंद्रित किया, जिन्हें कच्चे माल की कम और बड़ी उत्पादन क्षमताओं तथा कुशल श्रम शक्ति की अधिक आवश्यकता होती है, जैसे इलेक्ट्रानिक उपकरण, रेडियो तथा बिजली उपकरण, कृषि यंत्र और औषधि निर्माण उद्योग। इन उद्योगों का विकास विशेषतः फलदायी सिद्ध हुआ। उनके द्वारा तैयार किये गये मालों का काफ़ी बड़ा हिस्सा निर्यात किया जाता है।

सातवें दशक के उत्तरार्ध में हंगरी की औद्योगिक विकास-दर काफ़ी ऊंची रही: १९६७ में देश का औद्योगिक उत्पादन ९ प्रतिशत बढ़ा। किंतु हंगेरियाई मेहनतकश इतने से ही संतोष नहीं कर सकते थे। देश में लागू किये गये आर्थिक सुधार की बदौलत अर्थव्यवस्था की आगे उन्नति ही नहीं हुई, अपितु समस्त अर्थतंत्र को बेहतर बनाने, उन्नत प्रविधि को शीघ्रातिशीघ्र अपनाने और उत्पादन क्षमताओं का अधिकतम इस्तेमाल करने में मदद भी मिली।

पोलैंड

जन सत्ता के वर्षों में पोलैंड की जनता ने नोवा गूता में एक विशाल धातुकर्म कारख़ाने का निर्माण किया, स्काविन में देश का पहला अल्यूमीनियम कारख़ाना बनाया, जिससे पोलैंड में अलौह धातु उद्योग की नींव पड़ी, कोयला खानों का पुनर्निर्माण तथा विस्तार किया और अनेक नये बिजलीघर खड़े किये। पोलैंड के लोग अपनी औद्योगिक शक्ति के मुख्य अवलंब – इंजीनियरिंग उद्योग – की प्रगति का बड़े गर्व से उल्लेख करते हैं। और वास्तव में पोलैंड की यह उद्योग शाखा सातवें दशक में ही युद्धपूर्व की अपेक्षा २० गुना अधिक उत्पादन करने लग गयी थी।

१९६५ में पोलैंड के उद्योगों ने युद्धपूर्व के स्तर की तुलना में ११.२ गुना ज़्यादा माल तैयार किये। पोलैंड की संयुक्त मज़दूर पार्टी और पोलिश सरकार ने पूंजी के तर्कसंगत विनियोजन, तीव्र प्राविधिक प्रगति, श्रम उत्पादिता में वृद्धि और कुशल कर्मियों के प्रशिक्षण को विशेष महत्त्व दिया।

दूसरे महायुद्ध से पहले पोलैंड अधिकांशतः कच्चे मालों और खाद्य-सामग्रियों का ही निर्यात करता था। देश के कुल निर्यात में मशीनों और उपकरणों का हिस्सा एक प्रतिशत से अधिक न था। किंतु सातवें दशक के आरंभ तक वह बढ़कर कुल निर्यात के कोई एक तिहाई जितना हो गया। पोलिश लोक जनतंत्र विदेशी मंडी में रेलवे वैगन, समुद्री पोत, विद्युत इंजी-

नियरी के सामान, लेथें और मोटरकारें बेचने लगा। विदेशों में पोलिश डिज़ायनों के अनुसार और पोलिश विशेषज्ञों की मदद से बनाये जा रहे उद्यमों को सप्लाई किये जानेवाले पूर्ण औद्योगिक मशीनरी सेटों का भी पोलैंड के विदेश व्यापार में महत्त्व उत्तरोतर बढ़ता गया।

रूमानिया

युद्धपूर्व रूमानिया के उद्योग में सर्वोपरि स्थान तेल निकासी को प्राप्त था। जन सत्ता की स्थापना के बाद रूमानिया ने तेल का निर्यात ही नहीं बढ़ाया, बल्कि अपने यहां विकसित तेलशोधन उद्योग की नींव भी रखी। इसके साथ ही देश में इंजीनियरिंग, लौह धातुकर्म तथा धातु विधायन उद्यमों का पुनर्निर्माण और वृहद् पैमाने पर विस्तार किया गया। देश के औद्योगिक मानचित्र पर अनेक रसायन उद्यम भी प्रकट हुए। निकोलाई चाउशेस्कू के नेतृत्व में रूमानियाई कम्युनिस्ट पार्टी रूमानिया के समाजवादी औद्योगीकरण को अपना सर्वोपरि लक्ष्य मानती थी।

वर्तमान रूमानिया अपने पोत-निर्माण उद्योग पर उचित ही गर्व करता है। उसकी सीमा सागर – काला सागर – से तो लगती ही है, उसके क्षेत्र से होकर एक नाव्य नदी – डेन्यूब – भी बहती है। फिर भी राजतंत्र के ज़माने के रूमानिया में एक भी जहाज़ नहीं बनता था और जो कुछेक छोटे पोत कारखाने थे भी, वे मुख्यतया मरम्मत का ही काम करते थे। रूमानियाई पोत-निर्माण उद्योग का वास्तविक इतिहास तो जन सत्ता की स्थापना के बाद ही आरंभ हुआ। मई, १९५८ में गलाती पोत-निर्माण कारख़ाने में पहले रूमानियाई डीज़ल पोत का जलावतरण किया गया। उसकी भारवहन क्षमता २००० टन थी। तब से रूमानियाई पोत-निर्माता बहुत सारे नदी तथा सागरगामी जहाज़ बना चुके हैं।

१९६५ में रूमानिया ने १९३८ की अपेक्षा ९.५ गुना औद्योगिक उत्पादन किया। १९५१ से उसकी वार्षिक वृद्धि की औसत दर १३ प्रतिशत से अधिक रही। इंजीनियरिंग उद्योग के उत्पादन में तो प्रतिवर्ष २० प्रतिशत से भी ज़्यादा वृद्धि हुई, जिसने सभी उद्योग शाखाओं में नयी मशीनें लगाये जाने और उत्पादन का विस्तार किये जाने में निर्णायक भूमिका निभायी।

रूमानिया के औद्योगीकरण में अन्य समाजवादी देशों विशेषत: सोवियत संघ के साथ घनिष्ठ सहयोग और उनसे मिली सक्रिय सहायता का बहुत बड़ा हाथ रहा। पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद का सदस्य होने के कारण उसे अपने आर्थिक विकास के लिए उन्नत पूंजीवादी देशों पर निर्भर



जर्मन जनवादी जनतंत्र का वार्नोववेर्फ़्त पोत-निर्माण कारखाना

नहीं होना पड़ा। परिषद के अंतर्गत अन्य समाजवादी देशों के साथ सहयोग बढ़ाने से रूमानिया को श्रम-उत्पादिता का स्तर ऊंचा उठाने में भी बड़ी मदद मिली।

चेकोस्लोवाकिया के लिए, जो पहले भी औद्योगिक दृष्टि से काफ़ी समुन्नत था, औद्योगिक विकास का मतलब मुख्यतः यह था कि विभिन्न उद्योग शाखाओं के विकास स्तरों में जो अंतर अतीत से विरासत में मिला था, उसे खत्म कर दिया जाये और प्राविधिक सुधार लागू किये जायें। युद्धपूर्व चेकोस्लोवाकिया की अर्थव्यवस्था में मुख्य स्थान कपड़ा, चमड़ा, जूता, कांच, सिरेमिक, आदि हल्के उद्योगों को प्राप्त था। इसलिए जन सत्ता की स्थापना के बाद सरकार ने सर्वाधिक ध्यान भारी उद्योगों, विशेषतः इंजीनियरिंग उद्योग के विकास पर दिया। कुल मिलाकर १९६५ में १९३७ की तुलना में ५.१ गुना ज़्यादा औद्योगिक उत्पादन हुआ। जन शासन के वर्षों में प्राकृतिक और आर्थिक कारकों के बेहतर इस्तेमाल की बदौलत उद्योगों के लिए कच्चे मालों की सप्लाई में काफ़ी सुधार आया और उनका प्राविधिक स्तर भी उन्नत बना। १९४५ और १९६५ के बीच चेकोस्लोवाकिया में १० धमन भट्ठियों, २१ खुले मुंह की भट्ठियों, कई रोलिंग मिलों और कुल ५०,००,००० किलोवाट क्षमता के अनेक बिजलीघरों का निर्माण किया गया।

नये शासन के अंतर्गत स्लोवाकिया की स्थिति आमूल बदल गयी, जो पहले चेक और स्लोवाक बूर्जुआज़ी के लिए कच्चे माल तथा सस्ते श्रम की सप्लाई करनेवाला पिछड़ा प्रदेश ही था। किंतु चेक मज़दूरों की बंधुत्वपूर्ण सहायता से स्लोवाक मेहनतकशों ने अपने प्रदेश को अब एक उन्नत औद्योगिक प्रदेश में परिवर्तित कर दिया।

मज़दूर वर्ग के निःस्वार्थ प्रयासों और विश्व समाजवादी राष्ट्रमंडल के अन्य सदस्यों के साथ बढ़ते सहयोग की बदौलत चेकोस्लावाक अर्थव्यवस्था काफ़ी ऊंचे स्तर पर पहुंच गयी। चेकोस्लोवाकिया विश्व के सबसे विकसित औद्योगिक राष्ट्रों में गिना जाने लगा। इस्पात के प्रतिव्यक्ति उत्पादन में वह फ़्रांस, इटली तथा ग्रेट ब्रिटेन, विद्युत लोकोमोटिवों के उत्पादन में ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस तथा पश्चिमी जर्मनी और रासायनिक उपकरणों के उत्पादन में संयुक्त राज्य अमरीका से भी आगे निकल गया।

.पर सातवें दशक के आरंभ में चेकोस्लोवाक अर्थव्यवस्था में कतिपय नकारात्मक प्रवृत्तियां भी प्रकट होने लगीं, जो प्रबंध की खामियों का परिणाम थीं। इससे अर्थव्यवस्था में नयी मशीनरी तथा प्रविधियां इस्तेमाल किये जाने में विलंब हुआ। कतिपय शाखाओं के असंतुलित विकास और कच्चे माल के उपलब्ध स्रोतों तथा अन्य आंतरिक रिज़र्वों से भरपूर लाभ न उठाये जाने का भी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर कुप्रभाव पड़ा। चेकोस्लोवाकिया की कम्युनिस्ट

पार्टी और सरकार ने इन सब त्रुटियों और कमियों को दूर करने के लिए कतिपय क़दम उठाये। योजना प्रणाली को सुधारने और उत्पादित मालों की क्वालिटी बेहतर बनाने पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। आर्थिक सुधार पर अमल शुरू किया गया, किंतु उसका इष्टतम रूप क्या हो, यह शीघ्र ही निर्धारित न किया जा सका। इससे जो असंतोष पैदा हुआ, उसका भी चेकोस्लोवाकिया की १९६८ की घटनाओं में काफ़ी हाथ रहा।

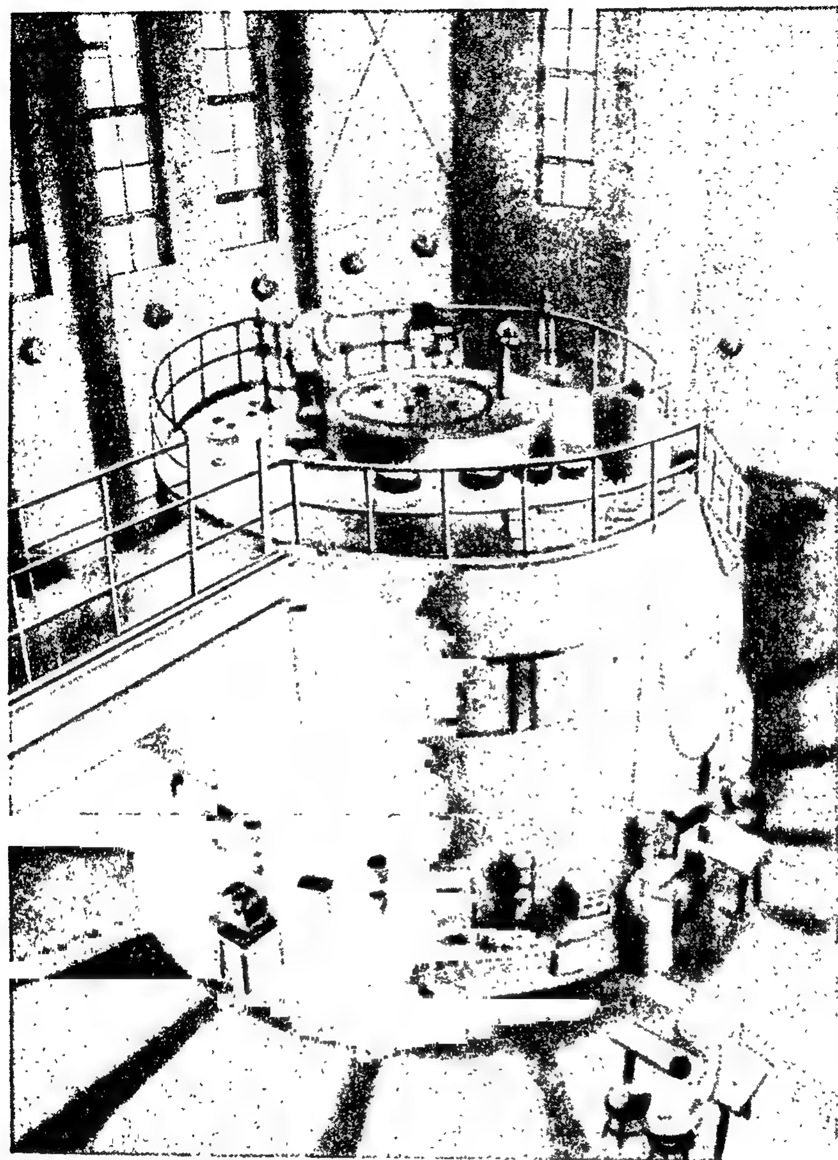
यूगोस्लाविया

यूगोस्लाविया के युद्धोत्तरकालीन आर्थिक जीवन की सबसे मुख्य विशेषता थी धातुकर्म, लेथ-निर्माण तथा रसायन उद्योगों का सघन विकास और देश का विजलीकरण।

यूगोस्लावियाई धातुकर्म उद्योग का कितनी तीव्र गति से विकास हुआ, इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है: १९४५ में देश में इनी-गिनी धमन भट्ठियां ही थीं (ज़ेनिचा, एमेनिचे, सिसाक और वारेश में) और वे भी सालभर में केवल ८४,००० टन धातु तैयार करती थीं। किंतु १९६० में इतना ही उत्पादन केवल एक महीने में होने लगा। वर्तमान यूगोस्लाविया मोटरकारें, ट्रैक्टर, कंबाइनें, दहन इंजन, टर्बाइनें, सिने प्रोजेक्टर, रेफ़्रीजिरेटर, आदि विविध माल तैयार करता है, जिन्हें युद्ध से पहले वह विदेशों से आयात किया करता था। उसके पोत-निर्माण कारख़ानों में निर्मित यात्री तथा व्यापारिक पोत, टैंकर और फ़्लोटिंग डॉक विश्व में सर्वत्र विख्यात हैं।

अपने अथक प्रयास और लगन से यूगोस्लाव जनता ने भूतपूर्व पिछड़े हुए खेतिहर यूगोस्लाविया को एक विकसित औद्योगिक देश बना दिया है, जिसके पास अपनी उत्पादक शक्तियों का आगे भी विकास करते रहने के लिए सुदृढ़ आधार मौजूद है। १९६५ में यूगोस्लावियाई समाजवादी संघात्मक जनतंत्र ने युद्धपूर्व काल की अपेक्षा ७.५ गुना अधिक औद्योगिक उत्पादन किया। इसी अवधि में उसकी राष्ट्रीय आय में भी तीन गुना वृद्धि हुई।

राष्ट्रीय आय की ऊंची वृद्धि दर समाजवाद निर्माण में यूगोस्लाविया की सफलताओं की महत्त्वपूर्ण परिचायक थी। १९४७-१९६३ में औसत वार्षिक वृद्धि दर ७ प्रतिशत रही, जबकि पहले और दूसरे महायुद्धों के बीच के काल मे वह केवल २ प्रतिशत थी।



रूमानिया में सोवियत सहयोग से निर्मित आणविक रियेक्टर

दूसरे महायुद्ध से पहले यूगोस्लाविया के विभिन्न भागों में उद्योगों का वितरण वहुत असमान था। जन सरकार ने इस असमानता को दूर किया। अब देश के औद्योगिक दृष्टि से विकसित क्षेत्रों में सर्विया, स्लोवेनिया और उत्तरी क्रोएशिया के साथ-साथ वोस्निया, हेर्ज़ेगोविना, मकदूनिया और मोंटेनीग्रो का भी नाम लिया जाने लगा। समाजवादी औद्योगीकरण के आधार पर

किये गये उद्योगों के नये भौगोलिक वितरण ने भूतपूर्व अल्पविकसित इलाक़ों के विकास में मदद की और यह समाजवाद निर्माण के क्षेत्र में यूगोस्लाव जनता की एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी।

युद्धोत्तर काल में देश में आधुनिकतम मशीनरी से सज्जित अनेक नये औद्योगिक उद्यमों का निर्माण और कई पुराने उद्यमों का पुनर्निर्माण किया गया। किंतु बहुत सी कपड़ा मिलों, चर्मशोधनशालाओं और खाद्य-सामग्री उद्यमों की मशीनरी अभी पुरानी ही थी, जिससे उनके उत्पादन में कोई ख़ास वृद्धि नहीं हो पायी। यूगोस्लाविया के कम्युनिस्ट संघ और यूगोस्लाव सरकार ने आर्थिक प्रबंध की प्रणाली में सुधार पर बहुत ध्यान दिया।

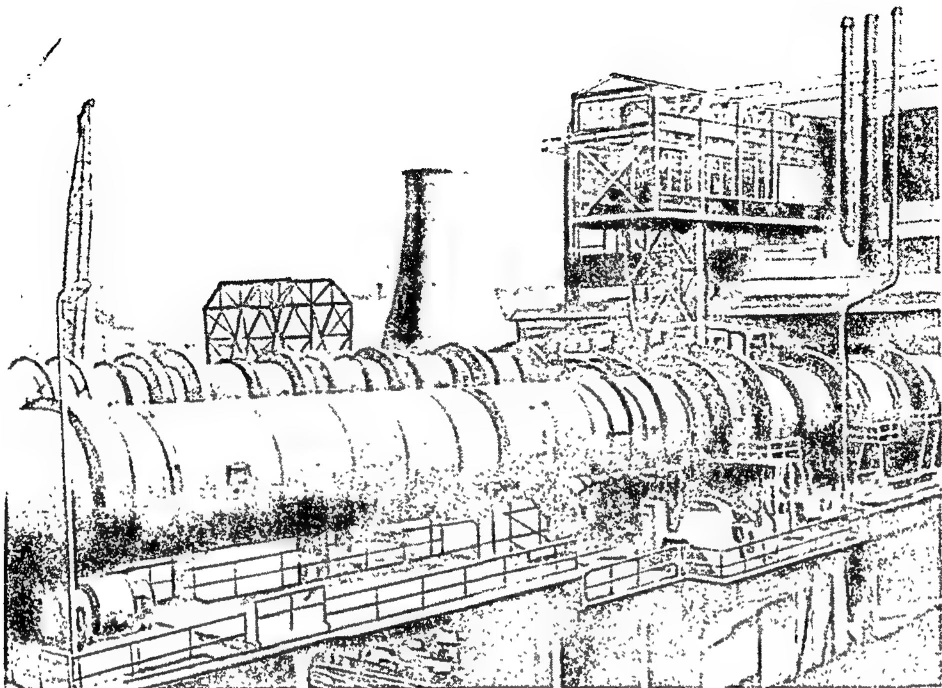
श्रम के प्रति नया रवैया। औद्योगीकरण के क्षेत्र में तीव्र प्रगति

लोक जनवादी सत्ताओं के सुदृढ़ीकरण के साथ-साथ लोगों का श्रम के प्रति रवैया भी बदला। समाजवादी प्रतियोगिता और प्रविधि तथा तकनीक में सुधार आंदोलनों का व्यापक प्रसार हुआ। सोवियत कम्युनिस्ट श्रम टोलियों की देखादेखी यूरोपीय समाजवादी देशों में भी समाजवादी श्रम टोलियां बनायी जाने लगीं।

पूंजीवाद की तुलना में समाजवाद की श्रेष्ठता का एक ज्वलंत प्रमाण है समाजवादी देशों के औद्योगिक विकास की ऊंची दर। मानवजाति के इतिहास में १०-१५ वर्ष कोई बड़ी अवधि नहीं हैं। फिर भी इतने कम समय में ही इन देशों ने अपना औद्योगिक उत्पादन युद्धपूर्व के स्तर के मुक़ाबले में कई गुना बढ़ा लिया। निम्न आंकड़े दिखाते हैं कि १९३८ से १९६४ तक उत्पादन कितना बढ़ा: बिजली – १० गुना से अधिक, इस्पात – लगभग ५ गुना, तेल – लगभग ७ गुना, सीमेंट – ६ गुना से ज़्यादा, सूती कपड़ा – २ गुना से ज़्यादा।

सातवें दशक के पूर्वार्ध में औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर में जो थोड़ी-बहुत गिरावट आयी थी (तत्कालीन प्रबंध प्रणाली का वैज्ञानिक व प्राविधिक क्रांति की तुलना में पिछड़ जाना उसका कारण था), आर्थिक सुधार लागू करके और उत्पादन की परिणामदायिता काफ़ी ज़्यादा बढ़ाकर उसे रोक लिया गया। फलस्वरूप १९६७ में औद्योगिक उत्पादन में पुनः उल्लेखनीय वृद्धि हुई (मिसाल के लिए, बुल्गारिया और रूमानिया में १३ प्रतिशत से भी अधिक)।

यह इसी तीव्र प्रगति का नतीजा था कि यूरोपीय लोक जनवादी देश उद्योग और कृषि, दोनों ही दृष्टियों से अब समुन्नत देशों में गिने जाने लगे।



स्कोप्ले, यूगोस्लाविया में निर्माणाधीन धातु कारखाना

वे न केवल औद्योगिक मालों की अपनी आवश्यकताओं की आपूर्ति करने में सक्षम हैं, परंतु विविध वस्तुओं का निर्यात भी करते हैं। वह ज़माना हमेशा-हमेशा के लिए लद गया है, जब ये देश बड़े साम्राज्यवादी राष्ट्रों के लिए केवल कृषि उत्पादों तथा कच्चे मालों के सप्लायर हुआ करते थे।

तीव्र औद्योगीकरण के फलस्वरूप बेरोज़गारी जैसे अभिशाप का पूर्ण अंत हो गया। आज की युवा पीढ़ी केवल किस्से-कहानियों से ही जानती है कि अपने देश में काम न पाकर हज़ारों-लाखों लोग पहले कैसे विदेशों की धूल फांकने को मजबूर होते थे। औद्योगीकरण ने लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठाने के लिए भी आवश्यक परिस्थितियां तैयार कीं। आरंभ में कुछ वर्षों तक भारी उद्योगों का अपेक्षया अधिक तेज़ी से विकास किया गया, ताकि अतीत से विरासत में मिले पिछड़ेपन का शीघ्रातिशीघ्र ख़ात्मा किया जा सके। सातवें दशक के उत्तरार्ध में हल्के उद्योग भी लगभग उतनी ही तेज़ी से विकास करने लगे। फलस्वरूप उपभोक्ता मालों, विशेषतः दीर्घोपयोगी मालों का उत्पादन काफ़ी बढ़ गया।

लोक जनवादी सत्ता के वर्षों में मध्य और दक्षिण-पूर्वी यूरोपीय समाजवादी देशों की कृषि में अनेकानेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये। सामंतवादविरोधी कृषि-भूमि सुधार लागू किये जाने के बाद यह अधिकाधिक स्पष्ट होता गया कि एकल किसानी और बड़े पैमाने का समाजीकृत उत्पादन, दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। छोटी किसान काश्तें, जिनका गांवों में बाहुल्य था, कच्चे मालों और कृषि उत्पादों की बढ़ती आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकती थीं। नगर और देहात के बीच सामान्य संबंधों की स्थापना में कुलकों की गतिविधियां भी बाधक थीं, क्योंकि उनकी रुचि केवल अपना मुनाफ़ा बढ़ाने में थी, न कि उद्योगों और आबादी की ज़रूरतों की पूर्ति करने में।

इन अंतर्विरोधों को केवल समाजवादी उत्पादन सहकारिता के माध्यम से, यानी अकेले-अकेले खेती करनेवाले किसानों को स्वेच्छा से सहकारिता के पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करके, सामूहिक कृषि संगठनों की स्थापना करके ही दूर किया जा सकता था। किंतु इसके लिए यह भी आवश्यक था कि पहले एक वर्ग के रूप में कुलकों को शेष सभी किसानों से अलग कर दिया जाये और उनकी भीतरघाती हरकतों पर पूरी रोक लगा दी जाये।

बुल्गारिया उन देशों में से था, जहां किसानों को सबसे पहले सहकारी संस्थाओं में संगठित किया गया। १९५८ के मध्य तक वहां कोई ३,५०० सहकारी फ़ार्म बनाये जा चुके थे, जिनमें ९० प्रतिशत से अधिक किसान शामिल थे। आगे चलकर ऐसे कई छोटे-छोटे फ़ार्मों को मिलाकर बड़े सहकारी फ़ार्म क़ायम किये जाने लगे।

सहकारी फ़ार्म में शामिल होने पर भी ज़मीन किसान की ही निजी संपत्ति बनी रही – केवल उसका उपयोग सामूहिक ढंग मे होता था। सहकारी कृषि संगठन का यह रूप इसलिए अपनाया गया कि बुल्गारियाई किसानों में निजी स्वामित्व की भावना बहुत बलवती थी। बुल्गारियाई सहकारी फ़ार्मों और सोवियत सामूहिक फ़ार्मों के बीच यही मुख्य अंतर था। सोवियत सामूहिक फ़ार्म में ज़मीन, जिसे राज्य ने किसानों को शाश्वत उपयोग के लिए दिया है, समस्त जनता की संपत्ति होती है। बुल्गारियाई सहकारी फ़ार्मों में आय का वितरण करते समय सदस्य के श्रम को ही नहीं, उसके द्वारा दी गयी ज़मीन की मात्रा और किस्म को भी ध्यान में रखा जाता था। किंतु १९६७ में श्रम सहकारी संस्थाओं की एक नयी नियमावली बनायी गयी, जिसके अनुसार आय के वितरण का एकमात्र मापदंड श्रम को बना दिया गया। देश में आर्थिक आयोजन तथा प्रबंध की नयी प्रणाली अपनाये जाने के क़ारण सहकारी फ़ार्मों के नियमों में भी संशोधन किया जाना आवश्यक हो गया था।

बुल्गारियाई कृषि के सामूहिकीकरण ने किसानों को देहाती बूर्जुआज़ी – कुलक वर्ग – के शोषण से पूर्ण मुक्ति दिला दी। देश में यही आख़िरी शोषक वर्ग था। कुलकों का उन्मूलन कर दिये जाने के बाद बुल्गारियाई समाज में दो मित्र वर्ग ही रह गये – मज़दूर और सहकारी फ़ार्मों के किसान। जन बुद्धिजीवी समुदाय उन्हीं से घनिष्ठतः संबद्ध है।

सहकारी फ़ार्मों में शामिल होने से किसानों की ख़ुशहाली और श्रम उत्पादिता, दोनों में अपूर्व वृद्धि हुई। १९६४ में बुल्गारिया के किसानों ने १९३९ की अपेक्षा, जो कि पुराने बुल्गारिया में एक सबसे अधिक पैदावारवाला वर्ष माना जाता था, १.७ गुना अधिक उत्पादन किया। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण फ़सलों की पैदावार में भी काफ़ी वृद्धि हुई। अकेले १९६७ में ही कृषि पैदावार १५ प्रतिशत बढ़ी। तोदोर जीव्कोव के नेतृत्व में बुल्गारिया की कम्युनिस्ट पार्टी और सरकार ने समाजवादी कृषि के विकास में हर तरह से मदद की।

हंगरी, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया, जनवादी जर्मनी और अल्बानिया में भी किसानों की विशाल बहुसंख्या ने सामूहिक कृषि का पथ अपनाया और इसके उत्कृष्ट परिणाम निकले। मिसाल के लिए, हंगरी अपने इतिहास में पहली बार खाद्यान्नों के मामले में आत्मनिर्भर बन सका। पोलैंड और यूगोस्लाविया में सामूहिक कृषि का इतना प्रसार नहीं हो पाया है। किंतु पोलिश संयुक्त मज़दूर पार्टी और यूगोस्लावियाई कम्युनिस्ट संघ इसके लिए सभी आवश्यक क़दम उठा रहे हैं कि कृषि सहकारिता की राह पर सभी किसान चलने लगें।

राज्य प्रणाली का सुदृढ़ीकरण

उद्योग और कृषि के विकास के समानांतर लोक जनवादी राज्य प्रणाली के सुदृढ़ीकरण के लिए भी प्रयास किये गये। जहां कहीं मंत्रालयों और अन्य प्रशासनिक संस्थाओं से भूतपूर्व शासक वर्गों के समर्थकों को पहले नहीं निकाला जा सका था, वहां भी अब उन्हें निकाल बाहर कर दिया गया। सभी यूरोपीय समाजवादी देशों में अब ऐसे संविधान लागू हैं, जो समाजवाद के निर्माण में सहायक हैं और मेहनतकशों द्वारा अर्जित अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं की क़ानूनी तौर पर गारंटी करते हैं। इसकी एक मिसाल हंगेरियाई लोक जनतंत्र का संविधान है, जिसे राष्ट्रव्यापी बहस के बाद अगस्त, १९४९ में अंगीकार किया गया था।

यह संविधान हंगेरियाई राज्य के, जिसमें सारी सत्ता स्थानीय सोवियतों और राज्य सभा (संसद) के रूप में मेहनतकशों को प्राप्त है, जनवादी स्वरूप को परिलक्षित करता है। उसमें कहा गया है कि सार्वजनिक, राजकीय और सहकारी संपत्ति के रूप में देश के बहुलांश उत्पादन साधनों का स्वामी समाज है। समाजवादी संपत्ति की संवृद्धि और सुरक्षा सभी नागरिकों का एक बुनियादी कर्तव्य है। संविधान निजी संपत्ति के अधिकार को स्वीकार करता है, किंतु कतिपय प्रतिबंधों के साथ।

हंगरी का संविधान मेहनतकश जनता को व्यापक सामाजिक अधिकार और स्वतंत्रताएं देता है और उनकी गारंटी भी करता है, जैसे राजकीय संस्थाओं का सदस्य चुनने और चुने जाने का अधिकार; श्रम, विश्राम और शिक्षा का अधिकार; भाषण, प्रेस तथा सभा की स्वतंत्रता; अंत:करण और उपासना की स्वतंत्रता। हंगेरियाई संविधान के अनुसार नसली और राष्ट्रीय भेदभाव, चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न व्यक्त हो, घोर अपराध है और क़ानून उसके लिए कठोर दंड की व्यवस्था करता है।

इस प्रकार हंगरी के संविधान में देश की राज्य तथा समाज प्रणाली के बुनियादी सिद्धांतों और नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों को विधिक रूप प्रदान किया गया है। किंतु साथ ही उसमें देश के भावी विकास की रूपरेखा भी निर्धारित की गयी, जिसके अनुसार हंगरी में पूंजीवादी तत्त्वों का शनैः शनैः उन्मूलन और समाजवाद का निर्माण किया जाना था। जैसा कि संविधान में कहा गया है, हंगरी में समाजवाद का यह सिद्धांत लागू किया जा रहा है: "प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार, प्रत्येक को उसके काम के अनुसार।"

चेकोस्लोवाकिया और जर्मन जनवादी जनतंत्र जैसे कतिपय समाजवादी देशों के संविधानों ने सातवें दशक में ही समस्त युद्धोत्तर काल में आये महान परिवर्तनों को प्रतिबिंबित कर दिया था। वे ऐसे समाज के संविधान हैं, जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का उन्मूलन तथा समाजवादी संबंधों की पूर्ण स्थापना कर दी गयी है और सारी राजनीतिक सत्ता मेहनतकशों के हाथों में है। जर्मन जनवादी जनतंत्र का संविधान (१९६८) समाजवादी सामाजिक व्यवस्था की बुनियादों को इस प्रकार परिभाषित करता है: "मज़दूर वर्ग का सहकारी किसानों के वर्ग, बुद्धिजीवियों और समाज के अन्य संस्तरों के साथ अटूट संघ, उत्पादन साधनों पर समाजवादी स्वामित्व, विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियों के आधार पर उत्पादन का आयोजन और प्रबंध ..." समाजवादी समाज का निर्माण करते समय श्रमिक जन साफ़ देखते हैं कि पूंजीवाद की तुलना में समाजवाद निर्विवाद श्रेष्ठताएं रखता है।

मेहनतकशों की ख़ुशहाली में वृद्धि

पुराने बुल्गारिया में पुरुषों की औसत जीवनावधि ४८ वर्ष और नारियों की ४६ वर्ष थी। समाजवादी बुल्गारिया में यह क्रमशः ६४ और ६८ वर्ष तक पहुंच गयी। अस्पतालों में उपलब्ध शय्याओं की संख्या ४ गुना बढ़ी। कुशल डाक्टरों की संख्या हज़ारों में पहुंच गयी और चिकित्सा देखभाल निःशुल्क बना दी गयी। वृद्धों को पेंशन मिलने लगी। मेहनतकशों के लिए बाल्कन पर्वतों में तथा काला सागर तट पर रमणीक स्थानों पर दर्जनों विश्रामगृहों और सेनेटोरियमों का निर्माण किया गया। रिहायशी इमारतें अपूर्व पैमाने पर बनायी गयीं। सातवें दशक में बुल्गारिया में हर रोज़ १३५-१४० नये फ़्लैट तैयार होते थे।

पुराने पोलैंड में एक ओर बैंकरों, कारखानेदारों और बड़े व्यापारियों का धन तथा ऐश्वर्य था और दूसरी ओर आम मेहनतकशों की अकल्पनीय कंगाली तथा दरिद्रता। जन पोलैंड ने इन विरोधाभासों से सदा-सदा के लिए मुक्ति पा ली। बेरोज़गारी नहीं रह गयी। शहर और गांव, दोनों में मेहनतकश कहीं बेहतर ढंग से रहने, खाने लगे। सातवें दशक तक मांस, चीनी, वसाओं और अन्य खाद्य-वस्तुओं की खपत युद्ध से पहले से दोगुनी हो गयी। देश में बड़े भारी पैमाने पर रिहायशी मकानों का निर्माण किया गया। माध्यमिक और उच्च शिक्षा संस्थाओं के द्वार मज़दूरों, किसानों, बुद्धिजीवियों, सभी के बच्चों के लिए खोल दिये गये। बच्चों के मनोरंजन, प्रतिभा विकास, खेलकूद, इत्यादि के लिए राज्य ने सैकड़ों अन्य संस्थाएं भी खोलीं। युद्धपूर्व पोलैंड में ऐसी एक भी संस्था न थी।

समाजवादी देशों के नगरों का रूप निखरता गया। सर्वसुविधासंपन्न नगर केंद्रों और उपेक्षित, गंदे बाहरी इलाक़ों के बीच जो आकाश-पाताल का अंतर था, वह अतीत के गर्भ में समाता जा रहा था। पक्की सड़कें, सुविधासंपन्न रिहायशी इमारतें और आधुनिक दूकानें सर्वत्र प्रकट होने लगीं।

गांवों का भी कायाकल्प हुआ। बित्ते-बित्ते भर के खेतों की जगह सहकारी फ़ार्मों के विशाल, मेंड़रहित खेतों ने ले ली और उनमें आधुनिक कृषि मशीनें काम करने लगीं। स्वयं किसानों के घरों में भी आधुनिक सुविधाओं, बिजली, रेडियो, आदि का होना आम बात बन गयी।

लोगों की भौतिक ख़ुशहाली और सांस्कृतिक स्तर का निरंतर बढ़ते जाना समाजवादी प्रणाली के देशों के विकास का एक विशेष लक्षण है। युद्धकाल में हुई अपार तबाही और बरबादी के बावजूद इन सभी देशों में राष्ट्रीय आय १९५० तक युद्धपूर्व के स्तर तक पहुंच चुकी थी और कहीं-कहीं तो उससे भी ज़्यादा हो गयी थी। बाद के वर्षों में भी वह लगातार बढ़ती

गयी। १६५०-१६६७ की अवधि में विभिन्न समाजवादी देशों की राष्ट्रीय आय में हुई वृद्धि का परिमाण इस प्रकार था :

बुल्गारिया – ४.६ गुना
हंगरी – २.५ गुना से अधिक
जनवादी जर्मनी – ३.४ गुना
जनवादी कोरिया – ५ गुना से अधिक
पोलैंड – ३ गुना से अधिक
रूमानिया – ४.८ गुना
चेकोस्लोवाकिया – २.७ गुना

राष्ट्रीय आय का तेज़ी से बढ़ना उत्पादन के निरंतर विस्तार और इसलिए मार्वजनिक तथा निजी उपभोग कोषों की अनवरत वृद्धि का भी परिचायक था।

सभी समाजवादी देशों में सभी प्रकार की शिक्षा संस्थाओं और उनमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या निरंतर बढ़ती गयी। व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा पर उत्तरोत्तर अधिक जोर दिया जाने लगा। निरक्षरता का कहीं नामो-निशान भी न रहा, जबकि जन सत्ता की विजय से पहले बुल्गारिया व पोलैंड की कोई २५ प्रतिशत, रूमानिया की ५० प्रतिशत, अल्बानिया की ८० प्रतिशत से ज़्यादा और मंगोलिया की लगभग शत प्रतिशत जनता निरक्षर थी।

नयी जीवन पद्धति की एक मुख्य विशेषता है समाजवादी चेतना का विकास। मेहनतकश उत्तरोत्तर इस बात के क़ायल होते गये कि समाजवाद उन्हें अपनी व्यक्तिगत समृद्धि, व्यक्तिगत हितों का समग्र समाज के हितों के साथ ताल-मेल बिठाने का भरपूर अवसर देता है। ऐसी चेतना ही श्रम के क्षेत्र में प्रदर्शित उत्साह व आत्मत्याग और जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रगति का स्रोत है।

प्रतिक्रांति के निष्फल प्रयास

यह सोचना सरासर भ्रामक है कि नये जीवन का जन्म एक निर्वाध और निर्विघ्न प्रक्रिया होती है। समाजवादी व्यवस्था को अपनी जड़ें जमाने के लिए पुरानी व्यवस्था से भयंकर टक्कर लेनी पड़ी। सत्ताच्युत पूंजीपति तथा ज़मींदार, अपनी धन-दौलत से वंचित कर दिये गये कारख़ानेदार, बड़े व्यापारी, मुनाफ़ाख़ोर और कुलक अभी भी आस लगाये बैठे थे कि पूंजीवादी व्यवस्था फिर से क़ायम हो जायेगी। उस घड़ी को यथासंभव निकट लाने के लिए वे नये समाज को हानि पहुंचाने का कोई भी अवसर हाथ से नहीं

जाने देते थे। उनके इन कुकृत्यों को हमेशा ही विदेशी प्रतिक्रियावादी शक्तियों का नैतिक तथा वित्तीय समर्थन मिलता था।

युद्धोत्तर काल में समाजवादी देशों में जो उग्र वर्ग संघर्ष चला, उसकी एक बहुत ही ज्वलंत मिसाल १९५६ की हंगरी की घटनाएं हैं। यहां अक्तूबर के अंत और नवंबर के आरंभ में पश्चिमी देशों के आक्रामक हल्कों की प्रत्यक्ष प्रेरणा और सहायता से क्रांतिविरोधी शक्तियों ने सत्ता-परिवर्तन करने का प्रयास किया था। उनका उद्देश्य यह था कि हंगरी की समाजवादी उपलब्धियों को नष्ट करके उसे समाजवादी राष्ट्रमंडल से अलग कर लिया जाये और फिर सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के विरुद्ध युद्ध के लिए तैयारी-स्थल बना दिया जाये।

इस प्रतिक्रांतिकारी सत्ता-परिवर्तन में जिन्होंने भाग लिया, वे थे: भूतपूर्व पूंजीपति तथा ज़मींदार, शहरी निम्न बूर्जुआज़ी, ढुलमुल बुद्धिजीवी, कतिपय विद्यार्थी हल्के और वर्गभ्रष्ट तत्त्व। धोखा देकर मज़दूरों के भी एक हिस्से को उसमें खींच लिया गया था। प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए इस बात से भी लाभ उठाया कि राकोशी तथा कतिपय दूसरे हंगेरियाई नेताओं की ग़लतियों और उनके द्वारा किये गये समाजवादी जनवाद के बुनियादी सिद्धांतों के घोर उल्लंघनों के कारण आम जनता में असंतोष व्याप्त था।

किंतु कुल मिलाकर अधिसंख्य मज़दूरों और किसानों ने प्रतिक्रांति का समर्थन नहीं किया। हंगेरियाई जनता अपनी समाजवादी उपलब्धियों की रक्षा करने में सक्षम सिद्ध हुई। ४ नवंबर, १९५६ को हंगेरियाई कम्युनिस्ट आंदोलन के एक प्रमुख नेता यानोश कादार के नेतृत्व में गठित क्रांतिकारी मज़दूर-किसान सरकार ने भूतपूर्व नेताओं की ग़लतियां सुधारने व सत्ता का दुरुपयोग रोकने और समाजवाद की दिशा में प्रगति के कार्यक्रम की घोषणा की।

क्रांतिकारी मज़दूर-किसान सरकार ने सोवियत संघ से प्रतिक्रांति को कुचलने में सहायता देने का अनुरोध किया। अपने अंतर्राष्ट्रीय कर्तव्य को पूरा करते हुए सोवियत सरकार सहायता देने को सहमत हो गयी। हंगेरियाई क्रांतिकारी शक्तियों और सोवियत सेना के संयुक्त प्रयासों के फलस्वरूप प्रतिक्रांति को पराजित कर दिया गया। प्रतिक्रांति द्वारा पहुंचायी गयी क्षति से संभल लेने के बाद हंगेरियाई जनता पुनः समाजवाद निर्माण में जुट गयी।

साम्राज्यवादियों ने हंगरी के प्रयोग को जर्मन जनवादी जनतंत्र में भी दोहराना चाहा और उन्हें आशा थी कि इस बार उन्हें सफलता अवश्य मिलेगी। किंतु इससे पहले कि प्रतिक्रियावादी निर्णायक कार्रवाइयां कर पाते, समाजवाद के शत्रुओं की साज़िशों को कुचल डाला गया। १३ अगस्त, १९६१ को

जर्मन जनवादी जनतंत्र की सरकार ने पश्चिमी बर्लिन से लगी जनतंत्र की सीमा के सुदृढ़ीकरण के लिए आवश्यक क़दम उठाये, क्योंकि पश्चिमी बर्लिन से ही लंबे अरसे से जनवादी जर्मनी के ख़िलाफ़ बड़े पैमाने पर ध्वंसात्मक कार्रवाइयां की जा रही थीं और वहीं जनवादी जर्मनी में गृहयुद्ध भड़काने की योजनाओं को अमली रूप देने की तैयारियां चल रही थीं। १३ अगस्त को उठाये गये क़दम यूरोप में शांति बनाये रखने और सुदृढ़ करने के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण थे, क्योंकि पश्चिमी जर्मन प्रतिशोधवादियों की ओर से गंभीर ख़तरा उत्पन्न हो रहा था. अतः प्रतिशोधवादियों के इरादों को तब और भी धक्का पहुंचा, जब जून १९६४ में जर्मन जनवादी जनतंत्र और सोवियत संघ ने मैत्री, परस्पर सहायता और सहयोग की एक संधि पर हस्ताक्षर किये।

मंगोलियाई लोक जनतंत्र

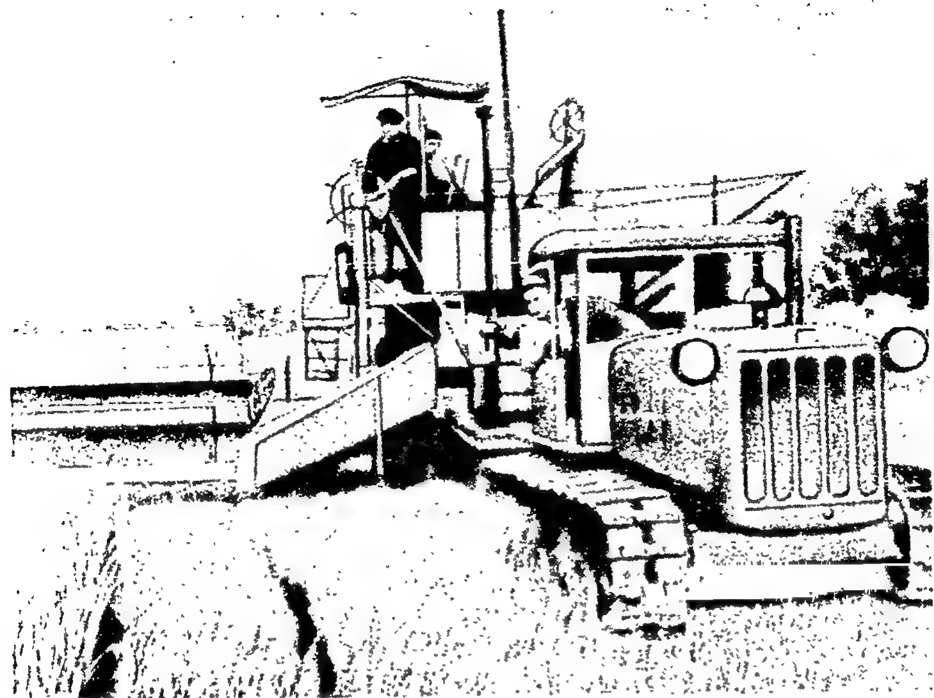
मंगोलियाई लोक जनतंत्र सोवियत संघ के बाद दूसरा देश था, जिसने समाजवाद की राह पकड़ी थी। उसकी मिसाल सिद्ध करती है कि आधुनिक परिस्थितियों में पूंजीवाद की अवस्था से गुज़रे बिना सामंतवाद से सीधे समाजवाद में संक्रमण किया जा सकता है।

दूसरे महायुद्ध में मंगोल जनता ने भी चोईबलसान द्वारा निदेशित लोक क्रांतिकारी पार्टी के नेतृत्व में फ़ासिस्ट आक्रामकविरोधी संघर्ष में योग दिया था। सोवियत सेना के कंधे से कंधा मिलाकर लड़ते हुए मंगोलियाई सैनिकों ने जापान की क्वांगतुंग सेना को पराजित करने में सक्रिय भाग लिया।

युद्धोत्तर काल में मंगोलियाई लोक जनतंत्र ने अपने राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास में अनेकानेक नयी सफलताएं पायीं। देश में राजकीय और सहकारी उद्योग का तेज़ी से विकास होता गया।

सातवें दशक में मंगोलिया में सोवियत सहायता से आधुनिक मशीनरी से सज्जित दर्जनों औद्योगिक उद्यमों का निर्माण हुआ। क्रांति से पहले जिस देश में उद्योग नाममात्र को नहीं थे, उसके सकल राष्ट्रीय उत्पाद में अब औद्योगिक क्षेत्र का योगदान ४० प्रतिशत तक पहुंच गया।

उत्खनन (कोयला तथा अयस्क), तेल निकासी और निर्माण जैसे नये उद्योगों की स्थापना की गयी। राजधानी उलान बातर के पास एक विशाल चर्म तथा ऊन संसाधन कारख़ाने और काष्ठ विधायन उद्यम का निर्माण हुआ।



बुल्गारिया के एक सहकारी फ़ार्म में फ़सल की कटाई

भूतपूर्व निर्जन स्तेपियों में अनगिनत बस्तियां पैदा हुईं। जिस देश में पहले सड़क एक विरली सी चीज़ थी, वहां अब महामार्गों और रेल लाइनों का जाल बिछने लगा। गोबी रेगिस्तान में, जो अपनी वीरानी और मायूसी के लिए प्रसिद्ध था, खनिज तेल की खोज की जाने लगी। १९६४ में मंगोल उद्योगों ने १९४० की अपेक्षा १० गुना अधिक मालों का उत्पादन किया। १९६७ में कुल औद्योगिक उत्पादन में ७.७ प्रतिशत वृद्धि हुई।

१९६० तक अधिकांश पशुपालकों ने अपने समाजवादी ढंग के सहकारी संगठन बना लिये, जिसके परिणामस्वरूप मवेशियों की तादाद काफ़ी बढ़ी। राजकीय फ़ार्मों और यंत्रीकृत घास कटाई स्टेशनों ने इन सहकारी संगठनों की बड़ी मदद की। पशुपालन का धंधा अब पिछड़ा हुआ न रह गया। पशु-चिकित्सा केंद्रों का जाल बिछ जाने से मवेशियों में बीमारियों का फैलना काफ़ी कम हो गया। सोंगी और अर्खांगाई में विशेष कारखाने बनाये गये, जो गाय-बैलों, घोड़ों, ऊंटों और भेड़-बकरियों की चिकित्सा के लिए जैव औषधियां तैयार करते हैं।

सरकार ने पशुपालक अराटों को खानाबदोश जीवन छोड़कर स्थानबद्ध जीवन अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया। इस तरह खेती का भी विकास हुआ। मंगोलिया में पहले जो लामा धर्म प्रचलित था, वह खेती को निषिद्ध ठहराता था, क्योंकि उससे "धरती की नींद में विघ्न" पड़ता था। किंतु अब राजकीय और सहकारी फ़ार्मों के मेहनतकश बेधड़क परती भूमि पर बने विशाल खेत जोतने और उनमें गेहूं, जौ, जई और मक्का उगाने लगे।

मंगोलिया के अधिकाधिक देहातवासी खेती का धंधा अपनाते गये। १९६४ में देश के खेतों में कोई ८,००० ट्रैक्टर काम कर रहे थे।

लोगों के रहन-सहन के ढंग में भी परिवर्तन आया। अधिकांश मंगोल पहले की तरह अब भी नमदे के बने तंबुओं – युर्तों – में रहते थे, मगर जन सत्ता के वर्षों में उनमें आधुनिक फ़र्नीचर भी आ गया। युर्तों के बीच में खुले चूल्हे का स्थान अब लोहे की अंगीठियों ने ले लिया, जिन्हें क्रांति से पहले केवल लामाओं और जागीरदारों के घरों में ही देखा जा सकता था।

शहरों और मजदूर बस्तियों में आधुनिक सुविधाओं से संपन्न मकानों का निर्माण किया जाने लगा।

जन सरकार ने लोक संस्कृति के विकास के लिए भी अनेक महत्त्वपूर्ण कदम उठाये। सैकड़ों स्कूल तथा तकनीकी विद्यालय खोले गये। राष्ट्रीय विश्वविद्यालय और कई उच्च शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की गयी। मंगोल युवक-युवतियों को उच्च शिक्षा पाने के लिए सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशों में भी भेजा गया। १९६१ में मंगोलिया में विज्ञान अकादमी की स्थापना हुई, जिसके अन्तर्गत पांच अनुसंधान संस्थान थे, जिनमें आधुनिक विज्ञान की बुनियादी शाखाओं में शोध कार्य किया जाता था। राष्ट्रीय कलाओं का भी मुकुलन हुआ। थियेटरों में मंगोल नाटक ही नहीं, रूसी तथा पश्चिमी नाटककारों की कृतियां भी प्रस्तुत की जाने लगीं।

मंगोल समाज में नारियों की स्थिति में आमूल परिवर्तन आया। क्रांति से पहले जो मंगोल नारी पददलित, अधिकारहीन थी, वह अब समाज की समानाधिकारप्राप्त सदस्य, पुरुषों की समकक्षा बन गयी और नये जीवन के निर्माण में सक्रिय भाग लेने लगी। आज मंगोलिया की संसद – महान लोक हुराल – में २० प्रतिशत सदस्य नारियां हैं।

युमजागिन त्सेदेनबाल की रहनुमाई में लोक क्रांतिकारी पार्टी द्वारा निर्देशित मंगोलियाई जनता ने बंधु समाजवादी देशों की जनता की सहायता से समाजवाद की बुनियाद का सफलतापूर्वक निर्माण कर लिया है।

अल्वानियाई लोक जनतंत्र के विकास की कुछ ऐसी ख़ास विशेषताएं हैं, जो अन्य यूरोपीय समाजवादी देशों के विकास में नहीं पायी जातीं। अल्वानिया की जनता ने पूंजीवाद की अवस्था को लांघकर अर्ध-सामंतवादी पिछड़ेपन से सीधे समाजवाद निर्माण के दौर में प्रवेश किया था। युद्धपूर्व का अल्वानिया आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से वहुत ही पिछड़ा हुआ था। देश का शासन सामंती ज़मींदारों और राजा के हाथ में था, जो ज़्यादातार कृषियोग्य भूमि के मालिक भी थे। अधिकांश जनता खेतिहर थी। खेती आदिम ढंग से की जाती थी। बड़े औद्योगिक उद्यम नाममात्र को भी न थे। पूंजीवादी संबंध भ्रूणावस्था में ही थे। कुछ पर्वतीय इलाक़ों में क़बायली प्रथा के अवशेष अभी भी देखे जा सकते थे।

फिर युद्ध और इतालवी-जर्मन क़ब्ज़े का दौर आया। अल्वानिया ने जो थोड़ी-वहुत प्रगति की थी, वह भी खाक़ में मिल गयी: अनेक नगर और गांव खंडहरों के ढेर बन गये, एक तिहाई पशुधन नष्ट हो गया और देश में कहने को जो इने-गिने औद्योगिक उद्यम तथा दस्तकारी वर्कशाप थे, वे बंद हो गये। नवंवर, १९४८ में अल्वानिया की कम्युनिस्ट पार्टी की पहली कांग्रेस हुई, जिसमें देश के औद्योगीकरण तथा विजलीकरण का एक कार्यक्रम बनाया गया। कांग्रेस ने पार्टी का नाम वदलकर अल्वानियाई श्रमिक पार्टी रखने का फ़ैसला भी किया।

अल्वानिया को अपनी अर्थव्यवस्था और संस्कृति के विकास में सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों से वड़ी मदद मिली। सोवियत जनता चूंकि अल्वानियाई जनता से सच्ची सहानुभूति रखती थी, इसलिए सोवियत संघ ने अल्वानियाई सरकार को ऋण दिये और निर्माणाधीन कल-कारख़ानों, विजलीघरों तथा तेल निकासी उद्यमों के लिए आवश्यक मशीनरी तथा उपकरण सप्लाई किये। सोवियत सहायता व सहयोग से अल्वानिया में मात और तिराना के पनविजलीघरों, एल्वासान के काष्ठ-विधायन उद्यम, व्लोरा की चावल मिल तथा सीमेंट फ़ैक्टरी, चेरिक की तेल रिफ़ाइनरी, आदि अनेक औद्योगिक उद्यमों का निर्माण किया गया।

जर्मन जनवादी जनतंत्र के मेहनतकशों ने व्लोरा की मछली टिनवंदी फ़ैक्टरी के निर्माण में और हंगेरियाई विशेषज्ञों ने सब्ज़ी तथा फल प्रोसेसिंग फ़ैक्टरियां खड़ी करने में सहायता दी। समाजवादी चेकोस्लोवाकिया की मदद से अल्वानियाई लौह-अयस्क उत्खनन उद्योग का विस्तार किया गया।

उद्योग तथा परिवहन के तीव्र विकास के फलस्वरूप १९५९ तक सकल राष्ट्रीय उत्पादन में इन दोनों क्षेत्रों का योगदान कोई ५० प्रतिशत तक पहुंच

गया, जबकि युद्ध से पहले वह १० प्रतिशत भी मुश्किल से ही था। १९६४ तक तो देश का औद्योगिक उत्पादन युद्ध से पहले की तुलना में ३० गुना हो गया।

कृषि के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई, किंतु उतनी तेज़ी से नहीं। व्यक्तिगत खेती की तुलना में सामूहिक खेती को अधिक लाभप्रद पाकर अधिकांश किसानों ने सहकारी फ़ार्म बना लिये थे। राज्य ने ऋण, ट्रैक्टरों, मशीनों और उपकरणों के रूप में इन फ़ार्मों को हर तरह की मदद दी। सिंचाई और परती भूमि को कृषियोग्य बनाने के क्षेत्र में भी बड़ा काम किया गया।

अल्बानियाई जनता के सांस्कृतिक स्तर में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। लोक जनवादी व्यवस्था ने नारियों को मुक्ति दिलायी और पुरुषों का समकक्ष बनाया। शाही अल्बानिया में केवल २० प्रतिशत जनता साक्षर थी। अब अधिसंख्य आबादी साक्षर बन गयी। माध्यमिक (११ वर्षीय) स्कूलों की संख्या में कई गुनी वृद्धि हुई। सामंती-राजतांत्रिक शासन में देश में एक भी उच्च शिक्षा संस्था नही थी। अब इस क्षेत्र में भी बड़ी प्रगति की गयी। राजधानी में एक सबसे रमणीक स्थान पर राजकीय विश्वविद्यालय बनाया गया, जिसमें ५,००० से ज़्यादा युवतियां और युवक उच्च शिक्षा पाते हैं। दो अध्यापक प्रशिक्षण संस्थानों और एक कृषि संस्थान की स्थापना भी की गयी।

किंतु सातवें दशक में समाजवाद की ओर अल्बानियाई जनता की प्रगति में कुछ गंभीर अवरोध उत्पन्न हुए। इसका मुख्य कारण था अल्बानियाई पार्टी और सरकार का समाजवादी शिविर और विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन से मुंह मोड़ लेना। इस नीति का देश की अर्थव्यवस्था पर कुप्रभाव पड़ा और उसके विकास की गति धीमी हो गयी। अल्बानिया विषम स्थिति में पड़ गया, क्योंकि माओ के चीन से, जहां कि सातवें दशक के उत्तरार्ध में बहुत ही प्रतिगामी क़िस्म की "महान सांस्कृतिक क्रांति" चल रही थी, जिस सहायता की आशा की जा रही थी, वह किसी भी प्रकार यूरोपीय समाजवादी देशों के साथ आर्थिक संपर्कों का विकल्प नहीं बन सकती थी। अल्बानिया के लिए ये संपर्क असामान्य रूप से महत्त्वपूर्ण थे। औद्योगिक उत्पादन की औसत वार्षिक वृद्धि दर छठे दशक की तुलना में अब आधी ही रह गयी और कृषि के क्षेत्र में तो प्रगति लगभग पूरी ही तरह रुक गयी। समाजवादी राष्ट्रमंडल से विमुखता की नीति का अल्बानिया की आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति पर कुप्रभाव आगे भी पड़ता रहा।

चीन की जनता को अपनी मुक्ति के लिए लंबे अरसे तक जो युद्ध चलाना पड़ा था, उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पूरी तरह अस्त-व्यस्त हो गयी थी। आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य अत्यंत कठिन था। किंतु यहां भी सोवियत संघ ने चीनी मेहनतकशों की ओर सहायता का हाथ बढ़ाया। यह वह दौर था, जब स्वयं सोवियत संघ ने भी मानव इतिहास के सबसे विनाशकारी युद्ध से कुछ ही समय पहले निजात पायी थी और उपलब्ध साधन व उपकरण उसे ख़ुद के लिए भी पूरे नहीं पड़ रहे थे। इसके बावजूद अपने सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के कर्त्तव्य को पूरा करते हुए सोवियत जनता चीनी लोक गणराज्य की बृहद् पैमाने पर मदद करने लगी। सोवियत लोगों ने चीन को ऋण, मशीनरी, निर्माण परियोजनाओं के ख़ाके, विशेषज्ञ, आदि सब कुछ मुहैया किया, ताकि वह प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सके। पुनर्निर्माण और उसके बाद के वर्षों में सोवियत संघ ने चीन को २०० औद्योगिक उद्यमों के निर्माण में और उन्हें आधुनिक मशीनरी तथा उपकरणों से सज्जित करने में मदद दी। चीनी लोग इन उद्यमों को सोवियत-चीनी मैत्री का अमूल्य उपहार कहते थे।

१४ फ़रवरी, १६५० को चीनी लोक गणराज्य और सोवियत संघ ने आपस में मैत्री, सहबंध और परस्पर सहायता की एक संधि संपन्न की, जिसे चीनी जनता के लिए अभेद्य कवच का काम करना था। उसने चीन के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करके जन सरकार का तख़्ता उलटने की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया की योजनाओं को विफल कर दिया।

चीनी जनता के भगीरथ प्रयासों और समाजवादी राष्ट्रमंडल के देशों की सहायता के फलस्वरूप चीन में महान परिवर्तन आये। १६५२ के अंत तक देश के अधिकांश भाग में कृषि-भूमि सुधार पूरे हो गये। भूतपूर्व ज़मींदारों की ४,७०,००,००० हैक्टर से अधिक ज़मीन भूमिहीन और अल्पभूमि किसानों को बांट दी गयी।

चीनी लोक गणराज्य की सरकार ने विदेशी पूंजीपतियों को उनके सभी विशेषाधिकारों से वंचित कर दिया। विदेशी पूंजी, विशेषत: अमरीकी पूंजी, और सामंती भूस्वामियों से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए बिचौलिये बूर्जुआज़ी, या जैसा कि चीन में उसे नाम दिया गया था, "नौकरशाही पूंजी" के ख़िलाफ़ कठोर क़दम उठाये गये। अधिकांश "नौकरशाही पूंजी" के मालिक कुओमिंतांगी तत्त्व थे। सरकार ने उनकी पूंजी तथा उद्यमों को ज़ब्त कर लिया। इनमें चीन के चार सर्वाधिक धनी परिवारों – च्यांग काई-शेक, कुंग सियांग-सी, सुंग-त्से-वेन और चेन बंधुओं – के उद्यम भी थे। इन बिला मुआवज़ा

राष्ट्रीयकृत बैंकों, कल-कारखानों, परिवहन और व्यापारिक प्रतिष्ठानों के आधार पर अर्थव्यवस्था के राजकीय क्षेत्र का गठन हुआ, कुल राष्ट्रीय औद्योगिक उत्पादन में जिसका योगदान १९५२ में ही ५६ प्रतिशत तक पहुंच गया। इस प्रकार साम्राज्यवादियों तथा उनके स्थानीय दलालों द्वारा चीनी जनता के शोषण तथा लूट का अंत किया गया।

१९५२ तक उद्योग और कृषि का उत्पादन जापान के साथ युद्ध से पहले के सबसे बढ़िया सालों से भी ज़्यादा हो गया। १९५३ में चीन ने अपनी पहली पंचवर्षीय योजना पर अमल शुरू किया। यह देश के समाजवादी औद्योगीकरण की शुरुआत थी। सोवियत संघ की सहायता से देश में पहली बार विमान, मोटरगाड़ी तथा ट्रैक्टर निर्माण, विद्युत मशीनरी, भारी मशीनरी तथा यथार्थमापी मशीनरी निर्माण, रेडियो यांत्रिकी, उपकरण निर्माण, आदि नवीन उद्योगों और बहुशाखीय रसायन उद्योग की नींव रखी गयी। देश में कोई ५०० औद्योगिक उद्यमों का निर्माण हुआ, जिनमें देश के धातुकर्म उद्योग का नाभिक आनशान धातुकर्म कारखाना भी था। अक्तूबर, १९५७ में वूहान के निकट यांगत्सी नदी पर एशिया के सबसे बड़े रेलवे पुल का निर्माण पूरा हुआ। १९५९ में देश के उद्योगों ने १९४९ के मुक़ाबले लगभग छहगुना ज़्यादा उत्पादन किया।

इस काल में चीनी लोक गणराज्य निजी उद्योग तथा व्यापार के स्थान पर शांतिपूर्ण ढंग से समाजवादी उद्योग तथा व्यापार की स्थापना की नीति पर चल रहा था।

जन सत्ता के वर्षों में करोड़ों चीनी किसानों के जीवन में भी परिवर्तन आये। देहातों में विशाल पैमाने पर सामूहिक ढंग से खेती की जाने लगी। १९५७ के मध्य तक ९७ प्रतिशत से अधिक किसान कृषि उत्पादक सहकारी संगठनों में शामिल हो चुके थे। भूतपूर्व ज़मींदार और कुलक भी उनके सदस्य बन सकते थे, किंतु शहरी बूर्जुआज़ी की भांति उन्हें पुनर्शिक्षा के दौर से गुज़रना पड़ता था, जिसमें सर्वोपरि स्थान श्रम को प्राप्त था।

चीन के सांस्कृतिक जीवन में भी बहुत तब्दीलियां आयीं। पुराने चीन में मेहनतकशों के बच्चों को स्कूली शिक्षा भी नहीं मिल पाती थी। देहातों में ९० प्रतिशत लोग निरक्षर थे। नये शासन की स्थापना के बाद निरक्षरता उन्मूलन अभियान चलाया गया।

किंतु छठे दशक के अंत तक चीन में समाजवाद निर्माण के मार्ग में गंभीर कठिनाइयां पैदा होने लग गयीं। कतिपय ग़लत नीतियों के कारण उद्योग और कृषि न केवल अपने योजना द्वारा निर्धारित लक्ष्य नहीं पा सके, बल्कि पूर्ववर्ती वर्षों में जो लक्ष्य पा लिये गये थे, उनसे भी पिछड़ गये।

१९५८ में घोषित "महान छलांग" (अर्थात् अपेक्षया कम समय में ही

कृषि और उद्योगों का उत्पादन कई गुना बढ़ाने) की आर्थिक नीति में देश की क्षमताओं व संभावनाओं को पर्याप्त ध्यान में नहीं रखा गया था। चीनी लोक गणराज्य के नेताओं ने "अपने ही बूते पर" आर्थिक निर्माण करने का नारा तो दिया, पर देश के संसाधनों का अधिकतम उपयोग किये जाने के लिए आवश्यक क़दम नहीं उठाये। दूसरी ओर, समाजवादी देशों के साथ आर्थिक संपर्क घटाना अवश्य शुरू कर दिया गया। ऐसी नीति का नतीजा यह निकला कि औद्योगिक उत्पादन बहुत गिर गया और सारी अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी। "महान छलांग" की कोशिश कामयाब न हो पायी।

ग़लतियां और त्रुटियां कृषि उत्पादक सहकारी संगठनों को तथाकथित जन कम्यूनों में परिवर्तित करने के दौरान भी हुईं। इन कम्यूनों में किसानों के छोटे से छोटे औज़ारों से लेकर व्यक्तिगत चीज़ों तक, सभी का समाजीकरण किया गया। जन कम्यूनों के सदस्यों को श्रम उत्पादिता बढ़ाने में रुचि लेने के लिए कोई आर्थिक प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। चीनी नेता सोचते थे कि ऐसे कम्यूनों का निर्माण करके सीधे कम्युनिज़्म में संक्रमण किया जा सकेगा, चाहे उसके लिए आवश्यक भौतिक व आत्मिक आधार पहले से तैयार हो या न हो। फलस्वरूप कृषि मालों के उत्पादन में ज़बर्दस्त गिरावट आयी और खाद्य-वस्तुओं तथा कृषि कच्चे मालों की मांग पूरी करने में कठिनाइयां उत्पन्न हुईं। १९६१-१९६२ में खाद्य-वस्तुओं की कमी के कारण करोड़ों शहरवासियों को गांवों में जाकर बसने को मजबूर किया गया।

अपने इन वामपंथी आर्थिक प्रयोगों से ही संतोष न करके, जिनके कि बहुत दुखद परिणाम निकले थे, चीनी नेताओं ने १९६६ में तथाकथित महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति का नारा भी दिया। कई वर्ष तक चली इस "क्रांति" के दौरान माओ त्से-तुंग गुट ने बहुत से पार्टी संगठनों और सम्मानित पार्टी व सरकारी अधिकारियों का दमन किया। मेहनतकश जनता-विरोधी विचारों का वाहक बताकर अपार सांस्कृतिक संपदा को नष्ट कर डाला गया। वयोवृद्ध क्रांतिकारियों का पाशविक दमन और चीनी जनता की सदियों से संचित सांस्कृतिक धरोहर का अपमान करने के लिए हथकंडे के तौर पर हुनवेइबिन (लाल प्रहरी) दस्तों के मतांध नौजवानों का इस्तेमाल किया गया। "सांस्कृतिक क्रांति" के दौरान माओ त्से-तुंग की उपासना भी अभूतपूर्व पैमाने पर पहुंच गयी। माओ के "विचारों" को वर्तमान मार्क्सवादी चिंतन की पराकाष्ठा घोषित किया गया, जब कि वास्तव में वे विश्व क्रांतिकारी प्रक्रिया, उसकी प्रेरक शक्तियों और समाजवाद निर्माण के रास्तों तथा साधनों के बारे में अधकचरे वामपंथी मतों की साररूप अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ न थे।

चीनी नेताओं ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद से अपने विचलन पर पर्दा डालने के लिए घोर सोवियतविरोधी प्रचार का सहारा लिया। इसके बावजूद कि



मंगोलियाई विश्वविद्यालय के शरीरक्रियाविज्ञान विभाग की प्रयोगशाला में

सोवियत संघ की सहायता की बदौलत ही चीनी लोक गणराज्य स्थापित हो पाया था और विश्व साम्राज्यवाद तथा चीनी प्रतिक्रांतिकारियों के सामने टिका रह सका था, चीन ने सातवें दशक में सोवियत संघ से अपने संबंध बिगाड़ने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। दोनों देशों के बीच संबंध सामान्य बनाने के सभी प्रस्ताव लगातार ठुकराये जाते रहे। समाजवादी राष्ट्रमंडल के अन्य देशों के साथ भी चीन के संबंधों में शिथिलता आयी। इसका चीन की आर्थिक व राजनीतिक स्थिति पर कुप्रभाव पड़ना और उसके विकास का और धीमी हो जाना अनिवार्य ही था, यद्यपि "महान सांस्कृतिक क्रांति" और उसके परिणामों ने इस विकास में वैसे भी गंभीर अवरोध उत्पन्न कर दिया था।

कोरियाई लोक जनवादी जनतंत्र

जून, १९५० में संयुक्त राज्य अमरीका की स्थल सेना और समुद्री बेड़े की सहायता से दक्षिणी कोरिया के तानाशाह शासक सिंगमैन री की

फ़ौजों ने उत्तरी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। इस प्रकार कोरिया की धरती पर एक और रक्तपातपूर्ण युद्ध का आरंभ हुआ।

अक्तूबर, १९५० में जब अमरीकी आक्रमणकारियों की फ़ौजें चीन की सीमा तक पहुंच गयीं, तो चीनी जन स्वयंसेवकों ने कोरियाई लोक जनवादी जनतंत्र की सहायतार्थ हथियार उठा लिये।

अमरीकी साम्राज्यवादी अपनी सैन्य शक्ति का प्रदर्शन करके एशिया और सुदूर पूर्व की जनता को भयभीत करना चाहते थे। किंतु साथ ही कोरिया पर आक्रमण को संकट के कगार पर खड़ी अमरीकी अर्थव्यवस्था के लिए एक प्रकार के सुरक्षा-वाल्व का काम भी करना था। सैन्य व्ययों और सैन्य सामग्री के ऑर्डरों में वृद्धि संयुक्त राज्य अमरीका के व्यावसायिक हल्कों का मनोबल ऊंचा उठाने में सहायक सिद्ध हुई। प्रसंगतः, अमरीकी साम्राज्यवादी कोरिया में संयुक्त राष्ट्र संघ की आड़ में और उसके झंडे तले लड़ रहे थे।

उत्तरी कोरिया पर आक्रमण का विश्व के सभी शांतिकामी हल्कों ने घोर विरोध किया। अमरीकी साम्राज्यवादियों के आक्रामक इरादे पूरे न हो पाये। सभी समाजवादी देशों की सहायता व समर्थन से कोरियाई लोक सेना आक्रमणकारियों को पीछे धकेलने और अपने देश से निकाल बाहर करने में सफल हो गयी। कोरियाई देशभक्तों के सामूहिक शौर्य व पराक्रम के सामने, जिससे बहुत से उपनिवेशों तथा पराधीन देशों की जनता को भी अपना स्वाधीनता संघर्ष दृढ़तापूर्वक जारी रखने की प्रेरणा मिली, नपाम बम या जीवाण्विक और रासायनिक हथियार, कुछ भी आक्रमणकारियों की मदद न कर सका। जुलाई, १९५३ में उन्हें युद्धविराम संधि पर हस्ताक्षर करने को मजबूर होना पड़ा और इसके साथ ही कोरिया में अमरीकी हस्तक्षेप का शर्मनाक अंत हो गया।

तीन वर्ष तक चली इस लड़ाई ने उत्तरी कोरिया की अर्थव्यवस्था को भारी नुक़सान पहुंचाया था। अनेक नगर खंडहरों के ढेर बन गये थे, बांध, नहरें और दूसरे सिंचाई साधन काम के योग्य नहीं रह गये थे, परिवहन व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी थी। किंतु सोवियत संघ व अन्य समाजवादी देशों की सहायता से और अपने पुरुषार्थ तथा अथक परिश्रम से कोरियाई लोक जनवादी जनतंत्र की जनता ने बहुत कम समय में ही देश के औद्योगिक व कृषि पुनर्निर्माण का कार्य पूरा कर लिया।

पुनर्निर्माण के दौरान और बाद के वर्षों में उद्योग तथा व्यापार का पूर्णतः समाजवादी ढंग से पुनर्गठन किया गया। देश में मशीन-निर्माण और मोटरगाड़ी उत्पादन जैसी नयी उद्योग शाखाएं क़ायम हुईं। उत्तरी कोरियाई उद्योग ट्रैक्टर, बुल्डोज़र, धातु काटने की लेथें, मापन-यंत्र, यथार्थमापी उपकरण, आदि भी बनाने लगे।

औद्योगिक विकास तीव्र गति से हो रहा था। १९६४ तक सकल औद्योगिक उत्पादन १९४९ के दसगुने जितना हो गया। १९६६ में उद्योगों ने १९६० की अपेक्षा दोगुना अधिक उत्पादन किया।

देहातों में भी समाजवादी उत्पादन संबंधों की विजय हुई। १९५८ तक सभी किसान सहकारी फ़ार्मों में शामिल हो चुके थे, भूमि, मवेशी तथा महत्त्वपूर्ण कृषि उपकरणों का समाजीकरण कर दिया गया था और आय का वितरण व्यक्तिगत श्रम की मात्रा के अनुसार किया जाने लगा था। कोरिया में कृषि के लिए सिंचाई बड़ा महत्त्व रखती है, अतः सरकार ने सहकारी फ़ार्मों को सिंचाई व्यवस्था का विकास करने में मदद दी।

गांवों का रूप भी पहले जैसा नहीं रह गया। वहां बड़े पैमाने पर नये रिहायशी मकान बनाये जाने लगे। बहुत से गांवों में बिजली पहुंच गयी। क्लब या सामुदायिक केंद्र भी खोले गये।

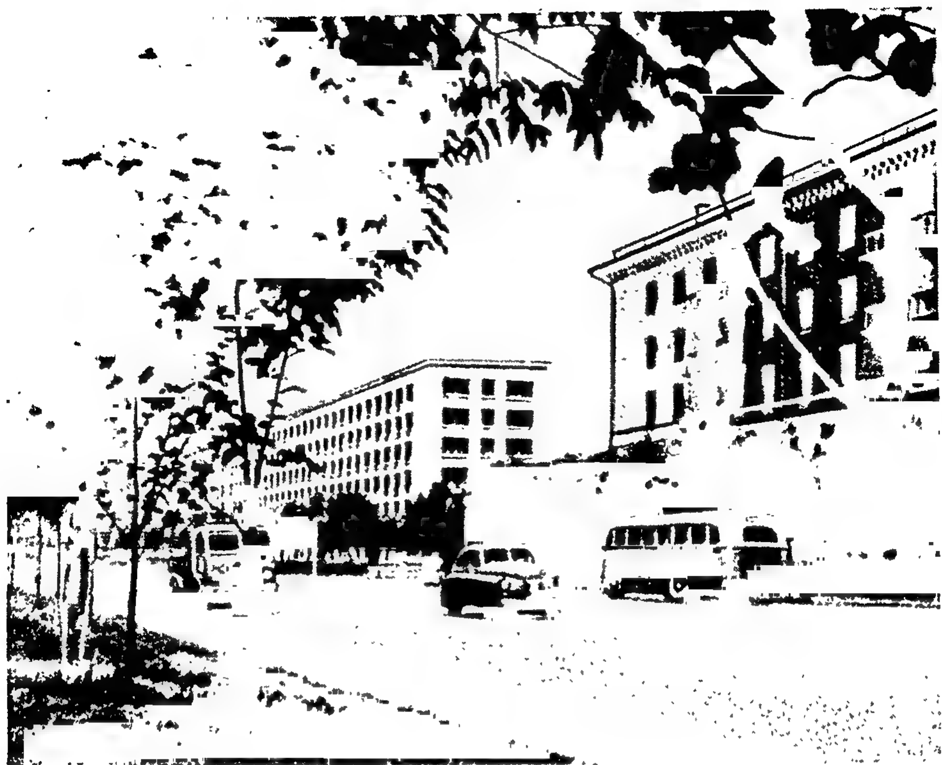
कोरिया के इतिहास में पहली बार देश में सातवीं कक्षा तक सार्विक अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गयी। मज़दूरों और किसानों के बच्चों को शिक्षा पाने का अवसर प्राप्त हुआ। जनतंत्र में हर चार नागरिकों में से एक कहीं न कहीं शिक्षा पाता था।

कोरियाई लोक जनवादी जनतंत्र के मेहनतकश कोरियाई प्रश्न के शांतिपूर्ण ढंग से समाधान और देश के राष्ट्रीय एकीकरण के लिए संघर्ष कर रहे हैं। सोवियत संघ तथा समाजवादी राष्ट्रमंडल ने उनके इस संघर्ष का सदा ही समर्थन किया है।

वियतनामी जनवादी जनतंत्र

१९५४ में युद्ध की समाप्ति के बाद पहले तीन वर्ष तक वियतनामी जनता का ध्यान मुख्यतः अपनी युद्ध-ध्वस्त अर्थव्यवस्था के पुनरुद्धार पर ही केंद्रित रहा।

इस संबंध में सबसे पहले यह आवश्यक था कि कृषि-भूमि सुधारों का वह कार्यक्रम पूरा कर लिया जाये, जिसे "गंदे युद्ध" के वर्षों में आरंभ किया गया था। तब जनवादी वियतनाम की सरकार ने फ़्रांसीसी उपनिवेशवादियों और उन वियतनामियों की भूमि तथा संपत्ति ही छीनी और भूमिहीन व अल्पभूमि किसानों को बांटी थी, जिन्होंने देश के साथ ग़द्दारी करते हुए फ़्रांसीसियों का साथ दिया था। अब स्वाधीनता प्राप्ति के बाद स्थानीय ज़मींदारों के विरुद्ध भी व्यापक अभियान चलाया गया। १९५६-१९५७ में ज़मींदार वर्ग का पूर्ण उन्मूलन कर दिया गया और उनकी सारी भूमि, मवेशी तथा कोठियां मेहनतकश किसानों को दे दी गयीं। ९८ प्रतिशत कृषियोग्य भूमि



कोरियाई लोक जनवादी जनतंत्र की राजधानी फियोंगयांग

अव आम किसानों के क़ब्ज़े में आ गयी। ज़मीन को उसे जोतनेवालों को हस्तांतरित कर दिये जाने से लाखों किसानों में अपूर्व श्रमोत्साह का संचार हुआ। १९५६ में ही धान की पैदावार ४१,३५,६०० टन तक पहुंच गयी, जवकि जन सत्ता की स्थापना के पहले १९३९ में, जो पैदावार की दृष्टि से सर्वोत्तम वर्ष माना जाता था, केवल २४,०७,००० टन धान पैदा हुआ था।

खानों, जल संसाधनों, वनों, परती भूमि और फ़ांसीसी उपनिवेशवादियों तथा देशद्रोहियों से छीने गये कल-कारखानों का राष्ट्रीयकरण किया गया। इन उद्यमों और फ़ांसीसी उपनिवेशवादियों के विरुद्ध युद्ध के दौरान मेहनतकशों तथा जन सेना द्वारा निर्मित उद्यमों ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के राजकीय समाजवादी क्षेत्र की नींव रखी।

जन सरकार ने मेहनतकश किसानों और दस्तकारों को सहकारिता का मार्ग अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया। इस दिशा में पहला क़दम था परस्पर श्रम सहायता टोलियों की स्थापना। आगे चलकर ये टोलियां उत्पादक सहकारी संस्थाओं के रूप में विकसित हुईं।



वियतनामी किसान पढ़ाई के किसी भी अवसर से नहीं चूकते

आर्थिक पुनर्निर्माण के साथ-साथ जनतंत्र ने अल्पसंख्यक जातियों की समस्या के समाधान के लिए भी एक महत्त्वपूर्ण क़दम उठाया। उत्तरी वियतनाम में वियतनामियों के अलावा कई दर्जन छोटी-छोटी जातियां रहती हैं। जिन इलाक़ों में उनका बाहुल्य है, उन्हें स्वायत्त प्रदेशों का दर्जा दिया गया। इनमें सबसे बड़े थाई-मेओ और वियत-बाक स्वायत्त प्रदेश हैं। अल्पसंख्यक जातियों को सर्वोच्च शासन संस्थाओं में भी स्थान दिया गया। उनकी भाषाओं और लिपियों का पूर्ण सम्मान किया गया और जिनकी भाषा की कोई लिपि नहीं थी, राज्य ने उन्हें उसका विकास करने में मदद दी। वियतनाम की श्रमिक पार्टी और जनवादी वियतनाम की सरकार की इस न्यायसंगत नीति का नतीजा यह निकला कि देश की विभिन्न जातियों के बीच पहले जो वैरभाव था, वह ख़त्म हो गया।

१९५७ के अंत तक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का पुनरुद्धार पूरा हो गया और कृषि, दस्तकारी तथा उद्योगों का उत्पादन, अपने कुल मूल्य की दृष्टि से, १९३९ के स्तर तक पहुंच गया।

१९५८ में देश में कृषि का वृहद् पैमाने पर सहकारीकरण किया जाने

लगा। अधिसंख्य किसान विविध प्रकार की सहकारी संस्थाओं में सम्मिलित हो गये। १९६३ तक देश की एक तिहाई ग्रामीण आबादी पूर्णतः समाजवादी ढंग की सहकारी संस्थाओं की सदस्य बन चुकी थी, जिनमें मवेशी तथा भूमि समेत उत्पादन के सभी बुनियादी साधन सामाजिक संपत्ति होते हैं और आय का वितरण श्रम की मात्रा के अनुसार किया जाता है। क्रांति से पहले तक जिन उत्तरी वियतनामी किसानों के भाग्य में ग़रीबी और भुखमरी ही बदी थी, वे अब समृद्धि का जीवन, भविष्य की चिंता से मुक्त जीवन बिताने लगे। उत्तरी वियतनाम में अब धान की दक्षिण-पूर्वी एशिया भर में सबसे बढ़िया फ़सलें उगायी जाती हैं।

राजकीय औद्योगिक क्षेत्र का भी, जिसे देश की अर्थव्यवस्था में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था, तेज़ी से विकास और सुदृढ़ीकरण हुआ। लगभग सभी निजी औद्योगिक, व्यापारिक तथा परिवहन उद्यमों को मिश्रित राजकीय-निजी उद्यम बना दिया गया। इससे मज़दूरों के शोषण पर रोक लगी। उत्तरी वियतनाम की अर्थव्यवस्था अब औपनिवेशिक काल जैसी पिछड़ी व एकांगी नहीं रह गयी। १९५५-१९६४ में देश का औद्योगिक उत्पादन ८ गुना से भी ज़्यादा बढ़ा, जो वियतनामी मेहनतकशों के लिए बड़े गर्व की बात थी।

देश का इतनी तीव्र गति से औद्योगीकरण किये जाने में उस राष्ट्रव्यापी उत्पादन वृद्धि आंदोलन से भी बड़ी मदद मिली, जिसके प्रवर्तक हाइफ़ोंग नगर के ज़ूएन-हाइ मरम्मत वर्कशाप के मज़दूर थे। इस अभियान के दौरान मज़दूरों ने औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने और मालों की क्वालिटी सुधारने के बारे में हज़ारों सुझाव दिये थे।

औद्योगिक और कृषि उत्पादन में वृद्धि से मेहनतकशों का जीवन-स्तर भी ऊंचा उठा। औपनिवेशिक काल की तुलना में १९५९ तक किसानों की आमदनी दोगुनी हो गयी। भुखमरी और बेरोज़गारी का, जो औपनिवेशिक ज़माने में मेहनतकशों का पीछा नहीं छोड़ती थीं, नामोनिशान नहीं रह गया। अब किसी के शरीर पर चीथड़े नहीं दिखाई देते थे। सरकार ने आवास समस्या के हल के लिए भी अपनी ओर से हर संभव प्रयास किया। मज़दूर इलाक़ों और बस्तियों में मकान का किराया अब किसी भी मज़दूर की आमदनी के २-३ प्रतिशत से अधिक न था, जबकि पहले कोई एक तिहाई आमदनी इसी पर ख़र्च हो जाती थी।

स्वास्थ्य, शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रगति की गयी। क्रांति के बाद देश में दर्जनों चिकित्सा संस्थाएं खुलीं। माताओं तथा बच्चों के स्वास्थ्य की देखरेख पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। फलस्वरूप बाल मृत्यु-दर घटकर औपनिवेशिक ज़माने की तुलना में कोई १० प्रतिशत ही रह गयी।

फ़्रांसीसी औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत देश की ९० प्रतिशत जनता

निरक्षर थी। लोक जनवादी शासन की स्थापना के तुरंत बाद सारे देश में सार्विक साक्षरता अभियान चलाया गया, जिसके आशातीत परिणाम निकले: १९५८ तक १२ से ५० वर्ष तक की आयु के सभी लोगों को लिखना, पढ़ना और गिनना आ गया।

आरंभिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा का तेज़ी से विकास हुआ। जन सत्ता काल में १५ उच्च शिक्षा संस्थाएं और दर्जनों तकनीकी विद्यालय काम करने लगे जबकि पहले देश में उच्च शिक्षा संस्था के नाम पर केवल एक विश्वविद्यालय था, जिसमें कुछ ही सौ विद्यार्थी पढ़ते थे। अनगिनत पुस्तकालय, क्लब, आदि भी खोले गये।

किंतु उद्योग, कृषि तथा संस्कृति के विकास पर, समाजवाद की ओर अपनी जनता की प्रगति पर इतना अधिक ध्यान देने के साथ-साथ लोक जनवादी वियतनाम विदेशी आधिपत्य से दक्षिणी वियतनाम की मुक्ति और जेनेवा सम्मेलन के निर्णयों के अनुसार एकीकृत स्वतंत्र जनवादी राज्य की स्थापना के लिए भी अनवरत प्रयास कर रहा था। वियतनामी जनता के मामलों में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप बंद किया जाना तब तो और भी आवश्यक हो गया, जब १९६२ में अमरीकी शासक हल्क़े दक्षिणी वियतनाम में सशस्त्र अतिक्रमण पर उतर आये। उनका उद्देश्य दक्षिणी वियतनाम की रक्तपिपासु आतंककारी सरकार के विरुद्ध और देश के दोनों भागों के एकीकरण के लिए चल रहे प्रचंड देशभक्त आंदोलन को कुचलना था।

दक्षिणी वियतनाम में अमरीकी साम्राज्यवादियों का आक्रमण उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और दिनोंदिन अधिकाधिक संख्या में अमरीकी सैनिक उसमें झोंके जाने लगे, हालांकि यह लड़ाई उनके हितों के लिए नहीं लड़ी जा रही थी। राष्ट्रीय मुक्ति सेना ने आक्रमणकारियों पर ज़बर्दस्त जवाबी चोटें कीं। अमरीकी उपनिवेशवादियों के विरुद्ध छापामार युद्ध लगातार बढ़ता ही गया। दक्षिणी वियतनाम की जनता को ग़ुलाम बनाने की कोशिशों से ही संतुष्ट न होकर अगस्त, १९६४ में संयुक्त राज्य अमरीका ने वियतनामी जनवादी जनतंत्र पर भी प्रत्यक्ष हमले शुरू कर दिये। युद्ध विस्तार की नीति जारी रखते हुए अमरीकी विमानों ने उत्तरी वियतनाम के नगरों और देहाती इलाक़ों पर ज़बर्दस्त बमबारियां कीं और उन्हें जान-माल का भारी नुकसान पहुंचाया। किंतु वियतनाम की वीर जनता ने, जिसे सारी प्रगतिशील मानवजाति का समर्थन प्राप्त था, शत्रु से डटकर लोहा लिया।

युद्ध की वजह से जनवादी वियतनाम की जनता को अपना जीवन नये ढर्रे में ढाल देना पड़ा। हज़ारों मेहनतकशों ने सेना और ऐसे दस्तों में नाम लिखाया, जिनका काम परिवहन व्यवस्था बनाये रखना और ध्वस्त ठिकानों की मरम्मत करना था। विशेषत: ज़ोरदार बमबारी और गोलाबारी के शिकार

नगरों की आबादी का काफ़ी बड़ा हिस्सा देहातों में स्थानांतरित कर दिया गया। अर्थव्यवस्था में स्थानीय उद्योगों के विकास पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा, ताकि हर राज्य आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो सके।

केवल जनवरी, १९६५ और नवंबर, १९६७ के बीच ही अमरीकी आक्रामकों ने वियतनाम की धरती पर १६,००,००० टन से ज़्यादा बम बरसाये, जिनमें से आधे जनवादी वियतनाम पर गिराये गये थे।

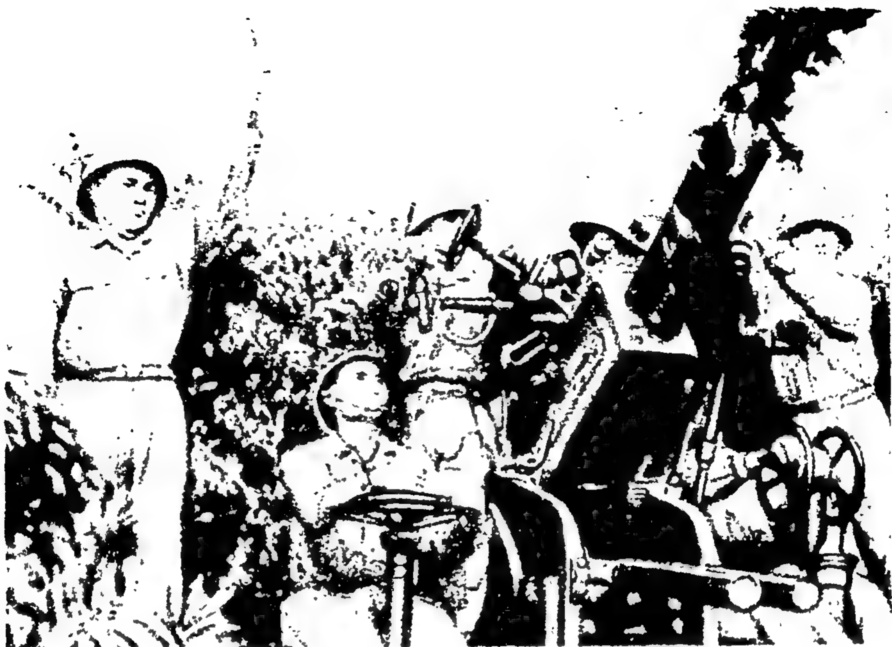
सोवियत संघ द्वारा जनवादी वियतनाम को दी गयी सहायता ने अमरीकी आक्रमण का सफल प्रतिरोध किये जाने में असामान्य रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद की भावना से प्रेरित होकर सोवियत संघ ने वियतनामी जनवादी जनतंत्र को आधुनिकतम शस्त्रास्त्र, विविध औद्योगिक मशीनरी, परिवहन साधन, तेल पदार्थ, लौह तथा अलौह धातुएं, खाद्य-सामग्री आदि मुफ़्त सप्लाई किये। अन्य समाजवादी देशों ने भी संघर्षरत वियतनाम की कारगर सहायता की। समाजवादी देशों की जनता अमरीकी आक्रमण रुकवाने और आक्रामक तथा उसके पिछलग्गुओं की फ़ौजें वियतनाम की धरती से हटवाने के लिए किये गये संघर्ष में सबसे आगे-आगे चल रही थी।

क्यूबा में क्रांतिकारी परिवर्तन

क्यूबा में बतीस्ता की ख़ूंख़ार तानाशाही का तख़्ता उलट दिये जाने के बाद आंतरिक और विदेशी प्रतिक्रियावादियों को आशा थी कि क्यूबाई मेहनतकश अपनी क्रांति की रक्षा नहीं कर पायेंगे और आर्थिक कठिनाइयों के बोझ से उनका कचूमर निकल जायेगा। किंतु इन आशाओं को कभी पूरा नहीं होना था। क्रांतिकारी सरकार न केवल टिकी रही, अपितु बहुत कम समय में उसने क्यूबा की अर्थव्यवस्था और संस्कृति का कायाकल्प भी कर दिखाया।

सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कृषि-भूमि सुधार था। भूमि क्यूबा की सबसे बड़ी संपत्ति है। क्रांति से पहले देश की सबसे बढ़िया ज़मीनों पर मुट्ठीभर लातीफ़ुंदिस्तों और विदेशी (मुख्यतः अमरीकी) तेल, खनिज उत्खनन और पशुपालन फ़र्मों का अधिकार था। लातीफ़ुंदियां (ज़मींदारियां) ही भ्रष्ट जनविरोधी सरकारों की मुख्य अवलंब थीं। इन विशाल भू-संपत्तियों के साथ ही साथ देश में अनगिनत छोटी-छोटी किसान काश्तें भी थीं, हालांकि अधिकांश किसान तब भी भूमिहीन ही थे।

मई, १९५९ में क्रांतिकारी सरकार ने एक क़ानून पास करके बड़े लातीफ़ुंदिस्तों और उत्तरी अमरीकी फ़र्मों की विशाल भू-संपत्तियों का स्वत्वहरण कर लिया और इस प्रकार क्यूबाई जीवन के सभी क्षेत्रों पर स्वदेशी व विदेशी

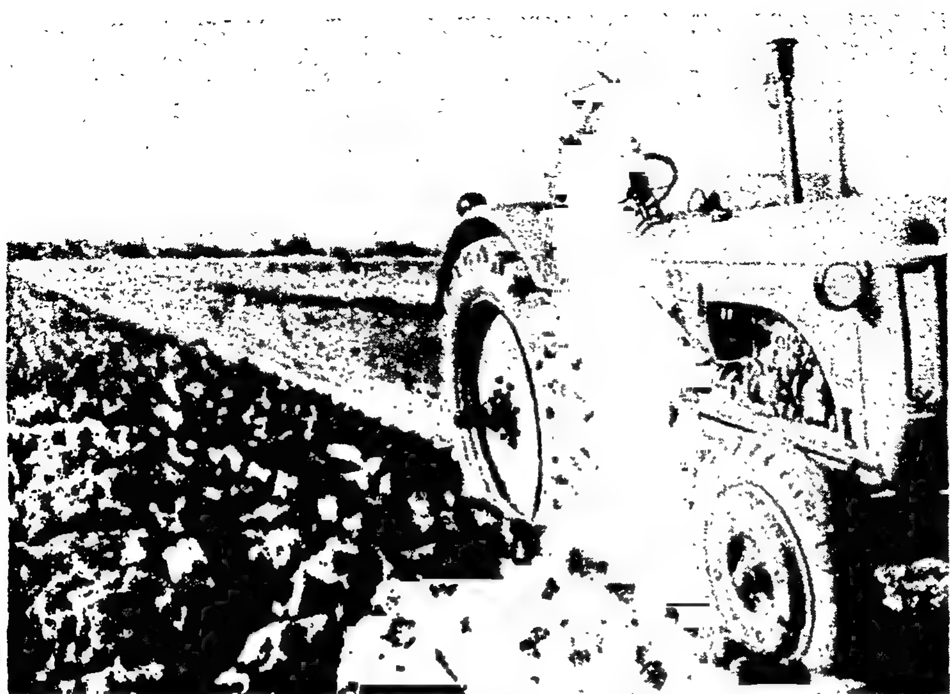


न्गे आन प्रांत में अमरीकी हवाई डाकुओं पर गोले दागते हुए वियतनामी तोपची

भू-स्वामियो का जो वर्चस्व था, उसका सदा-सदा के लिए अंत कर दिया। १,००,००० से अधिक भूमिहीन और अल्पभूमि किसानों को २७-२७ हैक्टर तक के प्लॉट मुफ़्त मिले, जो उनकी ही संपत्ति बन गये।

बड़े पशुपालन व धान-उत्पादक फ़ार्मों को जन ज़मींदारियों में बदल दिया गया। बहुत से खेतिहर मज़दूरों और छोटे बटाईदारों ने मिलकर सहकारी फार्मों की स्थापना की।

१९६० में क्यूबा में अमरीकी इजारेदारियों के औद्योगिक उद्यमों का राष्ट्रीयकरण किया गया, जिनमें ३ तेलशोधन कारखाने, २१ चीनी मिलें और कई बिजलीघर भी थे। उसी वर्ष ऐसे ३८२ औद्योगिक व व्यापारिक प्रतिष्ठानों का भी राष्ट्रीयकरण हुआ, जिनमें विदेशी पूंजी लगी हुई थी। आगामी दो वर्षों में मंझोले और छोटे क्यूबाई पूंजीपतियों के उद्यमों को भी जनता की संपत्ति घोषित किया गया। नगरों में अमीरों की कोठियां छीनकर उनमें आम मेहनतकशों को बसाया गया। इस प्रकार क्यूबाई जनता का चिर-स्वप्न पूरा हुआ: "एंटिलीज़ द्वीपसमूह के मोती" के मेहनतकश अंततः अपने "मोती" के स्वामी बन ही गये। सामंतवाद व साम्राज्यवादी शोषण का खात्मा और स्थानीय बूर्जुआज़ी का जड़ोच्छेदन कर लेने के बाद स्वतंत्रता-द्वीप



ज़मींदारों का जुआ उतार फेंकने के वाद स्वतंत्र श्रम में प्रवृत्त क्यूवाई किसान

क्यूवा की जनता अव समाजवाद निर्माण में प्रवृत्त हो सकती थी।

क्यूबा की अर्थव्यवस्था के लिए सुनियोजित, संतुलित विकास का मार्ग अपनाया गया। जन शासन ने एक ही फ़सल – इस प्रसंग में गन्ने – की खेती चीनी उद्योग का और सघन विकास करने का रास्ता चुना, क्योंकि चीनी का उत्पादन और विक्रय बढ़ाकर ही वह उन उद्योग शाखाओं की स्थापना के लिए आवश्यक साधन जुटा सकता था, जो देश की अर्थव्यवस्था का संतुलित विकास सुनिश्चित करतीं।

गन्ने और चीनी का उत्पादन बढ़ाने के लिए राष्ट्रव्यापी श्रम अभियान चला, जिसमें चीनी मिलों और जन ज़मींदारियों के लाखों मज़दूरों और किसानों ने भाग लिया। १९६३ के वसंतकालीन अभियान में रेनाल्दो कास्त्रो नामक एक गन्ना मज़दूर ने गन्ना कटाई में विश्व रिकार्ड क़ायम किया। अव देश का वच्चा-वच्चा उसके नाम से परिचित था। १९५९-१९६१ में चीनी उत्पादन का क्रांतिपूर्व १० वर्षों की तुलना में लगभग दोगुनी तेज़ी से विकास हुआ।

शरद, १९६३ में ६७ हैक्टर से अधिक भूमिवाली निजी ज़मींदारियों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया, जिनके पास देश की कोई २२ प्रतिशत

कृषिगत भूमि थी। इससे देहाती बूर्जुआज़ी के आधार को ज़बर्दस्त ठेस पहुंची और कृषि में समाजवादी क्षेत्र की नींव मज़बूत बनी। कपास, धान, सेम, मकई जैसी फ़सलों का उत्पादन बढ़ाने की दिशा में भी आरंभिक क़दम उठाये गये।

औद्योगिक क्षेत्र में चीनी उत्पादन का विस्तार करने के साथ-साथ रसायन और कृषि मशीन-निर्माण उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन दिया गया। क्यूबा में बहुधात्विक अयस्कों के विशाल भंडार हैं। अत: जन शासन के पहले वर्षों में ही निकेल का उत्पादन करने के लिए दो कारख़ानों की स्थापना कर दी गयी। बाद में अन्य अलौह धातुकर्म उद्यम भी खड़े किये गये। व्यापारिक जहाजरानी का तेजी से विकास हुआ। सातवें दशक में क्यूबा के पास क्रांति से पहले की तुलना में पांचगुना ज़्यादा व्यापारिक पोत थे।

क्यूबा की नयी सरकार ने पुरानी परिपाटियों का अंत और नये सामाजिक संबंधों की स्थापना करने के लिए कई क्रांतिकारी क़दम उठाये। नयी प्रशासन सेवा का गठन किया गया, जिसके सदस्य क्रांतिकारी सैनिकों, मज़दूरों, किसानों और प्रगतिशील बुद्धिजीवियों में से भरती किये गये। नयी जन मिलिशिया बनायी गयी और न्याय प्रणाली का पुनर्गठन किया गया। सरकार ने शहरी और देहाती मेहनतकशों के अधिकारों की रक्षा के लिए नया श्रम क़ानून बनाया और व्यापक सामाजिक बीमा प्रणाली लागू की। सार्वजनिक स्वास्थ्य-रक्षा प्रणाली में महत्त्वपूर्ण सुधार किये गये।

क्रांति ने शिक्षा और संस्कृति के विकास को प्रबल प्रेरणा दी। क्रांति से पहले लगभग आधे क्यूबाई नागरिक अनपढ़ थे। सरकार ने १९६१ को साक्षरता वर्ष घोषित किया। जो शिक्षित थे, उनसे दूसरों को शिक्षित बनाने की अपील की गयी और जो अशिक्षित थे, उनसे स्वयं भी लिखना-पढ़ना सीखने का आग्रह किया गया। १०,००० युवा अध्यापक, जिन्हें पहले दो वर्षों में प्रशिक्षण दिया गया था, प्रांतों में शिक्षा का प्रसार करने के लिए भेजे गये। देशभर में निरक्षरता निवारण मंडलियां बनायी गयीं। बहुत से देहाती इलाक़ों में तो युवा अध्यापक किसानों के साथ उनके घरों में ही रहते थे और जब तक परिवार के हर सदस्य को लिखना-पढ़ना नहीं आ जाता था, वहां से डेरा नहीं बदलते थे। १९६१ के अंत तक देश में निरक्षरता का पूर्ण उन्मूलन हो गया।

इसके बावजूद कि क्यूबा को घरेलू और विदेशी क्रांतिविरोधियों के हमलों का लगातार सामना करना पड़ रहा था, उसकी क्रांतिकारी सरकार ने आरंभिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा के विस्तार पर बहुत ध्यान दिया। देश में दो वर्ष से भी कम समय में कई हज़ार स्कूली इमारतों का निर्माण किया गया। "बंदूक, किताब और काम" क्यूबा का नारा था।

सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशों ने क्यूबा की हर तरह से सहायता की। सोवियत संघ और क्यूबा के बीच अनेक व्यापार व ऋण समझौते संपन्न हुए, जिनकी बदौलत क्यूबा परंपरागत मालों के एवज़ में अपने लिए आवश्यक माल पा सकता था। सोवियत संघ ने क्यूबा को तेल, मशीनरी, उपकरण, बेलित लोहा व इस्पात, उर्वरक और खाद्य-सामग्रियां मुहैया कीं। उसने क्यूबा को चीनी उद्योग के पुनर्निर्माण के लिए काफ़ी बड़ा ऋण दिया और उसकी ११४ चीनी मिलों के आधुनिकीकरण का उत्तरदायित्व भी लिया। क्यूबा बदले में सोवियत संघ को चीनी, तंबाकू और निकेलधारी उत्पाद निर्यात करता था।

समाजवादी चेकोस्लोवाकिया ने क्यूबा को ट्रैक्टर, ट्रक और मोटर-साइकिल बनानेवाले कारखानों के निर्माण में मदद दी। पोलैंड ने पोत निर्माण व मरम्मत कारख़ानों, बैटरी निर्माण कारख़ाने और बंदरगाह स्थित अन्नागार के लिए मशीनरी तथा उपकरण सप्लाई किये। जर्मन जनवादी जनतंत्र की मदद से क्यूबा में एक रेडियो उपकरण कारख़ाना खड़ा किया गया।

क्यूबा को बंधु समाजवादी देशों से जो सहायता प्राप्त हुई, उसने उसकी स्वतंत्रता के सुदृढ़ीकरण में बहुत बड़ा योग दिया।

फ़ीदेल कास्त्रो की सरकार सत्ता में आयी ही थी कि अमरीकी साम्राज्य-वादियों ने क्यूबाई क्रांति का गला घोंट डालने का संकल्प कर लिया। अमरीकी इजारेदारियों का क्यूबा में अपनी संपत्ति की हानि को चुपचाप झेल लेने का कोई इरादा न था। फिर उन्हें इससे भी बड़ा भय तो यह था कि क्यूबा से प्रेरणा लेकर अन्य लैटिन अमरीकी देशों की जनता भी अमरीकी चंगुल से मुक्ति के लिए संघर्ष न छेड़ बैठे।

क्यूबा से घुटने टिकवाने के लिए आरंभ में आर्थिक दबाव का ही सहारा लिया गया। जून, १९६० में अमरीकी इजारेदारियों ने क्यूबा के साथ व्यापार समझौते का उल्लंघन करके उससे चीनी ख़रीदने से इंकार कर दिया। इसके बाद क्यूबा को तेल पदार्थों की सप्लाई बंद कर दी गयी और क्यूबा में स्थित अमरीकी तेलशोधन कारख़ानों को सोवियत संघ से आनेवाले कच्चे तेल की सफ़ाई करने से रोक दिया गया। इन कार्रवाइयों का उद्देश्य क्यूबा को बहुत ही कठिन स्थिति में डाल देना था।

क्यूबा सरकार ने इसका उत्तर सभी अमरीकी चीनी मिलों, तेल रिफ़ा-इनरियों, खानों और धातुकर्म कारख़ानों के राष्ट्रीयकरण द्वारा दिया। संयुक्त राज्य अमरीका ने जो चीनी ख़रीदने से इंकार किया था, उसे सोवियत संघ ने ख़रीद लिया। नतीजे के तौर पर स्वयं अमरीकी इजारेदारियां ही घाटे में रहीं, क्योंकि अब क्यूबाई मंडी उनके हाथ से निकल गयी थी।

जब आर्थिक दबाव से काम न बना, तो अमरीकी आक्रामक हल्क़ों ने

शस्त्र बल इस्तेमाल करने का निर्णय किया। अमरीकी प्रशिक्षकों की मदद से और अमरीकी पैसे से फ्लोरिडा और ग्वाटेमाला में क्यूबा से भागे हुए बतीस्ता-समर्थकों के भाड़े के गिरोह बनाये गये। इस प्रतिक्रांतिकारी तलछट को ही क्यूबा सरकार का तख़्ता उलटना था।

१७ अप्रैल, १९६१ को अमरीकी विमानों और युद्धपोतों की मदद से कोई २००० भाड़े के सैनिक प्लाया हिरोन के इलाक़े में क्यूबा के तट पर उतरे। आशा यह थी कि उनके उतरते ही क्यूबा में सर्वत्र क्रांतिकारी सरकार के ख़िलाफ़ बग़ावत शुरू हो जायेगी।

किंतु ग़द्दारों और उनके सरपरस्तों को घोर निराशा ही हाथ लगी। क्यूबा का ऐसा कोई भी मेहनतकश न था, जो क्रांति की रक्षा के लिए न उठ खड़ा हुआ हो। तीन ही दिन में देशभक्तों ने आक्रामकों को कुचल डाला। प्लाया हिरोन आक्रमण की इस पूर्ण विफलता ने सारे विश्व को दिखा दिया कि क्यूबा की जनता एकजुट होकर अपनी उपलब्धियों की रक्षा करने को उद्यत है।

सशस्त्र आक्रमण के दिनों में सोवियत जनता ने क्यूबा की वीर जनता के साथ अपनी एकता का ज्वलंत प्रदर्शन किया। सोवियत सरकार ने घोषणा की कि अन्य शांतिप्रिय देशों की भांति सोवियत संघ भी इस संकट की घड़ी में क्यूबा की जनता का साथ नहीं छोड़ेगा। सोवियत सरकार ने चेतावनी दी कि अगर सशस्त्र हस्तक्षेप न रोका गया, तो अन्य देशों के साथ मिलकर वह क्यूबा की सहायता के लिए आवश्यक कार्रवाई करने से न चूकेगा।

किंतु प्लाया हिरोन की हार से भी अमरीकी साम्राज्यवादियों की अक्ल ठिकाने न लगी और वे क्यूबा पर नये हमलों की तैयारियां करने लगे। ऐसी स्थिति में सोवियत संघ ने क्यूबा की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए उसे आवश्यक शस्त्रास्त्र दिये। अमरीकी साम्राज्यवादी इससे बौखला उठे। उनमें से सबसे दुःसाहसियों ने तुरंत सशस्त्र हस्तक्षेप करने और "कास्त्रो शासन" को नष्ट कर डालने की मांग की। अमरीकी सैन्यवादी तो क्यूबा पर निशाना साधे बैठे ही थे।

शरद, १९६२ में अमरीकी सैनिक मशीन चालू कर दी गयी, ताकि क्यूबा को दबोच लिया जाये।

अक्तूबर-नवंबर, १९६२ का कैरिबियाई संकट युद्धोत्तर काल का एक सबसे गंभीर अंतर्राष्ट्रीय संकट था। उस समय मानवजाति ताप-नाभिकीय युद्ध के महागर्त्त में गिरने ही वाली थी। किंतु विवेक और शांति की शक्तियों की जीत हुई। अपनी क्रांति की रक्षा करने के क्यूबा की जनता के संकल्प और विश्व जनमत के घोर विरोध के आगे संयुक्त राज्य अमरीका की हिम्मत न हुई कि क्यूबा पर हमला करे।

इस भीषणतम परीक्षा ने क्रांतिकारी क्यूबा को और भी सुदृढ़ तथा मजबूत बनाया। अपनी सरकार और अपनी कम्युनिस्ट पार्टी के गिर्द एकजुट होकर क्यूबा की जनता सफलतापूर्वक समाजवाद का निर्माण कर रही है।

क्यूबाई जनता के क्रांतिकारी पराक्रम का महत्त्व इस बात में है कि पश्चिमी गोलार्ध में उसने ही सबसे पहले महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के ध्येय को आगे जारी रखा। क्यूबा में समाजवादी क्रांति की विजय ने समस्त विश्व को सूचित किया कि समाजवाद के विचार महासागर पार करके पश्चिमी गोलार्ध में अपना विजय अभियान शुरू कर चुके हैं।

विश्व समाजवादी समुदाय

विभिन्न देशों में समाजवाद की ओर संक्रमण के आम नियम और विशेषताएं

समाजवादी समुदाय के देशों द्वारा तय किये गये मार्ग के अध्ययन से पता चलता है कि पूंजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण के कुछ आम नियम हैं और वे सर्वत्र समान रूप से काम करते हैं। किंतु प्रत्येक देश में समाजवाद निर्माण की प्रक्रिया की कुछ ऐसी विशेषताएं भी होती हैं, जो केवल उसी देश से संबंध रखती हैं।

सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशों का अनुभव दिखाता है कि क्रांतियां स्वत: नहीं होतीं, बल्कि उन्हें जनता करती है। किंतु कोई भी जनता समाजवादी क्रांति और समाजवाद निर्माण को स्वत:स्फूर्त ढंग से और सर्वाधिक प्रगतिशील सामाजिक वर्ग – सर्वहारा – के नेतृत्व के बिना भी नहीं कर सकती। और सर्वहारा वर्ग जनता को क्रांति के लिए तब तक नहीं जगा सकता, समाजवाद निर्माण के लिए तब तक प्रेरित नहीं कर सकता, जब तक कि उसे, यानी सर्वहारा वर्ग को मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टी का निदेशन न प्राप्त हो।

समाजवाद का निर्माण करनेवाले देशों के राजनीतिक ढांचे भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कहीं यह सोवियतों का जनतंत्र हो सकता है, तो कहीं लोक जनवादी जनतंत्र। किंतु इतना निश्चित है कि हर कहीं यह बहुमत के लिए, जनता के लिए अधिकतम, व्यापकतम जनवाद सुनिश्चित करता है। सोवियतों का जनतंत्र हो या लोक जनवादी जनतंत्र, दोनों ही मेहनतकशों के अग्रदल – सर्वहारा – को संगठनबद्ध तथा अनुशासनबद्ध बनाये रखते हैं, ताकि वह मनुष्य द्वारा मनुष्य के हर प्रकार के शोषण का अंत करने के अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो सके।

यह है वह वस्तुपरक नियम, जो ऐसे सभी देशों पर लागू होता है, जिन्होंने पूंजीवाद को ठुकराकर समाजवाद निर्माण का बीड़ा उठाया है। साथ ही इतिहास साक्षी है कि मज़दूर वर्ग द्वारा सत्ता हथियाये जाने के तरीक़े भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। रूसी सर्वहारा को पूंजीपतियों तथा ज़मींदारों से घोर सशस्त्र संघर्ष करके सत्ता पर अधिकार करना पड़ा था। दूसरी ओर, यूरोपीय लोक जनवादी राज्यों के मज़दूर बिना किसी रक्तपातपूर्ण गृहयुद्ध के ही सत्ता को हथियाने में सफल हो गये।

सर्वहारा अधिनायकत्व की प्रणाली में नेतृत्वकारी भूमिका कम्युनिस्ट या मजदूर पार्टियां अदा करती हैं। कतिपय देशों (जैसे सोवियत संघ, हंगरी, रूमानिया और मंगोलिया) में वे एकमात्र पार्टियां हैं और कतिपय देशों (पोलैंड, बुल्गारिया, जर्मन जनवादी जनतंत्र, आदि) में उनके साथ-साथ दूसरी जनवादी पार्टियां भी हैं, जो मज़दूर वर्ग की पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका को स्वीकार करती हैं और समाजवाद निर्माण में सक्रिय भाग लेती हैं।

समाजवाद निर्माण की सफलता की एक अनिवार्य शर्त है मज़दूर वर्ग का अधिकांश किसानों तथा अन्य मेहनतकश तबक़ों के साथ गठबंधन। समाजवाद निर्माण के विभिन्न चरणों में इस गठबंधन का स्वरूप और सार बदलते जाते हैं, जो इसपर निर्भर होता है कि किस चरण में कौनसे कार्यभार पूरे किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, सभी देशों में इस गठबंधन का एक सा मज़बूत होना भी अनिवार्य नहीं है, क्योंकि यह उनकी वर्गीय शक्तियों के संतुलन पर निर्भर करता है, जो सर्वत्र एकसमान नहीं होता।

सभी समाजवादी देशों का अनुभव दिखाता है कि उत्पादन के बुनियादी साधनों पर निजी स्वामित्व का अंत और सामाजिक स्वामित्व की स्थापना करना अत्यावश्यक है, क्योंकि निजी, यानी पूंजीवादी स्वामित्व समाजवाद से किसी भी भांति मेल नहीं खाता। कोई भी पूंजीपति, कोई भी बैंकर, कोई भी कारखानेदार अपने यहां उजरत पर काम करनेवाले मज़दूरों की मेहनत के फलों को हथियाना स्वेच्छा से नहीं छोड़ेगा। इसलिए बहुत ज़रूरी है कि बुनियादी उत्पादन साधनों को निजी मालिकों से छीनकर सामाजिक संपत्ति बना दिया जाये।

समाजवाद का निर्माण तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक कृषि का शनैः शनैः समाजवादी पुनर्गठन न कर दिया जाये। सामूहिक कृषि में संक्रमण के मुख्य बुनियादी सिद्धांत यद्यपि सर्वत्र एक से हैं, किंतु कुछ बातों में अंतर भी देखे जाते हैं। मिसाल के लिए, सोवियत संघ और मंगोलिया में क्रांति के तुरंत बाद ही भूमि का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था, जबकि अधिकांश अन्य समाजवादी देशों में किसानों ने अपना निजी भू-स्वामित्व अधिकार खोये बिना ही सहकारी फ़ार्म बनाये। इसका कारण यह था कि इन

देशों में किसानों के निजी भू-स्वामित्व की परंपरा सदियों से चली आ रही थी। किंतु यहां भी वे अब शनैः शनैः इस परंपरा को त्याग रहे हैं और भूमि सामाजिक संपत्ति बनती जा रही है।

समाजवाद निर्माण का सर्वत्र लागू होनेवाला एक अन्य नियम है अर्थ-व्यवस्था का योजनाबद्ध विकास। यह निश्चय ही पूंजीवाद के मुक़ाबले समाजवाद की उत्कृष्टता का एक और प्रमाण है। उत्पादन साधनों पर सामाजिक, समाजवादी स्वामित्व होने से सत्तारूढ़ मज़दूर और किसान अर्थव्यवस्था का स्वतःस्फूर्त ढंग से नहीं, जैसा कि पूंजीवाद में होता है, बल्कि सुनियोजित ढंग से, समस्त समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए विकास कर सकते हैं।

विचारधारा और संस्कृति के क्षेत्र में क्रांति समाजवाद निर्माण का एक अन्य सार्विक व महत्त्वपूर्ण पहलू है। कोई भी देश तब तक समाजवादी समाज का निर्माण नहीं कर सकता, जब तक कि व्यक्ति की विचारधारा और मानसिकता को, समाज के प्रति और समाज में अपने स्थान के बारे में उसके दृष्टिकोण को बुनियादी तौर पर न बदल दिया जाये। समाजवाद के वास्तविक निर्माता केवल सर्वांगीणतः शिक्षित और सुसंस्कृत लोग ही हो सकते हैं, यानी ऐसे लोग, जो प्रकृति और समाज के विकास के नियमों को जानते हैं और इन नियमों की क्रिया को ऐसा रुख दे सकते हैं कि उससे समाज का भी लाभ हो और समाज के अभिन्न अंग के रूप में खुद उनका भी लाभ हो।

समाजवाद का निर्माण तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक कि जातीय उत्पीड़न का अंत और सभी जातियों के लोगों के बीच बंधुत्व तथा मैत्री की स्थापना न कर दी जाये। कम्युनिस्ट जातीय प्रश्न को सर्वहारा क्रांति के प्रश्न, समाजवाद निर्माण के प्रश्न का ही अंग मानते हैं। उपनिवेशस्वामी देशों का मज़दूर वर्ग जब अपने देश के मेहनतकशों की स्वतंत्रता के लिए ही नहीं, बल्कि साम्राज्यवाद द्वारा उत्पीड़ित जातियों की मुक्ति के लिए भी लड़ता है, तो वह कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स की इसी शिक्षा से निदेशित होता है कि जो जनता दूसरी जनता का उत्पीड़न करती है, वह स्वयं भी स्वतंत्र नहीं हो सकती। समाजवादी व्यवस्था जातीय प्रश्न का न्यायसंगत समाधान सुनिश्चित करती है और विभिन्न जातियों के बीच ऐसे वास्तविक बंधुत्व तथा समानता के संबंधों को प्रश्रय देती है, जो समाजवादी समाज की प्रगति की प्रबल प्रेरक शक्तियों का काम कर सकते हैं।

सोवियत संघ ने जातीय समस्या के समाधान की एक शानदार मिसाल पेश की है। चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया और अन्य समाजवादी देशों में भी अल्पसंख्यक जातियों को पूर्ण राजनीतिक समानता और तीव्र आर्थिक व सांस्कृतिक विकास के अवसर मुहैया किये गये हैं। समाजवादी देशों ने जो

आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह विश्व के सर्वहारा और सभी उत्पीड़ित जनों को साम्राज्यवाद के जूए से मुक्ति के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देता है।

समाजवाद के पथ पर अग्रसर सभी देश आंतरिक तथा विदेशी शत्रुओं के हमलों से समाजवादी उपलब्धियों की रक्षा करने को अपना पुनीत कर्त्तव्य मानते हैं। समाजवादी व्यवस्था आंतरिक या अंतर्राष्ट्रीय विरोधों के समाधान के साधन के रूप में युद्ध को अस्वीकार्य ठहराती है। समाजवादी देशों के मेहनतकश चूंकि नये जीवन का निर्माण कर रहे हैं, अतः वे सारे विश्व में स्थायी शांति स्थापित हुई देखना चाहते है। केवल तभी वे अपनी शक्ति और साधन अपने जीवन की परिस्थितियां बेहतर बनाने में लगा सकते हैं। किंतु साथ ही वे साम्राज्यवादियों की ओर से चौकस भी रहते हैं और यदि किसी ने उन्हें उनकी ऐतिहासिक उपलब्धियों से वंचित करने की कोशिश की, तो उसे मुंहतोड़ जवाब देने मे नहीं चूकते।

आन्तरिक और विदेशी शत्रुओं से अपनी उपलब्धियों की रक्षा करते हुए समाजवादी देश सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के सिद्धांतों के अनुरूप एक दूसरे को और अन्य देशों के मेहनतकशों को हर प्रकार की सहायता देते हैं। सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद मज़दूरों की वर्गीय एकता का, उनके अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का पर्याय है। सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद पूंजीवाद के उन्मूलन और समाजवाद के निर्माण के लिए जनसामान्य द्वारा किये जा रहे संघर्ष के विकास का नियम और उसकी सफलता की एक मूलभूत शर्त है। सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद की आवश्यकता सर्वप्रथम इसलिए है कि किसी भी देश का सर्वहारा जब अपनी मुक्ति के लिए लड़ता है, तो उसका सामना "स्वदेशी" बूर्जुआज़ी से ही नहीं, दूसरे देशों के पूंजीपतियों से भी होता है और इस संयुक्त मोर्चे को वह तभी ध्वस्त कर सकता है, जब उसके मुक़ाबले में सभी देशों के सर्वहाराओं की एकता और एकजुटता रखी जाये।

समाजवादी देशों का सहयोग तथा परस्पर सहायता

विश्व समाजवादी समुदाय के सफल विकास की एक सबसे मुख्य गारंटी है समाजवादी देशों का बंधुत्वपूर्ण सहयोग तथा उनके द्वारा एक दूसरे की सहायता। इन देशों के आर्थिक तथा राजकीय ढांचे भी एक से हैं और विचारधारा, हित तथा लक्ष्य भी एक से हैं। सभी समाजवादी देशों में शासन सत्ता मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में जनता के हाथों में है, कल-कारख़ाने समस्त समाज की संपत्ति हैं और सभी एक ही विचारधारा – मार्क्सवाद-लेनिनवाद – का

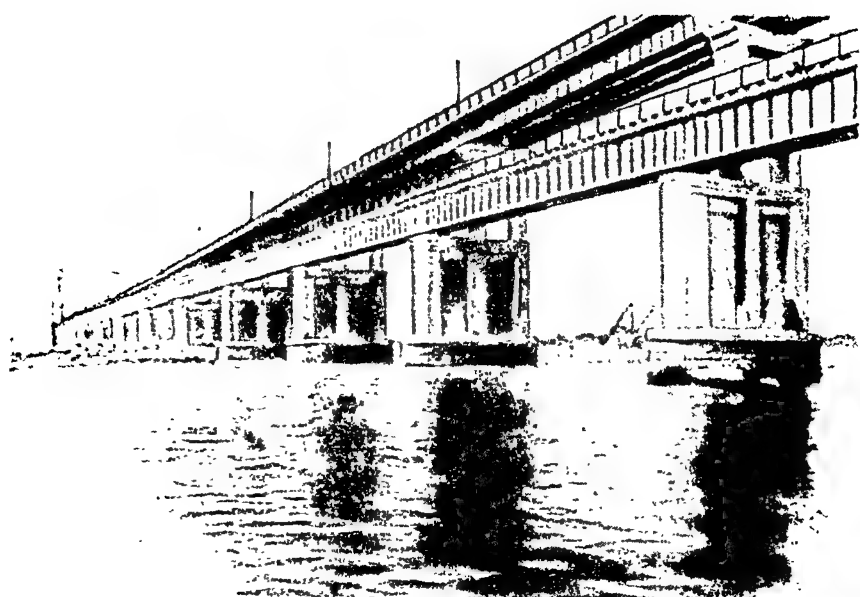


कामील्लो स्येनफ़ुएगास स्मारक स्कूल की एक कक्षा में

अनुसरण करते हैं। समाजवादी शिविर के देशों के मेहनतकशों के हित भी समान हैं – अपनी क्रांतिकारी उपलब्धियों की रक्षा करना – और लक्ष्य भी समान हैं – पहले समाजवाद और फिर कम्युनिज़्म का निर्माण करना। ये समानताएं ही उनके घनिष्ठ तथा मैत्रीपूर्ण संबंधों की बुनियाद हैं। इन संबंधों के मुख्य लक्षण हैं पूर्ण समानता, एक दूसरे की स्वतंत्रता व सर्वसत्ता का आदर, बंधुत्वपूर्ण परस्पर सहायता और सहयोग।

समाजवादी देश उद्योग, कृषि और संस्कृति के विकास में निरंतर एक दूसरे की मदद करते हैं। इसीलिए सोवियत संघ और यूरोपीय लोक जनवादी देशों ने १९४९ में पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद की स्थापना की थी। परिषद का काम प्रत्येक देश के राष्ट्रीय हितों और साथ ही समस्त समाजवादी शिविर के हितों को ध्यान में रखते हुए सभी सदस्य देशों की अर्थव्यवस्था के विकास का समन्वय करना है।

समाजवाद के एक देश की सीमा से निकल जाने और विश्व समाजवादी प्रणाली की स्थापना हो जाने के बाद समाजवाद के पथ पर अग्रसर देशों के लिए यह आवश्यक नहीं रह गया था कि वे अर्थव्यवस्था की सभी शाखाओं का विकास करें, जैसा कि पहले पूंजीवादी देशों से घिरे हुए सोवियत संघ को

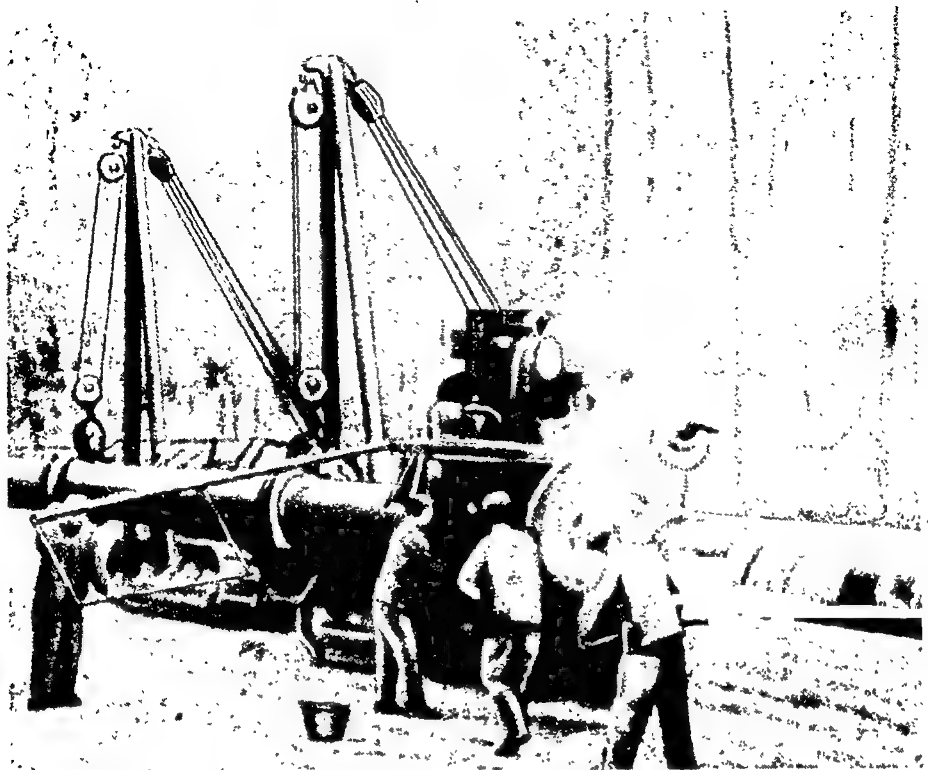


डेन्यूब नदी पर रूमानिया और बुल्गारिया के संयुक्त प्रयास से १९५४ में बना मैत्री पुल

करना पड़ा था। अब अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी श्रम विभाजन संभव हो गया था, जिसके अंतर्गत प्रत्येक देश अपने यहां अर्थव्यवस्था की उन्हीं शाखाओं के विकास पर मुख्य ध्यान दे सकता था, जिनके लिए उसके यहां सर्वाधिक उत्तम परिस्थितियां थीं। इसी प्रकार राष्ट्रीय आर्थिक योजनाओं के बीच ताल-मेल की संभावना भी पैदा हुई।

बहुपक्षीय माल विनिमय के माध्यम से पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद के सभी सदस्य देशों की अर्थव्यवस्था का तीव्र तथा विवेकसंगत विकास सुनिश्चित किया जाता है। परिषद सिफ़ारिश करती है कि कौन देश किस प्रकार के मालों के उत्पादन पर विशेष बल देगा। इस प्रकार धमन भट्ठी उपकरणों का उत्पादन सोवियत संघ, पोलैंड तथा चेकोस्लोवाकिया में, अल्यूमीनियम उद्योग की मशीनरी का उत्पादन सोवियत संघ तथा हंगरी में, कृत्रिम रेशा निर्माण मशीनरी का उत्पादन जर्मन जनवादी जनतंत्र और सोवियत संघ में और कृषिसहायक मशीनरी तथा साग-सब्ज़ियों व फलों का उत्पादन बुल्गारिया में किया जाता है। ऐसा समाजवादी श्रम विभाजन न केवल प्रत्येक देश के संसाधनों तथा साधनों के अधिक युक्तिसंगत उपयोग में, बल्कि समस्त समाजवादी प्रणाली के तीव्र आर्थिक विकास में भी सहायक होता है।

घनिष्ठ सहयोग और परस्पर सहायता की बदौलत समाजवादी देश



'द्रूज्बा' पाइपलाइन बिछायी जा रही है

ऐसी-ऐसी परियोजनाओं को भी साकार बना सके हैं, जो संभवत: एक ही देश के बूते से बाहर होतीं। मिसाल के लिए, विश्व की सबसे लंबी – कोई ५००० किलोमीटर – 'मैत्री' तेल पाइपलाइन का निर्माण सोवियत संघ, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, पोलैंड और जनवादी जर्मनी ने संयुक्त रूप से किया है, जो वोल्गा घाटी का तेल ओडर, विस्तुला, व्ल्तावा और डेन्यूब नदियों के तट पर पहुंचाता है। इसी प्रकार सोवियत संघ, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी और रूमानिया ने मिलकर 'शांति' नामक एक संयुक्त विद्युत ग्रिड की स्थापना की है।

समाजवादी देशों के वैज्ञानिक परमाणु ऊर्जा के शांतिमय उपयोग के क्षेत्र में संयुक्त अनुसंधान कर रहे हैं। अन्य वैज्ञानिक व तकनीकी क्षेत्रों में और आधुनिक उत्पादन प्रविधियों के बारे में भी उनके बीच जानकारियों का व्यापक विनिमय होता रहता है।

समाजवादी प्रणाली की एक अंगभूत विशेषता है अधिक विकसित देशों द्वारा कम विकसित देशों की सक्रिय सहायता, जिससे सभी समाजवादी देशों के विकास का स्तर उत्तरोत्तर समान होता जाता है।

किंतु समाजवादी देशों द्वारा इस प्रकार मिल-जुलकर अपनी अर्थव्यवस्थाओं का विकास किये जाने का यह मतलब नहीं कि समाजवादी समुदाय अपने को विश्व पूंजीवादी मंडी से अलग-थलग रखता है। वास्तव में उसकी भरसक कोशिश है कि पूंजीवादी देशों के साथ परस्पर लाभदायी व्यापारिक संबंध अधिकतम बढ़ें।

अनेक समाजवादी देश आपस में मैत्री, सहबंध तथा परस्पर सहायता की संधियों से बंधे हुए हैं। फिर भी जब पश्चिमी राष्ट्रों ने आक्रामक सैनिक गुट नाटो (उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन) की स्थापना की, तो समाजवादी देशों को अपनी प्रतिरक्षा के लिए कारगर जवाबी क़दम उठाने पर मजबूर होना पड़ा।

मई, १९५५ में वारसा में सोवियत संघ, अल्बानिया, बुल्गारिया, हंगरी, जर्मन जनवादी जनतंत्र, पोलैंड, रूमानिया और चेकोस्लोवाकिया ने एक संधि संपन्न की, जिसके अनुसार उनमें से किसी पर भी आक्रमण होने पर दूसरे देश उसकी सहायता करेंगे। संधि के अनुसार हस्ताक्षरकर्ता देशों की सशस्त्र सेनाओं की एक संयुक्त कमान का गठन भी किया गया।

सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देश आम तथा पूर्ण निरस्त्रीकरण के लिए, परमाणु तथा हाइड्रोजन अस्त्रों पर प्रतिबंध के लिए और पराये क्षेत्रों से विदेशी सामरिक अड्डे हटाये जाने के लिए दृढ़तापूर्वक तथा निरंतर संघर्ष कर रहे हैं।

विश्व समाजवादी प्रणाली और मानव समाज का विकास

छठे दशक के अंत और सातवें दशक के आरंभ में विश्व समाजवादी प्रणाली ने विकास के एक नये चरण में प्रवेश किया। सोवियत संघ में कम्युनिज़्म निर्माण का व्यापक कार्यक्रम अमल में लाया जाने लगा और चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, जनवादी जर्मनी, बुल्गारिया, रूमानिया तथा मंगोलिया ने समाजवाद की बुनियाद का निर्माण पूरा कर लिया। अधिकांश अन्य लोक जनवादी देश भी इस लक्ष्य की प्राप्ति के निकट पहुंच गये थे। इन सब राज्यों में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना की सामाजिक व आर्थिक संभावनाओं का ख़ात्मा कर दिये जाने का अर्थ था कि समस्त विश्व समाजवादी प्रणाली के पैमाने पर नयी

सामाजिक व्यवस्था पूरी तरह विजयी हो गयी है और विश्व शक्ति संतुलन में समाजवाद का पासंग भारी हो गया है।

साम्राज्यवाद की शक्तियों का निरंतर ह्रास तथा विघटन दिखाता है कि समाजवादी प्रणाली मानव समाज के विकास का निर्णायक कारक बनती जा रही है और अब से विश्व इतिहास का सार तथा मुख्य दिशा इसी प्रणाली की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि पर निर्भर होंगे।

विश्वव्यापी स्तर पर पूंजीवाद के ऊपर समाजवाद की विजय की एक बुनियादी पूर्वापेक्षा यह है कि समाजवादी देश निरंतर द्रुतगति से विकास करते जायें। १९५०-१९६७ की अवधि में उनका औद्योगिक उत्पादन ५.४ गुना बढ़ा, जबकि पूंजीवादी देशों का केवल २.५ गुना, दूसरे शब्दों में समाजवादी खेमे की अर्थव्यवस्था पूंजीवादी खेमे की अपेक्षा दोगुनी तेज़ी से विकास कर रही है।

विश्व समाजवादी प्रणाली की अंतर्निहित शक्ति, उसके विचारों की आकर्षकता का उल्लेख पूंजीवाद के संतुलितमना पक्षधर भी करते हैं। कतिपय यूरोपीय समाजवादी देशों की यात्रा करने के बाद संयुक्त राज्य अमरीका की एक सबसे बड़ी समाचारपत्र-शृंखला के मालिक विलियम रैंडोल्फ़ हर्स्ट (कनिष्ठ) को स्वीकार करना पड़ा था कि इन देशों के मामूली से मामूली मेहनतकश का जीवन-स्तर भी आज पहले से कहीं अधिक ऊंचा है, कि समाजवाद ने यहां सदा के लिए जड़ें जमा ली हैं और अब लाख बातें भी इस तथ्य को नहीं छिपा सकतीं।

इतिहास का निष्कर्ष है कि समाजवाद के प्रसार को टाला नहीं जा सकता। समाजवाद का विश्व अभियान जारी है और भविष्य उसी के साथ है।

नवां अध्याय

युद्धोत्तरकालीन संयुक्त राज्य अमरीका और यूरोपीय पूंजीवादी देश

आक्रामक गुटों की स्थापना

नाभिकीय युग का आरंभ

इतिहास का सबसे रक्तपातपूर्ण युद्ध जब समाप्त होने को आ रहा था, उन्हीं दिनों मानवजाति एक नये युग – परमाणु ऊर्जा के युग – में भी प्रवेश कर रही थी। परमाणु के नाभिक में छिपी हुई विराट शक्ति खाद्य-पदार्थों, दूसरी वस्तुओं, उष्मा और प्रकाश का अक्षय स्रोत सिद्ध हो सकती थी। किंतु हुआ यह कि इस ऊर्जा का स्वामी सबसे पहले एक पूंजीवादी देश – संयुक्त राज्य अमरीका – बना और वह चीज़ जो विश्व के करोड़ों लोगों के लिए नयी आशा का संदेश ला सकती थी, वह साम्राज्यवादी विश्व के नेताओं के हाथों में पड़कर मृत्यु और यंत्रणाओं की वाहक बन गयी।

६ अगस्त, १९४५ को एक अमरीकी उड़ाके ने संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति हैरी ट्रूमैन के आदेश का पालन करते हुए अपने विमान के केबिन में बटन दबाया और क्षणभर बाद जापान का एक सबसे बड़ा शहर हिरोशिमा खंडहरों का ढेर बना पड़ा था। "शहर में जहां देखो, खंडहर ही खंडहर नज़र आते थे," जापानी इतिहासकार लिखते हैं। "यह ऐसा विकराल दृश्य था, जैसा इतिहास में पहले किसी ने देखा या सुना भी न होगा। हर कहीं जली-भुनी लाशों के अंबार लगे थे। कई लोग तो उसी मुद्रा में भस्म हो गये थे, जिसमें विस्फोट के वक़्त थे। ट्राम, जिसका ढांचा मात्र शेष रह गया था, पट्टे पकड़ी लाशों से भरी पड़ी थी। जो ज़िंदा बच सके, वे सारा बदन झुलस जाने से पीड़ा के मारे कराह रहे थे। सब कुछ साक्षात् नरक की याद दिला रहा था।" दो दिन बाद यही ट्रेजेडी नागासाकी को भी भुगतनी पड़ी।

अमरीकी नेताओं की ऐसी अभूतपूर्व नृशंसता को कभी, किसी भी भांति उचित नहीं ठहराया जा सकेगा। वह सामरिक दृष्टि से भी आवश्यक

न थी। प्रशांत क्षेत्र में युद्ध का परिणाम निश्चित हो चुका था: मित्रराष्ट्रों के समझौते के अनुसार इन्हीं दिनों सोवियत संघ भी जापान के विरुद्ध युद्ध में शामिल होनेवाला था। चीन में अमरीकी सेनाओं के कमांडर जनरल चेनाल्ट ने स्वीकार किया है कि जापान के विरुद्ध युद्ध में सोवियत संघ के शामिल होने से ही प्रशांत महासागर में युद्ध जल्दी ख़त्म हो सका और अगर परमाणु बमों का इस्तेमाल न भी किया जाता, तब भी इसमें कोई अंतर न पड़ता।

संयुक्त राज्य अमरीका के शासकों ने परमाणु बम का इस्तेमाल क्यों किया और मानव प्रतिभा की उपलब्धि को शांति के लिए स्थायी ख़तरा क्यों बनाया, इसका उत्तर यही है कि उसका एकमात्र उद्देश्य ऐसे ऐन मौक़े पर सोवियत संघ पर दबाव डालना था, जब विश्व की युद्धोत्तरकालीन व्यवस्था की नींव डाली जा रही थी।

अमरीकी बूर्जुआज़ी को युद्ध से कोई ख़ास क्षति नहीं हुई थी। कुकुरमुत्तों की तरह दिनोंदिन बढ़ते सैनिक आर्डरों के कारण औद्योगिक उत्पादन ढाईगुना बढ़ गया था। पूंजीवादी विश्व के कुल औद्योगिक उत्पादन का ६० प्रतिशत, कुल निर्यात का ३० प्रतिशत, कुल व्यापारिक पोत-भार का ५० प्रतिशत से अधिक और कुल स्वर्ण रिज़र्व का ७० प्रतिशत संयुक्त राज्य अमरीका के ही हिस्से में आता था। जर्मनी और जापान की पराजय ने और कुछ नहीं तो लंबे समय के लिए विश्व मंडी से अमरीकी बूर्जुआज़ी के सबसे बड़े प्रतिद्वंद्वियों को बेदख़ल कर दिया था। अमरीका के मित्रदेश, विशेषत: ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस अपने सभी साधन नि:शेष कर बैठे थे और अब वित्तीय मदद के लिए उसका ही मुंह ताक रहे थे।

साम्राज्यवाद का आर्थिक और फिर राजनीतिक व सैनिक गुरुत्वाकर्षण केंद्र एक बार फिर यूरोप से हटकर संयुक्त राज्य अमरीका स्थानांतरित हो गया था। ऐसी स्थिति में अमरीकी राजनीतिज्ञों को लगने लगा कि विश्व पर संयुक्त राज्य अमरीका का निर्विवाद्य एकछत्र प्रभुत्व स्थापित करने की, विश्व पर अमरीका की चौधराहट लादने की उनकी पुरानी योजनाएं अब बिना किसी विशेष प्रयास के साकार बनायी जा सकती हैं।

किंतु बात ऐसी थी नहीं। इन योजनाओं के साकार बनने की राह में कई गंभीर बाधाएं थीं। सबसे बड़ी बाधा तो महान समाजवादी राज्य सोवियत संघ और लोक जनवादी देश थे। सोवियत संघ के निर्बल बन जाने की आशाएं न केवल निर्मूल सिद्ध हुई थीं, बल्कि युद्ध की अग्नि-परीक्षा ने उसे और भी तपा हुआ, शक्तिशाली बना दिया था। १९३९ में जब जर्मन-पोलिश मोर्चे पर पहली गोलियां चली थीं, समाजवादी प्रणाली में केवल दो देश थे – सोवियत संघ और मंगोलिया। किंतु युद्ध ख़त्म होते-होते मज़दूर और किसान सात

यूरोपीय देशों में भी सत्ता में आ गये। ये थे पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, बुल्गारिया, हंगरी, रूमानिया और अल्बानिया। इसके अलावा, पूर्वी जर्मनी में भी प्रगतिशील तत्त्वों ने सोवियत संघ की सहायता से अपने देश का जनवादी ढंग से पुनर्गठन आरंभ कर दिया था। अनेक एशियाई देशों में क्रांतिकारी जन आंदोलन उभार पर थे। चीन में युद्ध के अंत तक कम्युनिस्ट पार्टी १०,००,००,००० की आबादीवाले क्षेत्र पर अधिकार कर चुकी थी।

इस प्रकार सोवियत संघ के शक्तिहीन और यहां तक कि छिन्न-विच्छिन्न हो जाने और उसके साथ ही अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन के दमन के जो मंसूबे प्रतिक्रियावादी हल्क़ों ने बांधे हुए थे, वे पूरे न हो सके। उल्टे, प्रगति, जनवाद और समाजवाद की शक्तियां, जिनमें सर्वोच्च स्थान सोवियत संघ को प्राप्त था, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का प्रभावशाली कारक ही बन गयीं।

संयुक्त राज्य अमरीका के विदेश सचिव जेम्स बायर्न्स ने जब जापान पर परमाणु बम फेंकने का आग्रह किया था, तो कहा था कि इससे सोवियत संघ पर लगाम लगाना ज़्यादा आसान हो जायेगा। इसी भांति शरद, १९४५ में एक अमरीकी रेडियो प्रसारण में कहा गया था कि आंग्ल-अमरीकी नेताओं की राय में, यदि रूस "ठीक से पेश" नहीं आता, तो उसे नष्ट कर दिया जायेगा।

पहले परमाणु बमों के धमाकों ने साम्राज्यवादी राज्यों की विदेश-नीतियों में एक नये दौर की शुरुआत की, जो परमाणु राजनय या शीतयुद्ध के नाम से जाना जाता है। सोवियत संघ और नवस्थापित लोक जनवादी राज्यों पर निरंतर दबाव डालना ही इस नीति का मुख्य सार था। संयुक्त राज्य अमरीका ने ख़ुद ही पूर्वी यूरोपीय देशों को यह बताने का दायित्व ओढ़ लिया कि उन्हें अपने आंतरिक मामलों को कैसे हल करना चाहिये। उसने कुओमिंतांग सरकार की ओर से चीन में हस्तक्षेप भी किया।

किंतु फ़ासिस्ट राज्यों के विरुद्ध भीषण युद्ध में मित्रराष्ट्रों की विजय ने पहले युद्धोत्तरीय महीनों में जिस नैतिक व राजनीतिक वातावरण को जन्म दिया था, उसने संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन की सरकारों को युद्ध के तुरंत बाद ही अंतर्राष्ट्रीय मंच पर खुले आम सोवियतविरोधी नीति नहीं अपनाने दी। फ़ासिज़्मविरोधी युद्ध की सफल परिणति ने सभी देशों में जनवादी शक्तियों के हाथ मज़बूत कर दिये थे। संयुक्त राज्य अमरीका में वामपंथी ट्रेड यूनियनों का प्रभाव बढ़ गया था और १९४६ से वहां प्रोग्रेसिव पार्टी ने भी काम करना शुरू कर दिया था। ब्रिटेन में अब लेबर सरकार शासन कर रही थी। कम्युनिस्ट पार्टियों की प्रतिष्ठा तेज़ी से बढ़ गयी थी, जिन्होंने इस बीच काफ़ी अनुभव अर्जित कर लिया था और वर्ग संघर्ष द्वारा उत्पन्न अत्यंत कठिन समस्याओं को हल करना भी सीख लिया था। इसी

कारण १९४३ में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल को भंग कर दिया गया था, ताकि फ़ासिज़्म के विरुद्ध संघर्ष के लिए अधिक से अधिक लोगों को एकताबद्ध किया जा सके।

युद्धोत्तरकालीन पहले चुनावों में फ़्रांस में ५५,००,००० मतदाताओं, यानी २८.६ प्रतिशत निर्वाचकों ने अपना मत कम्युनिस्टों को दिया। इटली में कम्युनिस्टों को कोई २० प्रतिशत, यानी ४४,००,००० निर्वाचकों ने और फ़िनलैंड में लगभग एक चौथाई निर्वाचकों ने अपना मत दिया। १९४५-१९४७ में कम्युनिस्ट नौ यूरोपीय देशों की सरकारों में शामिल थे – फ़्रांस, इटली, बेल्जियम, डेन्मार्क, नार्वे, आइसलैंड, आस्ट्रिया, फ़िनलैंड और लक्ज़ेमबर्ग।

१९४७ तक विश्व के ७६ देशों में (१९३९ में ६१ देशों में ही) कम्युनिस्ट पार्टियां काम करने लग गयी थीं। युद्धकाल में पूंजीवादी देशों में कम्युनिस्टों की संख्या तीन गुना बढ़कर ४८,००,००० तक पहुंच गयी थी। युद्ध की समाप्ति के बाद अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मज़दूरों की एकता सुनिश्चित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण क़दम उठाये गये। पेरिस में सितंबर, १९४५ में विश्व ट्रेड यूनियन कांग्रेस हुई, जिसमें विश्व ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशन की स्थापना की गयी। उसमें सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस, इटली, पोलैंड, चीन, भारत और इंडोनेशिया समेत ५६ देशों की ट्रेड यूनियनें शामिल हुईं। १९४५ के अंत में दो और अंतर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित हुए। ये थे अंतर्राष्ट्रीय जनवादी महिला फ़ेडरेशन और विश्व जनवादी युवा फ़ेडरेशन।

शीतयुद्ध

१९४५ और कुछ हद तक १९४६ तथा १९४७ में भी स्थिति अभी ऐसी थी कि बहुत से अंतर्राष्ट्रीय मसलों पर सोवियत संघ और पश्चिमी राष्ट्र सामान्यतया आपस में समभ्रांत पर पहुच ही जाया करते थे। इसकी अभिव्यक्ति संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना, पोट्सडाम सम्मेलन और इटली, रूमानिया, हंगरी, बुल्गारिया, फ़िनलैंड, आदि जिन देशों ने दूसरे महायुद्ध में नाज़ी जर्मनी का साथ दिया था, उनके साथ की गयी शांति संधियों में देखी जा सकती थी।

किंतु १९४६ के वसंत में एक घटना ऐसी घटी, जिसे अनेक इतिहासकारों और पत्रकारों ने युद्धोत्तरकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के मोड़बिंदु की संज्ञा दी है। ५ मार्च, १९४६ को अमरीकी शहर फ़ुल्टन में राष्ट्रपति ट्रूमैन की उपस्थिति में भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधानमंत्री और पश्चिम के एक प्रमुख राजनीतिज्ञ विंस्टन चर्चिल ने एक भाषण किया, जिसमें सोवियत संघ के विरुद्ध निर्मम राजनीतिक युद्ध की घोषणा की गयी थी। चर्चिल ने "रूसियों को शक्ति का प्रदर्शन करने" और इस उद्देश्य से समाजवाद के विरुद्ध सभी आंग्ल-सैक्सन देशों से एकजुट होने की अपील की। यह भाषण विश्व मंच

पर साम्राज्यवादी शिविर के लिए एक प्रकार की कार्य-पथप्रदर्शिका बन गया। इस प्रकार शीतयुद्ध का लंबा दौर शुरू हुआ, जिसके मुख्य लक्षण थे हथियारों की होड़, सोवियत संघ तथा लोक जनवादी राज्यों के गिर्द अमरीकी सैनिक अड्डों की स्थापना और आक्रामक सैनिक गुटों का निर्माण।

समाजवाद की बढ़ती ताक़त और क्रांतिकारी आंदोलन के व्यापक पैमाने से भयभीत अमरीकी इजारेदार बूर्जुआज़ी चाहता था कि अमरीकी सशस्त्र सेनाएं, जिनके पास अब परमाणु बम भी था, अंतर्राष्ट्रीय कोतवाल की भूमिका अदा करें और विश्व में जहां कहीं भी जन असंतोष की आग भड़के, उसे दबाने के लिए, बुझाने के लिए दमकल की तरह तुरंत वहां पहुंच जायें। जनरल टेलर ने, जो आगे चलकर अमरीकी सेना का मुख्य सेनाध्यक्ष तथा दक्षिणी वियतनाम में संयुक्त राज्य अमरीका का राजदूत बना, दावा किया था कि संयुक्त राज्य अमरीका विश्व की कोतवाली करने और उसपर "पैक्स अमेरिकाना" (अमरीकी शांति) थोपने में सक्षम है।

इस नीति की एक पहली अभिव्यक्ति १९४७ में घोषित ट्रूमैन सिद्धांत में देखने को मिली। अमरीकी कांग्रेस के नाम विशेष संदेश में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने घोषणा की कि संयुक्त राज्य अमरीका को "अधिकार" है कि वह जिस भी राज्य के आंतरिक मामलों में चाहे, हस्तक्षेप कर सकता है। इसी सिद्धांत के आधार पर संयुक्त राज्य अमरीका ने यूनान की प्रतिक्रियावादी राजतांत्रिक सरकार और तुर्की की सोवियतविरोधी सरकार को वित्तीय और सैनिक मदद दी। इस मदद के वास्तविक उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए प्रसिद्ध अमरीकी पत्रकार वाल्टर लिपमैन ने लिखा था कि तुर्की और यूनान को इसलिए नहीं चुना गया था कि वे जनवाद की शानदार मिसाल पेश करते थे, बल्कि इसलिए कि वे काला सागर और सोवियत संघ की देहरी पर स्थित देश थे और उनका रणनीतिक द्वार जैसा महत्त्व था। इस मदद के बदले में, जिससे फ़ायदा इन देशों के शासक तबक़ों को ही हुआ, संयुक्त राज्य अमरीका को तुर्की तथा यूनान में अपने सैनिक अड्डे क़ायम करने की संभावना प्राप्त हुई।

ट्रूमैन सिद्धांत के बाद अमरीकी शासक हल्क़ों ने एक आर्थिक सहायता कार्यक्रम की घोषणा की, जिसका उद्देश्य युद्ध और वामपंथी, जनवादी शक्तियों की सफलताओं के फलस्वरूप अपना प्रभाव काफ़ी कुछ खो चुके यूरोपीय बूर्जुआज़ी को उबारना था। तत्कालीन अमरीकी विदेश सचिव जार्ज मार्शल के नाम पर मार्शल योजना के रूप में विज्ञात इस कार्यक्रम के अनुसार सोवियत संघ और विश्व की सभी प्रगतिशील शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष के लिए विभिन्न देशों के पूंजीपतियों को संयुक्त राज्य अमरीका के नेतृत्व में एकजुट बनाया जाना था। अमरीकी साम्राज्यवादी यह भी चाहते थे कि नवस्थापित लोक जनवादी राज्यों की आर्थिक कठिनाइयों से लाभ उठाकर उन्हें समाजवादी

शिविर से अलग कर लिया जाये और अपने प्रभाव क्षेत्र में खींच लिया जाये, जैसी कि, मिसाल के लिए, चेकोस्लोवाकिया के मामले में कोशिश की गयी थी (उसे भी मार्शल योजना में शामिल होने का प्रलोभन दिया गया था)।

पश्चिमी यूरोपीय देशों में महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन बूर्जुआ राजनीतिज्ञों ने अमरीकी कार्यक्रम को सहर्ष स्वीकार कर लिया, हालांकि उससे उनके देशों की सर्वसत्ता का गंभीर उल्लंघन और यूरोप में अमरीकी इजारेदारियों के आर्थिक प्रभाव का सुदृढ़ीकरण ही होता था। अब अमरीकी अधिकारी ही "सहायता" पानेवाले देशों की वित्त-व्यवस्था और विदेश व्यापार का नियंत्रण करने लगे। मार्शल योजना में भाग लेने का एक परिणाम यह भी निकला कि पश्चिमी यूरोपीय देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों और अन्य प्रगतिशील संगठनों पर अनेक प्रतिबंध लगा दिये गये।

किंतु मार्शल योजना अपने कई लक्ष्यों को पाने में असफल रही। मिसाल के लिए, वह समाजवादी देशों की एकता भंग न कर सकी और उन्हें उसमें भाग लेने के लिए न लुभा सकी। इसी तरह वह पश्चिमी यूरोप में वर्ग संघर्ष और कम्युनिस्टों के प्रभाव में कमी करने में सफल न हो पायी। फिर भी कुल मिलाकर मार्शल योजना से पूंजीवादी प्रणाली को आंशिक स्थायित्व प्रदान करने में मदद अवश्य मिली। उसकी सबसे बड़ी सफलता थी पश्चिमी जर्मनी की आर्थिक शक्ति का पुनरुत्थान, जो कि अमरीकी योजनाकारों का एक मुख्य लक्ष्य भी था। जर्मनी के प्रश्न पर पश्चिमी राष्ट्रों की नीति में पश्चिमी जर्मनी के आर्थिक पुनरुत्थान को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था।

जर्मन प्रश्न

पोट्सडाम सम्मेलन के दस्तावेजों की स्याही सूख भी न पायी थी कि संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस ने उनका उल्लंघन शुरू कर दिया। पश्चिमी राज्यों के अध्यासी प्रशासकों ने जर्मनी में अपना मुख्य अवलंब समृद्ध वर्गों तथा प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञों को और बहुत बार तो भूतपूर्व सक्रिय नाजियों को भी बनाया। पश्चिमी जर्मनी में न कृषि-भूमि सुधार किये गये, न इजारेदारियों का खात्मा ही किया गया, जिससे जर्मन सैन्यवाद के फिर से पैदा होने के लिए अनुकूल परिस्थितियां बनी रहीं। १९४५ में जब पहली बार पश्चिमी प्रेस में सोवियतविरोधी सैनिक गठबंधनों की स्थापना का सवाल उठा था, तभी से कहा जाने लगा था कि पश्चिमी जर्मनी को भी उनमें शामिल किया जाना होगा। जनरल आइजनहावर ने, जो आगे चलकर अमरीका का राष्ट्रपति बना, बाद में अपने एक भाषण में साफ़-साफ़ कहा भी कि अमरीका को जर्मन सेना इस योग्य बना देनी चाहिये कि जहां भी हम चाहें, वह हमला कर सके।

पश्चिमी जर्मनी को सोवियतविरोधी गुटों का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य बनाने की योजना से ही संबद्ध पश्चिमी देशों की जर्मनी पर चार राष्ट्रीय अधिकार समाप्त करने व उसका बंटवारा करने की नीति भी थी। पहले १९४६-१९४७ में एक द्विक्षेत्रीय (बाई-ज़ोनल) व्यवस्था के अंतर्गत अमरीकी व ब्रिटिश अध्यासित क्षेत्रों का एकीकरण किया गया और फिर १९४८ में फ़्रांसीसी अध्यासित क्षेत्र को भी उसमें मिला लिया गया। इस प्रकार जर्मनी का विभाजन एक सिद्ध तथ्य बना।

१९४८ के पूर्वार्ध में चारों अध्यासी राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के बीच सारे जर्मनी में मुद्रा सुधार करने के बारे में वार्ताएं चल रही थीं। किंतु २० जून को एकाएक घोषणा हुई कि तीन पश्चिमी क्षेत्रों में पृथक् मुद्रा सुधार लागू कर दिया गया है। सोवियत अध्यासित क्षेत्र में पश्चिम से अवमूल्यित पुराने मार्कों की बाढ़ आ गयी, क्योंकि यहां उनकी क्रयशक्ति अभी भी बनी हुई थी। पूर्वी जर्मनी की अर्थव्यवस्था को बचाने और मुद्रा की चोरबाजारी करनेवालों को न घुसने देने के लिए सोवियत अधिकारी सभी सड़कों पर पश्चिमी जर्मनी से आनेवाली गाड़ियों की जांच करने को बाध्य हुए। पश्चिमी अध्यासी शक्तियों ने इस जाच व्यवस्था को मानने से इंकार किया और यात्री और माल हवाई जहाज़ों से पश्चिमी बर्लिन पहुंचाने लगे। जॉन फ़ॉस्टर डलेस ने भी, जो उस समय मार्शल का सलाहकार था और आगे चलकर अमरीकी विदेश सचिव बना, स्वीकार किया था कि बर्लिन की स्थिति आसानी से सामान्य बनायी जा सकती थी। किंतु न खुद उसने, न उसके सहयोगियों ने ही, किसी ने भी इस दिशा में कोई क़दम न उठाये। अंततः मई, १९४९ में सोवियत सरकार की पहल पर विवाद को हल कर लिया गया।

इस बीच पश्चिमी राष्ट्रों ने जर्मनी का पूर्ण रूप से विभाजन कर देने के लिए अपनी कोशिशें जारी रखीं। ७ सितंबर, १९४९ को पहली पश्चिमी जर्मन संसद (बुंदेस्ताग) ने जर्मन संघात्मक गणराज्य की स्थापना की घोषणा की। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी पहली कार्रवाइयों से इस राज्य ने स्पष्ट संकेत दे दिया कि उसकी आस्था सैन्यवाद और प्रतिशोध में है। जर्मन संघात्मक गणराज्य एकमात्र देश था, जिसने दूसरे महायुद्ध के बाद विजेता राष्ट्रों द्वारा संयुक्त रूप से निर्धारित सीमाओं को चुनौती दी। उसके नेताओं ने प्रायः ऐसे आक्रामक वक्तव्य दिये, जो "द्राग नाख़ ओस्तेन" ("पूर्व की ओर बढ़ो"), "लेबेंसराउम" (वास स्थान), आदि पुराने विस्तारवादी नारों की याद दिलाते थे। १९५१ में पश्चिमी जर्मन सैन्य मशीनरी का पुनर्निर्माण शुरू हुआ और अनेक नाज़ी जनरलों को पुनः सेना में ले लिया गया। १९५५ में जर्मन संघात्मक गणराज्य उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन में भी सम्मिलित हो गया और संयुक्त राज्य अमरीका का सबसे घनिष्ठ सहयोगी बन गया।

उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) की स्थापना १९४९ में संयुक्त राज्य अमरीका की पहल पर हुई थी। तब उसके अन्य सदस्य थे ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस, बेल्जियम, हालैंड, लक्ज़ेमबर्ग,* इटली, कनाडा, नार्वे, डेन्मार्क, आइसलैंड और पुर्तगाल। बाद में १९५२ में तुर्की तथा यूनान और १९५५ में जर्मन संघात्मक गणराज्य भी उसमें सम्मिलित हुए। उत्तरी अटलांटिक गुट साम्राज्यवादी राज्यों का मुख्य सैनिक गठबंधन था। उसके नियमित अधिवेशनों में सामरिक तैयारियां बढ़ाने, सैनिक अड्डों का जाल फैलाने, आदि से संबंधित निर्णय किये जाते थे। उत्तरी अटलांटिक गुट सोवियत संघ, सारे समाजवादी शिविर और राष्ट्रीय मुक्ति तथा जनवादी आंदोलनों के विरुद्ध लक्षित था।

छठे दशक के आरंभ से संयुक्त राज्य अमरीका विश्व के अन्य भागों में भी सैनिक गुट क़ायम करने लगा। पहला "परिधीय" सैनिक गठबंधन १९५१ में प्रशांत क्षेत्र में बनाया गया, जिसका नाम आनज़्युस था। इसके सदस्य थे आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और संयुक्त राज्य अमरीका। १९५४ में नाटो की एशियाई शाखा – दक्षिण पूर्वी एशिया संधि संगठन (सीटो) – की स्थापना हुई, जिसे प्रकटत: तो "विध्वंसात्मक कार्रवाइयों" का मुक़ाबला करने के लिए बनाया गया था, मगर वास्तविक लक्ष्य राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों को कुचलना था। संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस की पहल पर निर्मित इस गठबंधन में आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, थाइलैंड, फ़िलीपीन और पाकिस्तान भी शामिल हुए। फिर १९५५ में ग्रेट ब्रिटेन, तुर्की, पाकिस्तान, ईरान और इराक़ का बग़दाद संश्रय (बगदाद पैक्ट) अस्तित्व में आया। किंतु १९५८ की क्रांति के बाद इराक़ ने उसे छोड़ दिया और गुट का मुख्यालय बग़दाद से अंकारा स्थानांतरित कर दिया गया। १९५९ से यह गठबंधन केंद्रीय संधि संगठन (सेंटो) कहलाने लगा। संयुक्त राज्य अमरीका यद्यपि औपचारिक रूप से इसका सदस्य न था, फिर भी उसे उसके सभी निकायों में प्रतिनिधित्व प्राप्त था और कोई भी निर्णय उसकी सहमति के बिना न होता था। संयुक्त राज्य अमरीका ने इन सैनिक गुटों के लगभग सभी सदस्य देशों के क्षेत्र पर अपने वायुसैनिक तथा राकेट अड्डे क़ायम किये।

प्रतिक्रियावादी विदेशनीति के साथ-साथ साम्राज्यवादी सरकारों ने अपने देशों में जनवादी शक्तियों को दबाने की नीति पर भी अमल किया। संयुक्त राज्य अमरीका में कम्युनिस्टों और अन्य "व्यवस्थाविरोधियों" के

---

* इन पांच राज्यों ने मार्च १९४८ में पहला युद्धोत्तरीय सैनिक गुट बनाया था, जिसका नाम पश्चिमी यूरोपीय संघ था।

दमन का एक लंबा दौर शुरू हुआ। जो भी प्रगतिशील, वामपंथी विचार प्रकट करता था, उसे काम से निष्कासित और अदालत के सुपुर्द कर दिया जाता था। ग्रेट ब्रिटेन में "निष्ठा परीक्षा" के फलस्वरूप अनेक सरकारी कर्मचारियों को नौकरी से हाथ धोना पड़ा। शांति आंदोलन के कार्यकर्ताओं का विशेषतः क्रूर दमन किया गया। बेलगाम कम्युनिज़्मविरोध के इस वातावरण में दमन तथा आतंक ख़ूब फूले-फले।

१६४८ और १६५१ के बीच पूंजीवादी देशों में प्रतिक्रियावादी तत्त्वों की शह पर भाड़े के क़ातिलों के हाथों मज़दूर वर्ग के अनेक प्रतिष्ठित नेताओं की हत्या हुई, जिनमें अर्जेंटीना की कम्युनिस्ट पार्टी का नेता होर्हे काल्वो और बेल्जियम कम्युनिस्ट पार्टी का प्रमुख नेता जूलियेन लहाओ भी थे। सुप्रसिद्ध इतालवी कम्युनिस्ट नेता पालमीरो तोलियात्ती की हत्या का भी प्रयास किया गया था, किंतु हत्यारे उसे गंभीर रूप से घायल ही कर पाये।

उत्तरी अटलांटिक गुट के देशों में जैसा प्रचंड युद्धोन्माद फैलाया गया, इतिहास में उसकी मिसाल खोज पाना मुश्किल है। लोगों के दिमागों में ठूंस-ठूंसकर भरा गया कि सोवियत संघ पश्चिमी यूरोप और संयुक्त राज्य अमरीका पर हमला करने ही वाला है। कुछ तेज़-तर्रार व्यवसायी तो परमाणु बमरोधी शरणस्थलों और भूमिगत होटलों, आदि का बृहद् पैमाने पर विज्ञापन भी करने लगे। साम्राज्यवादी सरकारों ने काल्पनिक सोवियत ख़तरे की आड़ में हथियारों की होड़ बढ़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। छठे दशक के आरंभ में संयुक्त राज्य अमरीका का शस्त्रास्त्रों पर होनेवाला प्रति व्यक्ति व्यय १६३८-१६३६ के मुक़ाबले दर्जनों गुना ज़्यादा था।

शक्ति संतुलन में परिवर्तन

नाटो के अमरीकी संस्थापकों ने सोचा था कि यह सैनिक गठबंधन पश्चिमी यूरोप में संयुक्त राज्य अमरीका के सैनिक व राजनीतिक नायकत्व की जड़ें मज़बूत बनाने में सहायक होगा। किंतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों अमरीकी इजारेदारियों को अपने यूरोपीय सहयोगियों के अधिकाधिक प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। पश्चिमी यूरोप पर अपना शिकंजा कसने की संयुक्त राज्य अमरीका की कोशिशों का सर्वाधिक विरोध फ़्रांस ने किया। १६६६ में उसने नाटो सैनिक संगठन छोड़ दिया और इस तरह उस संकट को प्रकट में ले आया, जो पिछले कई वर्षों से इस संगठन में अंदर ही अंदर पनप रहा था। जिस काल्पनिक सोवियत ख़तरे का सामना करने के लिए नाटो की स्थापना की गयी थी, उसकी आड़ लेकर इस संगठन के अस्तित्व को उचित

ठहराना संयुक्त राज्य अमरीका और उसके सहयोगियों के शासक हल्कों के लिए दिन प्रतिदिन कठिन होता गया। डेन्मार्क और नार्वे, कनाडा और आइसलैंड, सभी देशों में नाटो से निकल जाने की मांग ज़ोर पकड़ती गयी।

अमरीकी चंगुल से छुटकारा पाने की आकांक्षा के पीछे काफ़ी हद तक आर्थिक कारण भी थे। पिछले कुछ वर्षों से वूर्जुआ शिविर में "शक्ति संतुलन" लगातार बदला जा रहा था, जो इस बात का परिचायक था कि विश्व अर्थ-व्यवस्था में संयुक्त राज्य का महत्त्व घटता जा रहा है।

जब महायुद्ध समाप्त हुआ था, संयुक्त राज्य अमरीका का औद्योगिक उत्पादन पूंजीवादी विश्व के कुल औद्योगिक उत्पादन के ६० प्रतिशत से भी ज़्यादा था। किंतु १९४८ तक वह घटकर ५६.४ प्रतिशत ही रह गया। उस समय विजित देशों—पश्चिमी जर्मनी, इटली और जापान—का हिस्सा ७.९ प्रति-शत था। युद्धोत्तर काल के पहले पांच वर्षों के अंत में विश्व पूंजीवादी उत्पादन में अमरीका के हिस्से में पुनः गिरावट आयी और वह ५३.३ प्रतिशत ही रह गया, जबकि पश्चिमी जर्मनी, इटली और जापान का हिस्सा बढ़कर ११ प्रतिशत तक पहुंच गया। जहां तक ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस का प्रश्न है, तो १९४८-१९५० में उनका हिस्सा अपरिवर्तित ही रहा। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस के कुछ ही समय पहले हारे हुए प्रति-द्वंद्वी पुनः ताक़त जुटाने और पूंजीवादी विश्व में अपनी स्थिति मज़बूत बनाने लग गये थे। १९५८ तक पश्चिमी जर्मनी औद्योगिक उत्पादन में फ़्रांस से आगे निकल गया और १९६० में तो उसने पूंजीवादी विश्व में दूसरा स्थान भी हथिया लिया।

किंतु इससे भी ज़्यादा आश्चर्यजनक परिवर्तन विश्व पूंजीवादी मंडी में आये। युद्ध के तुरंत बाद पश्चिमी जर्मनी, जापान और इटली का निर्यात शून्य के बराबर था। दो वर्ष बाद भी वह पूंजीवादी शिविर के कुल निर्यात के २ प्रतिशत से कुछ ही ज़्यादा तक पहुंच पाया, जबकि संयुक्त राज्य का हिस्सा तब भी ३३ प्रतिशत के क़रीब बना रहा। लेकिन १९६२ के आते-आते संयुक्त राज्य का हिस्सा तो घटकर १७.३ प्रतिशत रह गया, जबकि, दूसरी ओर, भूतपूर्व विजित देशों का हिस्सा कई गुना बढ़कर १८.५ प्रतिशत तक पहुंच गया। युद्धोत्तर काल के आरंभिक वर्षों में पूंजीवादी शिविर की अर्थव्यवस्था और विदेश व्यापार में अमरीकी इजारेदारियों की प्रभुत्वपूर्ण स्थिति को चुनौती देनेवाला कोई न था। किंतु अब प्रतिद्वंद्वियों की तीव्र प्रगति ने इस शिविर के अंदर घोर प्रतिस्पर्धा के लिए आर्थिक आधार तैयार कर दिया था।

यूरोपीय वूर्जुआ देशों की अर्थव्यवस्था के समामेलन और एकीकरण की विभिन्न योजनाएं पूंजीवादी शिविर के इन्हीं अंतर्विरोधों के गहनतर बनने की एक अभिव्यक्ति थीं। १९५० में स्थापित यूरोपीय कोयला तथा इस्पात

सब पहला राज्य-एकाधिकारी संगठन था, जिसका निर्माण काफ़ी हद तक इसलिए किया गया था कि विश्व मंडी में अमरीकी ईंधन तथा धातु इजारेदारियों के विस्तार का संयुक्त रूप से मुक़ाबला किया जा सके।

यूरोपीय एकीकरण

मार्च, १९५७ में रोम में फ़ांस, इटली, जर्मन संघात्मक गणराज्य, बेल्जियम, हालैंड और लक्ज़ेमबर्ग के प्रतिनिधियों ने यूरोपीय आर्थिक समुदाय (साझा मंडी) की स्थापना के बारे में एक संधि पर हस्ताक्षर किये। उसके अनुसार छहों देशों के बीच प्रचलित सीमाशुल्क में शनैःशनैः कमी करके उसे अंततः पूरी तरह खत्म कर दिया जाना था और शेष सभी देशों के साथ व्यापार के संबंध में साझी सीमाशुल्क दरें निर्धारित की जानी थीं।

रोम संधि अमरीकाविरोधी और इंग्लैंडविरोधी थी, क्योंकि साझा मंडी की स्थापना का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्य देशों को सबसे पहले इन दो देशों की इजारेदारियों के साथ प्रतिस्पर्धा में मदद देना था। संयुक्त राज्य अमरीका ने यूरोपीय एकीकरण के प्रति दोहरा रुख़ अपनाया। एक ओर तो अमरीकी इजारेदारियां भली भांति समझती थीं कि साझा मंडी की स्थापना से खपत और कच्चे माल की मंडियों में उनके लिए नयी, गंभीर कठिनाइयां पैदा हो जायेंगी। दूसरी ओर, सभी समाजवादविरोधी शक्तियों का नेता और संगठनकर्ता होने के कारण अमरीकी साम्राज्यवाद पूर्व के विरुद्ध पश्चिम को एकजुट बनाने के नाम पर यूरोपीय एकीकरण का समर्थन करने को भी बाध्य था।

यूरोपीय बूर्जुआ राज्यों के आर्थिक समुदाय के निर्माण ने पश्चिमी यूरोप में बहुत से अंतर्विरोधों को जन्म दिया। ब्रिटेन साझा मंडी में शामिल नहीं हुआ था। उसका बूर्जुआज़ी तय नहीं कर पा रहा था कि साझा मंडी में शामिल होने के संदिग्ध लाभों को चुने या ब्रिटिश कामनवेल्थ के अंतर्गत अपने पुराने आर्थिक संबंधों को प्राथमिकता दे, हालांकि वे अब तक काफ़ी हद तक कमजोर हो चुके थे। स्वयं साझा मंडी के भीतर भी गंभीर विरोध मौजूद थे। इसकी एक मिसाल कृषि एकीकरण की समस्या थी। कृषि उत्पादों के दामों, कृषि यंत्रीकरण के स्तर, जलवायु परिस्थितियों, आदि अनेक दृष्टियों से छहों सदस्यों में काफ़ी अंतर था। उनमें से कुछ, जैसे फ़ांस, इटली और हालैंड, कृषि उत्पादों का निर्यात करते थे, जबकि बेल्जियम, जर्मन संघात्मक गणराज्य और लक्ज़ेमबर्ग को उनका आयात करना पड़ता था। अतः स्वाभाविक ही था कि १९६२ के समझौते के अनुसार किया जानेवाला क़ीमतों का एकीकरण

कतिपय देशों के कृषि ढांचे में गंभीर परिवर्तन कर देता। इन देशों में फ़्रांस भी था, जिसके हित संघात्मक जर्मनी के हितों से अकेले साझा मंडी के दायरे में ही नहीं टकराते थे। एकीकरण से होनेवाले घाटों का सारा बोझ छोटे उत्पादकों और उपभोक्ताओं पर डाला जाने लगा। इसमें इजारेदारियों का प्रभुत्व, कृषि उत्पादों की थोक ख़रीद की प्रणाली, आदि भी सहायक बने। स्थिति इतनी गंभीर बन गयी कि दक्षिणपंथी बूर्जुआ प्रेस भी उन किसानों की "मानवीय तकलीफ़ों" को अनदेखा न कर सका, जिन्हें कृषि उत्पादों की साझा मंडी के निर्माण के कारण अपनी ज़मीन से "जड़ समेत उखड़ जाने" का ख़तरा पैदा हो गया था। कृषि एकीकरण के फलस्वरूप खाद्य पदार्थों के दाम बढ़ गये। इससे अनिवार्यतः यूरोपीय पूंजीवादी देशों में वर्ग संघर्ष को और बढ़ावा मिला। इटली, संघात्मक जर्मनी, बेल्जियम तथा अन्य देशों में ज़बर्दस्त हड़तालें हुईं। फ़्रांस में किसानों के विशाल प्रदर्शन निकले।

पूंजीवादी एकीकरण नवोदित, अल्पविकसित देशों के लिए भी ख़तरा था। अब चूंकि औपनिवेशिक प्रणाली ध्वस्त हो चुकी थी और उपनिवेशस्वामी यूरोपीय देशों में से कोई भी अपने ही बूते पर मुक्ति आंदोलन के बढ़ते ज्वार को नही रोक सकता था, साझा मंडी की स्थापना उन्हें एशिया और अफ़्रीका में सामूहिक उपनिवेशवाद की नीति चलाने की संभावना देती थी। साझा मंडी के संस्थापकों ने ऐसी व्यवस्था की थी कि कतिपय अल्पविकसित देश उससे "संबद्ध" या उसके अपूर्ण सदस्य हो सकते थे, मगर उन्हें यूरोपीय उद्योगों के लिए कच्चे मालों का संभरणकर्ता फिर भी बने रहना था। इस प्रकार की "संबद्धता" के चतुर प्रचारकों ने नवोदित राज्यों के नेताओं को विश्वास दिलाया कि वे जो खनिज और कच्चे माल यूरोप को निर्यात करते हैं, उनपर सीमाशुल्क हट जाने से उन्हें लाभ होगा। किंतु "संबद्धता" का मतलब यह भी था कि जो औद्योगिक माल अफ़्रीकी व एशियाई देशों में आयात किये जाते हैं, उनपर भी सीमाशुल्क ख़त्म कर दिया जायेगा और अल्पविकसित देशों की सीमित घरेलू मंडी औद्योगिक देशों के मालों से पट जायेगी। इसीलिए कतिपय प्रमुख अफ़्रीकी नेताओं ने अफ़्रीकी देशों को साझा मंडी का समर्थन करने के ख़िलाफ़ आगाह किया था।

पूंजीवाद के आम संकट का नया दौर

युद्धोत्तर काल में साम्राज्यवाद की प्रणाली के विकास में गंभीर परिवर्तन आये। यह बात सबसे अधिक ग़ैर-साम्राज्यवादी शिविर की तुलना में उसकी स्थिति पर लागू होती है। समाजवादी देशों की बढ़ती आर्थिक व सैनिक शक्ति,

उपनिवेशवादविरोधी क्रांति की सफलताओं और विश्वव्यापी शांति संघर्ष ने साम्राज्यवादी राज्यों को उपलब्ध अवसर सीमित कर दिये थे और विश्व घटनाक्रम को प्रभावित करने की उनकी क्षमता को घटा दिया था। इन कारकों ने और साथ ही वर्ग संघर्ष और बूर्जुआ देशों के अंतर्विरोधों की वृद्धि और अस्थिर आर्थिक दशा जैसे अन्य कारकों ने मिलकर छठे दशक के उत्तरार्ध में पूंजीवाद के आम संकट के नये, तीसरे दौर का सूत्रपात किया।

पूंजीवाद के आम संकट के पहले दो दौर दो महायुद्धों से जुड़े हुए थे, किंतु यह नया दौर शांति काल में शुरु हुआ, जो इस बात की पुनः पुष्टि करता है कि मानवजाति के प्रगतिमुखी विकास के लिए, जनवाद की शक्तियों की सफलता के लिए युद्ध कतई आवश्यक नहीं है।

परमाणु ऊर्जा, इलेक्ट्रानिकी, साइबरनेटिकी, आदि क्षेत्रों में विज्ञान व प्रविधि की उपलब्धियों के फलस्वरूप विश्व इस समय एक वास्तविक वैज्ञानिक व प्राविधिक क्रांति से गुजर रहा है। किंतु जहां पूंजीवाद का बोलबाला है, वहां यह क्रांति अनियंत्रित ढंग से होती है, उद्योगों के ढांचे में कष्टकर परिवर्तनों का और विशाल संख्या में औद्योगिक मजदूरों की बेरोजगारी का कारण बनती है। उत्पादन स्वचलीकरण से पूंजीवादी देशों में बेरोज़गारी ही नहीं बढ़ती है, बल्कि जिनके पास काम है, उनके श्रम का अधिक सघनीकरण और अधिक शोषण भी होता है। किंतु इसका यह मतलब नहीं कि पूंजीवादी विश्व में उत्पादक शक्तियों के विकास की और गुंजायश नहीं है।

युद्धोत्तर काल में साम्राज्यवादी आर्थिक प्रणाली में गंभीर परिवर्तन आये। सभी उन्नत पूंजीवादी देशों में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का इजारेदारियों के हाथों में संकेंद्रण हुआ और सरकारें इजारेदारियों की ओर से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में अधिकाधिक हस्तक्षेप करने लगीं। बूर्जुआ देशों में राज्य-एकाधिकारी पूंजीवाद उत्तरोत्तर मजबूत बनता गया। फ़्रांस, इटली, जापान और जर्मन संघात्मक गणराज्य जैसे कुछ देशों में सातवें दशक में आर्थिक विकास अपेक्षया तेज़ी से हुआ, किंतु यह एक अल्पकालिक घटना ही थी और आठवें दशक का गहन आर्थिक संकट इसकी पूर्ण पुष्टि करता है। मिसाल के लिए, १९६७ में पूंजीवादी देशों में औद्योगिक उत्पादन की सकल वृद्धि दर १९६०-१९६६ के मुक़ाबले एकाएक घट गयी और केवल २.४ प्रतिशत रह गयी, जबकि १९६६ में औद्योगिक उत्पादन में ६.६ प्रतिशत वृद्धि हुई थी। इन देशों के सकल राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि दर में भी कमी हुई (१९६६ के ५ प्रतिशत के मुक़ाबले १९६७ में केवल ३ प्रतिशत)। फिर भी सातवें दशक के उत्तरार्ध में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की कठिनाइयों की एक सबसे लाक्षणिक अभिव्यक्ति वह मुद्रा संकट था, जिसकी गिरफ़्त में लगभग सभी बड़े साम्राज्यवादी देश आ गये थे। सरकारों ने उससे उबरने के लिए आपात्

क़दम उठाये, जैसे स्टर्लिंग और स्टर्लिंग क्षेत्र की अन्य मुद्राओं का अवमूल्यन, संयुक्त राज्य अमरीका में सोने की क़ीमत में वृद्धि, आदि। किंतु उनसे मुद्रा संकट का कुप्रभाव कुछ समय के लिए ही कम हो पाया। उसकी बाद में भी बारंबार पुनरावृत्ति होती रही।

परिवर्तन पूंजीवादी देशों की सामाजिक संरचना और सामाजिक शक्तियों के वर्गीकरण में भी आये। आबादी का ध्रुवीकरण और मध्यम तबक़ों का अपक्षरण बढ़ा। राज्य में वास्तविक सत्ता उत्तरोत्तर प्रमुख इजारेदारियों के हाथों में केंद्रित होती गयी और वे ही अब सरकार की नीति का निर्धारण करने लगीं।

१६६३ के अंत में जब संयुक्त राज्य अमरीका के उप विदेश सचिव एवरैल हैरीमैन ने अमरीकी कंपनियों के साथ कुछ दासतापूर्ण समझौतों को रद्द करने से संबंधित अर्जेंटीना के राष्ट्रपति के निर्णयों का क्रियान्वयन रोकना चाहा, तो अर्जेंटीना के विदेशमंत्री अलकोनादा ने उससे पूछा था कि वह अमरीकी सरकार का प्रतिनिधि है या तेल कंपनियों का। हैरीमैन का जवाब था कि उसके लिए इस सवाल का जवाब देना कठिन है, क्योंकि वे कंपनियां भी तो अमरीकी ही हैं।

किंतु बूर्जुआ देशों में वर्ग संघर्ष के बढ़ने का राज्य-एकाधिकारी पूंजीवाद के विकास पर एक निश्चित असर पड़ा। जिन देशों में क्रांतिकारी और जनवादी आंदोलन ने व्यापक एकाधिकारविरोधी गठबंधन के निर्माण के लिए आवश्यक आधार तैयार कर दिया था, वहां राज्य इजारेदारियों से कुछ हद तक स्वतंत्र था। ऐसे देशों में (मिसाल के लिए, इटली में) शासक हल्क़े अपने को स्थिति के अनुकूल ढालने और मेहनतकशों के दबाव में आकर इजारेदारियों की मनमानी के विरुद्ध क़दम उठाने को मजबूर हुए।

पूंजीवादी देशों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण पदों पर इजारेदारियों से संबद्ध सैन्यवादी हल्क़ों के प्रतिनिधि नियुक्त किये जाने की प्रवृत्ति भी बढ़ी। असल में उसकी बड़े पैमाने पर शुरुआत दूसरे महायुद्ध के समय से ही हो गयी थी। उसकी विकरालता का अनुमान इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि १६६१ के आरंभ में ह्वाइट हाउस छोड़ते हुए जनरल आइज़नहावर को अमरीका के सार्वजनिक जीवन पर सैन्य-औद्योगिक समूह के नियंत्रण की अभूतपूर्व वृद्धि के बारे में जनता को आगाह करना पड़ा था। इजारेदारियों ने प्रतिक्रियावादी उच्च सैनिक अधिकारियों के अलावा तरह-तरह की नवफ़ासिस्ट पार्टियों और चरमपंथियों, नसलवादियों, "सिरफिरों", आदि के संगठनों को भी अपना अवलंब बनाया, जो अपने देशों में कम्युनिस्टों के विरुद्ध उन्माद भड़काते थे, उन लोगों का जीना हराम बनाते थे, जो उनके विचारों से सहमत नहीं थे, और नसली दंगे करवाते थे। नवंबर, १६६३ में अमरीकी राष्ट्रपति जॉन

केनेडी की हत्या के लिए ज़िम्मेदार अमरीकी चरमपंथी और उनके सरपरस्त घोर प्रतिक्रियावादी इजारेदार ही थे।

इजारेदारियों की प्रतिक्रियावादी, जनविरोधी हरकतों के कारण मुट्ठीभर इजारेदारों और शेष सारी जनता के बीच विरोध उत्तरोत्तर बढ़ते ही गये। फलस्वरूप पूंजीवादी देशों में सर्वहारा के वर्ग संघर्ष की सफलता के लिए भी और इजारेदारियों की मनमानी के विरुद्ध तथा आम जनवादी सुधारों, शांति एवं राष्ट्रों की सुरक्षा के हेतु अधिकांश आबादी को एकजुट बनाने के लिए भी अनुकूल परिस्थितियां पैदा हुईं।

युद्धोत्तरकालीन संयुक्त राज्य अमरीका

युद्ध के बाद अर्थव्यवस्था का पुनः रूपांतरण करना, यानी उसे शांति काल की आवश्यकताओं के अनुकूल ढालना संयुक्त राज्य अमरीका के लिए टेढ़ी खीर सिद्ध हुआ। युद्धकाल में उत्पादन क्षमताओं का इतना विस्तार कर दिया गया था कि वे घरेलू मंडी की ज़रूरतों से कहीं ज़्यादा हो गयी थीं। फलस्वरूप अमरीकी उद्योग के सिर पर अतिउत्पादन का, उत्पादित माल न खपा पाने का संकट मंडराने लगा।

अपने मुनाफ़ों में कमी न आने देने के लिए बड़े कार्पोरेशनों ने मज़दूरों और फ़ार्मरों को बलि का बकरा बनाया। १९४५-१९४६ में अमरीकी कांग्रेस में दर्जनों मज़दूरविरोधी विधेयक पेश किये गये, जिनमें से कई पास भी हो गये। उन सबका एक ही उद्देश्य था – मज़दूरों और मज़दूर संगठनों के अधिकारों पर अधिकतम प्रतिबंध लगाना। १९४७ में अमरीकी कांग्रेस ने देश के सारे इतिहास में एक सबसे प्रतिक्रियावादी क़ानून पास किया। यह टफ़्ट-हार्टले क़ानून था, जिसके अनुसार न केवल कम्युनिस्टों को ट्रेड यूनियनों से निकाल दिया जाना था, बल्कि मज़दूर संगठनों का राजनीतिक संघर्ष चलाने का अधिकार भी छीन लिया जाना था। टफ़्ट-हार्टले क़ानून ने १९३५ से सारे देश में प्रचलित "संघ-पाबंद कर्मशाला" व्यवस्था को, यानी केवल ट्रेड यूनियन सदस्यों को ही काम पर लिये जाने का आग्रह करने के मज़दूरों के अधिकार को रद्द कर दिया (इस प्रश्न का हल राज्यों पर छोड़ दिया गया था) और राष्ट्रपति को अधिकार दिया कि वह किसी भी हड़ताल को अनिश्चित काल के लिए स्थगित करवा सकता है।

उदारमना अमरीकियों के विरुद्ध एक अनियंत्रित अभियान छेड़ा गया। १९४८ में विदेशी राज्य के लिए जासूसी करने के अभियोग में अमरीकी

कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं पर स्मिथ कानून के अंतर्गत, मुक़दमा चलाय गया और जेल में बंद कर दिया गया। सभी सरकारी कर्मचारियों के लिए एव विशेष जांच से गुज़रना आवश्यक बनाया गया। बहुतों को काम से निकाल भी दिया गया।

उदारपंथी बुद्धिजीवियों ने (जिनमें से अधिकांश डेमोक्रेटिक पार्टी में आस्था रखते थे) कतिपय ट्रेड यूनियनों की मदद से इस अभियान का विरोध किया और प्रोग्रेसिव पार्टी के नाम से अपना अलग दल बनाया। १९४८ के राष्ट्रपति चुनाव में नये दल ने भी अपना उम्मीदवार खड़ा किया, किंतु विजय डेमोक्रेटिक पार्टी के उम्मीदवार की हुई। हैरी ट्रूमैन का, जो १९४५ में रूज़वेल्ट की मृत्यु के बाद राष्ट्रपति बना था, कार्य-काल और चार वर्ष के लिए बढ़ गया। इस बीच संयुक्त राज्य अमरीका की आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी थी। राष्ट्रपति चुनाव के वर्ष में जो आर्थिक संकट शुरू हुआ था, उसके फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका के औद्योगिक उत्पादन में ८ प्रतिशत गिरावट आ गयी थी।

मगर कोरिया में अमरीकी हस्तक्षेप के कारण संकट देर तक जारी न रह सका। सैनिक सामग्री के दिनोंदिन बढ़ते ऑर्डरों ने अमरीकी अर्थव्यवस्था की अनेक शाखाओं में नयी जान फूंक दी थी। फिर भी शासक पार्टी को इससे कोई लाभ नहीं हुआ, क्योंकि हस्तक्षेप के विशाल पैमाने (कोरिया युद्ध में ४,५०,००० अमरीकी सैनिक, वायुसेना और एक नौसैनिक बेड़ा भाग ले रहे थे) और बहुत बड़ी संख्या में सैनिकों की मौत के कारण देशभर में असंतोष की ज़बर्दस्त लहर दौड़ गयी थी। १९५२ के चुनाव में विजय रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार जनरल आइज़नहावर की हुई, जिसने कोरिया में युद्ध समाप्त करने का वचन दिया था।

नया प्रशासन व्यावसायिक हल्क़ों और इजारेदारियों के साथ और भी घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। उनके मालिकों तथा डायरेक्टरों को सरकार में महत्त्वपूर्ण पद मिले। रिपब्लिकन सरकार ने घरेलू नीति के क्षेत्र में जो भी क़दम उठाये, जैसे १९५४ का कर सुधार, कृषि उत्पादन में कटौती, कम्युनिस्टों के विरुद्ध नयी कठोर कार्रवाइयां, आदि, वे सभी २०० घरानों – संयुक्त राज्य अमरीका के असली मालिकों – के हित में उठाये गये थे। सेनेटर मैकार्थी की अध्यक्षता में काम करनेवाली अमरीकाविरोधी कार्यकलाप जांच समिति के निदेशन में कम्युनिस्टों और प्रगतिशील लोगों की धर-पकड़ जारी रही। अमरीकी इतिहास में १९५०-१९५५ का काल बेलगाम मैकार्थीवाद का, शांतिसमर्थक विदेशनीति तथा प्रगतिशील गृहनीति के लिए लड़नेवाली प्रगतिकामी शक्तियों के क्रूर दमन का काल था। इन वर्षों में १०० से ज़्यादा कम्युनिस्ट नेताओं को लंबी-लंबी सज़ाएं देकर जेल के सीखचों के पीछे बंद

किया गया। छठे दशक में ऐसे कई विशेष क़ानून पास किये गये (जैसे मैक्कैरन क़ानून, हंफ़्री-वटलर क़ानून, आदि), जिनका असली उद्देश्य कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध लगाना था। मज़दूर वर्ग की पार्टी पर मुक़दमों के ये तमाशे सातवें दशक में भी चलते रहे। कम्युनिस्टों से मांग की गयी कि वे अपने को "अन्य राष्ट्र के एजेंट" के रूप में दर्ज करायें, किंतु एक भी पार्टी सदस्य इस उकसावे में न आया। कठिनतम परिस्थितियों में भी कम्युनिस्ट जनता के बीच काम करते रहे, विभिन्न प्रगतिशील आंदोलनों में सक्रिय भाग लेते रहे और इजारेदारियों के सर्वव्यापी दमन से दृढ़तापूर्वक जूझते रहे।

युद्धोत्तर वर्षों की एक और विशेषता थी ऐसे नये इजारेदार समूहों की शक्ति में वृद्धि, जिन्होंने १६४१-१६४५ में और कोरिया युद्ध के दौरान शस्त्रास्त्रों की सप्लाई से खूब मुनाफ़ा बटोरा था। न्यूयार्क के मॉर्गन, रॉकफ़ेलर, ड्यूपों, आदि समूहों के अलावा शिकागो, डेट्रॉयट तथा क्लीवलैंड का मध्य-पश्चिमी समूह, सैन फ़्रांसिस्को तथा लॉस एंजीलीस का दक्षिण-पश्चिमी समूह और डैलास का दक्षिणी समूह भी अब काफ़ी प्रभावशाली बन बैठे थे। हर समूह के अपने क्षेत्रीय आर्थिक हित थे और सरकारी नीतियों को प्रभावित करने की कोशिशों के पीछे उसका लक्ष्य इन्हीं हितों को सिद्ध करना होता था। सातवें दशक में दक्षिण-पश्चिमी और दक्षिणी समूहों में गठबंधन की जो प्रवृत्ति प्रकट हुई, वह इसी बात की परिचायक थी कि अमरीकी राजनीति पर प्रतिक्रियावादी शक्तियों का शिकंजा और कसता जा रहा है।

युद्धोत्तर काल में १६२६ जैसा कोई राष्ट्रव्यापी आर्थिक संकट नहीं पैदा हुआ, किंतु मंदी के कई उल्लेखनीय दौर अवश्य आये, जैसे १६४८-१६४६, १६५३-१६५४, १६५७-१६५८ और सातवें दशक के आरंभ में, जब औद्योगिक उत्पादन में १० प्रतिशत या इससे भी ज़्यादा कमी हुई। इन मंदियों और उत्पादन स्वचलीकरण के कारण ही संयुक्त राज्य अमरीका में बेरोज़गारों की संख्या कभी ३०,००,०००-४०,००,००० से कम नहीं हो पायी।

आर्थिक स्थिति बदतर होते जाने से वर्ग संघर्ष भी बढ़ा। युद्धोत्तर काल में अमरीका के इतिहास की सबसे ज़बर्दस्त हड़तालें हुईं, जिनमें भाग लेनेवालों की संख्या किसी-किसी वर्ष २०,००,००० तक पहुंच जाती थी। मज़दूर कभी आसानी से हड़ताल ख़त्म करने को तैयार नहीं होते थे। एक सबसे बड़ी हड़ताल – ५,००,००० धातुकर्म मज़दूरों की हड़ताल – तो ४ महीने तक चली और उसमें मज़दूर विजयी रहे। १६५५ में ट्रेड यूनियनों की फूट को भी ख़त्म कर दिया गया। दो ट्रेड यूनियन संघ – कोई १,००,००,००० मज़दूरों का अमेरिकन फ़ेडरेशन आफ़ लेबर (ए० एफ़० एल०) और ४०,००,००० मज़दूरों की कांग्रेस आफ़ इंडस्ट्रियल ऑर्गेनाइज़ेशंस (सी० आई० ओ०) – मिलकर एक संगठन बन गये, जो ए० एफ़० एल०-सी० आई० ओ० कहलाने

लगा। उसका नेतृत्व प्रतिक्रियावादियों के हाथों में बना रहा, किंतु एकीकरण से मज़दूर वर्ग के संघर्ष की सफलता की संभावनाएं पहले से ज़्यादा उज्ज्वल अवश्य हो गयीं।

राष्ट्रपति पद के लिए १९६० के चुनाव में विजय डेमोक्रेटिक पार्टी के उम्मीदवार जॉन केनेडी की हुई। संयुक्त राज्य अमरीका उस समय एक ऐसे तड़ित प्रहार की योजना बना रहा था, जो क्रांतिकारी क्यूबा को और इसके साथ ही किसी अन्य लैटिन अमरीकी देश द्वारा उसकी मिसाल का अनुकरण किये जाने की संभावना को भी ख़त्म कर देता। इस लक्ष्य से अप्रैल, १९६१ में संयुक्त राज्य अमरीका के क्षेत्र से क्यूबा पर एक दुःसाहसिक आक्रमण किया गया। किंतु वह नाकामयाब रहा। क्यूबाई जनता ने तीन ही दिन में आक्रमणकारियों को धूल चटा दी। क्यूबा की क्रांति को कुचलने का अगला प्रयास १९६२ के शरद में किया गया, किंतु, जैसा कि हम पूर्ववर्ती अध्याय में बता चुके हैं, उसकी वजह से एक गंभीर अंतर्राष्ट्रीय संकट पैदा हो गया। संयुक्त राज्य अमरीका को क्यूबा में शस्त्र बल द्वारा पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने का अपना विचार त्याग देना पड़ा। शस्त्र बल का स्थान अब राजनीतिक तथा आर्थिक दबाव ने ले लिया।

राष्ट्रपति केनेडी ने विश्व मंच पर शक्तियों के वास्तविक संतुलन को देखते हुए सोवियत संघ के साथ संबंध सामान्य बनाने के प्रयास किये, जिसका एक परिणाम यह निकला कि संयुक्त राज्य अमरीका के शासक हल्क़े सोवियत संघ तथा ग्रेट ब्रिटेन के साथ जल, थल और नभ में आणविक परीक्षणों पर पाबंदी से संबंधित एक संधि पर हस्ताक्षर करने को सहमत हो गये (आगे चलकर दूसरे भी बहुत से देशों ने इस संधि पर हस्ताक्षर किये)।

किंतु केनेडी प्रशासन को अधिकांश ध्यान देश की जटिल आंतरिक समस्याओं पर देना पड़ा। औद्योगिक उत्पादन का ह्रास रोकने और आर्थिक विकास तीव्र करने के लिए सातवें दशक के आरंभ में सरकार ने कर सुधार लागू किया। उसमें मुख्य ज़ोर पूंजी पर लगनेवाले करों में कमी करने पर दिया गया था, जिसका मतलब था कि आर्थिक हालत की बदतरी का सारा बोझ आम जनता पर लाद दिया गया है। फलस्वरूप देश में और भी अधिक हड़तालें हुईं।

सातवें दशक के अमरीका में नसली समस्या ने जैसा उग्र रूप धारण किया, वह सारे अमरीकी इतिहास में अभूतपूर्व था। संयुक्त राज्य अमरीका के २,००,००,००० नीग्रो निवासी नसली भेदभाव के विरुद्ध और समान आर्थिक व नागरिक अधिकारों के हेतु दृढ़तापूर्वक संघर्ष करने के लिए उठ खड़े हुए थे। शीघ्र ही काले और गोरे, सभी प्रगतिशील अमरीकियों द्वारा समर्थित यह आंदोलन देश की राजनीति का एक सबसे महत्त्वपूर्ण कारक बन गया।

सातवें और आठवें दशकों के नसली भेदभावविरोधी संघर्ष की एक विशेषता यह थी कि अब दक्षिण ही नीग्रो आंदोलन का मुख्य केंद्र नहीं रह गया – एकमात्र केंद्र होने की बात तो रही दूर। पिछले १०-१५ वर्षों में कम से कम ३०,००,००० नीग्रो उत्तरी राज्यों में आ बसे थे और यहां भी उन्हें लगभग हर जगह वैसे ही भेदभाव का सामना करना पड़ा था। नीग्रो मज़दूरों को समान काम के लिए गोरे मज़दूरों से कम वेतन मिलता था। दूसरी ओर, उनके बीच बेरोज़गारी कहीं अधिक थी। फलस्वरूप अब देश के सभी बड़े औद्योगिक नगर और राजधानी वाशिंगटन भी ज़बर्दस्त नीग्रो विद्रोहों के केंद्र बन गये। हज़ारों लोगों के प्रदर्शन, नसलवादी संगठनों की पिकेटिंग और नसली भेदभाव के लिए विशेषत: बदनाम नगरों की ओर सामूहिक कूच अब सारे ही देश में होने लगे। आंदोलन को शांत करने की कोशिश में सरकार ने कांग्रेस में नीग्रो नागरिक अधिकारों के बारे में एक विधेयक पेश किया, जिससे नसलवादी और भी बौखला उठे। उनकी राय में भेदभावविरोधी संघर्ष को बलप्रयोग द्वारा कुचल दिया जाना चाहिये था।

केनेडी की नीति कुल मिलाकर घोर प्रतिक्रियावादियों को पसंद न आयी। अमरीकी प्रेस के एक काफ़ी बड़े हिस्से ने, जिसे बड़े पूंजीपतियों से पैसा मिलता था, उसे बदनाम करने का ज़बर्दस्त अभियान चलाया। अंततः, नवंबर, १९६३ में राष्ट्रपति केनेडी की हत्या कर दी गयी। इस जघन्य कृत्य की परिस्थितियां अभी पूरी तरह प्रकाश में नहीं आयी हैं। सरकारी विवरण के अनुसार इसमें केवल एक आदमी का हाथ था, मगर ऐसे बहुत से सबूत हैं, जो दिखाते हैं कि राष्ट्रपति की हत्या के पीछे एक राजनीतिक षड्यंत्र था। नया राष्ट्रपति लिंडन जॉनसन एक राजनेता के रूप में इजारेदारियों को अधिक स्वीकार्य सिद्ध हुआ। १९६४ में नागरिक अधिकार विधेयक यद्यपि कांग्रेस द्वारा पास कर दिया गया, मगर उसके अमल में हर कदम पर रोड़े अटकाये गये। फलस्वरूप भेदभावविरोधी संघर्ष और बढ़ा और बहुत बार उसके दौरान सशस्त्र मुठभेड़ें भी हुईं, जिन्हें उकसाने में नसलवादी आतंककारियों का ही हाथ था। सातवें दशक के उत्तरार्ध में अनेक अमरीकी नगर एक ओर नसलवादियों की आतंककारी कार्रवाइयों से क्षुब्ध नीग्रो लोगों और दूसरी ओर सैनिक टुकड़ियों द्वारा समर्थित पुलिस के बीच घमासान लड़ाइयों के साक्षी बने।

ऐसी एक बड़ी लड़ाई १९६७ में केलिफ़ोर्नियाई शहर लॉस एंजीलीस में हुई, जहां की गंदी बस्तियों के निवासी अपनी रहन-सहन की परिस्थितियों में सुधार के वास्ते संघर्ष के लिए उठ खड़े हुए थे। अधिकारियों ने उन्हें दबाने के लिए सेना, टैंक, आग बरसानेवाले हथियार, आदि इस्तेमाल किये और अनेक नीग्रो मुहल्लों को ख़ाक में मिला दिया। १९६७ की टक्करों के दौरान कुल

मिलाकर १२० आदमी मारे गये, कोई ४,००० घायल हुए और लगभग १०,००० लोगों को हिरासत में लिया गया। अप्रैल, १९६८ के आरंभ में एक हत्यारे ने प्रमुख नीग्रो नेता, नोबेल शांति पुरस्कार विजेता मार्टिन लूथर किंग को मार डाला। अमरीकी नसलवादियों के इस नये अपराध से नीग्रो जनता में रोष की और भी प्रचंड लहर दौड़ गयी। १०० से अधिक अमरीकी नगर उसकी चपेट में आये। इनमें वाशिंगटन भी था, जहां संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर दी गयी। राजधानी और शिकागो, पिट्सबर्ग, बाल्टीमोर, आदि अनेक नगरों में कई मुहल्ले धू-धू करके जल रहे थे। अप्रैल के अंत में ग़रीबों ने एक विशाल वाशिंगटन कूच का आयोजन किया। उनका उद्देश्य सरकार और कांग्रेस को देश के ३,००,००,००० निवासियों की हालत में सुधार के लिए क़दम उठाने पर मजबूर करना था, जिन्हें सरकारी आंकड़े भी ग़रीबों की श्रेणी में रखते थे। कैपिटल हिल (कांग्रेस की इमारत) के सामने विशाल प्रदर्शन हुए, जिनके दौरान कूच के नेताओं ने भाषण दिये। हालांकि ये नेता शांतिमय तरीक़ों से संघर्ष चलाने में विश्वास रखते थे, अधिकारियों ने फिर भी स्थिति बिगड़ जाने के डर से कूच में भाग लेनेवालों को राजधानी छोड़ने का आदेश दिया। राजधानी के बाहर जो विशाल तंबू बस्ती खड़ी हो गयी थी, पुलिस ने उसे नष्ट कर डाला और अनेक लोगों को गिरफ़्तार कर लिया, जिनमें कूच के आयोजक भी शामिल थे।

किंतु १९६८ का "असह्य ग्रीष्म" यहीं पर समाप्त नहीं हुआ। नसलवादियों की अंधेरगर्दी के खिलाफ़ डेट्रॉयट, न्यूयार्क, बर्मिंघम, टोलेडो, आदि बहुत से नगरों में जन विद्रोह फिर भी भड़कते रहे।

उग्र नसली अंतर्विरोध ही देश में व्याप्त उत्तेजनापूर्ण राजनीतिक वातावरण के एकमात्र कारण न थे। वियतनाम में संयुक्त राज्य अमरीका के आक्रमण के विरुद्ध जनता में जो विक्षोभ बढ़ रहा था, उसने भी इसमें कम महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभायी (प्रसंगतः यह विक्षोभ भी काफ़ी हद तक नागरिक अधिकार आंदोलन से जुड़ा हुआ था)। दक्षिणी वियतनाम में एक छोटी सी ताज़ीरी फ़ौज भेजने से शुरू करके अगस्त, १९६४ में संयुक्त राज्य अमरीका वियतनामी जनवादी जनतंत्र पर निर्मम बमबारी करने पर उतर आया था और वियतनाम की धरती पर अपना आक्रमण तथा अपने सैनिकों की संख्या लगातार बढ़ाता ही जा रहा था। शस्त्रास्त्रों के मामले में कहीं बेहतर स्थिति में होने के बावजूद अमरीकी आक्रामक विजयपर्यंत लड़ने के वियतनामी जनता के संकल्प को न तोड़ सके। दक्षिणी वियतनाम की जन मुक्ति सेना आक्रामकों को जान-माल की भारी क्षति पहुंचा रही थी। उत्तरी वियतनामी विमानभेदी तोपों और राकेटों ने कई हज़ार अमरीकी विमान मार गिराये थे।

अमरीकी आक्रमण से सारे विश्व में क्रोध की प्रचंड लहर दौड़ गयी थी।

स्वय संयुक्त राज्य अमरीका में भी संघर्परत वियतनाम के समर्थन में एक व्यापक आंदोलन छिड़ गया था। अमरीका के कुल सैनिक वजट (१९६७-१९६८ के वित्तीय वर्प में ७५,००,००,००,००० डालर से अधिक) का एक अल्पांश होने के बावजूद वियतनाम युद्ध पर होनेवाला ख़र्च (१९६७-१९६८ में २५,००,००,००,००० डालर) प्रत्येक अमरीकी परिवार के वजट पर उत्तरोत्तर भारी बोझ वनता जा रहा था। अमरीकी करदाताओं का पैसा दुनिया भर में फैले अमरीकी सैनिकों तथा सैनिक अड्डों के रखरखाव पर, नाटो, सीटो, आदि आक्रामक सैनिक गुटों में अमरीका के वहुसंख्य सहयोगी देशों को आधुनिक शस्त्रास्त्र सप्लाई करने पर, समाजवादी देशों के विरुद्ध तोड़-फोड़ की कार्रवाइयों आदि पर भी खुले हाथों ख़र्च किया जा रहा था। और यह सव तव जवकि सामाजिक आवश्यकताओं, शिक्षा, ज़रूरतमंदों की मदद, आदि के वजट मे निरंतर कटौती हो रही थी।

इससे स्पष्ट है कि नागरिक अधिकार आंदोलन और वियतनाम में अमरीकी आक्रमण रुकवाने का संघर्प, दोनों क्यों आपस में इतने घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे। प्रतिक्रियावादियों को मार्टिन लूथर किंग से नफ़रत इसीलिए नही थी कि वह नीग्रो जनता के लिए समान अधिकारों की दृढ़तापूर्वक मांग कर रहा था, वल्कि इसलिए भी थी कि वह वियतनाम युद्ध का घोर विरोधी था। वियतनाम युद्ध रोकने की मांग के समर्थन में देश में अनगिनत प्रदर्शन और सभाएं हुई। सारे अमरीकी इतिहास में इतने विशाल प्रदर्शन पहले कभी नही हुए थे। अप्रैल, १९६७ के न्यूयार्क तथा सैन फ़ांसिस्को के युद्धविरोधी प्रदर्शनों में कोई ४,००,००० लोगों ने भाग लिया। हज़ारों अमरीकी नौजवानों ने वियतनाम में अमरीका के दुस्साहसपूर्ण युद्ध का विरोध करने के लिए सेना में सेवा करने से इंकार कर दिया। अनेक सैनिकों ने विदेशों में राजनीतिक शरण ले ली। सरकार ने दमन का सहारा लिया, पर युद्धविरोधी आंदोलन को न कुचल सकी, जो दिनोंदिन वढ़ता ही जा रहा था।

वियतनाम में आक्रमण की विफलता, अमरीका में और विदेशों में इस आक्रमण के विरुद्ध व्यापक आंदोलन और अमरीका की प्रतिष्ठा का ह्रास ही वे मुख्य वातें थी, जिनके कारण १९६८ के चुनाव में राष्ट्रपति की गद्दी डेमोक्रेटिक पार्टी से छिनकर रिपब्लिकन पार्टी के हाथ में चली गयी। रिचर्ड निक्सन संयुक्त राज्य अमरीका का नया राष्ट्रपति वना। केनेडी द्वारा उठाये गये क़दमों की वदौलत डेमोक्रेटिक पार्टी ने जो राजनीतिक प्रभाव अर्जित किया था, वह उसकी हत्या के वाद पूरी तरह ख़ाक में मिल गया। रिपब्लिकन पार्टी ने चुनाव अभियान के दौरान वचन दिया था कि वह वियतनाम में युद्ध रोक देगी। किंतु यह वचन सत्ता में आने के चार वर्ष वाद जनवरी, १९७३ में जाकर ही पूरा किया गया।

युद्धोत्तरकालीन ग्रेट ब्रिटेन

युद्धोतरकाल में यूरोप के प्रमुख पूंजीवादी देशों – ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस तथा जर्मन संघात्मक गणराज्य – में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये। औपनिवेशिक प्रणाली के विघटन के कारण ब्रिटेन अब इस विशाल साम्राज्य का स्वामी नहीं रह गया था जिसमें कुछ ही समय पहले तक विश्व की एक चौथाई आबादी रहती थी। ब्रिटिश बूर्जुआज़ी अपने भूतपूर्व उपनिवेशों पर अपना आर्थिक प्रभाव बनाये रखने में तो काफ़ी हद तक सफल रहा, मगर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उसका स्थान व प्रभाव अब वह न रहा, जो कि पहले था। अमरीकी ऋणों, मार्शल योजना में सहभागिता और साथ ही अमरीकी परमाणविक एकाधिकार ने संयुक्त राज्य अमरीका पर ग्रेट ब्रिटेन की निर्भरता में उल्लेखनीय वृद्धि कर दी थी।

युद्ध ख़त्म ही हुआ था कि ब्रिटिश बूर्जुआज़ी को ब्रिटिश मज़दूर वर्ग और अन्य मेहनतकश तबक़ों के हाथों ज़बर्दस्त मात खानी पड़ी। विंस्टन चर्चिल की सारी लोकप्रियता के बावजूद कंसर्वेटिव पार्टी जुलाई १९४५ के संसदीय चुनावों में विजयी न हो सकी और सत्ता लेबर पार्टी के हाथों में आ गयी। लेबर पार्टी ने आश्वासन दिया था कि वह अर्थव्यवस्था की सभी मुख्य शाखाओं का राष्ट्रीयकरण करेगी, कुछ निश्चित सामाजिक सुधार लागू करेगी और सोवियत संघ के साथ सहयोग के संबंध बनाये रखेगी। लेबर पार्टी के नेताओं और प्रधानमंत्री पद पर चर्चिल के उत्तराधिकारी क्लीमेंट एटली का सभी आश्वासनों को पूरा करने का कोई इरादा न था, फिर भी लाखों मज़दूरों और दफ़्तरी कर्मचारियों के दबाव के कारण उसे कुछ आश्वासन पूरे करने ही पड़े। इस तरह १९४८ में बैंक आफ़ इंग्लैंड, कोयला, गैस तथा धातुकर्म उद्योगों, रेलवे, नदी जहाज़रानी और सड़क माल परिवहन का राष्ट्रीयकरण किया गया।

ये सभी प्रगतिशील क़दम थे और ब्रिटिश मज़दूरों ने उनका स्वागत भी किया। किंतु लेबर सरकार ने आगे कोई क़दम नहीं उठाये और १९५१ में जब संसदीय चुनावों में वह हार गयी और कंसर्वेटिव पुनः सत्ता में आ गये, तो पता चला कि ८० प्रतिशत उद्योग फिर भी ज्यों के त्यों पूंजीपतियों के हाथों में थे। इसके अलावा, राष्ट्रीयकरण मुख्यतः पुराने उद्यमों का, यानी मालिक जिनका स्वयं अपने ही साधनों से आवश्यक नवीकरण नहीं कर सकते थे, उनका किया गया था। इन शाखाओं का जनता के ख़र्च पर नवीकरण पूंजीपति वर्ग के एक काफ़ी बड़े हिस्से के हित में था, क्योंकि विश्व मंडी में ब्रिटिश उद्योगों की प्रतिस्पर्धा-क्षमता बहुत हद तक देश की कोयला खानों, ऊर्जा संयंत्रों और परिवहन साधनों की हालत पर निर्भर करती थी। इसके

अलावा राष्ट्रीयकृत उद्यमों के मालिकों को अपने पुराने उद्यमों के लिए अच्छा-खासा मुआवज़ा – २,५०,००,००,००० पाउंड – भी मिल गया था।

लेबर सरकार शनैःशनैः अपनी पार्टी के आम सदस्यों का विश्वास खोती गयी। इसके कारण थे उसकी ढुलमुल गृहनीति और विदेश नीति का रुझान, जो कि लगभग पूरी तरह अमरीकी साम्राज्यवादियों की आक्रामक नीति का दुमछल्ला बन गयी थी। और तो और लेबर सरकार अमरीका के कोरियाई दुस्साहस का साथ देने से भी नहीं झिझकी। १९५० के चुनावों में पार्टी कई स्थानों पर हार गयी। १९५१ में एटली ने नये चुनावों का जोखिम मोल लिया और लेबर पार्टी इस बार बुरी तरह हारी। इसके लिए काफ़ी हद तक उत्तरदायी आर्थिक कठिनाइयां थीं, जैसे १९४७ और १९५१ का ईंधन संकट, विदेश व्यापार में घाटा और औद्योगिक उत्पादन में बार-बार गिरावट। कंसर्वेटिवों ने पुन. चर्चिल के नेतृत्व में सरकार बनायी (१९५५ में चर्चिल के स्थान पर एंथनी ईडन आया)।

कंसर्वेटिव सरकार गृहनीति को उल्टी दिशा में नहीं मोड़ सकती थी, यानी उद्योगों का विराष्ट्रीयकरण और लेबर सरकार द्वारा लागू की गयी सामाजिक बीमा प्रणाली का ख़ात्मा नहीं कर सकती थी। किंतु मेहनतकशों के रहन-महन के स्तर पर हमलों में उसने बूर्जुआज़ी का साथ अवश्य दिया। चर्चिल और उसके उत्तराधिकारियों ने ब्रिटिश बूर्जुआज़ी की लक्ष्य-सिद्धि के लिए अंतर्राष्ट्रीय तनाव से भरपूर लाभ उठाया और देश की आर्थिक कठिनाइयों, उत्पादन के सैन्यीकरण, आदि से संबंधित सभी ख़र्चों का बोझ मज़दूर वर्ग के कंधों पर डाला।

१९५१-१९६३ की अवधि में कंसर्वेटिव सरकारों ने शस्त्रास्त्रों पर कोई २०,००,००,००,००० पाउंड व्यय किये। परमाणु अस्त्रों के विकास में भी बहुत धन लगाया गया।

१९५६ में फ़्रांस तथा इज़रायल की सरकारों के साथ मिलकर ईडन सरकार ने स्वेज़ नहर क्षेत्र पर पुनः ब्रिटिश अधिकार जमाने के लिए मिस्र पर हमला किया (कुछ ही महीने पहले मिस्र ने स्वेज़ का राष्ट्रीयकरण कर दिया था)। किंतु हमला विफल रहा। इसका श्रेय काफ़ी हद तक ब्रिटिश मज़दूर वर्ग को था, जिसने कंसर्वेटिवों की आक्रामक नीति का सक्रिय विरोध किया था। १९५७ के आरंभ में हैरोल्ड मैकमिलन प्रधानमंत्री बना।

कंसर्वेटिव सरकार की नीतियां बड़े पूंजीपतियों के हितों की रक्षा करती रही। अतः आश्चर्य की बात नहीं कि देश में वर्ग संघर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता और प्रचंड बनता गया। एक के बाद एक करके अनेक राष्ट्रव्यापी हड़तालें हुईं, जैसे इंजीनियरी उद्योग के मज़दूरों की हड़ताल (१९५५), रेलवे मज़दूरों की हड़ताल (१९५५), पोत-निर्माण और इंजीनियरी उद्योगों के मज़दूरों

की हड़तालें (१९५७)। इन्होंने दिखाया कि मज़दूर अपनी सामाजिक उपलब्धियों पर किसी भी तरह आंच न आने देंगे। स्थानीय चुनावों और ट्रेड यूनियन संस्थाओं के चुनावों में कम्युनिस्टों की महत्त्वपूर्ण सफलताओं ने मज़दूर वर्ग में वामपंथी रुझान बढ़ने का परिचय दिया।

कंसर्वेटिवों ने सरकार में बार-बार परिवर्तन करके मज़दूरों के असंतोष को कम करना चाहा। १९६३ के अंत में प्रतिरक्षा सचिव से संबद्ध एक भ्रष्टाचार के मामले को इतना उछाला गया कि मैकमिलन को त्यागपत्र देना पड़ा। उसके स्थान पर अलेक डगलस ह्यूम प्रधानमंत्री बना। अक्तूबर, १९६४ के संसदीय चुनावों में तेरह वर्ष के अंतराल के बाद विजय पुनः लेबर पार्टी को प्राप्त हुई। प्रधानमंत्री पद हैरोल्ड विल्सन ने संभाला। किंतु नयी सरकार को सदन में चूंकि नगण्य बहुमत ही मिला था, इसलिए उसने उस नीति को ठुकरा दिया, जिसपर चलने का वायदा विल्सन ने, जो पहले विपक्ष में लेबर पार्टी के वामपंथी धड़े का समर्थक माना जाता था, और दूसरे लेबर नेताओं ने मतदाताओं से किया था। कोई १८ महीने बाद लेबर नेताओं ने संसद में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए मध्यावधि चुनाव करवाने का फ़ैसला किया। चुनाव से पहले पेंशनों में थोड़ी-बहुत वृद्धि, मकान किरायों पर आंशिक नियंत्रण जैसे कतिपय सामाजिक सुधार लागू किये गये, ताकि जनता की सहानुभूति प्राप्त की जा सके।

१९६६ के संसदीय चुनावों में लेबर पार्टी को शानदार सफलता मिली। उसे विपक्षी पार्टियों के मुक़ाबले ९७ स्थान ज़्यादा प्राप्त हुए। अब वह बेधड़क उस कार्यक्रम को लागू कर सकती थी, जो उसने चुनाव अभियान के दौरान पेश किया था और जिसके लिए लाखों ब्रिटिश मेहनतकशों ने उसे अपना मत दिया था। किंतु ऐसा हुआ नहीं। लेबर सरकार की नीति की आलोचना, विशेषतः मध्यावधि चुनावों के बाद, उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। उसका निशाना मुख्यतया वे क़दम बने, जो सरकार ने "अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ीकरण" के लिए उठाये थे। इन क़दमों में सबसे महत्त्वपूर्ण था वेतन जामबंदी। इसके साथ ही सरकार ने हड़तालें करने के अधिकार पर रोक लगाने की कोशिश भी की, हालांकि हड़तालों का होना अब अनिवार्य ही था।

लेबर सरकार की नीतियों से ब्रिटेन की आर्थिक कठिनाइयां और भी बढ़ीं। औद्योगिक उत्पादन या तो जहां का तहां रुका रहा या गिरता गया। १९६५ के अंत से १९६७ के अंत तक बेरोज़गारों की संख्या में ७० प्रतिशत वृद्धि हुई। इन सब कठिनाइयों की एक सबसे ज्वलंत अभिव्यक्ति देश पर छाया हुआ गंभीर मुद्रा संकट भी था। उसके पीछे कतिपय वस्तुपरक कारण तो थे ही, जैसे औपनिवेशिक साम्राज्य का न रहना, औपनिवेशिक शोषण से होनेवाली आमदनी का घटते जाना और ब्रिटेन के उद्योगों का अपने अपेक्षाकृत

पिछड़ेपन के फलस्वरूप विदेशी मंडियों में प्रतिस्पर्धा में न टिक पाना। किंतु एक सबसे बड़ा कारण ब्रिटेन के शासक हल्क़ों की राजनीतिक लाइन भी थी, जो टोरियों के सत्ताच्युत हो जाने के बाद भी नहीं बदली थी। यह बात सबसे पहले विभिन्न आक्रामक गुटों में ब्रिटेन की सक्रिय सहभागिता पर लागू होती थी, जिसकी वजह से उसका सैनिक व्यय उसकी क्षमता से कहीं ज़्यादा बढ़ गया था (१९६६-१९६७ में २,११,५०,००,००० पाउंड)। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में भी ब्रिटेन के शासकों की नीति संयुक्त राज्य अमरीका के शासक हल्कों की आक्रामक नीति की पिछलग्गू बनी हुई थी। वे वियतनामी जनता के विरुद्ध अपराधपूर्ण युद्ध जारी रखने, पश्चिम जर्मनी को परमाणु अस्त्र से लैस करने तथा समाजवादी देशों की एकता में फूट डालने की संयुक्त राज्य अमरीका की नीति का समर्थन कर रहे थे।

ब्रिटेन का बहुत बड़ा सैनिक बजट उसकी अर्थव्यवस्था पर जबर्दस्त बोझ था, हालांकि उसके लिए यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण था कि वह अन्य देशों के साथ अपना भुगतान शेष संतुलित बनाये रखे। १९६७ में अरब देशों पर इज़रायल के हमले के फलस्वरूप स्वेज़ नहर का बंद होना पाउंड स्टर्लिंग के लिए गंभीर आघात सिद्ध हुआ। स्वेज़ नहर बंद होने और अरब-इज़रायली युद्ध के अन्य परिणामों की वजह से ब्रिटेन को रोज़ाना १०,००,००० पाउंड की हानि होने लगी। नवंबर, १९६७ के अंत में ब्रिटिश सरकार ने डालर की तुलना में पाउंड का मूल्य १४.३ प्रतिशत घटाने की घोषणा की। इससे पहले ब्रिटिश शासक हल्क़ों ने यूरोपीय साझा मंडी में शामिल होकर भी अपनी कठिनाइयों को कम करना चाहा था। किंतु फ़्रांस ने पुनः अपने निषेधाधिकार का प्रयोग किया। कारण यह दिया गया कि ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका के बीच "विशेष संबंध" हैं और ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की अस्थिरता तथा उसकी खाद्य पदार्थों तथा कच्चे मालों के आयात पर अत्यधिक निर्भरता साझा मंडी देशों की अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती हैं। पाउंड के अवमूल्यन से निर्यात में वृद्धि के रूप में ब्रिटेन को कुछ लाभ तो हुआ, किंतु उसकी आर्थिक कठिनाइयां फिर भी हल न हो पायीं और वह उन्हें ज़्यादा न बढ़ने देने के लिए अंतर्राष्ट्रीय बैंकों से बड़े पैमाने पर ऋण लेता रहा।

विल्सन सरकार की गृह तथा विदेश नीतियों से लेबर पार्टी के सदस्यों में गंभीर मतभेद पैदा हुए। फ़रवरी, १९६७ में संसद में जब सैनिक बजट पर विचार हो रहा था, तो शासक दल के ६२ सदस्यों ने सरकार के विरोध में मत दिया। सितंबर, १९६७ में ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने ब्रिटिश लेबर आंदोलन के इतिहास में पहली बार लेबर सरकार की घरेलू तथा विदेश नीतियों की आलोचना की। अनेक स्थानीय चुनावों और संसदीय उपचुनावों में लेबर पार्टी की भारी पराजय हुई, जो उसकी लोकप्रियता के ह्रास का

परिचायक था। विल्सन तथा उसके अनुयायियों ने रोडेशियाई नसलवादियों के संबंध में, जिन्होंने नीग्रो आबादी को देश के शासन में भाग लेने से रोकने के लिए रोडेशिया को स्वतंत्र घोषित कर दिया था, जो रवैया अपनाया, उससे भी लेबर पार्टी की प्रतिष्ठा को बड़ी ठेस पहुंची। नसलवादी स्मिथ शासन के विरुद्ध बल प्रयोग न करने की स्पष्ट घोषणा करके उन्होंने सारे विश्व को जता दिया कि ब्रिटेन के शासकों की सहानुभूति किसके साथ है।

खोया प्रभाव पुनः प्राप्त करने की कोशिश में विल्सन की सरकार ने १९६७ में वेतन जामबंदी की जगह पर "स्वैच्छिक पाबंदी" की नीति घोषित की। उसी वर्ष इस्पात उद्योग का राष्ट्रीयकरण करके १४ बड़ी इस्पात कंपनियों को राज्य के नियंत्रण में ले लिया गया। शर्तें वे ही रहीं, जो कि १९४८ में थीं। किंतु विल्सन सरकार की नीतियों की वजह से लेबर पार्टी की साख को जो ज़बर्दस्त क्षति पहुंची थी, ये क़दम भी उसकी पूर्ति न कर पाये। वियतनाम में शांति की स्थापना के लिए और ब्रिटेन के शासक हल्क़ों द्वारा अमरीकी आक्रामकों को दिये जा रहे समर्थन के विरुद्ध ब्रिटिश जनवादियों का सक्रिय संघर्ष दिखाता था कि देश में कितना गंभीर असंतोष व्याप्त है।

ग्रेट ब्रिटेन की जनवादी शक्तियों ने उत्तरी आयरलैंड (अल्स्टर) में प्रोटेस्टेंटों – स्थानीय आबादी के विशेषाधिकारप्राप्त भाग – और कैथोलिकों के झगड़े के संबंध में लेबर मंत्रिमंडल द्वारा अपनायी गयी नीति की भी कटु आलोचना की। दो संप्रदायों के इस झगड़े के पीछे गंभीर सामाजिक कारण थे। अक्तूबर, १९६८ में दोनों संप्रदायों के बीच पहली बार रक्तपातपूर्ण मुठभेड़ें हुईं। ब्रिटिश सरकार ने कैथोलिक अल्पसंख्यकों की न्यायसंगत मांगों को मानने से इंकार करके और उत्तरी आयरलैंड में तैनात अपने सैनिकों की संख्या बढ़ाकर वास्तव में इस धार्मिक कलह को बढ़ावा ही दिया। बाद में अल्स्टर में जो गृहयुद्ध शुरू हुआ, उसमें ब्रिटिश शासकों ने प्रोटेस्टेंट प्रतिक्रियावादियों का खुलकर समर्थन किया।

युद्धोत्तरकालीन फ़्रांस

फ़्रांस ने, जिसे चार साल लंबे फ़ासिस्ट क़ब्ज़े और विशी के राजद्रोही शासन को झेलना पड़ा था, महायुद्ध की समाप्ति पर अपने को नितांत जटिल राजनीतिक स्थिति में पाया। प्रतिरोध आंदोलन में, जिसके प्राण कम्युनिस्ट थे, भाग लेनेवाले विभिन्न घटक मूलगामी सामाजिक-आर्थिक सुधारों और, सर्वप्रथम, बैंकों, लौह धातु उद्योग, ऊर्जा उद्योग और कोयला खानों के राष्ट्रीयकरण की मांग कर रहे थे। साथ ही कम्युनिस्ट पार्टी और समाजवादी पार्टी के अधिकांश सदस्य एक ऐसी जनवादी सरकार की स्थापना के लिए



मंयुक्त राज्य अमरीका के युवाजन स्कूलों में रंगभेद के विरोध में प्रदर्शन कर रहे हैं

प्रयत्नशील थे, जो शासन-सूत्र संभालकर प्रगतिशील गृह और विदेश नीति का अनुसरण कर सकें। कम्युनिस्ट समाजवादियों के साथ कार्य-एकता को दृढ़ करने के उपाय ढूंढ़ रहे थे।

देश की एक दूसरी बड़ी राजनीतिक शक्ति थी जनरल दे गॉल से संबद्ध प्रतिरोध आंदोलन के बूर्जुआ अंशक, १९४४ के अंत में स्थापित कैथोलिक बूर्जुआ दल – लोक गणराज्य आंदोलन (एम० आर० पी०) – और पुरानी रेडिकल तथा रेडिकल सोशलिस्ट पार्टियां, जो अखाड़े में उतर आयी थीं। इन सबके नेतागण कम्युनिस्टविरोधी रुख अपनाये हुए थे और किन्हीं भी बड़े परिवर्तनों से भय खाते थे।

देश की राज्य-प्रणाली और भावी संविधान को लेकर उनके बीच तीक्ष्ण संघर्ष छिड़ गया। इससे पहले कि, आखिर, नये संविधान का अंगीकरण हो पाता (अक्तूबर, १९४६), एक साल के ही अंदर संविधाननिर्मात्री सभा के दो चुनाव और तीन राष्ट्रव्यापी जनमतसंग्रह करवाने पड़े। नये संविधान में फ्रांसीसी जनता की आधारिक जनवादी उपलब्धियों की संपुष्टि हुई। राजनीतिक संग्राम के गतिक्रम से प्रकट हो गया कि व्यापक श्रमिक जनों में कम्युनिस्ट पार्टी की प्रतिष्ठा कितनी गहरी है। १९४६ में एक चौथाई से अधिक, यानी

५५,००,००० मतदाताओं ने कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवारों के पक्ष में वोट दिये। इतने वोट किसी भी दूसरी पार्टी को नहीं मिले।

तीन वर्ष (१९४४-१९४७) कम्युनिस्ट फ़्रांस के इतिहास में प्रथम बार सरकार में रहे। उनकी सक्रिय सहभागिता से बड़े बैंकों, कोयला उद्योग, कई मोटर व विमान कारखानों, बड़े और मंझोले आकार के बिजलीघरों तथा गैस कंपनियों को राष्ट्रीयकृत किया गया। कम्युनिस्टों ने सरकार के अंदर तथा उसके बाहर भी अर्थव्यवस्था की बहाली करने और श्रमिक जनता का जीवन-निर्वाह बेहतर बनाने के लिए बड़ी सरगर्मी से काम किया। वे युवा मज़दूरों की छुट्टियां, नौकरी से निवृत्त वृद्धों की पेंशनें और अपंगों के भत्ते बढ़वाने में सफल हुए। बूर्जुआज़ी कम्युनिस्टों को सरकार से हटाने पर उतारू था। मई, १९४७ में प्रतिगामी हल्क़े समाजवादी प्रधानमंत्री प० रमादिये की सहायता से इस लक्ष्य को पाने में कामयाब हो ही गये।

कम्युनिस्टों के सरकार से हट जाने के बाद जनवादी शक्तियों की बहुत सी उपलब्धियों पर पानी फिर गया। उदाहरण के लिए, कतिपय राष्ट्रीयकृत कारख़ाने फिर से निजी कंपनियों के स्वामित्व में आ गये और मज़दूर प्रतिनिधियों को राष्ट्रीयकृत उद्यमों के प्रबंध-कार्यालयों से निकाल बाहर किया गया। १९४८ में फ़्रांस भी अमरीकी मार्शल योजना में शामिल हुआ, जिससे संयुक्त राज्य अमरीका पर उसकी निर्भरता और भी गंभीर हो गयी। दिसंबर, १९४६ से हिंदचीन में छिड़ी औपनिवेशिक लड़ाई के कारण भी, जहां फ़्रांसीसी इजारेदारियां अपने बोलबाले को बलात् पुनःस्थापित करना चाहती थीं, इस निर्भरता में लगातार वृद्धि होती जा रही थी।

देश का औद्योगिक उत्पादन बढ़ता जा रहा था। १९५१ में वह १९२९ के स्तर पर पहुंच गया। यह वृद्धि बहुत कुछ मज़दूर वर्ग के बढ़ते शोषण का ही फल थी। उत्पादन के अपेक्षया तीव्र विकास का एक कारण विश्व मंडी में – कुछ अर्से के लिए ही सही – जर्मन फ़र्मों का हट जाना भी था, जो युद्ध से पूर्व फ़्रांसीसी ट्रस्टों की घोर प्रतिस्पर्धी थीं। साथ ही, फ़्रांस के उत्पादन में कई बार गंभीर मंदी भी आयी।

१९५४ में हिंदचीन में शिकस्त खाकर फ़्रांसीसी साम्राज्यवाद उसी वर्ष एक नयी औपनिवेशिक लड़ाई – अल्जीरिया की लड़ाई – में जा फंसा। यह लड़ाई सात साल तक चली और हज़ारों जानें ले गयी। उसने अरबों फ़्रैंक ख़ाक में मिला दिये। इधर मज़दूर वर्ग आर्थिक तथा राजनीतिक लक्ष्यों को लेकर अपना सरगर्म संघर्ष भी बढ़ाता जा रहा था। मज़दूरी बढ़ाने की ज़ोरदार मांगों के साथ-साथ, जो दामों के मुक़ाबले में अधिकाधिक पिछड़ती ही जा रही थी, असंख्य सुसंगठित एवं दृढ़संकल्प हड़तालों में भाग लेनेवाले औपनिवेशिक युद्धों तथा शस्त्रास्त्रों की होड़ का भी विरोध कर रहे थे। मज़दूर वर्ग तथा

अन्य श्रमजीवी श्रेणियों के प्रयास व्यर्थ नहीं गये। फलस्वरूप, कई मज़दूर श्रेणियों की तनख्वाह में ५-१५ प्रतिशत बढ़ोतरी हुई। कई पराजयें खाकर और कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा मार्गदर्शित व्यापक जनसमुदाय की अविराम युद्ध-विरोधी कार्रवाइयों से विवश होकर सरकार को हिंदचीन का युद्ध ख़त्म करना ही पड़ा।

छठे दशक में एक पर एक आनेवाली सरकारों में सामान्यतः पादरी वर्ग से संबद्ध लोक गणराज्य आंदोलन दल (एम० आर० पी०), रेडिकल सोशलिस्ट और समाजवादी पार्टी के प्रतिनिधि ही शामिल होते थे। जनरल दे गॉल, जो देश को आज़ाद करने के बाद राष्ट्रपति रहा था, १९४६ से औपचारिक रूप से सक्रिय राजनीति से अलग हो गया था। किंतु अपने समर्थकों की पार्टी–फ़्रांस की लोक पार्टी (आर० पी० एफ़०) –के साथ उसका गहरा संपर्क फिर भी बना हुआ था। यह पार्टी कतिपय बड़े पूंजीपतियों से संबंधित थी।

दक्षिणपंथी राजनीतिक तबक़ों में अल्जीरिया की लड़ाई में फ़्रांसीसी सेनाओं की पराजयों और १९५६ के शरद में मिस्र गणराज्य में किये सशस्त्र हस्तक्षेप की विफलता से असंतोष फैला हुआ था। मई, १९५८ में यह आक्रोश एक विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ, जिसके पीछे अल्जीरिया में तैनात फ़्रांसीसी सेना के अफ़सरों और फ़्रांसीसी मूल के निवासियों के एक भाग का हाथ था।

कम्युनिस्ट पार्टी ने देश की समस्त जनवादी शक्तियों को एकजुट करके प्रतिगामी विद्रोहियों का मुक़ाबला करने के प्रयास किये। इस निर्णायक घड़ी में समाजवादी और बूर्जुआ पार्टियों ने जनरल दे गॉल को याद किया तथा उसे सब पार्टियों के ऊपर रखना चाहा। १ जून, १९५८ को राष्ट्रीय सभा ने दे गॉल को राष्ट्रपति के पद पर नियुक्त कर दिया। इस प्रकार चतुर्थ गणराज्य का अवसान और पंचम गणराज्य की स्थापना हुई। उसी वर्ष नया संविधान लागू किया गया, जिसके अनुसार फ़्रांस के राष्ट्रपति को सर्वोच्च अधिकार दिये गये और संसद का कार्यक्षेत्र सीमित किया गया। नये संविधान के साथ स्वीकृत चुनाव क़ानून ने दो दौरवाली चुनाव प्रणाली (उन मामलों को छोड़कर जब प्रथम दौर में ही उम्मीदवार को आधे से ज़्यादा वोट मिल जाते हों) लागू की। पार्टियों की गुटबंदी दूसरे दौर में जाकर ही जायज़ थी। इससे दक्षिणपंथी पार्टियों के लिए कम्युनिस्टों के विरुद्ध चुनाव गठबंधन बनाना सुगम हो गया। पहले चुनावों में कम्युनिस्ट पार्टी को इसके बावजूद कि उसे लगभग ४०,००,००० वोट मिले थे, राष्ट्रीय सभा में केवल १० सीटें प्राप्त हो सकीं।

दिसंबर, १९५८ में दे गॉल फ़्रांसीसी गणराज्य का राष्ट्रपति चुना गया। १९६६ में उसका दोबारा इस पद के लिए निर्वाचन हुआ। आर्थिक क्षेत्र में सरकार के प्रयास फ़्रांसीसी इजारेदारियों के विदेश-व्यापार के संरक्षण

की ओर लक्षित थे। इस प्रयोजन से उत्पादन व पूंजी के संकेंद्रण को यथासंभव प्रोत्साहित किया गया, ताकि इजारेदारियों की आर्थिक क्षमता को बूर्जुआ जगत की सर्वाधिक विशाल कंपनियों के स्तर पर पहुंचाया जा सके। यही प्रक्रिया कृषि के क्षेत्र में भी देखी जा सकती थी, जिसके परिणामस्वरूप १९५४-१९६७ की अवधि में देश की देहाती आबादी में ३० प्रतिशत से भी अधिक कमी हुई।

सातवें दशक में वर्ग संघर्ष अनवरत रूप से तीव्र होता गया। अंशतः यह बढ़ती महंगाई के कारण था, जिसके अनुरूप वेतन-वृद्धि करने के लिए उद्यमपति किसी भी भांति तैयार न थे। मज़दूरों ने अल्पकालिक हड़तालें आयोजित करके, जो देश की सभी प्रभावशाली ट्रेड यूनियनों की सुसंगत कार्रवाइयों की बदौलत संभव होती थीं, इजारेदारियों के मनमानेपन का प्रतिरोध किया। मसलन, १९६६ के मई और अक्तूबर में चौबीस-चौबीस घंटे की दो हड़तालें हुईं। समग्रतः इस साल हड़ताल आंदोलन का ज़बर्दस्त उत्कर्ष हुआ (१९६५ के ९,८०,००० श्रम-दिन की निस्बत इस साल ३०,००,००० से भी अधिक श्रम-दिनों की हानि हुई)।

वैयक्तिक तानाशाही का सामना कर रही शक्तियों में एकता का अभाव, जो पंचम गणराज्य के आरंभिक काल के लिए लाक्षणिक था, शनैः शनैः कम होता गया। १९६५ में ग़ैर-कम्युनिस्ट वामपंथी संगठनों – समाजवादी पार्टी, रेडिकल सोशलिस्टों, जनवादी एवं समाजवादी प्रतिरोध गठबंधन, आदि – ने समाजवादी तथा जनवादी वामपंथी शक्तियों का संघ नामक गुट बनाया। कम्युनिस्ट पार्टी और संघ के बीच जो वार्ताएं शुरू हुईं, उनसे पता चला कि कतिपय प्रमुख राजनीतिक प्रश्नों को लेकर दोनों के दृष्टिकोण एक दूसरे के बहुत समीप हैं। दिसंबर, १९६६ में वे सहमत हुए कि मार्च, १९६७ के लिए निर्धारित प्रतिनिधि सभा चुनावों के संग्राम में वे एक सामान्य कार्यनीति का अनुकरण करेंगे।

दोनों पक्ष इस बारे में भी सहमत हुए कि दूसरे दौर में वे एक दूसरे के उन उम्मीदवारों को समर्थन देंगे जिन्हें दत्त निर्वाचन-क्षेत्र में पहले दौर में अधिक वोट मिलेंगे।

फलतः वामपंथी शक्तियों की भारी सफलता सुनिश्चित हो गयी। फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी की सफलता तो और भी प्रभावोत्पादक थी, जो इजारेदारियों की सर्वशक्तिमत्ता को सीमित करने (आधारभूत उद्योग-शाखाओं, बड़े बैंकों, बीमा कंपनियों का राष्ट्रीयकरण, इत्यादि समेत) और जनता की व्यापक संप्रभुता स्थापित करने का कार्यक्रम पेश करके चुनाव लड़ रही थी। उसे पूर्ववर्ती चुनावों की अपेक्षा १०,००,००० अधिक वोट और सभा में ३२ सीटें उपलब्ध हुईं। इस प्रकार संसद में सरकारी बहुमत न्यूनतम हो गया। तिस

पर भी सरकार संसद से एक निश्चित समय के भीतर क़ानून की हैसियत रखनेवाले अध्यादेश जारी करने का विशेषाधिकार हासिल करने में समर्थ हुई। इस अधिकार से लाभ उठाकर सरकार ने १९६७ में जो सामाजिक बीमा सुधार लागू किया, उससे बीमा की शर्तें बदतर हुई, दरों में गिरावट आयी और पेंशन पर जाने की आयु को ऊंचा कर दिया गया, आदि। कुल मिलाकर, इन सब उपायों के फलस्वरूप श्रमिक जनता ३,००,००,००,००० फ्रैंक की राशि से वंचित हुई।

पंचम गणराज्य की विदेशनीति भी उलझी-उलझायी बनी रही। अनेक वर्ष पहले अल्जीरियाई जनता के विरुद्ध जो निरर्थक और अन्यायपूर्ण लड़ाई शुरु की गयी थी, वह केवल १९६२ में जाकर ही समाप्त हुई। अल्जीरिया को अब स्वाधीन घोषित कर दिया गया।

परंतु इसके बावजूद फ़्रांसीसी सरकार ने संयुक्त राज्य अमरीका पर आर्थिक तथा राजनीतिक निर्भरता से, जो चतुर्थ गणराज्य का एक विशेष लक्षण थी, निजात पाकर विश्व अखाड़े में देश की प्रतिष्ठा बढ़ा ली थी। ऐसी नीति का सबसे ज्वलंत प्रमाण था फ़्रांस द्वारा नाटो सैनिक गुट से संबंध-विच्छेद किया जाना, जिसके बारे में फ़्रांसीसी सरकार ने १९६६ में ऐलान किया। फ़्रांस की इच्छानुसार देश में तैनात अमरीकी और कनाडा की सैनिक टुकड़ियां तथा सब हेड क्वार्टर, अड्डे और गोदाम १ अप्रैल, १९६७ तक फ़्रांस से हटा दिये गये। प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर फ़्रांस की स्वतंत्रता इस बात में भी प्रकट हुई कि फ़्रांस ने वियतनाम में अमरीकी दख़लंदाज़ी और अरब देशों पर इज़रायल के हमले, दोनों की भर्त्सना की और उनकी फ़ौजों को अधिकृत क्षेत्रों से हटाये जाने पर बल दिया।

फ़्रांसीसी सरकार ने सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशों के साथ अपने संबंध सुदृढ़ करने और यूरोप में सैनिक गुटों का निर्मूलन करने की सुसंगत नीति भी बरती। उसने बार-बार घोषित किया कि वह पोलैंड और जर्मन जनवादी जनतंत्र की परस्पर सीमा को अंतिम एवं निर्विवाद समझती है।

तीक्ष्ण भीतरी विषमताओं ने, जो कई महीनों से उग्रतर होती जा रही थीं, १९६८ के वसंत और ग्रीष्म में ऐसे ज़बर्दस्त वर्ग संघर्ष का रूप ग्रहण कर लिया, जिससे फ़्रांस लंबे अर्से से अनभिज्ञ था। इन घटनाओं का आरंभ मई के शुरू में सोर्बोन विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों द्वारा अपनी दूभर माली हालत और विश्वविद्यालय की इमारतों व उपकरणों के आधुनिक उच्च शिक्षा के अनुकूल न होने, आदि के विरोध में किये गये प्रदर्शनों से हुआ था। पुलिस के हस्तक्षेप की वजह से, जिसने विश्वविद्यालय पर अधिकार जमा लिया था, प्रदर्शन और भी उग्र बन बैठे। पुलिस के साथ मुठभेड़ों में एक हज़ार से अधिक लोग हताहत हुए। १३ मई को मज़दूर वर्ग ने विद्यार्थियों के साथ सहानुभूति

के प्रतीकस्वरूप में चौवीस घंटे की हड़ताल कर दी और उच्च शिक्षा के जनवादी सुधार तथा विद्यार्थियों पर ज़ोरज़बर्दस्ती बंद करने की मांग की। साथ ही मज़दूर स्वयं अपनी मांगें भी पेश करने लग गये। १६ मई को रेनो मोटर फ़र्म के कारख़ानों में एक हड़ताल शुरू हुई, जो बढ़ते-बढ़ते सैकड़ों अन्य कार-ख़ानों में भी फैल गयी और आख़िर एक अभूतपूर्व सर्वव्यापी हड़ताल में परिणत हो गयी, जिसमें आम श्रमिक संघ और दूसरे ट्रेड यूनियन केंद्रों के आह्वान पर १,००,००,००० से अधिक मज़दूरों ने भाग लिया। कई जगह मज़दूरों ने उद्यमों को क़ब्ज़े में ले लिया और वहां कठोरतम व्यवस्था बनाये रखी। हड़तालियों की मांगों में सामाजिक बीमा व्यवस्था में सरकार द्वारा किये गये परिवर्तनों की मंसूख़ी, उजरत और पेंशन में बढ़ोतरी, श्रम-दिन का छोटा किया जाना, उत्पादन-क्षेत्र में ट्रेड यूनियनों के अधिकारों की पूर्ण मान्यता जैसी मांगें शामिल थीं। संग्राम के घटनाक्रम से उसका राजनीतिक अंतर्य – वैयक्तिक तानाशाही का विरोध – स्पष्टतः प्रकट होता जा रहा था। हड़ता-लियों ने आदर्श राजनीतिक चेतना, अनुशासन और ऐक्य प्रदर्शित किया था ; अव्यवस्था भड़काने पर उतरे आतंकवादियों को सख़्त जवाब दे दिया जाता था।

आम हड़ताल ज्यों-ज्यों व्यापक होती गयी, देश की परिस्थिति उतनी ही नाज़ुक बनती गयी। सरकार हताश हो उठी : दे गॉल ने आरंभ में कुछ सुधारों का वादा किया, जिनको लेकर जून के मध्य में मतसंग्रह किया जाना था, मगर फिर इस योजना से इन्कार कर दिया और सेना के उच्चाधिकारियों के साथ मंत्रणा करने के बाद संसद को भंग कर दिया तथा २३ जून के लिए नये चुनाव निर्धारित किये। टैंक और मोटोराइज़्ड टुकड़ियों ने पेरिस को घेर लिया। सैनिक गुप्त संगठन (ओ० ए० एस०) के भूतपूर्व सरग़नों को क्षमादान प्रदान करके जेलों से रिहा कर दिया गया और घोर दक्षिणपंथी गंठजोड़ों के देश छोड़कर चले गये नेताओं (बिदो, आदि) को उनके समर्थकों के वोट पाने की प्रत्याशा से फ़्रांस लौट आने की इजाज़त दे दी गयी। इसी के साथ-साथ दे गॉल ने सरकार में हेर-फेर करके उससे अधिकतर अलोकप्रिय कारकूनों को हटा दिया और उनके स्थान पर अपनी पार्टी के वाम पक्ष के प्रतिनिधि नियुक्त किये।

चुनावों की तैयारियों के दौरान बूर्जुआ पार्टियों ने कम्युनिस्टों के विरुद्ध अंधाधुंध प्रचार चलाया कि विद्यार्थियों की हलचलों के वक़्त हुई रक्तरंजित मुठभेड़ों के लिए वस्तुतः उत्तरदायी वामपंथी, माओवादी तत्त्व नहीं, बल्कि कम्युनिस्ट थे। इसके अतिरिक्त आम हड़ताल से जनित अभावों से भी लाभ उठाया गया, हालांकि हड़ताल के इतने दिनों तक जारी रहने के लिए स्वयं उद्यममालिक ही दोषी थे, जिन्होंने मज़दूरों की मांगें लिये ट्रेड यूनियन केंद्रों के प्रतिनिधियों से मिलने से इन्कार कर दिया था। फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी तथा समाजवादी और जनवादी

वामपंथी शक्तियों के संघ ने चुनावों के दूसरे दौर में एक दूसरे के उम्मीदवारों को समर्थन देने पर सहमत होकर बड़े बूर्जुआज़ी के हमलों का सामना किया। फिर भी जनवादविरोधी चुनाव-प्रणाली, जिसके अनुसार केवल वे उम्मीदवार ही चुने समझे जाते हैं, जिन्हें सर्वाधिक वोट प्राप्त हुए हों, मंझोले तवक़ों को "कम्युनिस्ट हौवा" दिखाकर डराने-धमकाने तथा चुनाव-अभियान के अल्पकालिक होने के कारण बूर्जुआज़ी ने अपना उल्लू सीधा कर ही लिया। शासक पार्टी और उससे गठबंधन किये हुए "स्वतंत्र गणराज्यवादियों" ने अधिक वोट जीत लिये। पहले दौर में कम्युनिस्ट पार्टी ने ४४,३३,००० वोट जीतकर अपनी स्थिति बरकरार रखी, किंतु नयी संसद में केवल ३४ प्रतिनिधि भेज सकी, जबकि १९६७ में उसके ७३ प्रतिनिधि थे। समाजवादी और जनवादी वामपंथी शक्तियों के संघ की हालत इससे भी बदतर रही – उसे ११८ सीटों के बदले केवल ५७ सीटें ही मिल पायीं। संसद में दे गॉल के पक्षपातियों की स्थिति और भी सुदृढ़ हुई।

फिर भी मई, १९६८ में फैले आम आंदोलन के पैमाने से भयभीत होकर इजारेदारियां और सरकार रिआयतें देने के लिए विवश हुईं। मेहनताना सर्वत्र १३-१५ प्रतिशत बढ़ाया गया। मज़दूरों को ट्रेड यूनियनों के अधिकारों का उल्लंघन न किये जाने और विद्यार्थियों को शिक्षाप्रणाली सुधारने के वायदे दिये गये। किंतु दे गॉल की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंच चुकी थी और अप्रैल, १९६९ में फ़्रांस के नये प्रादेशिक विभाजन के प्रश्न पर हुए मतसंग्रह में हार खाकर उसने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया। इस प्रकार फ़्रांस में वैयक्तिक सत्ता प्रणाली का अंत हो गया।

जर्मन संघात्मक गणराज्य

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, हिटलरशाही की पराजय के बाद भी जर्मनी के पश्चिमी भाग का पूर्ण जनवादीकरण न हो पाया था। जर्मन संघात्मक गणराज्य की स्थापना सितंबर, १९४९ में हुई थी और लंबे अर्से के लिए शासन की बागडोर बड़े बूर्जुआज़ी की पार्टी – क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक यूनियन (सी० डी० यू०) – के हाथों आ गयी थी। पादरी क्षेत्रों से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई यह पार्टी जनता का समर्थन प्राप्त करने में सफल हुई, किंतु इसके नेता प्रतिक्रियावादी विचारमना लोग थे। क्रिश्चियन डेमोक्रेट नेता के० एडनावर १४ वर्ष तक देश का चांसलर रहा। विदेशनीति की भांति अंदरूनी नीति के क्षेत्र में भी शासक पार्टी पश्चिम राष्ट्रों के अध्यासी अधिकारियों के साथ सक्रिय रूप से सहयोग करती रही।

सरकारी गठबंधन में फ़्री डेमोक्रेटिक पार्टी भी शामिल थी, जो मुख्यतया

हल्के और विधायन उद्योग, व्यापार तथा समुद्री नौ-परिवहन से संबद्ध बूर्जुआज़ी का हितसाधन करती थी। जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी (सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी), जिसका मेहनतकशों और बुद्धिजीवियों के एक भाग पर बड़ा प्रभाव था, सत्ता के लिए संघर्ष के मामले में क्रिश्चियन डेमोक्रेटों की प्रतिद्वंद्वी थी।

पश्चिम जर्मनी में इजारेदार गुटों का उन्मूलन करने के बारे में मित्रराष्ट्रों के निर्णयों की निष्पत्ति नहीं की गयी। फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में बड़ी इजारेदारियों (५,००,००,००० मार्क से अधिक पूंजीवाली) का अंश युद्धपूर्व काल की निस्वत दोगुना हो गया; १९६१ में कुल शेयर पूंजी के ७० प्रतिशत भाग पर उनका अधिकार था। १५० थैलीशाह अर्थव्यवस्था के तीन चौथाई भाग का नियंत्रण करते थे। ग्राम में छोटी खेतीवाले किसानों का दरिद्रीकरण हो रहा था।

सरकार और पश्चिमी अध्यासी अधिकारियों द्वारा देश के जनवादीकरण को ताक़ पर रखा जाना बहुत से उग्र हिटलरवादियों की दण्डमुक्ति और कम्युनिस्टों पर किये जानेवाले अत्याचारों में विशेष रूप से प्रकट हुआ। १९५६ में कम्युनिस्ट पार्टी पर पाबंदी लगा दी गयी, जब कि इस बीच अनेक भूतपूर्व नाज़ी महत्त्वपूर्ण सरकारी पद संभाले हुए थे। १०४ भूतपूर्व जनरलों और फ़ासिस्ट सेना के हज़ारों अफ़सरों के सेना की नौकरी में वापस आने के बाद पश्चिम जर्मनी की पृथक् सेना भी बनायी जाने लगी। बहुत से हिटलरवादी राजनयिक सेवा में तथा अदालतों में नियुक्त किये गये।

पश्चिम जर्मनी का आर्थिक विकास इटली के अलावा अन्य सभी पश्चिमी देशों और यहां तक कि अमरीका से भी द्रुत गति से हो रहा था। औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से उसने शीघ्र ही संसार भर में दूसरा स्थान प्राप्त कर लिया। इसका कारण यह था कि देश की पराजय और युद्ध-जनित तबाही का बहाना बनाकर जर्मन बूर्जुआज़ी ने मज़दूरों की उजरत को काफ़ी निम्न स्तर पर रखा हुआ था और फलस्वरूप इजारेदार मुनाफ़ों तथा औद्योगिक पूंजी-निवेश तथा विश्व मंडी में जर्मन उद्योग की प्रतिस्पर्धा-क्षमता में अपूर्व वृद्धि हुई। अपेक्षया निम्न उज़रत स्तर बरकरार रखने में एक करोड़ से अधिक उन जर्मनों ने भी योग दिया था, जो अधिकृत क्षेत्र लौटा दिये जाने के बाद स्वदेश वापस आ गये थे और कोई भी काम करने के लिए राज़ी थे।

पश्चिम जर्मनी के द्रुत विकास का एक और कारण था अमरीका द्वारा प्रदत्त भारी वित्तीय सहायता, जो पश्चिम जर्मनी को यूरोप में अपनी नीति तथा सोवियतविरोधी साज़िशों का गढ़ बना देखना चाहता था। पश्चिम जर्मनी के अर्थतंत्र को अपने प्रतिस्पर्धियों के मुक़ाबले एक लाभ इस बात का भी रहा कि १९५५ के पहले उसपर सैनिक व्ययों, अर्थात् अनुत्पादक व्ययों का लगभग कोई भार नहीं था।

देश के नाटो गुट में प्रवेश के वाद आरंभ हुए सैन्यीकरण ने अर्थव्यवस्था को ही नहीं, वरन समाज के सभी क्षेत्रों को अपनी लपेट में ले लिया। १९५६ में अनिवार्य सैनिक सेवा लागू की गयी और १९६५ तक ५,००,००० की सेना वन चुकी थी, जो औपचारिकतः तो नाटो के अधीन समभी जाती है, किंतु व्यवहार में पूरी तरह पश्चिमी जर्मन सैन्यवादियों के नियंत्रण में स्थित है।

देश भर में 'साम्राज्यिक सैनिक संघ', 'निर्वासितों का संघ' और ऐसे अन्य संगठन सक्रिय थे, जो प्रतिशोध का प्रचार करते हुए पड़ोसी देशों के साथ जर्मनी की युद्धोपरांत कायम सीमाओं के पुनरीक्षण और सामान्यतः दूसरे महायुद्ध के परिणामों पर पुनर्विचार की खुले आम मांग करते थे।

चांसलर के० एडनावर का पद भूतपूर्व वाइस-चांसलर और अर्थमंत्री एल० एरहार्ड द्वारा संभाल लिये जाने के वाद देश-विदेश में यह आशा पैदा हुई कि अव सरकारी नीति में परिवर्तन अवश्यभावी हैं। किंतु नये चांसलर के कार्यकलाप से शीघ्र ही पता चल गया कि पुरानी नीति जैसी की तैसी बनी रहेगी, अर्थात् वड़ी पूंजी के स्वार्थों की रक्षा, जनवादी स्वतंत्रताओं का दमन, प्रतिशोधवादी महत्त्वाकांक्षाएं और परमाणु अस्त्र हासिल करना।

एरहार्ड संघात्मक जर्मनी की अपूर्व आर्थिक सफलता के दौर में सत्तारूढ़ हुआ था। अतः उसने इस सफलता को सैद्धांतिक आधार देने का प्रयास किया। उसने कहा कि पश्चिमी जर्मनी में "सभी के कल्याण" के लिए "सामाजिक स्थिरता" कायम हो गयी है। किंतु इस प्रस्थापना का वास्तविकता से कोई मेल नही था।

१९६५ के वाद से औद्योगिक उत्पादन की विकास-दर मंद होने लगी (१९६६ में वृद्धि-दर मात्र १.३ प्रतिशत थी) और १९६७ में गंभीर मंदी भी आ धमकी। फ़रवरी, १९६७ में देश में ७,००,००० लोग वेरोज़गार थे। वर्गीय विरोधाभास तीव्र होने लगे। शासक गठवंधन क्रिश्चियन-डेमोक्रेटिक यूनियन व क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी (सी० डी० यू०-सी० एस० पी०) की प्रतिष्ठा घटने लगी, जिससे पार्टी के नेतागण में एरहार्ड के प्रति असंतोष वढ़ने लगा। विदेशनीति की विफलताओं – जर्मन प्रश्न पर सरकारी नीति की प्रभावहीनता, परमाणु अस्त्र पाने में विफलता (इस प्रश्न पर नाटो तक ने विरोध किया), फ़्रांस के साथ संवंधों का विगड़ना, जो ओडर-नीस की सीमा का समर्थन करता था, इत्यादि – के लिए भी एरहार्ड को दोषी ठहराया गया था।

१ दिसंवर, १९६६ को जो मिली-जुली सरकार वनी थी, इसमें क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक यूनियन, क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी तथा सामाजिक-जनवादी पार्टी के प्रतिनिधि शामिल हुए। चांसलर का पद क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक यूनियन के दक्षिणपंथी नेता ग० कीसिन्गेर ने संभाला था। जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी का अध्यक्ष विली ब्रांट वाइस-चांसलर और विदेशमंत्री वना; नयी

सरकार के सदस्यों में क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी का अध्यक्ष ड० श्त्राउस भी आ गया था, जो कई साल पहले एडनावर सरकार में युद्धमंत्री था और जिसके कार्यकलाप के कारण एक उग्र राजनीतिक विवाद खड़ा हो गया था।

मिली-जुली सरकार को बढ़ती आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा (१९६७ में औद्योगिक उत्पादन में २.५ प्रतिशत का घाटा हुआ था)। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर सैन्यीकरण का घातक प्रभाव पड़ा था। १९६७ में पश्चिम जर्मनी का प्रत्यक्ष सैन्य व्यय १९,७०,००,००,००० मार्क, यानी कुल बजट का लगभग २५ प्रतिशत था। इसके अलावा, पश्चिम जर्मनी में तैनात नाटो की विदेशी फ़ौजों तथा सीमा रक्षक रिज़र्व टुकड़ियों (जिन्हें शासक हल्के सेना का अंग बनाना चाहते थे) के रख-रखाव के लिए प्रतिवर्ष ५,००,००,००,००० से अधिक मार्क व्यय करना पड़ता था। अपने परमाणु तथा राकेट-निर्माण उद्योग में भी विपुल साधन लगाये जा रहे थे, ताकि अल्पसमय में ही परमाणु अस्त्रों का उत्पादन शुरू किया जा सके।

जैसी कि आशा की जाती थी, इस "महागठबंधन" में प्रमुख शक्ति क्रिश्चियन डेमोक्रेट ही सिद्ध हुए और वे कई अलोकप्रिय निर्णय करवाने में समर्थ रहे। इनमें तथाकथित असाधारण क़ानून सर्वाधिक उल्लेखनीय है, जिसको लेकर एरहार्ड सरकार के दिनों में ही संग्राम शुरू हो गया था। सारांश यह कि शासक हल्के १९३३ में सत्ता पर आये नाज़ियों की ही भांति संसद – बुंदेस्ताग – के क्षेत्राधिकार को यथासंभव सीमित करने पर तुले थे, ताकि परिस्थिति के उग्र होने पर स्वेच्छा से कोई भी क़दम उठा सकें। असाधारण क़ानून के मसविदे में जनता को सभी जनवादी अधिकारों से वंचित कर देने और सरकार को सर्वाधिकार से संपन्न करने का प्रावधान था। मसविदे में बताया गया था कि कोई भी क़दम उठाने का पूर्वाधार है या नहीं, इसका निर्णय सरकार खुद करेगी।

श्रमिक जनता ने आम आंदोलन चलाकर इन क़ानूनों के अंगीकरण का विरोध किया। उसकी अगुआई जर्मन ट्रेड यूनियन, यानी देश के प्रगतिशील मोर्चे के एक प्रमुख दस्ते ने की थी। मई, १९६६ में आयोजित ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने ऐलान किया कि श्रमिक लोग संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों की रक्षा के लिए कृतसंकल्प हैं। बहुत से उदारमना बुद्धिजीवियों, प्रख्यात वैज्ञानिकों (जैसे एम० बोर्न, दार्शनिक के० यास्पर्स, आदि) ने असाधारण क़ानून का अनुमोदन रोकने के लिए फैले आंदोलन का साथ दिया। बावजूद इसके, मई, १९६८ में बुंदेस्ताग ने असाधारण क़ानूनों का अनुमोदन कर ही दिया।

सरकार द्वारा नवनाज़ीवाद के खतरे, जो सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में खास तेज़ी से बढ़ा था, के प्रति अपनाये गये रुख से भी जनवादी तबक़ों में असंतोष की लहर दौड़ी। पहले से अस्तित्वमान छिटपुट नवफ़ासिस्टवादी

सगठनों ने १९६४ में मिलकर नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी बना ली थी, जो नाजियों की ही भांति बेलगाम अंधराष्ट्रवादी प्रचार करती थी और नाना प्रकार के "समदेशी समाजों" व दूसरे प्रतिशोधकारी गिरोहों को प्रोत्साहन देती थी। कई आम संगठन, सर्वोपरि ट्रेड यूनियनों ने नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी पर प्रतिबंध लगाने की बार-बार मांग की, किंतु इन मांगों को ठुकरा दिया जाता था। शासक हल्क़ों द्वारा प्रवर्तित सामरिक तैयारियों और जनवाद-विरोधी उपायों के विरुद्ध छिड़े आंदोलन का एक प्रमाण तथाकथित ईस्टर तीर्थयात्राएं थी, जिनमें आबादी की सब श्रेणियों ने हिस्सा लिया था (१९६६ की ईस्टर यात्रा में १,३०,००० और १९६७ में १,५०,००० लोग शरीक थे)। उनके नारे थे: "सैन्य व्ययों में कमी करो!", "असाधारण क़ानून रद्द करो!", "वियतनामी युद्ध समाप्त हो!", "नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी पर पाबंदी लगाओ!"

पश्चिम जर्मनी के कर्णधार अभी भी अपनी पुरानी विदेशनीति का अनुसरण कर रहे थे, जिसके मुख्य मुद्दे थे: युद्धोपरांत सीमाओं को अपरिवर्तनीय मानने से इन्कार, जर्मन राष्ट्र का "एकमात्र प्रतिनिधि" होने का दावा, दो संप्रभु जर्मन राज्यों के अस्तित्व को मान्यता न देना और परस्पर संबंध सामान्य बनाने से कतराना। किंतु ऐसी नीति, जो पूर्णतः निराधार और समय के तक़ाज़े के विरुद्ध थी, के दिन लद गये प्रतीत हो रहे थे। १९६९ में शासन की बागडोर ब्रांट की सरकार के हाथों में आ गयी, जिसमें प्रमुख भूमिका सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी निभाने लगी। नयी सरकार ने अपनी विदेश-नीति को यूरोप की सातवें दशक के अंत की परिस्थितियों के अनुकूल बनाया, जो तनाव-शैथिल्य के लिए सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के अथक प्रयासों के फलस्वरूप पैदा हुई थीं। संघात्मक जर्मनी ने सोवियत संघ, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया और जर्मन जनवादी जनतंत्र के साथ संधियां संपन्न कीं, जिनकी बदौलत यूरोपीय वातावरण उल्लेखनीय रूप से सुधर गया। देश के अंदर भी शासक हल्क़ों को कम्युनिस्टों के कार्यकलाप पर लगा प्रतिबंध हटाने की जनमत की मांग के आगे झुकना पड़ा। फलतः १९६८ में जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई, जिसने थोड़े ही समय के भीतर बड़ी ख्याति अर्जित कर ली।

युद्धोत्तरकालीन इटली

युद्धोत्तर काल में इटली ने लंबा कंटकमय मार्ग तय किया है। युद्ध की समाप्ति पर उसकी अर्थव्यवस्था तबाह हुई पड़ी थी। देश में बेरोज़गारी फैली थी और अधिकांश आबादी अभावग्रस्त थी। फ़ासिज़्म का उन्मूलन, जो देश

पर आंग्ल-अमरीकी सेनाओं के प्रभुत्व के समय हुआ था, समाज की सामाजिक-आर्थिक विरचना के मूलगामी पुनर्गठन का कारण नहीं बन पाया।

प्रतिरोध आंदोलन में जुटकर लड़नेवाली जनवादी शक्तियां, सर्वप्रमुख, मज़दूर वर्ग और उसकी पार्टियां – कम्युनिस्ट तथा समाजवादी – प्रगतिशील सुधारों के कार्यान्वयन पर ज़ोर दे रही थीं। इस परिस्थिति में धनी वर्गों ने १९४४ में स्थापित क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टी पर दांव लगाया। कैथोलिक पादरी लोगों का समर्थन पाकर यह पार्टी एक प्रभावशाली राजनीतिक धड़ा बन गयी थी। उसका नेता दे गस्पेरी आठ वर्ष तक सरकार का प्रधान बना रहा। प्रथम युद्धोत्तर वर्षों में क्रिश्चियन डेमोक्रेटों को सरकार में कम्युनिस्टों तथा समाजवादियों को भी जगह देनी पड़ी थी। मज़दूर पार्टियों के प्रतिनिधि कई महत्त्वपूर्ण निर्णयों को कार्यरूप दिला सके, जैसे ज़मींदारों की अकृष्ट भूमि उपयोग के लिए भूमिहीन किसानों को दिया जाना, बढ़ता वेतनमान लागू करना, ट्रेड यूनियनों की रज़ामंदी के बग़ैर नौकरी से बर्ख़ास्तगी पर पाबंदी।

कम्युनिस्ट तथा समाजवादी पार्टियों की कार्य-एकता राजतंत्र के निर्मूलन के लिए इतालवी जनता के सफल संघर्ष की एक सर्वप्रमुख शर्त थी। जून, १९४६ में सार्वजनिक मतसंग्रह के फलस्वरूप इटली गणराज्य बन गया।

अमरीकी साम्राज्यवादियों ने देश के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने हेतु युद्ध के बादवाली कठिनाइयों का फ़ायदा उठाया। अपनी "सहायता" के एवज़ में उन्होंने सरकार से मज़दूर प्रतिनिधियों को निकलवाने की मांग की। आख़िर, कई दांव-पेंचों के बाद मई, १९४७ में दे गस्पेरी ने क्रिश्चियन डेमोक्रेटों का एकदलीय मंत्रिमंडल स्थापित कर लिया। बाद में सरकार में गणराज्यवादी और दक्षिणपंथी समाजवादी भी शामिल हुए, जिन्होंने समाजवादी पार्टी से नाता-विच्छेद कर अपनी अलग पार्टी का गठन किया (१९५२ से वह इतालवी सामाजिक-जनवादी पार्टी कहलाने लगी)।

फिर भी दिसंबर, १९४७ में स्वीकृत संविधान जनसमुदाय के प्रयासों की बदौलत सभी बूर्जुआ संविधानों में एक सर्वाधिक प्रगतिशील संविधान था। उसने न केवल सामान्य जनवादी स्वतंत्रताओं को संपुष्ट किया, बल्कि श्रम, सामाजिक सुरक्षा और शिक्षा के अधिकार भी उद्घोषित किये। नये इतालवी संविधान ने फ़ासिस्ट पार्टी की पुनःस्थापना को वर्जित किया और प्रदेशों को स्वायत्त शासन प्रदान किया; उसमें बड़े उद्योग के राष्ट्रीयकरण और उत्पादन-प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता की व्यवस्था भी शामिल थी। फ़रवरी, १९४७ में हस्ताक्षरित शांति-संधि ने भी इटली के युद्धोत्तरकालीन इतिहास में सकारात्मक भूमिका अदा की। उसकी तैयारी में सोवियत संघ की

सहभागिता से संधि में ऐसे मुद्दे शामिल किये जा सके, जो इटली के शांतिमय तथा जनवादी विकास के लिए आवश्यक थे।

अप्रैल, १९४८ में युद्ध के बाद प्रथम बार संसद के चुनाव हुए। बहुमत (१,२०,००,००० वोट) क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टी को प्राप्त हुआ; ८,१००,००० वोट कम्युनिस्टों तथा समाजवादियों के पक्ष में पड़े। यह ऐसा समय था जब देश में वर्ग संघर्ष उत्थान पर था, जब एक के बाद दूसरी हडतालें हुआ करती थीं और हज़ारों किसान ज़मींदारियों पर क़ब्ज़ा कर लेते थे। जुलाई, १९४८ में एक नवफ़ासिस्ट गिरोह के गुर्गे ने इतालवी मज़दूरों के लब्धप्रतिष्ठ नेता प० तोल्याती को बुरी तरह घायल कर दिया। इस कुकृत्य से इटली भर के श्रमिक जन आंदोलित हो उठे। इसके प्रत्युत्तर में हुई तीन दिन की हड़ताल में ७०,००,००० लोगों ने भाग लिया। देश के चंद इलाक़ों में संत्रस्त अधिकारी सत्ता को मज़दूर प्रतिनिधियों के सुपुर्द करने लगे।

किंतु दक्षिणपंथी शक्तियों को ज्यों ही संभलने का मौक़ा मिला, उन्होंने प्रत्याक्रमण शुरू कर दिया और इसमें उन्हें संयुक्त राज्य अमरीका की भरपूर सैनिक तथा आर्थिक सहायता मिली। १९४८ के ग्रीष्म में इटली की सरकार ने देश को मार्शल योजना का सदस्य बनाया और अप्रैल, १९४९ में प्रतिक्रियावादी नाटो गुट में सम्मिलित होने के करार पर हस्ताक्षर किये। श्रमिकों के जनवादी अधिकारों के विरुद्ध कई क़ानून पास किये गये। किंतु वर्ग संग्राम का ज्वार अभी इतना प्रचंड था कि शासक हल्क़ों को कुछ रिआयतें भी देनी पड़ी। इनमें एक था कृषि सुधार, जिसके अनुसार १९५०-१९५१ में किसानों को १५,००,००० हैक्टर ज़मीन मिली।

१९५३ के चुनावों ने दिखाया कि देश वाम की तरफ़ अग्रसर हो रहा है। कम्युनिस्टों और समाजवादियों के पक्ष में एक करोड़ वोट पड़े, अर्थात् उतने ही जितने क्रिश्चियन डेमोक्रेटों के पक्ष में। सत्ता की बागडोर अभी क्रिश्चियन डेमोक्रेटों के हाथों में ही बनी रही। फिर भी देश में जो रूपांतर हो रहे थे, उनका राजनीतिक क्षेत्र पर भी प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था।

छठे दशक में देश ने तेज़ी से आर्थिक उत्कर्ष किया और १९६१ तक औद्योगिक उत्पादन युद्धपूर्व स्तर से दोगुना हो गया। इतालवी बूर्जुआ वर्ग सुदृढ़ हुआ, पर आर्थिक उभार के वर्षों में उसने अपने पारंपरिक संघाती – दक्षिणी प्रदेशों के भूपतियों को खो दिया, जिन्होंने कृषि सुधार से नाराज़ होकर उससे किनाराकशी कर ली थी। निम्न तथा मध्यम बूर्जुआज़ी, जो ट्रस्टों के शिकंजे में परेशान था, अधिकाधिक इजारेदारविरोधी बनता गया। आख़िर, इतालवी कम्युनिस्टों की लचीली कार्यनीति व रणनीति की बदौलत तीव्र औद्योगिक उन्नति के काल में भी मज़दूर आंदोलन न केवल संकुचित नहीं हुआ, बल्कि और भी फलता-फूलता गया।

कम्युनिस्ट पार्टी ने "समाजवाद की तरफ़ इटली का पथ" नामक कार्यक्रम निरूपित किया, जिसमें मुख्य बल समाजवाद संग्राम तथा समाज के जनवादीकरण संग्राम के बीच गहन परस्पर संबंध पर दिया गया था। कम्युनिस्ट देश में नया जनवादी बहुमत जीतने, जनता के हित में आमूल सुधार लागू करने के लिए प्रयत्नशील थे। इस नीति के अच्छे परिणाम निकले: १६५८ तथा १६६३ के संसदीय चुनावों में कम्युनिस्ट उम्मीदवारों को क्रमशः ६,७०,००० और ८०,००,००० वोट मिले। अगले वर्षों में भी कम्युनिस्ट पार्टी की प्रतिष्ठा निरंतर बढ़ती गयी।

वाम की तरफ़ देश के झुकाव ने, जो छठे दशक के आरंभ में प्रकट होने लगा था, क्रिश्चियन डेमोक्रेट नेतागण के रवैये को भी प्रभावित किया। उनके अंदर कई ऐसे राजनीतिज्ञों (ग्रोन्की, जो १६५५-१६६१ में इटली का राष्ट्रपति था, फ़नफ़ानी, मोरो) का ग्रुप गठित हुआ, जो पार्टी नीति में परिवर्तन लाना चाहते थे और मज़दूर आंदोलन के साथ समझौते के अवसर ढूंढ़ रहे थे। ऐसी नीति वाम-मध्यमार्गी कहलाने लगी। इतालवी समाजवादी पार्टी के नेतागण ने इस नीति का समर्थन किया। उसका नेता पी० नेन्नी मोरो द्वारा गठित "वाम मध्यमार्गी" मंत्रीमंडल का सदस्य बना। किंतु सरकार की नीति के स्वरूप तथा उसके द्वारा नाटो गुट का समर्थन किये जाने के कारण समाजवादियों के वाम पक्ष में असंतोष की भावना ज़ोर पकड़ने लगी। जनवरी, १६६४ में उसके कुछ सदस्यों ने इतालवी समाजवादी पार्टी से अलग होकर सर्वहारा एकता की समाजवादी पार्टी स्थापित कर दी।

सातवें दशक में देश की आर्थिक उन्नति विरोधाभासपूर्ण रही। समग्रतः औद्योगिक उत्पादन तीव्र गति से विकास कर रहा था। विश्व मंडियों में इतालवी पूंजीवाद की प्रतियोगिता क्षमता बढ़ गयी थी, उत्पादन के इजारेदार संकेंद्रण और इजारेदार संघों की ताकत में उल्लेखनीय वृद्धि हुई थी। उनके स्वामित्ववाले उद्यमों में वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति की उपलब्धियां धड़ाधड़ लागू की जा रही थीं।

किंतु यह औद्योगिक उत्कर्ष देशव्यापी नहीं हुआ। उसने केवल सुविकसित उत्तरी प्रदेशों को ही प्रभावित किया। फलस्वरूप, उत्तरी इटली के समुन्नत भागों और कृषि-प्रधान दक्षिणी भागों, जहां स्थायी गतिरोध कायम था, के बीच की खाई और भी अधिक चौड़ी हो गयी। कृषि मंद गति से विकसित हो रही थी। दक्षिण में स्थित इने-गिने उद्यमों का उत्पादन बढ़ने के बजाय घट रहा था, जिससे कभी-कभी सचमुच दुखदायी घटनाएं हो जाती थीं (जैसे बत्तीपालिया शहर में हुई थी, जहां एक फ़ैक्टरी के बंद होने का विरोध करनेवाले अनेक मज़दूर पुलिस की गोलियों से भून डाले गये थे)। औद्योगिक विकास की दरें ऊंची होने के बावजूद लाखों मज़दूर प्रतिवर्ष देश छोड़कर काम की

खोज में विदेश चले जाते थे। अर्थव्यवस्था को विदीर्ण करनेवाले वैषम्यों को दूर करने के प्रयोजन से १९६७ में कार्यक्रमबद्ध आर्थिक विकास से संबंधित एक क़ानून मंजूर किया गया। लेकिन वाम मध्यमार्गी सरकार द्वारा किये गये उपाय भी अर्थव्यवस्था के विरोधाभासपूर्ण विकास के पीछे कार्यरत असली कारणों का बाल बांका न कर पाये।

इतालवी समाजवादियों के सरकार में प्रवेश से इस पार्टी और सामाजिक-जनवाद के नेतागण के दृष्टिकोणों में सदृशता उत्पन्न हो गयी (उस समय सामाजिक-जनवादी पार्टी का नेता सरागात इतालवी गणराज्य का राष्ट्रपति था)। दोनों का विचार था कि उनकी पार्टियों के एक हो जाने से "वाम मध्यमार्ग" में अपने संघाती, यानी क्रिश्चियन डेमोक्रेटों के आगे, जो अक्सर अपने समाजवादी सहयोगियों को श्रमिकों में अलोकप्रिय निर्णय लेने के लिए विवश करते थे, के आगे उनकी स्थिति सुदृढ़ होगी। १९६६ के शरद में दोनों संगठन इटली की संयुक्त समाजवादी पार्टी में सम्मिलित हो गये। उसका नेतृत्व वाम मध्यमार्गियों के साथ मिलकर काम करने के पक्ष में था, किंतु नयी पार्टी में एक प्रभावशाली वाम पक्ष कायम हो गया, जो क्रिश्चियन डेमोक्रेटों से नाता जोड़ने के विरुद्ध था और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ ऐक्य की ओर झुक रहा था।

"वाम मध्यमार्गी" सरकार की विदेशनीति ने, जो साररूप में भूतपूर्व बूर्जुआ सरकारों द्वारा अनुसृत नीति से कतई भिन्न न थी, बहुत से साधारण समाजवादी सदस्यों में असंतोष की भावना पैदा की। विभेद की जड़ नाटो की सदस्यता और अमरीकी सैन्य अड्डों के लिए इतालवी क्षेत्र प्रदान किया जाना था। सरकार ने नाटो संधि से, ख़ास तौर पर उसके २० वर्ष की अवधि पूरा कर लेने के सिलसिले में, संबंध-विच्छेद करने की ख़ातिर देश भर में फैले आंदोलन को नज़रंदाज़ कर दिया। बावजूद इसके कि वियतनामी युद्ध को लेकर सारे देश में प्रतिरोध आंदोलन चल रहा था, शासक हल्क़ों ने अमरीकी आक्रमण की निंदा नहीं की, न वियतनामी जनवादी जनतंत्र पर बमबारी बंद करने की मांग का ही समर्थन किया।

इतालवी सैन्य गुप्तचर सेवा की पोल खुलने से, जो, जैसा कि बाद में मालूम हुआ था, १९६४ के ग्रीष्म में प्रतिगामी सत्ता-पलट की तैयारी कर रही थी (इसमें अमरीकी सी० आई० ए० का भी हाथ था), वाम मध्यमार्गी गठबंधन को भारी चोट लगी। गुप्तचर सेवा सरकार के सदस्यों समेत बहुत से राजनेताओं, विशेषकर वाम विचारों वाले कार्यकर्ताओं के पीछे लगी रहती थी। इस कुत्सित कार्य में क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टी के कई जाने-माने कारकून और तत्कालीन राष्ट्रपति सेन्यी भी शामिल थे। इस सबसे समाजवादियों की भी बदनामी हुई और मई, १९६८ में हुए आम चुनावों के परिणामों पर भी प्रभाव पड़ा।

शासक हल्क़ों की नीति के जनवादी विकल्प के लिए, श्रमिक जनों के सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों की रक्षार्थ, स्वाधीन विदेशनीति तथा वियतनाम में शांति-स्थापना के लिए इतालवी कम्युनिस्टों की अथक कार्रवाइयों के फलस्वरूप उसके समर्थकों की संख्या में बड़ी वृद्धि हुई। उसने सामाजिक तथा राष्ट्रीय नवीकरण का एक चहुंमुखी कार्यक्रम पेश किया, जिसमें देश के दक्षिणी भागों के पिछड़ेपन का मूलोच्छेदन, नया और अधिक मूलगामी कृषि सुधार लागू करना, नौकरी के इच्छुक हर इतालवी नागरिक को रोज़गार देना, उद्यमों में ट्रेड यूनियनों के अधिकारों का विस्तार, जन-शिक्षा का जनवादीकरण, आदि की व्यवस्था की गयी थी। अतः १९६८ के संसदीय चुनावों में कम्युनिस्ट पार्टी ने प्रतिनिधि सभा में अतिरिक्त ११ सीटें जीत लीं। सिनेट के चुनावों में कम्युनिस्ट पार्टी और सर्वहारा एकता की समाजवादी पार्टी को, जिन्होंने संयुक्त मोर्चा बना लिया था, ८५,००,००० वोट मिले।

साथ ही संसदीय चुनावों में संयुक्त समाजवादी पार्टी को भारी हार खानी पड़ी। यह प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ उसके गठबंधन का कुपरिणाम ही था। मिसाल के लिए, १९६३ के सिनेट के चुनावों में दोनों समाजवादी पार्टियों को जितने वोट मिले थे, इस बार संयुक्त पार्टी बन जाने पर भी उन्हें १२,००,००० कम वोट मिले। समाजवादियों के वाम मध्यमार्गी गठबंधन में शामिल होने के इस दयनीय परिणाम से संयुक्त समाजवादी पार्टी में विभेदों का दौर शुरू हुआ। चुनावों के फ़ौरन बाद स्वाधीन राजनीतिक लाइन के पक्षपातियों के दबाव के कारण समाजवादी मंत्री सरकार से अलग हो गये। क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टी ने एकदलीय मंत्रिमंडल का गठन किया, जिसकी अस्थिरता प्रारंभ से ही दृष्टिगोचर थी और सचमुच चंद महीनों बाद उसका पतन हो भी गया। किंतु बावजूद इसके कि "वाम मध्यमार्गवाद" का संकट चुनावों तथा अन्य कार्रवाइयों में उभरकर प्रकट हो चुका था, समाजवादियों ने वाम मध्यमार्ग की नयी सरकार में भी, जिसका प्रधान क्रिश्चियन डेमोक्रेट रूमोर था, भाग लिया। पी० नेन्नी विदेशमंत्री बना। नवफ़ासिस्ट आंदोलन युद्धोत्तरकालीन इटली के राजनीतिक जीवन का एक अभिलक्षण था, जिसका प्रभाव आर्थिक परिस्थितिवश और देश के सामान्य वातावरण को देखते हुए बदलता रहा। नवफ़ासिस्ट संगठनों के भीतर वैधिक कार्रवाइयों के समर्थकों और आतंक के पक्षपातियों के बीच तीव्र मतभेद थे। सातवें दशक के उत्तरार्ध में नवफ़ासिस्ट संगठनों के बीच आतंकवादियों का पलड़ा भारी हुआ और १९६९ में उन्होंने तथाकथित "तनावपूर्ण रणनीति" का सहारा लिया, जिसमें कार्य के एकमात्र उपाय के रूप में आम आतंक को तरजीह दी गयी और राजनीतिक प्रतिपक्षियों को संत्रस्त करने का अभियान शुरू किया गया।

दसवां अध्याय

एशिया, अफ़्रीका और लैटिन अमरीका के जनगण के साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष का उत्कर्ष। औपनिवेशिक व्यवस्था का पतन

द्वितीय महायुद्ध के परिणाम और उपनिवेश

पश्चिम और पूर्व में फ़ासिस्ट गुट के देशों को पराजित करने में सोवियत संघ की निर्णायक भूमिका, समाजवाद के विश्व व्यवस्था बन जाने तथा समाजवादी देशों और अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन द्वारा उत्पीड़ित जनगण के समर्थन के फलस्वरूप एशियाई और अफ़्रीकी देशों में राष्ट्रीय मुक्ति क्रांतियों की विजय के लिए अनुकूल अंतर्राष्ट्रीय वातावरण बन गया था।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान उपनिवेशों और पराश्रित देशों के स्वाधीन राष्ट्रीय विकास के हितों तथा विदेशी इजारेदार पूंजी के हितों के बीच अंतर्विरोध और भी अधिक उग्र हो गये थे। न केवल आम जनता की स्थिति बदतर बनी थी, बल्कि ज़मींदारों के एक भाग की भी, जो अपनी आय के स्रोत से वंचित हो गया था और जिसे अपनी ज़मीन बेच देनी पड़ी थी।

एक नया कारक था जापानी हमले का ख़तरा, जो बाद में अनेक एशियाई देशों के लिए वास्तविकता बन गया। पश्चिमी, दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के प्रगतिशील तत्व फ़ासिस्ट आक्रामकों के विरुद्ध औपनिवेशिक ताक़तों का समर्थन करने को तैयार थे, किंतु केवल इस शर्त पर कि ये ताक़तें उनकी राष्ट्रीय जनवादी मांगों की पूर्ति के लिए पर्याप्त रिआयतें देने को तैयार हो जायें। मगर इंग्लैंड और फ़्रांस के शासक वर्ग द्वितीय महायुद्ध की पूर्ववेला में भी और फिर उसके आरंभ हो जाने पर भी उपनिवेशी और अर्द्ध-उपनिवेशी जनगण की न्यूनतम आवश्यकताओं तक को पूरा नहीं करना चाहते थे। इससे फ़ासिस्ट देशों को उनके चालाकीभरे प्रचार में मदद मिली। जापान ने "संयुक्त ख़ुशहाली क्षेत्र" और "एशिया एशियाइयों के लिए" जैसे विचारों का प्रचार किया और नसली पूर्वाग्रहों से भरपूर लाभ उठाया।

पश्चिमी औपनिवेशिक ताक़तों की हठधर्मीभरी नीति से जापान का ही हितसाधन हुआ, क्योंकि इसकी वजह से एशियाई और अफ़्रीकी देशों के कई राजनीतिक नेता यह निर्विवाद तथ्य नहीं समझ पाये कि फ़ासिस्ट गुट पर जनवादी शक्तियों की विजय से राष्ट्रीय स्वतंत्रता के द्वार खुल जायेंगे। एशियाई देशों में कई सच्चे देशभक्त जापानी लफ़्फ़ाज़ी के जाल में फंस गये, यह आशा करने लगे कि जापान की सहायता से वे साम्राज्यवादी अंकुश से मुक्त हो सकेंगे। ऐसी नीति से जापान को दक्षिण-पूर्वी एशिया में यूरोपीय देशों और संयुक्त राज्य अमरीका के उपनिवेशों पर क़ब्ज़ा करने में सहायता मिली और भारत पर भी उसके आक्रमण का खतरा पैदा हुआ।

किंतु जापान ने इन देशों का शोषण और भी बढ़ाया तथा यहां की अर्थव्यवस्था की जिन शाखाओं का उत्पाद निर्यात होता था, उन्हें नष्ट किया। वह यहां खाद्यसामग्री ज़ब्त करने लगा और आबादी की जबरन लामबंदी करने लगा। इस नीति के फलस्वरूप सारे मोहभ्रम शीघ्र ही दूर हो गये। नये औपनिवेशिक उत्पीड़कों का विभिन्न रूपों में प्रतिरोध किया जाने लगा। कई देशभक्त नेता, जो प्रकट रूप में तो जापानी कमान के साथ सहयोग जारी रखे हुए थे और जापान से कुछ रिआयतें पाने के जतन कर रहे थे, जापानविरोधी भूमिगत आंदोलन, यहां तक कि सशस्त्र संघर्ष के साथ भी घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे।

फ़ासिस्ट धुरी की पराजय निकट आने पर, और विशेषत: जर्मनी द्वारा हथियार डाल दिये जाने के बाद जापान अधिकृत देशों में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए तरह-तरह की चालें चलने लगा। पहले सेना और प्रशासन में जिन पदों पर स्थानीय लोगों की नियुक्ति कदापि नहीं हो सकती थी, अब उन्हें वहां नियुक्त किया जाने लगा (कहना न होगा कि ऐसा सख़्त जापानी नियंत्रण में होता था), औपचारिक तौर पर स्वतंत्रता की घोषणा की जाने लगी, संविधान बनाये जाने लगे। किंतु इन सब चालों से अब कुछ न होनेवाला था। यूरोपीय स्वामियों के बिना चलाये गये सशस्त्र संघर्ष का अनुभव इन देशों में राष्ट्रीय चेतना के विकास में सहायक था तथा आगे चलकर स्वतंत्र देशों के गठन में लाभदायक सिद्ध हुआ।

महायुद्ध के दौरान उपनिवेशी देशों में जो स्थिति थी, उससे इन देशों में व्यापक राष्ट्रीय मोर्चे के गठन के लिए सुदृढ़ पूर्वाधार बने। कुछ देशों में इसने संगठनात्मक रूप ग्रहण किया और कुछ देशों में ऐसा मोर्चा व्यवहार में पहले से मौजूद था। सिवाय एक अत्यंत सीमित प्रतिगामी संस्तर के, जिसे उपनिवेशवादियों की सेवा से संबंधित होने के कारण अपने आर्थिक लाभों और विशेषाधिकारों को खोने का डर था, इन देशों के समाज के शेष सभी वर्ग राष्ट्रीय स्वतंत्रता पाना चाहते थे। साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष का क्या

स्वरूप रहा और राष्ट्रीय मुक्ति क्रांति कैसे रूप में हुई, यह सर्वप्रथम इस बात पर निर्भर था कि इस संघर्ष का नेतृत्व और संचालन कौनसा वर्ग कर रहा था। जिन देशों में (चीन, उत्तरी कोरिया और उत्तरी वियतनाम) युद्ध के पहले ही या उसके दौरान अनुकूल परिस्थितियां बन गई थीं, वहां मज़दूर वर्ग ने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की बागडोर संभाली। अतः इन देशों में साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष ने लोक जनवादी क्रांतियों का रूप ग्रहण किया, जिनके फलस्वरूप इन देशों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त हुई तथा समाजवादी मार्ग पर इनके विकास के लिए पूर्वाधार बने।

अधिकांश उपनिवेशों में, जहां मुक्ति आंदोलन का संचालन राष्ट्रीय बूर्जुआ वर्ग कर रहा था, राष्ट्रीय एकता मोर्चे का गठन नियमतः धीरे-धीरे हुआ। ऐसे मामलों में मोर्चे के संगठन का कार्य स्वतंत्रता संग्राम के विस्तार से सदा पीछे रहा और द्वितीय महायुद्ध के दिनों में भी यह कार्य पूरा नहीं हो पाया, यहां तक कि युद्ध के पश्चात भी सभी देशों में ऐसा मोर्चा नहीं बन सका।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के समय कुछ उपनिवेशों का स्वतंत्र राज्य बन जाना इस बात का सूचक था कि औपनिवेशिक व्यवस्था का संकट नये चरण में पहुंच गया है। अब इसका विघटन आरंभ हो गया था।

दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों द्वारा स्वतंत्रता की प्राप्ति

अगस्त क्रांति और इंडोनेशिया गणराज्य की स्थापना

जापानी साम्राज्यवादियों द्वारा इंडोनेशिया पर क़ब्ज़ा कर लिये जाने पर भी वहां राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष रुका नहीं। विभिन्न राजनीतिक मतों वाले गुप्त संगठन आबादी के बीच, जापान द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनायी गयी सशस्त्र इंडोनेशियाई सेना के सैनिकों के बीच तथा विद्यार्थी वर्ग के बीच प्रचार कार्य कर रहे थे। परंतु इंडोनेशिया में युद्ध के अंत तक न तो प्रतिरोध आंदोलन का कोई एकीभूत केंद्र था और न सशस्त्र विद्रोह का मार्ग-दर्शन करने के लिए कोई कार्यक्रम ही। जापानी क़ब्ज़ावर गुप्त संगठनों के सदस्यों का निर्ममता से पीछा करते थे। साथ ही फ़ासिस्ट जर्मनी के आसन्न पतन तथा अधिकृत देशों में जापानविरोधी गतिविधियों में आयी तेजी के कारण जापान को अपनी कार्यनीति बदलने पर विवश होना पड़ा।

१ जनवरी, १९४५ को इंडोनेशिया की स्वतंत्रता के प्रश्न का अध्ययन करने के लिए एक आयोग गठित किया गया। आयोग की पहली बैठक में

सुकर्णो ने अपने देश के लिए तुरंत ही पूर्ण स्वतंत्रता की मांग की। चौथे दशक में प्रस्तुत अपने कुछ विचारों को विकसित करते हुए उसने पांच सिद्धांत (पंचशील) निरूपित किये, जिन पर इंडोनेशिया गणराज्य को आधारित होना था। ये सिद्धांत थे – राष्ट्रवाद, अंतर्राष्ट्रीयतावाद, जनवाद, जन कल्याण तथा धार्मिक सहिष्णुता। बैठक में अपने भाषण का अंत सुकर्णो ने "स्वतंत्र होंगे या मर मिटेंगे!" के नारे से किया। उसके इस भाषण को इंडोनेशिया के स्वतंत्रता सेनानियों ने अपना कार्यक्रम माना।

जापान की पूर्ण पराजय के समय, १७ अगस्त, १९४५ को सुकर्णो ने जनता की ओर से अपने देश की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। वह राष्ट्रपति बना और हट्टा उपराष्ट्रपति। अगस्त क्रांति का संविधान स्वीकृत हुआ। इसे बुनियादी तौर पर जापानी क़ब्ज़े के दिनों में ही तैयार कर लिया गया था, अब इसमें कुछ संशोधन मात्र ही किये गये।

स्वतंत्रता की घोषणा के लिए उचित घड़ी चुनी गयी थी। जापान बिला-शर्त आत्मसमर्पण के दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर कर चुका था, अतः उसकी क़ब्ज़ावर सेना देशभक्तों का प्रतिरोध कर सकने की स्थिति में नहीं थी। दूसरी ओर, इंडोनेशिया के पुराने स्वामियों और उनके मित्रदेशों की सेनाएं भी वहां नहीं थीं। यही कारण है कि गणतंत्र की स्थापना बिना किसी रक्तपात के संभव हुई। देश की केंद्रीय सरकार और अस्थायी संसद बनायी गयीं। देश के सभी भागों में सरकार को व्यापक समर्थन मिला; स्थानीय सत्ता निकाय बने। छापामार दस्तों तथा नियमित जन-स्वयंसेवक दस्तों के आधार पर राष्ट्रीय सेना गठित की जाने लगी।

परंतु हालैंड और दूसरे साम्राज्यवादी देशों का इंडोनेशिया की स्वतंत्रता को मान्यता देने का कोई इरादा नहीं था। सितंबर के अंत में जापानियों को निरस्त्र करने के बहाने इंग्लैंड अपनी सेनाएं जावा पर उतारने लगा। उनके संरक्षण में अस्थायी डच गवर्नर-जनरल वान मूक भी वहां आ पहुंचा।

१० नवंबर, १९४५ को ब्रिटिश कमान के अत्याचारों के विरोध में सुराबया में सशस्त्र विद्रोह भड़क उठा। नवोदित राज्य को उपनिवेश-वादियों द्वारा थोपे गये युद्ध का सामना करना पड़ा। सरकार को विवश होकर जावा के भीतरी भाग में चले जाना पड़ा। जोग जकार्ता नगर देश की अस्थायी राजधानी बना। सभी देशभक्त साम्राज्यवादियों का सामना करने के के लिए एकजुट हुए। संसार भर की प्रगतिशील शक्तियां इंडोनेशिया गणराज्य का समर्थन कर रही थीं। सोवियत संघ ही वह पहला देश था, जिसने उक्रइना के प्रतिनिधि द० ज़० मनुईल्स्की के ज़रिये संयुक्त राष्ट्र संघ में इंडोनेशिया पर साम्राज्यवादियों के आक्रमण का प्रश्न उठाया और इसे जनगण की शांति और सुरक्षा के लिये खतरा बताया। हालैंड, आस्ट्रेलिया और दूसरे देशों के मज़दूरों

ने उपनिवेशवादियों के लिए हथियार और साज़-सामान लादने से इंकार कर दिया और इंडोनेशियाई जनता के न्यायपूर्ण हेतु का खुलकर समर्थन किया। स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत दूसरे एशियाई देशों से भी इंडोनेशियाई क्रांति को समर्थन मिला। भारत में, जहां राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम पूरे ज़ोरों पर चल रहा था, यह मांग उठी कि भारतीय सैनिकों को तुरंत वापस बुलाया जाये, जो इंडोनेशिया भेजी गयी ब्रिटिश सेना का बड़ा भाग थे।

युद्ध की कठिन परिस्थितियों में भी इंडोनेशिया गणराज्य में संगठन कार्य जारी रहा। अलग-थलग सशस्त्र दलों को मिलाकर राष्ट्रीय सेना बनायी गयी। नवंबर में दक्षिणपंथी समाजवादी सुतान शरीर के नेतृत्व में पहला ऐसा मंत्रिमंडल बनाया गया, जो संसद के सम्मुख उत्तरदायी था। विभिन्न पार्टियों और सामाजिक संगठनों के नये प्रतिनिधियों को संसद की सदस्यता प्रदान की गयी। ट्रेड यूनियनों की तेज़ी से पुनर्स्थापना हो रही थी और शीघ्र ही एक ट्रेड यूनियन केंद्र स्थापित किया गया। किसान संगठन भी बने। कुछ पार्टियां, जो पहले भूमिगत थीं, अब खुलेआम काम करने लगीं ; नयी राजनीतिक पार्टियां भी बनीं।

इंडोनेशियाई कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्य-संख्या कम थी। अनेक कम्युनिस्ट स्वतंत्रता की घोषणा से पहले ही जापानी क़ब्ज़ावरों से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हो गये थे। पार्टी की केंद्रीय समिति ने यह फ़ैसला किया कि पार्टी भूमिगत ही रहेगी और अमीर शरीफ़ुद्दीन की समाजवादी पार्टी तथा मज़दूर पार्टी के ज़रिये काम करेगी। मज़दूर पार्टी का नेतृत्व कम्युनिस्ट नेता सत्यजीत कर रहा था, जो उन्ही दिनों विदेश-प्रवास से लौटा था। दोनों पार्टियों के समर्थकों की संख्या तेज़ी से बढ़ी।

१९४५ के अंत में नेशनल पार्टी की स्थापना हुई। क्रांति से पहले की इसी नाम की पार्टी की प्रतिष्ठा का लाभ उठाते हुए तथा पंचशील के सिद्धांतों का समर्थन करते हुए यह पार्टी शीघ्र ही देश की एक सबसे प्रभावशाली पार्टी बन गयी। पार्टी का नेतृत्व कुलजमा प्रगतिशील राष्ट्रीय बूर्जुआ वर्ग के हितों को व्यक्त करता था, किंतु इसका दक्षिणपंथी धड़ा सर्वप्रथम बूर्जुआज़ी की वर्ग-स्थिति सुदृढ़ करने की ही कोशिश में लगा था। क्रांति के पहले वर्षो में सदस्यों की संख्या की दृष्टि से एक सबसे बड़ी पार्टी थी माशूमी। इस्लाम के सिद्धांतों को माननेवाले सभी संगठन इसमें शामिल हुए थे। आम सदस्यों और नेतृत्व की संरचना के लिहाज़ से यह बहुत ही पंचमेल पार्टी थी। आक्रामकों के विरुद्ध संघर्ष में जो राष्ट्रीय एकता बनी, उसके बल पर शक्तिशाली साम्राज्यवादी शत्रु से असमान मुकाबले में इंडोनेशिया विजयी रहा। परंतु इसका अर्थ यह नहीं था कि आंतरिक और विदेश नीति के प्रश्नों पर अंत-र्विरोध और टकराव भी दूर हो गये।

इंडोनेशियाई जनता के वीरतापूर्ण प्रतिरोध तथा प्रगतिशील विश्व जनमत के प्रभाव से विवश होकर हालैंड को इंडोनेशिया गणराज्य के साथ वार्ता पर सहमत होना पड़ा। १९४६ में इंग्लैंड के प्रतिनिधि की मध्यस्थता में यह वार्ता हुई। नवंबर, १९४६ में लिंगजाति गांव में पक्षों के बीच समझौता हुआ। हालैंड के उग्र प्रतिगामी हल्क़ों और इंडोनेशिया की दक्षिणपंथी शक्तियों के ज़बरदस्त विरोध के बावजूद मार्च, १९४७ में इसे संधि का रूप दे दिया गया।

लिंगजाति समझौते के अनुसार हालैंड को जावा, मदोरा और सुमात्रा के क्षेत्र में इंडोनेशिया गणराज्य को वास्तविक मान्यता प्रदान करनी पड़ी; हालैंड और ब्रिटेन की सेनाओं के अधिकार में जो क्षेत्र थे, उन्हें भी इसमें शामिल किया जाना था। गणराज्य ने इस बात का उत्तरदायित्व लिया कि वह संघात्मकता के सिद्धांत के आधार पर प्रभुसत्तासंपन्न जनवादी राज्य – संयुक्त राज्य इंडोनेशिया – की स्थापना में हालैंड के साथ सहयोग करेगा तथा संयुक्त राज्य इंडोनेशिया और हालैंड का नीदरलैंड-इंडोनेशिया संघ बनेगा, जिसकी राज्याध्यक्ष नीदरलैंड की महारानी होगी। डच साम्राज्यवादी तुरंत ही इस समझौते का उल्लंघन करने लगे। उन्होंने नई सैनिक टुकड़ियां और शस्त्रास्त्र इंडोनेशिया भेजे, उनके क़ब्ज़े में जो क्षेत्र थे, उन्हें खाली नहीं किया। देश के सर्वाधिक प्रतिगामी तत्वों की सहायता से वे अपने पिट्ठुओं को गद्दी पर बिठाकर कठपुतली राज्य बनाने लगे।

जून, १९४७ में अमीर शरीफ़ुद्दीन की रहनुमाई में नयी सरकार बनी, जिसमें बहुमत जनवादी तत्त्वों का था। २० जुलाई, १९४७ को उपनिवेशवादियों ने फिर से बड़े पैमाने पर सशस्त्र कार्रवाई आरंभ कर दी। हमलावरों के पास आधुनिक शस्त्रास्त्र थे, इसलिए वे गणराज्य के क्षेत्र में दूर तक घुस गये। इंडोनेशियाई लोगों ने वीरतापूर्वक उनका सामना किया। राष्ट्रीय सेना की टुकड़ियां और छापामार दस्ते शत्रु के पिछवाड़े में सक्रिय थे। संसार भर में जनवादी तत्वों ने एक बार फिर आक्रोश प्रकट किया। सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों ने दुबारा संयुक्त राष्ट्र संघ में इंडोनेशिया का सवाल उठाया।

गणराज्य दुश्मन के घेरे में था और उसके बड़े भाग पर शत्रु का क़ब्ज़ा था, इसलिए उसके लिए अपनी प्रतिरक्षा करना कठिन था। साथ ही इंडोनेशिया में बहुत से लोगों को यह भ्रामक आशा थी कि स्वतंत्रता प्राप्ति और अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ीकरण में अमरीका उनकी सहायता करेगा, कि संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा स्थापित मध्यस्थता समिति, जिसमें आस्ट्रेलिया, बेल्जियम और अमरीका के प्रतिनिधि थे, उनकी सहायता करेगी। वास्तव में समिति ने हालैंड का ही पक्ष लिया। उसने जो वार्ताएं करायीं, उनके परिणामस्वरूप १७ जनवरी, १९४८ को अमरीकी जहाज़ 'रैनवील' पर एक समझौता

संपन्न हुआ। लिंगजाति समझौते की शर्तों की पुष्टि करते हुए इसने गणराज्य और डच अधिकृत क्षेत्र के बीच अस्थायी सीमा निर्धारित की, जो डच सेना द्वारा हथियाये गये भागों की अग्रिम चौकियों से गुज़रती थी।

इस प्रकार गणराज्य का क्षेत्र बहुत कम हो गया। साम्राज्यवादियों को इंडोनेशिया में बनाये गये अपने कठपुतली राज्यों को सुदृढ़ करने के लिए इसकी आवश्यकता थी। 'रैनवील' समझौते पर हस्ताक्षर होने के शीघ्र बाद ही माशूमी तथा दूसरी प्रतिगामी पार्टियों ने अमीर शरीफ़ुद्दीन की सरकार को इस्तीफ़ा देने पर विवश किया। एक नयी, "राष्ट्रपतिक" सरकार बनायी गयी, जिसका अध्यक्ष उपराष्ट्रपति हट्टा को चुना गया। इस सरकार में प्रमुख भूमिका माशूमी पार्टी वाले अदा करते थे जबकि वामपंथी पार्टियों का इसमें कोई प्रतिनिधि नहीं था। यद्यपि हट्टा की सरकार साम्राज्यवादियों को रिआयतें देने को तैयार थी और आंतरिक नीति के क्षेत्र में उसने जनवादियों और, सर्वप्रथम, कम्युनिस्टों के विरुद्ध संघर्ष की नीति अपनायी थी, तथापि वह भी उपनिवेशवादियों की मांगों को स्वीकार नहीं कर सकती थी। डच उपनिवेशवादियों ने गणराज्य के बिना ही संयुक्त राज्य इंडोनेशिया की अस्थायी सरकार गठित की, ताकि उसकी सहायता से इंडोनेशिया की स्वतंत्रता का गला घोंटा जा सके।

ऐसी परिस्थितियों में अगस्त, १९४८ में वयोवृद्ध कम्युनिस्ट नेता मूसा के नेतृत्व में, जो अनेक वर्षों के उत्प्रवास के बाद स्वदेश लौटा था, इंडोनेशियाई कम्युनिस्ट पार्टी का सम्मेलन हुआ। इसमें "इंडोनेशिया गणराज्य के लिए नया मार्ग" शीर्षक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया तथा कम्युनिस्ट पार्टी, अमीर शरीफ़ुद्दीन की समाजवादी पार्टी और मज़दूर पार्टी का विलय करके एक इंडोनेशियाई कम्युनिस्ट पार्टी के गठन का निर्णय किया गया। मूसा इसका महासचिव बना। उपरोक्त प्रस्ताव में पार्टी के सम्मुख मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे की स्थापना का कार्यभार रखा गया; मगर स्वयं प्रस्ताव में कई संकीर्णतावादी भूलें भी थीं। सितंबर, १९४८ में प्रतिक्रियावादियों के भड़कावे पर मादियोन में सशस्त्र मुठभेड़ हुई। इसके दौरान तथा प्रगतिशील संगठनों पर चलाये गये दमन-चक्र में इंडोनेशियाई कम्युनिस्ट पार्टी के नेता – मूसा, शरीफ़ुद्दीन, सत्यजीत तथा अन्य मारे गये। पार्टी की स्थिति अर्द्ध-वैध हो गयी।

गृहयुद्ध के कारण गणराज्य कमज़ोर पड़ा। डच उपनिवेशवादियों ने इसका लाभ उठाया। अकस्मात ही सैनिक कार्रवाइयां आरंभ करके उन्होंने दिसंबर में जोग जकार्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया। सुकर्णो तथा सरकार के अधिकांश दूसरे सदस्यों को गिरफ़्तार कर लिया गया और जावा से बाहर ले जाया गया। किंतु समाजवादी देशों, भारत तथा अन्य राज्यों ने इंडोनेशिया का जो

प्रवल समर्थन किया, उसे देखते हुए हालैंड पहले की तरह यहां अपना उपनिवेश-वादी प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सका।

अंततः हालैंड को गणराज्य के सभी नेताओं को रिहा करना पड़ा और हेग में गोलमेज़ सम्मेलन बुलाना पड़ा, जिसमें मध्यस्थता समिति के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। २ नवंबर, १९४९ को एक समझौते पर हस्ताक्षर के साथ सम्मेलन समाप्त हुआ। हालैंड को संयुक्त राज्य इंडोनेशिया को एक प्रभुसत्तासंपन्न राज्य के रूप में मान्यता देनी पड़ी, यद्यपि साथ ही अनेक शर्तें लगाकर स्वतंत्रता को सीमित भी कर दिया गया, जिनके अनुसार डच पूंजी की पहले जैसी स्थिति पुनर्स्थापित की जानी थी। साथ ही नीदरलैंड-इंडोनेशिया संघ का प्रावधान भी संयुक्त राज्य इंडोनेशिया की राजनीतिक प्रभुसत्ता पर अंकुश था। पश्चिमी ईरियन का प्रश्न भी हल नहीं हुआ, क्योंकि हालैंड इसे नये राज्य में शामिल करने पर सहमत नहीं हुआ।

पर डच उपनिवेशवादी प्रत्यक्षतः यह नहीं जानते थे कि युद्धोपरांत काल में प्रतिगामी और जनवादी शक्तियों के बीच नये संतुलन तथा विश्व समाजवादी व्यवस्था को देखते हुए स्वतंत्रता प्राप्ति से देशों के सम्मुख कैसी व्यापक संभावनाओं के द्वार खुलते हैं, बशर्ते राष्ट्रीय-जनवादी सरकार सत्ता में हो। आगे चलकर गोलमेज़ सम्मेलन में हुए बंधक समझौतों को रद्द कराने, पश्चिमी ईरियन को स्वतंत्र कराने, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विदेशी पूंजी के चंगुल से मुक्त कराके उसका विकास करने के लिए इंडोनेशियाई जनता ने जो संघर्ष किया, वह देश में प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुद्ध जनवादी शक्तियों के संघर्ष से जुड़ा हुआ था।

एक-एक करके सभी राज्य गणराज्य में शामिल होने का निर्णय कर रहे थे। उपनिवेशवादियों की इन उम्मीदों पर पानी फिर गया कि वे इंडोनेशिया को छोटे-छोटे राज्यों में विखंडित रख सकेंगे। स्वतंत्रता की घोषणा की पांचवी वर्षगांठ तक, अगस्त, १९५० तक, संघ गणराज्य पुनर्स्थापित हो चुका था। संयुक्त राज्य इंडोनेशिया के संविधान के स्थान पर एक नया, अस्थायी संविधान स्वीकार किया गया। जनवादी शक्तियों का प्रभाव फिर से बढ़ा। कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन पुनर्स्थापित होने लगे; ट्रेड यूनियन और किसान संगठन सुदृढ़ होने लगे। बूर्जुआ वर्ग और बूर्जुआ-जमींदाराना पार्टियों में विभेदीकरण हुआ। माशूमी पार्टी का दक्षिणपंथी धड़ा उग्र प्रतिक्रियावादियों का केंद्र बन गया, जो प्रतिक्रांतिकारी षड्यंत्रों और पृथकतावादी विद्रोहों से संबंधित था। इस पार्टी के वामपंथी धड़े ने अपना अलग संगठन नहदतुल उलमा बनाया।

१९५३ में प्रतिगामी मंत्रिमंडलों का स्थान नयी सरकार ने ले लिया, जिसका नेतृत्व नेशनल पार्टी का वामपंथी नेता अली सस्त्रोमिजयो कर रहा

था। इंडोनेशिया ने सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों के साथ राजनयिक संबंध स्थापित किये। १० अगस्त, १९५४ को हालैंड के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए, जिसके अनुसार नीदरलैंड-इंडोनेशिया संघ भंग हो गया। गोलमेज सम्मेलन के बंधक समझौतों से छुटकारा पाने में और दो साल लगे। मई, १९५६ में सुकर्णो ने इनके निराकरण के बारे में संसद द्वारा स्वीकृत विधेयक पर हस्ताक्षर किये। तथापि देश के भीतर प्रतिक्रियावादी शक्तियों को पछाड़ा नहीं गया था और प्रगतिशील तत्त्वों की स्थिति अभी पर्याप्त सुदृढ़ नहीं हुई थी।

प्रतिगामी शक्तियों को फ़ौजियों का, सर्वप्रथम स्थल सेना के जनरलों का प्रश्रय प्राप्त था। जब मार्शल लॉ की स्थिति में विदेशी उद्योगपतियों की संपत्ति राष्ट्रीयकृत करके सेना ने उस पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया, तो इसके बाद इनका प्रभाव और भी बढ़ने लगा। साथ ही शासनतंत्र में भी सेना की भूमिका बढ़ रही थी। फ़ौजी सत्ता हथियाने के लिए उतावले थे और इसके लिए बहाना उन्हें ३० सितंबर, १९६५ की घटनाओं में मिला। उस दिन लेफ़्टिनेंट-कर्नल उन्टूंग के नेतृत्व में कुछ फ़ौजी टुकड़ियों ने बलात् सत्ता-परिवर्तन का प्रयास किया। उनका कहना था कि ऐसा उन्होंने दक्षिणपंथी फ़ौजी तत्त्वों को सत्ता में आने से रोकने के लिए किया है। किंतु १ अक्तूबर को ही यह विद्रोह कुचल दिया गया। इंडोनेशिया की प्रतिगामी शक्तियों ने इस मौक़े का लाभ उठाकर देश में अभूतपूर्व पैमाने पर कम्युनिस्ट-विरोधी दमन-चक्र चलाया, जिसमें कई लाख इंडोनेशियाई मेहनतकश मारे गये। इस दमन-चक्र की कमान स्थल सेना के कमांडर जनरल सुहार्तो के हाथों में थी, जिसने आगे चलकर सरकारी सत्ता हथिया ली और देश की नीति को बिल्कुल दूसरा ही मोड़ दे दिया। राष्ट्रपति सुकर्णो को शनैः-शनैः सत्ता से हटा दिया गया और बाद में उसपर मुक़दमा भी चलाया गया। इंडोनेशिया की आबादी के बड़े भाग – मज़दूर वर्ग और मेहनतकश किसानों ने क्रांति की विजय और कम्युनिस्टों के अथक प्रयासों से जो कुछ पाया था, उससे उन्हें वंचित कर दिया गया। कृषि सुधारों के फलस्वरूप किसानों को जो जमीन मिली थी उसका बड़ा भाग उनसे छीनकर पुराने भूस्वामियों को लौटा दिया गया। नयी सरकार ने विदेशी पूंजी को देश की अर्थव्यवस्था में पूंजी-निवेश के व्यापक अवसर प्रदान किये, जिससे राष्ट्रीय उद्योग की, जो अभी पैरों पर खड़ा ही हो रहा था, स्थिति और भी कमज़ोर हुई। इंडोनेशिया की विदेशनीति में भी भारी परिवर्तन आया। १९६५ के बाद इसमें पश्चिम की ओर एकतरफ़ा रुझान आया। १९६७ में इंडोनेशिया के सक्रिय सहयोग से दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्र संगठन – एसिआन – की स्थापना की गयी, जिसमें मलयेशिया, सिंगापुर, थाइलैंड और फ़िलिपीन भी शामिल

हुए। इंडोनेशिया के प्रतिगामी हल्के इस संगठन को राजनीतिक और सैनिक प्रतिसंतुलन के रूप में इस क्षेत्र के समाजवादी पथ पर विकासमान देशों के विरुद्ध इस्तेमाल करना चाहते थे।

बर्मा की स्वतंत्रता

इंडोनेशिया की ही भांति बर्मा में भी देशभक्तों ने जापानी क़ब्जावरों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष चलाने के साथ-साथ स्वतंत्रता-प्राप्ति के वैध साधनों का यथासंभव भरपूर उपयोग किया। बर्मा को "महान पूर्वी एशियाई संयुक्त खुशहाली क्षेत्र" में शामिल करने की घोषणा की गयी थी तथा उसने जापान के साथ "सहबंध" की संधि पर भी हस्ताक्षर किये थे, किंतु इस सबके बावजूद वास्तविक सत्ता जापानियों के ही हाथों में रही। बर्मी जनता का असंतोष बढ़ रहा था और साथ ही सभी राष्ट्रीय शक्तियों में एकता लाने की कामना भी। अगस्त, १९४४ में अवैध फ़ासिस्टविरोधी जन मुक्ति लीग के रूप में राष्ट्रीय मोर्चा बना। इसमें कम्युनिस्ट पार्टी और दूसरी क्रांतिकारी पार्टियां शामिल थीं, अध्यक्ष का कार्यभार आउंग सां ने संभाला और सचिव का कम्युनिस्ट थान टूं ने।

यह लीग बिल्कुल गुप्त रूप से काम करती थी, फिर भी इसका प्रभाव निरंतर बढ़ता जा रहा था; १९४४ के अंत में इसके सदस्यों की संख्या पचास हज़ार तक पहुंच गयी। जापानियों ने अपने सहारे के तौर पर बर्मियों की प्रतिरक्षा सेना बनायी थी, लेकिन देशभक्त इसे भावी सशस्त्र विद्रोह के लिए महत्त्वपूर्ण शक्ति मानते थे। बर्मी देशभक्त जापानी आक्रामकों के विरुद्ध संघर्ष मित्रराष्ट्रों की सेनाओं के साथ मिलकर करने की कोशिश कर रहे थे। मार्च, १९४५ में मांडले में बर्मी सैनिकों के विद्रोह के फलस्वरूप भारत से आ रही ब्रिटिश सेना के लिए आगे बढ़ना बहुत आसान हो गया। किंतु ब्रिटिश सरकार जापानी क़ब्जे के दिनों में भी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को रिआयतें देने को तैयार नहीं थी।

प्रतिरक्षा सेना, जिसका नाम अब राष्ट्रीय सेना कर दिया गया था, तथा छापामार दस्तों ने सार्वजनिक विद्रोह आरंभ करके बर्मा को जापानी हमलावरों से मुक्त कराने में निर्णायक भूमिका अदा की। आज़ाद हुए इलाक़ों में फ़ासिस्टविरोधी जन मुक्ति लीग के वैध संगठन क़ायम होने लगे, जो कई स्थानों पर वस्तुतः सत्ता निकाय भी थे।

इंडोनेशिया की तुलना में बर्मा में एक अच्छी बात यह थी कि द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक यहां राष्ट्रीय मोर्चा क़ायम हो चुका था और इस मोर्चे का एक केंद्रीय नेतृत्व भी विद्यमान था। लेकिन, दूसरी ओर, जापानी

कब्जावरों से जब बर्मा आज़ाद हुआ, तो यहां भारी संख्या में अंग्रेज़ सेना थी और उसने तुरंत ही यहां पुराना ब्रिटिश प्रशासन फिर से स्थापित करना शुरू कर दिया। इस तरह उन दिनों जो दोहरी सत्ता अस्तित्व में आयी, वह ज़्यादा दिन तक नहीं बनी रह सकती थी।

सितंबर, १९४५ में ब्रिटिश अधिकारियों और लीग के नेतृत्व के बीच समझौता हुआ कि बर्मा की राष्ट्रीय सेना भंग कर दी जायेगी और उसके अफ़सरों व सिपाहियों को नियमित सेना में शामिल कर लिया जायेगा। किंतु शीघ्र ही बर्मी देशभक्त यह समझ गये कि उनके लिए अपनी ऐसी सशस्त्र सेना होना नितांत आवश्यक है, जो अंग्रेज़ उपनिवेशवादियों के दबाव का सामना कर सके। देशभक्तों ने एक विशाल अर्द्ध-सैनिक 'लोक स्वयंसेवक संगठन' बनाया। इसमें मुख्यतः देहातों के अर्द्ध-सर्वहारा तत्व ही थे। इसका नेतृत्व आउंग सां को सौंपा गया। यह संगठन फ़ासिस्टविरोधी जन मुक्ति लीग तथा कम्युनिस्ट पार्टी का आसरा बना।

अक्तूबर, १९४५ में ब्रिटिश सैनिक कमान ने एक समारोह में सत्ता नागरिक प्रशासन को सौंप दी। प्रशासन की बागडोर युद्धपूर्व के गवर्नर-जनरल ने ही संभाली। किंतु इससे साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन में और ज़्यादा तेज़ी आयी। १९४६ में ज़ोरदार हड़ताल हुई, जिसमें धान मिलों और काष्ठ मिलों के मज़दूरों, गोदी कर्मचारियों, इरावदी फ़्लोटिला कंपनी के कर्मचारियों, आदि ने भाग लिया। उधर गांवों में भी किसान फिर से ज़मींदारों के लौट आने को और उनके ज़ुल्मों को क़तई नहीं सहना चाहते थे।

फ़ासिस्टविरोधी जन मुक्ति लीग की पहली अखिल बर्मा कांग्रेस १९४६ के आरंभ में हुई। इसमें उपनिवेशवादी नीति की निंदा की गयी तथा यह मांग पेश की गयी कि अस्थायी राष्ट्रीय सरकार बनायी जाये और ऐसी संविधान सभा के लिए चुनाव करवाये जायें, जिसे बर्मा का भविष्य निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त हो। अप्रैल में यह घोषणा की गयी कि एक वर्ष पश्चात् संविधान सभा बुलायी जायेगी, जो ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत बर्मा के स्वशासन के लिए संविधान तैयार करेगी। किंतु बर्मी देशभक्त इससे संतुष्ट नहीं हो सकते थे। एक आम सभा में आउंग सां ने चेतावनी दी कि अगर ब्रिटिश सरकार बर्मी जनता को सत्ता नहीं सौंपेगी, तो वह खुद सत्ता अपने हाथों में ले लेगी। फ़ासिस्टविरोधी जन मुक्ति लीग अभी भी राष्ट्रीय मोर्चे के रूप में काम कर रही थी, मगर उसके अंदर ही अंदर विभेदीकरण हो रहा था और दक्षिणपंथी तत्त्व एकजुट हो रहे थे।

साम्राज्यवादविरोधी जन आंदोलन जोर पकड़ रहा था। इसी वर्ष सितंबर-अक्तूबर में देश में हड़तालों की और किसानों के प्रदर्शनों की ज़बर्दस्त लहर दौड़ गयी। यहां तक कि राजधानी की पुलिस ने भी हड़ताल कर दी।

जब यह आम राजनीतिक हड़ताल पूरे ज़ोरों पर थी, तभी दक्षिणपंथी नेताओं और लीग के नेतृत्व के साथ बातचीत के बाद एक संयुक्त कार्यकारी परिषद गठित की गयी। लीग के पांच प्रतिनिधि इसके सदस्य बने, आउंग सां को उपाध्यक्ष का पद मिला।

कार्यकारी परिषद में सदस्यता के प्रश्न पर उठे मतभेद के कारण संघ में फूट पड़ी; कम्युनिस्ट लीग से अलग हो गये। एकीकृत राष्ट्रीय मोर्चे में फूट पड़ जाने के बावजूद साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष रुका नहीं। लीग ने ब्रिटिश सरकार को अल्टीमेटम दिया कि वह बर्मा की स्वाधीनता को स्वीकार करे, कार्यकारी परिषद को अस्थायी राष्ट्रीय सरकार में बदला जाये तथा संविधान सभा के लिए चुनाव कराये जायें। जनवरी, १९४७ में आउंग सां के नेतृत्व में बर्मी प्रतिनिधिमंडल बातचीत के लिए लंदन गया। इस बीच बर्मा में स्वतंत्रता के लिए जन आंदोलन और भी ज़्यादा फैला। आये दिन जुलूस निकलते थे, लोक स्वयंसेवक संगठन सशस्त्र संघर्ष की तैयारियां कर रहा था। राजनीतिक संकट अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था।

ऐसे वातावरण में २७ जनवरी, १९४७ को लंदन में लेबर सरकार के प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली और आउंग सां ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इंग्लैंड को अप्रैल में संविधान सभा के लिए चुनाव करवाने पर सहमत होना पड़ा। संविधान सभा को यह भी निर्णय करना था कि बर्मा ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का सदस्य बना रहेगा या नहीं। देश में व्याप्त राष्ट्रीय अंतर्विरोधों तथा राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के नेताओं की पृथकतावादी प्रवृत्तियों को देखते हुए ब्रिटेन को यह उम्मीद थी कि बर्मा ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में बना रहेगा।

प्रतिगामी शक्तियों की सारी कोशिशों के बावजूद संविधान सभा के चुनावों में लीग की शानदार जीत हुई और २१० में से १९४ स्थान उसे मिले। मई में आउंग सां की अध्यक्षता में फ़ासिस्टविरोधी जन मुक्ति लीग का सम्मेलन हुआ। इसमें संविधान के मसौदे पर विचार करके उसे स्वीकार किया गया तथा देश को प्रभुसत्तासंपन्न गणराज्य घोषित करने का फ़ैसला किया गया, जिसका नाम बर्मा संघ रखा जाना था और जिसमें बर्मी आबादीवाले क्षेत्र तथा राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की आबादीवाले क्षेत्र भी शामिल किये जाने थे।

जून, १९४७ में संविधान सभा की पहली बैठक हुई। इसमें आउंग सां ने उपरोक्त मसौदे के आधार पर स्वतंत्रता का प्रस्ताव रखा, जिसे एकमत से स्वीकार कर लिया गया। आउंग सां ने यह सुझाव रखा कि संविधान सभा के निर्णयों के आधार पर ब्रिटेन से सत्ता हस्तांतरण के लिए वार्ता की जाये। उ नू के नेतृत्व में एक सद्भावना मिशन लंदन भेजा गया, लेकिन इंग्लैंड के शासक इस प्रश्न के हल को इस उम्मीद से टालते गये कि बर्मी प्रतिक्रियावादियों से उनकी सांठगांठ हो जायेगी।

१९ जुलाई, १९४७ को रंगून में एक अश्रुतपूर्व राजनीतिक हत्याकांड हुआ। एक सशस्त्र दल कार्यकारी परिषद के सभा भवन में घुस आया और उसने आउंग सां तथा परिषद के सात अन्य सदस्यों को वहीं गोलियों से भून डाला। प्रतिक्रियावादियों द्वारा भेजे गये हत्यारों के हाथों बर्मी देशभक्तों के सबसे लोकप्रिय नेता की मृत्यु से बर्मा की राष्ट्रीय शक्तियों को भारी क्षति पहुंची।

परंतु साथ ही इस आतंकवादी कार्रवाई से साम्राज्यवादविरोध और भी ज़ोर से भड़का। ब्रिटेन को अंततः यह स्वीकार करना पड़ा कि संविधान सभा को कार्यकारी परिषद के अधिवेशन की समाप्ति से पहले ही बर्मा के भाग्य का फ़ैसला करने का अधिकार है। २ अगस्त, १९४७ से कार्यकारी परिषद को राष्ट्रीय सरकार माना जाने लगा। इसका अर्थ यह था कि ग्रेट ब्रिटेन ने बर्मा को डोमिनियन के रूप में मान्यता दे दी है। उ नू स्वतंत्र बर्मा का पहला प्रधानमंत्री बना।

२८ सितंबर को संविधान सभा ने एकमत से बर्मा संघ का नया संविधान स्वीकृत किया। जनवादी स्वतंत्रताओं की घोषणा करने के साथ-साथ संविधान में मेहनतकश जन समूहों की सामाजिक मांगें भी प्रतिबिंबित की गयी थीं, कृषि-भूमि प्रश्न के हल और मज़दूरों के हितों की रक्षा का प्रावधान रखा गया था। बर्मा की सभी राष्ट्रीय शक्तियों ने इस संविधान का समर्थन किया।

४ जनवरी, १९४८ को रंगून में एक समारोह में स्वतंत्रता की घोषणा की गयी और सत्ता नयी सरकार को सौंपी गयी। ब्रिटिश झंडे के स्थान पर बर्मा संघ का झंडा फहराया गया।

भारत में
ब्रिटिश प्रभुत्व का उन्मूलन

अंग्रेजों ने भारत की सहमति के बिना ही उसे युद्धरत देश घोषित कर दिया था तथा "प्रतिरक्षा के लिए ख़तरनाक" संगठनों और व्यक्तियों के दमन के लिए गवर्नर-जनरल को व्यापक अधिकार दे दिये थे। इससे देश में आक्रोश की लहर दौड़ गयी। १९३९ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यकारिणी ने यह घोषणा की कि वह युद्ध में इंग्लैंड का समर्थन केवल तभी करेगी जबकि वह भारत को पूर्ण स्वराज देने पर सहमत हो। युद्ध के आरंभ में कांग्रेस ही देश का सबसे बड़ा संगठन थी, जिसमें न केवल हिंदू, बल्कि दूसरे धर्मों के लोग भी थे। कम्युनिस्ट पार्टी उन दिनों भूमिगत थी और कांग्रेस के ज़रिये ही राष्ट्रीय एकता मोर्चे के लिए संघर्ष कर रही थी।

देश भर में युद्धविरोधी प्रदर्शन और हड़तालें होने लगीं। अंग्रेज़ एक

ओर तो दमन बढ़ा रहे थे, दूसरी ओर धनी वर्गों को अपने पक्ष में लाने की कोशिशें कर रहे थे। ब्रिटिश सरकार और उसके द्वारा भारत भेजे जानेवाले मिशनों ने युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भारत को "यथाशीघ्र" डोमिनियन घोषित करने का वायदा किया। मगर कांग्रेस तुरंत ही उत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार बनाये जाने की मांग कर रही थी। गांधीजी ने ब्रिटेन पर ज़ोर डालने के लिए अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन चलाया, तो बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारियां होने लगीं और कांग्रेस के कार्यकलापों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। उसके अनेक नेताओं को लंबे समय तक नज़रबंद रखा गया।

युद्ध की प्रगति को देखते हुए भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने हिटलर-विरोधी मित्रराष्ट्रों के युद्ध प्रयासों को भरपूर सहायता देने का कार्यभार रखा, क्योंकि पार्टी के विचार में भारत तभी स्वतंत्र हो सकता था, जबकि युद्ध में जनवादी शक्तियों की, जिनका नेतृत्व सोवियत संघ कर रहा था, विजय हो। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सारे युद्ध के दौरान असहयोग की नीति ही अपनाये रही। इसके एक वामपंथी नेता, सुभाषचंद्र बोस ने हिंदचीन में रहनेवाले भारतीयों तथा भारतीय युद्धबंदियों को लेकर जापान अधिकृत बर्मा में आज़ाद हिंद फ़ौज बनायी। उधर भारतीय बूर्जुआ वर्ग ने युद्ध द्वारा प्रस्तुत अवसरों का लाभ उठाकर पैसा कमाने की कोशिश की। बड़े-बड़े भारतीय पूंजीपति और ख़ास तौर पर बड़े इजारेदार अपनी आर्थिक स्थिति को कुछ हद तक सुधारने में सफल रहे, यद्यपि भारत में अब पहले महायुद्ध की तरह उद्योगों का विकास नहीं हुआ।

युद्ध के दिनों में आम जनता की स्थिति बिगड़ती ही गयी। सामंतवादी अवशेषों के बोझ तले दबी कृषि की स्थिति बदतर होती जा रही थी और किसान उजड़ रहे थे। मज़दूर वर्ग तीव्र शोषण और महंगाई का शिकार हो रहा था; महंगाई की चोट अन्य शहरी तबक़ों पर भी पड़ रही थी। युद्ध का अंत होते-होते मध्य और दक्षिणी भारत में भुखमरी का ज़बरदस्त ख़तरा पैदा हो गया था। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में तथा अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मेहनतकशों के संघर्ष में तीव्र उत्थान के लिए वस्तुगत पूर्वाधार बन गया था।

सोवियत सेना की सफलताओं से जब फ़ासिस्ट जर्मनी और उसके यूरोपीय अनुचरों की पराजय सुनिश्चित हो गयी, तो इसे देखते हुए १९४४ में ही भारत के बूर्जुआ राजनीतिक नेताओं के कार्यकलापों में तेज़ी आ गयी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता राष्ट्रीय सरकार के गठन को स्वतंत्रता की ओर एक महत्त्वपूर्ण क़दम मानते थे। साथ ही वे मुस्लिम लीग से समझौता करने की भी कोशिश कर रहे थे, जो पाकिस्तान की मांग कर रही थी। अस्वस्थता के कारण महात्मा गांधी को जेल से रिहा कर दिया गया। सितंबर,

१९४४ में वह मुस्लिम लीग के नेता जिन्ना से मिले, लेकिन उनकी वार्ता असफल रही। संयुक्त कार्रवाई की इच्छा दोनों ओर से थी, अतः १९४५ के आरंभ में कांग्रेस अध्यक्ष और लीग के जनरल सेक्रेटरी के बीच एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार राष्ट्रीय सरकार में इन दोनों को ४०-४० प्रतिशत स्थान मिलने थे और शेष २० प्रतिशत दूसरे संगठनों के प्रतिनिधियों को।

फ़ासिज़्म पर विजय के फलस्वरूप सोवियत संघ की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी, यूरोप में लोक जनवादी राज्यों की स्थापना हुई तथा एशिया में स्वाधीनता संग्राम ने ज़ोर पकड़ा। यह सब अंग्रेज़ औपनिवेशिक शासकों के लिए गहरी चिंता का विषय था। १४ मई, १९४५ को भारत के वाइसराय ए० वैवेल ने शिमला में एक सम्मेलन बुलाया, जिसमें गांधीजी के अलावा मुस्लिम लीग के नेताओं और दूसरे धार्मिक संप्रदायों के नेताओं ने भाग लिया। कांग्रेस की ओर से जवाहरलाल नेहरू तथा वल्लभभाई पटेल भी उपस्थित थे। उन्हें ख़ास तौर पर इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए जेल से छोड़ा गया था। ग्रेट ब्रिटेन ने सरकार में, जिसे वाइसराय के प्रति उत्तरदायी कार्य समिति होना था, मुसलमानों को लीग के ज़रिये और हिंदुओं को कांग्रेस के ज़रिये ४०-४० प्रतिशत स्थान तथा दूसरे धार्मिक अल्पसंख्यकों को २० प्रतिशत स्थान देने पर सहमति व्यक्त की। अंग्रेज़ साम्राज्यवादी धार्मिक-सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व पर ही ज़ोर दे रहे थे, जबकि कांग्रेस के अध्यक्ष और लीग के जनरल सेक्रेटरी अपने समझौते में पार्टी के अनुसार प्रतिनिधित्व पर सहमत हो चुके थे। इस तरह अंग्रेज़ कांग्रेस और लीग के बीच संबंध बिगाड़ना और हिंदू-मुस्लिम फूट भड़काना चाहते थे, ताकि बाद में अस्थायी सरकार के गठन में असफलता का दोष भारतीय संगठनों के मत्थे मढ़ा जा सके।

शिमला सम्मेलन इंग्लैंड के संसदीय चुनावों के समय हुआ था, जिनमें लेबर पार्टी जीती थी। इससे अनेक भारतीयों को आशा बंधी कि ब्रिटिश सरकार अब कुछ महत्त्वपूर्ण रिआयतें देगी। किंतु लेबर पार्टी की सरकार भारत के मामले में पहली सरकार की ही नीति का अनुसरण करती रही। उसने घोषणा की कि नवंबर १९४५ से अप्रैल १९४६ तक केंद्रीय और प्रांतीय विधान सभाओं के चुनाव कराये जायेंगे। यह प्रस्ताव रखा गया कि इन विधान सभाओं के सदस्य बाद में नया संविधान बनाने के लिए निकाय गठित करेंगे। अंग्रेजों की चाल यह थी कि जनता को शांतिपूर्ण चुनाव अभियान में लगा दिया जाये और इस अभियान के दौरान ही हिंदू-मुस्लिम फूट की आग भड़कायी जाये।

१९४५ के उत्तरार्ध में भारत में अनगिनत हड़तालें हुई, जो अकसर राजनीतिक रंग ले लेती थीं और जिनमें पुलिस से टकराव हो जाता था। वियतनाम और इंडोनेशिया में स्वतंत्रता की घोषणा से तथा पूर्वी और दक्षिण-

पूर्वी एशिया के देशों में साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष में आयी तेज़ी से भारत में साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन को नया बल मिला। वियतनाम और इंडोनेशिया की स्वाधीनता क्रांतियों को कुचलने के लिए भारतीय सैनिकों को वहां भेजे जाने से तथा युद्ध में बंदी बना लिये गये आज़ाद हिंद फ़ौज के अफ़सरों पर राजद्रोह के आरोप में अंग्रेज़ों द्वारा चलाये गये मुक़दमे से देश में भारी आक्रोश फैला। स्वयं सुभाषचंद्र बोस की मृत्यु एक विमान दुर्घटना में हो गयी थी।

भारतीय जनमत आज़ाद हिंद फ़ौज के सैनिकों को राजद्रोही नहीं, वरन अंग्रेज़ी प्रभुत्व के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करनेवाले सेनानी मानता था। दिल्ली के लाल किले में जब मुक़दमा चला, तो देश के कोने-कोने में ज़बरदस्त जुलूस निकले, पुलिस के साथ ख़ूनी मुठभेड़ें हुईं। बंबई और दूसरे नगरों में भी यह आंदोलन फैल गया। कांग्रेस के नेता इसे केवल शांतिपूर्ण विरोध तक ही सीमित रखने की कोशिशें कर रहे थे, लेकिन यह अंग्रेज़ी प्रभुत्व के विरुद्ध संघर्ष का रूप धारण कर रहा था।

सेना में भी विद्रोह की आग सुलगने लगी। जनवरी, १९४६ में वायु-सेना के पायलटों ने हड़ताल कर दी और फ़रवरी में बंबई के नौसैनिकों ने। हड़ताल एक जहाज़ पर आरंभ हुई और शीघ्र ही बंबई बंदरगाह में स्थित बीस के बीस जहाज़ों पर फैल गयी। नौसैनिकों ने ज़ोरदार जुलूस निकाले, उनके नारे थे: "इनक़लाब ज़िंदाबाद!", "हिंदू-मुस्लिम एक हों!", "ब्रिटिश साम्राज्यवाद मुर्दाबाद!"। गोदी मज़दूरों और दूसरे मज़दूरों ने हड़ताल का समर्थन किया। हड़ताल कमेटी में हिंदू और मुसलमान प्रतिनिधि कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रहे थे। नौसैनिकों की हड़ताल के पैमाने और उसके रुख़ से चिंतित कांग्रेसी और लीगी नेताओं के हस्तक्षेप के बाद ही हड़ताल कमेटी ने हड़ताल ख़त्म की।

१९४५ के अंत तथा १९४६ के आरंभ में किसानों की साम्राज्यवाद-विरोधी और सामंतवादविरोधी कार्रवाइयां बहुत फैलीं। क्रांतिकारी संकट का बढ़ना और संघर्ष में सारी जनता के शामिल होने की संभावना इस बात के साक्षी थे कि ब्रिटेन अब भारत पर अपना प्रभुत्व और नहीं बनाये रख सकता था। उपनिवेशवादियों को साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन का ज़ोर कम करने तथा अपना अधिकार जमाये रखने का एकमात्र यही रास्ता नज़र आया कि देश का विभाजन कर दिया जाये। परंतु १९४६ के वसंत में हिंदुओं और मुसलमानों के समान प्रतिनिधित्व के आधार पर सीमित अधिकारोंवाली अस्थायी सरकार बनाने के प्रयास असफल रहे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसमें भाग लेने से इंकार कर दिया और मुस्लिम लीग ने भी शीघ्र ही यह घोषणा की कि वह न तो अस्थायी सरकार में शामिल होगी न संविधान सभा में ही।

मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की स्थापना की मांग करते हुए प्रांतीय विधान सभाओं के चुनाव लड़े, लेकिन केवल मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों और मुस्लिम बहुसंख्यक आबादी वाले इलाक़ों में ही उसे बहुमत मिल सका। कांग्रेस को कुल ६३० सीटें मिलीं और लीग को ४६७। जून, १९४६ में संविधान सभा के चुनाव हुए। प्रांतीय विधान सभाओं के २९६ सदस्यों को इसमें चुना गया, जिनमें से १९२ कांग्रेस के, ७० लीग के तथा ११ दूसरी पार्टियों के प्रतिनिधि थे। संविधान सभा के ९३ सदस्य रियासतों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। यद्यपि कांग्रेस ने अस्थायी सरकार में भाग लेने से इंकार कर दिया था, किंतु फिर भी वाइसराय ने जवाहरलाल नेहरू को (जो कांग्रेस कार्यसमिति के जून अधिवेशन में अध्यक्ष चुने गये थे) अंग्रेज़ों द्वारा वसंत में रखी गयी शर्तों पर सरकार बनाने को कहा। इन शर्तों के अनुसार सरकार में छह स्थान कांग्रेस को मिलने थे, पांच लीग को और तीन अल्पसंख्यकों को। कांग्रेस ने इस सुझाव को स्वीकार कर लिया, किंतु मुस्लिम लीग ने यह कहकर कि मुसलमानों के हितों की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया है सरकार में शामिल होने से इंकार कर दिया और देश के विभाजन के लिए सीधे संघर्ष चलाने की घोषणा की।

१६ अगस्त को पाकिस्तान संघर्ष दिवस घोषित किया गया। कलकत्ता में अस्थायी सरकार के गठन पर विरोध प्रकट करने के लिए जुलूस निकाला गया। जुलूस के वक़्त ब्रिटिश एजेंटों ने कुछ हिंदुओं की दुकानों में आग लगा दी और इस तरह हिंदुओं-मुसलमानों के बीच ख़ूनी दंगा भड़काया। मुस्लिम लीग के उग्रवादियों और एक प्रतिक्रियावादी हिंदू संगठन के लोगों ने घरों को लूटा और एक दूसरे को मारा। केवल कुछ मजदूर इलाक़ों में कम्युनिस्टों के प्रयासों की बदौलत हिंदुओं औरमुसलमानों की मिली-जुली सुरक्षा टोलियां बनीं, जिन्होंने वहां लूटपाट नहीं होने दी। हिंदू-मुस्लिम दंगों की आग सारे बंगाल और बिहार में फैल गयी। बंबई तक इसकी लपेट में आ गया।

तथापि जनता के साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन को सांप्रदायिक मार-काट में नहीं बदला जा सका। सारे देश में हड़तालें हो रही थीं, किसान सामंतवादविरोधी संघर्ष चला रहे थे, जिसने १९४७ के आरंभ में ख़ास तौर पर जोर पकड़ा था। कई रियासतों में भी अंग्रेज़ों के प्रभुत्व के ख़िलाफ़ संघर्ष फैला हुआ था। ब्रिटिश हुकूमत अब स्थिति को संभालने में असमर्थ थी। इन हालात में नेहरू की अस्थायी सरकार की वास्तविक प्रतिष्ठा और सत्ता अंग्रेज़ों के अनुमान से कहीं ज़्यादा साबित हुई। विदेशनीति संबंधी अपने बयान में नेहरू ने कहा कि भारत सभी राज्यों, विशेषतः सोवियत संघ के साथ मित्रतापूर्ण संबंध बनायेगा, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का समर्थन करेगा और उपनिवेशवाद के विरुद्ध लड़ेगा।

२७ फ़रवरी, १९४७ को ग्रेट ब्रिटेन की लेबर सरकार के प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली ने घोषणा की कि जुलाई १९४८ से पहले-पहले ब्रिटेन सत्ता भारतीयों को सौंप देगा। अगर तब तक कोई समन्वित संविधान तैयार नहीं कर लिया जायेगा, तो सत्ता प्रांतीय सरकारों को सौंप दी जायेगी। इसके साथ ही औपनिवेशिक शासकों ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता न होने देने के लिए पंजाब में हिंदू-मुस्लिम दंगे भड़काये। एटली की घोषणा और पंजाब में, जिस पर मुस्लिम लीग दावा करती थी, फैले दंगों को देखते हुए कांग्रेस विवश होकर इस शर्त पर पाकिस्तान के बनने से सहमत हो गयी कि सिर्फ़ मुस्लिम-बहुल हिस्से ही इसमें शामिल किये जायेंगे।

जून, १९४७ के आरंभ में ब्रिटिश सरकार ने भारत को दो राज्यों में बांटने का फ़ैसला किया। यह तय किया गया कि पंजाब और बंगाल की विधान सभाएं इन प्रांतों के विभाजन के प्रश्न को हल करेंगी। दोनों नये राज्यों – भारत और पाकिस्तान* को डोमिनियन का दर्जा दिया गया। रियासतों को खुद यह फ़ैसला करना था कि वे किसी एक डोमिनियन में शामिल होंगी या ब्रिटेन के साथ पहले जैसे संबंध बनाये रखेंगी।

बंगाल और पंजाब के बंटवारे के दिनों में भारत के इतिहास में अभूतपूर्व रक्तपात और लूटपाट हुई। ऐसा अनुमान है कि देश के विभाजन के कारण ५ लाख से ज़्यादा लोग मारे गये और कोई सवा करोड़ लोग इसके शिकार हुए। लाखों हिंदू अपना घरबार छोड़कर पाकिस्तान में जानेवाले इलाक़ों से भागकर भारत आये और इधर से मुसलमान पाकिस्तान गये। बेघरबार शरणार्थियों की विकट समस्या उठ खड़ी हुई।

देश की प्रगतिशील शक्तियां और, सर्वप्रथम, कम्युनिस्ट इस बात की जी-तोड़ कोशिशें करते रहे कि यह सारा खून-खराबा न होने पाये, हिंदुओं और मुसलमानों के बीच एकता हो। इस संबंध में महात्मा गांधी ने भी अथक प्रयास किये। वह यह कहते थे कि मुसलमान और हिंदू दुश्मन नहीं हैं, कि उनकी फूट से तीसरे पक्ष को ही फ़ायदा होता है। एकता के इन उपदेशों के कारण उग्र प्रतिक्रियावादी महात्मा गांधी से सख़्त घृणा करने लगे और ३० जनवरी, १९४८ को उनकी हत्या कर दी गयी। सारी भारतीय जनता ने इसे अपने लिए भारी क्षति माना।

भारतीय जनता के साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष के परिणामस्वरूप ब्रिटेन को अपने इतिहास में पहली बार "काली" आबादी वाले देश को अपना

---

* पूर्वी बंगाल की जनता के स्वतंत्रता संग्राम के फलस्वरूप १९७१ में पूर्वी पाकिस्तान के स्थान पर एक स्वाधीन राज्य बंगलादेश की स्थापना हुई।

डोमिनियन मानना पड़ा। यह इस बात का सूचक था कि साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक व्यवस्था का संकट गहरा हो रहा है। ब्रिटिश इजारेदारियों की इन उम्मीदों पर पानी फिर गया कि वे भारत में अपना राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व बनाये रख सकेंगी। साथ ही यह आशा भी विफल रही कि कम से कम कुछ बड़ी रियासतों को नयी डोमिनियनों से बाहर रखकर अपने हाथों में रखा जा सकेगा। एक सबसे बड़ी रियासत हैदराबाद ने अंग्रेज़ों के समर्थन से भारत संघ से बाहर रहने की कोशिश की, लेकिन १९४८ में वह भी उसमें शामिल हो गयी। १९४९ तक सभी रियासतें (सिवाय कश्मीर के) भारत संघ में शामिल हो चुकी थीं।

१५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। १९४८-१९४९ के दौरान नया संविधान बनाने और उसे लागू करने की तैयारी का काम होता रहा। अंततः, २६ नवंबर, १९४९ को संविधान सभा ने नया संविधान स्वीकृत किया और २६ जनवरी, १९५० को भारत प्रभुसत्तासंपन्न जनवादी गणराज्य बन गया। भारत ने ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के साथ संबंध नहीं तोड़े।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के स्वतंत्र राज्य

युद्ध के पश्चात् सारे दक्षिण-पूर्वी एशिया का राजनीतिक मानचित्र बदल गया।

थाईलैंड, जिसने युद्ध में जापान का पक्ष लिया था और जो वस्तुतः जापान के क़ब्ज़े में था, जापानी अंकुश से मुक्त हुआ। किंतु यहां जनवादी शक्तियां प्रबल न थीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश में ज़मींदार-कंप्रेडोर तानाशाही स्थापित हो गयी और वह अमरीकी पूंजी की बेड़ियों में बंध गया।

जापानी आक्रामकों के विरुद्ध फ़िलीपीन की जनता के देशभक्तिपूर्ण आंदोलन तथा सारे एशिया में बढ़ते स्वाधीनता संग्राम को देखते हुए संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार को फ़िलीपीन की औपचारिक स्वतंत्रता की घोषणा करनी पड़ी। ४ जुलाई, १९४६ को फ़िलीपीन गणराज्य को एक प्रभुसत्ता-संपन्न राज्य घोषित किया गया, किंतु अमरीका ने यहां अपने फ़ौजी अड्डे व दूसरे विशेषाधिकार बनाये रखे, जिसके फलस्वरूप अमरीकी पूंजी को देश का शोषण जारी रखने के अवसर मिले।

भारत और पाकिस्तान डोमिनियनों की स्थापना के कुछ समय पश्चात् फ़रवरी, १९४८ में ब्रिटिश उपनिवेशवादियों को लंका* द्वीप को भी डोमिनियन

* २२ मई, १९७२ से इसका नाम श्रीलंका हो गया है।

मानना पड़ा। छठे दशक में लंका की जनता ने अपने क्षेत्र में ब्रिटेन के फ़ौजी अड्डे वंद करवाये और इस तरह देश की राजनीतिक स्वतंत्रता सुदृढ़ हुई।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् मलाया में फैले राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन ने १९४८ से सशस्त्र संघर्ष का रूप ले लिया। ब्रिटिश उपनिवेशवादी अपना प्रभुत्व क़ायम रखने के लिए लंबे अर्से तक लड़ाई लड़ते रहे, लेकिन कुछ भी नहीं कर पाये। तरह-तरह की चालें चलकर अंग्रेज़ों ने अंततः देश के धनी वर्गों से सांठ-गांठ कर ली और अगस्त, १९५७ में मलाया की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी।

भारत के स्वतंत्र हो जाने पर हिमालय में स्थित देश नेपाल का सारे संसार के साथ अलगाव समाप्त हो गया। ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने ज़बरदस्ती इस देश को सारे संसार से काट रखा था। १९५१ में नेपाल सांविधानिक राजतंत्र हो गया और एक प्रभुसत्तासंपन्न राज्य के नाते उसने दूसरे देशों के साथ राजनयिक संवंध स्थापित किये।

जैसा कि पाठक जानते ही हैं हिंदचीन प्रायद्वीप पर उपनिवेशवादियों के विरुद्ध संघर्ष विशेषतः तीव्र रहा था। १९५४ के जेनेवा समझौतों के अनुसार फ़्रांसीसी साम्राज्यवादियों को न केवल वियतनाम छोड़ना पड़ा, वल्कि लाओस और कम्वोडिया की स्वतंत्रता को भी मान्यता प्रदान करनी पड़ी।

मध्य पूर्व और उत्तरी अफ़्रीका के जनगण का विजयी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष

छठे दशक में साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक व्यवस्था के पतन का नया चरण आरंभ हुआ। उपनिवेशों और पराश्रित देशों के स्वाधीनता संग्राम पर सोवियत संघ की सफलताओं का वड़ा प्रभाव पड़ा। सोवियत संघ ने अल्प समय में ही युद्धोपरांत पुनरुत्थान का कार्य पूरा कर लिया था और उसकी अर्थव्यवस्था, विज्ञान और संस्कृति ने भारी प्रगति की थी। सोवियत जनता ने परमाणु अस्त्र पर अमरीकी साम्राज्यवाद का एकाधिकार भी ख़त्म कर दिया था। चीनी क्रांति की विजय और भारत तथा पूर्वी व दक्षिणी एशिया के दूसरे देशों द्वारा स्वाधीनता पाया जाना साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद पर भारी चोट थी। कोरिया और हिंदचीन में उपनिवेशवादियों की हार इस वात की साक्षी थी कि हथियारों के वल पर उपनिवेशी हुकूमत वनाये रखने की कोशिशों का नाकाम होना सुनिश्चित है।

अरब देशों के
मुक्ति आंदोलन में तीव्रता

पांचवें दशक के उत्तरार्ध में अगर पूर्वी और दक्षिणी एशिया राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के प्रमुख केंद्र थे, तो छठे दशक में उनका स्थान मध्य पूर्व और उत्तरी अफ़्रीका ने ले लिया। इस क्षेत्र के जनगण ने द्वितीय महायुद्ध के तुरंत बाद ही स्वतंत्रता के लिए संघर्ष छेड़ दिया था। सीरिया और लेबनान के जनगण ने विदेशी फ़ौजों को हटाये जाने की मांग दृढ़तापूर्वक की। १७ मई, १९४५ को यहां साम्राज्यवादविरोधी आम हड़ताल शुरू हुई। शहरों में देशभक्तों और फ़ांसीसी सैनिकों के बीच मुठभेड़ें हुई। फ़्रांसीसी वायुयानों ने दमिश्क पर बमबारी की। फ़रवरी, १९४६ में संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में सीरिया और लेबनान के प्रश्न पर विचार हुआ। सोवियत संघ ने सीरियाई और लेबनानी देशभक्तों की मांगों का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया। उपनिवेशवादियों को पीछे हटना पड़ा। १७ अप्रैल, १९४६ को उनकी सेनाएं सीरिया से चली गयी और ३१ दिसंबर, १९४६ को लेबनान से क़ब्ज़ावर सेनाओं को हटाने का काम पूरा हो गया। सीरिया और लेबनान स्वतंत्र देश बन गये।

मार्च, १९४६ में ब्रिटेन ने ट्रांस-जोर्डन को आज़ादी दे दी। यमन ने भी अपनी स्वाधीन नीति अपनायी। मिस्र और इराक़ में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन तेज़ हुआ। इस प्रकार युद्धोपरांत पहले वर्षों में ही मध्य पूर्व में उपनिवेशवादियों की स्थिति काफी कमज़ोर पड़ गयी। तो भी साम्राज्यवादियों को यह आशा थी कि वे इस क्षेत्र पर अपना नियंत्रण बनाये रख सकेंगे।

फ़िलिस्तीन में युद्ध

फ़िलिस्तीन की सारी जनता – यहूदी भी और अरब भी – ब्रिटिश उपनिवेशवादियों को खदेड़ने के लिए कृतसंकल्प थी। १९४७ में संयुक्त राष्ट्र संघ में फ़िलिस्तीनी समस्या पर विचार किया गया। सोवियत संघ के प्रतिनिधियों ने ब्रिटिश "संरक्षकों" को हटाने और फ़िलिस्तीन में अरब-यहूदी जनवादी राज्य की स्थापना की मांग की। किंतु साम्राज्यवादियों के षड्यंत्रों, सियोनवादी नेताओं के अंधराष्ट्रवादी रुख तथा अरब देशों के प्रतिक्रियावादी सामंती तत्वों की नीति ने ऐसे राज्य की स्थापना असंभव बना दी।

नवंबर, १९४७ में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि फ़िलिस्तीन को अरब और यहूदी राज्यों में विभाजित कर दिया जाये और जेरूसलम का अंतर्राष्ट्रीयकरण किया जाये। मई १९४८ में तेल-अवीव में इज़रायल राज्य की स्थापना की घोषणा की गयी।

तुरंत ही इज़रायल और अरब देशों – मिस्र, इराक़, सीरिया, लेबनान, यमन, सऊदी अरब, ट्रांस-जोर्डन के बीच लड़ाई छिड़ गयी। इज़रायली शासक सारा फ़िलिस्तीन हथियाना चाहते थे और अरब देश चाहते थे कि फ़िलिस्तीन अरबों को वापस मिले। ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवादियों को आशा थी कि इस युद्ध से मध्य पूर्व के जनगण का ध्यान साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष से हट जायेगा।

शीघ्र ही अरब देशों की हार होने लगी। इसका कारण यह था कि उनके बीच तीव्र अंतर्विरोध थे और मिस्र के बादशाह फ़ारूक तथा ट्रांस-जोर्डन के बादशाह अब्दुल्ला जैसे साम्राज्यवाद के पिट्ठू शासक लड़ाई लड़ने में अक्षम थे। फलस्वरूप इज़रायल उस क्षेत्र के बड़े भाग पर क़ब्ज़ा करने में सफल हो गया, जिसपर अरब फ़िलिस्तीनी राज्य की स्थापना की जानी थी। फ़रवरी से जुलाई, १९४९ के काल में इज़रायल और उसके विरोधियों के बीच युद्ध-विराम समझौते हुए। अप्रैल, १९५० में संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन की मौन सहमति से इज़रायल और ट्रांस-जोर्डन ने परिकल्पित अरब फ़िलिस्तीनी राज्य के क्षेत्र का आपस में बंटवारा कर लिया। इसके बाद से ट्रांस-जोर्डन में जोर्डन नदी के पूर्व और पश्चिम, दोनों ओर के इलाक़े शामिल हो गये और उसने नया नाम जोर्डन धारण कर लिया।

९,००,००० से अधिक फ़िलिस्तीनी अरबों को अपनी मातृभूमि छोड़नी पड़ी। और इस तरह फ़िलिस्तीनी शरणार्थियों की दुःसाध्य समस्या खड़ी हुई। अरब-इज़रायली शत्रुता अंतर्राष्ट्रीय तनाव का एक स्थायी स्रोत बन गयी।

मिस्र की १९५२ की क्रांति

मिस्र में राजनीतिक स्वाधीनता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा देश पर ब्रिटिश सेनाओं का क़ब्ज़ा था, जिसे १९३६ के ब्रिटिश-मिस्री समझौते ने वैध रूप दे दिया था। साम्राज्यवादी अंकुश के साथ ही गांवों में ज़मींदारों के उत्पीड़न का बोलबाला था। देश का शासन भ्रष्ट सामंती गुट के हाथों में था। उधर द्वितीय महायुद्ध के दौरान मिस्र का औद्योगिक विकास काफ़ी तेज़ी से हुआ था। औद्योगिक मज़दूरों की संख्या १९३९ में २,७३,००० से बढ़कर १९४७ में ३,६७,००० हो गयी थी।

युद्ध की समाप्ति के पश्चात देश में प्रदर्शनों की लहर दौड़ गयी। जनता की मांग थी कि ब्रिटिश सेनाएं तुरंत हटा ली जायें और १९३६ की संधि रद्द कर दी जाये। मज़दूरों ने हड़तालें शुरू कर दीं, विद्यार्थी सभाएं-प्रदर्शन कर रहे थे। राष्ट्रीय आंदोलन में किसानों, कारीगरों और टुटपुंजिया तत्वों

ने भी भाग लिया। मगर ये साम्राज्यवादविरोधी कार्रवाइयां सुसंगठित नहीं थीं। आम जनता में सर्वाधिक प्रतिष्ठित और लोकप्रिय बूर्जुआ-राष्ट्रीय पार्टी वफ़्द में एक सशक्त दक्षिणपंथी धड़ा बन गया था, जो ज़मींदारों और बड़े बूर्जुआज़ी के हितों को व्यक्त करता था। मज़दूर वर्ग अभी इतना परिपक्व नहीं था कि स्वाधीनता संग्राम का संचालन कर सकता। आतंक और दमन के वातावरण में कम्युनिस्ट अपना संगठन नहीं बनाये रख सके। इसके बावजूद राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

फिर भी संघर्ष में क्रांतिकारी-जनवादी शक्तियों का प्रभाव बढ़ता गया। युद्ध के पश्चात् गठित मिस्री ट्रेड यूनियन महासंघ ने एक राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष कार्यकारिणी बनायी। फ़रवरी, १९४६ के आरंभ में काहिरा की विद्यार्थी समिति ने एक राष्ट्रीय घोषणापत्र (चार्टर) प्रकाशित किया, जिसमें जल, थल और नभ से, नील घाटी के चप्पे-चप्पे से ब्रिटिश सैनिकों को पूर्णतः हटाने की मांग की गयी थी। मज़दूरों और विद्यार्थियों की राष्ट्रीय समिति गठित की गयी, जिसने ब्रिटिश सेनाओं को तुरंत हटवाने के लिए आम हड़ताल का आह्वान किया।

२१ फ़रवरी, १९४६ को काहिरा में एक विशाल जुलूस निकला। ब्रिटिश सैनिकों ने निहत्थे लोगों पर गोलियां चलायीं। देशभक्तों ने शहीदों के शवों को राष्ट्रीय ध्वज में लपेटा और नगर की सड़कों पर उनकी अर्थी निकाली। घोर आतंक के बावजूद जुलूस और प्रदर्शन जारी रहे।

जनता को शांत करने के प्रयास में सरकार ने अंग्रेज़ सेनायें हटाने के प्रश्न पर ग्रेट ब्रिटेन से बातचीत शुरू की, लेकिन वह असफल रही। संयुक्त राष्ट्र संघ में की गयी अपील का भी कोई परिणाम नहीं निकला। जनवरी, १९४७ में सुरक्षा परिषद में जब मिस्र के प्रश्न पर विचार हुआ तो केवल सोवियत संघ, पोलैंड और सीरिया ने ही मिस्री जनता की न्यायपूर्ण मांगों का समर्थन किया।

१९४९ में फ़िलिस्तीनी युद्ध की समाप्ति के पश्चात् मिस्र में वातावरण फिर तनावपूर्ण हो गया। इस बीच मिस्री सेना के अफ़सरों का एक भाग भी क्रांतिकारी विचारों से प्रभावित हो गया था। सेना में आजाद अफ़सर समाज नामक एक गुप्त संगठन बना, जिसका संचालन तीसवर्षीय लेफ़्टिनेंट-कर्नल गमाल अब्देल नासिर ने किया।

जनवरी, १९५० में संसदीय चुनावों के फलस्वरूप वफ़्द पार्टी की सरकार बनी। मगर इस सरकार ने मतदाताओं की आशाओं के अनुसार काम करके नहीं दिखाया। अधिकांश जनता की इच्छा को नज़रंदाज़ करते हुए वफ़्द सरकार ने ग्रेट ब्रिटेन के साथ राजनयिक वार्ताओं का नया दौर शुरू किया।

१९५० के दौरान मिस्र के औद्योगिक केंद्रों में बड़ी-बड़ी हड़तालें हुईं, सारे देश में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ जुलूस निकले, सभाएं हुईं। कुफ़ूर नज्म और बुहूत में किसानों की सामंतवादविरोधी कार्रवाइयां हुईं। नीचे से बढ़ते दबाव से विवश होकर सरकार ने अक्तूबर, १९५१ में संसद में १९३६ की ब्रिटिश-मिस्री संधि तथा १८९९ के सूडान पर सहशासन से संबंधित समझौते को रद्द करने का विधेयक पास करवाया।

अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों ने इसके बदले में खूनी दमनचक्र चलाया। १६ अक्तूबर को इस्माइलिया और पोर्ट-सईद में प्रदर्शनकारियों और ब्रिटिश सैनिकों के बीच ज़ोरदार टकराव हुआ। १६ अक्तूबर से लेकर ५ नवंबर तक क़ब्ज़ावरों ने ५०० से अधिक मिस्रियों को मौत के घाट उतारा और घायल किया। स्वेज़ नहर के इलाक़े में छापामार युद्ध छिड़ गया। देशभक्तों ने "मुक्ति टुकड़ियां" बनायीं, जो ब्रिटिश सेना के भंडारों और संचार लाइनों को उड़ाती थीं। अंग्रेज़ों के साथ सशस्त्र मुठभेड़ें भी बढ़ रही थीं। पोर्ट-सईद में साइप्रसी सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। लंदन के 'टाइम्स' समाचारपत्र ने दिसंबर, १९५१ में लिखा कि ब्रिटिश सैनिक चरम तनाव की अवस्था में हैं, वे नहीं समझते कि ऐसे फ़ौजी अड्डे को बनाये रखने में क्या तुक है, जिसका स्थानीय लोगों की शत्रुता के कारण कोई महत्त्व नहीं रह गया है।

२५ जनवरी, १९५२ को ब्रिटिश सैनिकों ने इस्माइलिया में देशभक्तों से जा मिली पुलिस की टुकड़ी पर धावा बोल दिया, जिसमें ६८ लोग मारे गये। अगले दिन सुबह ३३० मिस्री सैनिक काहिरा की एक बैरक से बाहर निकल आये और उन्होंने अंग्रेज़ों से लड़ने के लिए हथियार मांगे। जनता सैनिकों से जा मिली। प्रदर्शनकारी नारे लगा रहे थे: "कायर सरकार मुर्दाबाद!", "ग़द्दार बादशाह मुर्दाबाद!", "अंग्रेज़ी राज मुर्दाबाद!"। इस बीच प्रदर्शनकारियों में जा मिले एजेंटों ने आग लगानी शुरू कर दी। ७०० इमारतें जल उठीं, ३० लोग आग में जलकर मर गये, ७०० से अधिक घायल हुए। लेकिन पुलिस के कान पर जूं तक न रेंगी। काहिरा के इन अग्निकांडों से बादशाह फ़ारूक़ को वफ़्द सरकार को बर्खास्त करने का बहाना मिला और उसने उग्र प्रतिक्रियावादी अली माहिर को प्रधानमंत्री नियुक्त कर दिया। भारी संख्या में देशभक्तों को गिरफ़्तार किया जाने लगा, फ़ौजी अदालतें काम करने लगीं।

१९५२ में मिस्री जनता के राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम ने निर्णायक चरण में प्रवेश किया। शाही हुकूमत बिल्कुल अलग-थलग पड़ गयी थी। स्वेज़ नहर के क्षेत्र में छापामार युद्ध, विशाल प्रदर्शन और हड़तालें हुईं – यह सब इस बात का प्रमाण था कि क्रांति ज़ोर पकड़ रही है। मगर मज़दूर वर्ग अच्छी तरह संगठित नहीं था और जनता का नेतृत्व नहीं कर सका। दूसरी ओर, मिस्र के

राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी का रुख़ विरोधाभासपूर्ण था। वह उपनिवेशवादियों को भगाना और भ्रष्ट शाही हुकूमत से छुटकारा पाना चाहता था, लेकिन साथ ही जन क्रांति की संभावना से भयभीत भी था। वफ़्द और दूसरी बूर्जुआ-जमींदाराना पार्टियों का प्रभाव दिन पर दिन कम हो रहा था। ऐसी परिस्थितियों में बूर्जुआ वर्ग सैनिक अफ़सरों से ही उम्मीद लगाये था। अफ़सर समाज के कार्यकलापों का महत्त्व बढ़ रहा था।

इस संगठन के अधिकांश सदस्य निम्न बूर्जुआ वर्ग के या समृद्ध किसान परिवारों के थे। उनमें अपनी मातृभूमि के लिए सच्ची आज़ादी पाने, शाही हुकूमत का अंत करने तथा देश में जनवादी सुधार लाने की उत्कट अभिलाषा थी, मगर वे स्पष्टतः यह नहीं जानते थे कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश का विकास कैसे होगा। अधिकांश अफ़सरों का मत यह था कि स्वाधीन मिस्र पूंजीवादी ढंग का राज्य होगा।

२३ जुलाई, १९५२ को आज़ाद अफ़सर समाज ने सारी मिस्री सेना के समर्थन से सरकार का तख़्ता पलट दिया। जनता ने अपने संघर्ष से उपनिवेशवादियों और उनके देसी एजेंटों की स्थिति कमज़ोर करके इस सैनिक कार्रवाई की सफलता के लिए आधार तैयार कर दिया था। सत्ता वस्तुतः क्रांतिकारी परिषद ने संभाली, जिसमें नासिर को प्रमुख भूमिका प्राप्त थी। आरंभ में तो पुराने प्रधानमंत्री अली माहिर ने ही नयी सरकार बनायी। क्रांतिकारी परिषद की ओर से सभी घोषणाएं उसका अध्यक्ष जनरल मुहम्मद नजीब जारी करता था। २६ जुलाई को बादशाह फ़ारूक ने ग़द्दी छोड़ दी और अपने साथ माल-मत्ते से भरे २०४ संदूक लेकर सदा के लिए देश से चला गया। भ्रष्ट शाही हुकूमत के पतन से जनता में ख़ुशी की अपूर्व लहर दौड़ गयी।

२३ जुलाई की घटनाएं क्रांति का आरंभ ही थीं। ७ सितंबर को अली माहिर को प्रधानमंत्री के पद से हटा दिया गया और जनरल नजीब को उसके स्थान पर नियुक्त किया गया। क्रांतिकारी परिषद के निर्णय से ९ सितंबर को नयी सरकार ने शाही ज़मीनों को ज़ब्त करने और ज़मींदारों की ज़मीनों के एक भाग का स्वामित्वहरण करने का क़ानून पास किया। यह ज़मीन छोटे किसानों को बांटी जानी थी, जिन्हें इसकी क़ीमत सरकार को ३०-४० वर्षों के दौरान किश्तों में अदा करनी थी। १८ जून, १९५३ को मिस्र को गणराज्य घोषित किया गया। नवंबर, १९५४ से नासिर ने राष्ट्रपति पद संभाला। मिस्र सरकार ने ब्रिटेन से मांग की कि वह स्वेज नहर क्षेत्र से अपनी फ़ौजें हटा ले। कठिन संघर्ष के पश्चात् १९ अक्तूबर, १९५४ को इस विषय पर समझौता हुआ। १३ जून १९५६ को आख़िरी ब्रिटिश फ़ौजी टुकड़ियां मिस्र छोड़कर चली गयीं।

लीबिया, सूडान, ट्यूनीशियां और मोरक्को की स्वतंत्रता

उत्तरी अफ़्रीका के दूसरे देशों में भी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का तेज़ी से विस्तार हुआ। मिस्री जनता के वीरतापूर्ण साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष का इन देशों पर गहरा प्रभाव पड़ा था। द्वितीय महायुद्ध के वाद भूतपूर्व इतालवी उपनिवेश लीविया में ब्रिटेन और फ़्रांस की फ़ौजें टिकी रही थीं और अमरीका ने भी यहां अपना एक फ़ौजी अड्डा वना लिया था। साम्राज्यवादी ताक़तें लीविया पर अपना प्रभुत्व सदा के लिए वनाये रखना चाहती थीं और उसके विभाजन के मंसूबे वना रही थीं। किंतु लीवियाई जनता की आज़ादी और एकता की मांग उत्तरोत्तर ज़ोर पकड़ती जा रही थी। १९४९ में सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्र महासभा में यह प्रस्ताव रखा कि लीविया को तुरंत स्वाधीनता प्रदान की जाये, वहां से विदेशी फ़ौजें हटायी जायें और विदेशी फ़ौजी अड्डे वंद किये जायें। त्रिपोली में विशाल प्रदर्शन हुए, जिनमें लोग नारे लगा रहे थे: "ब्रिटिश-अमरीकी साम्राज्यवाद मुर्दाबाद!", "लीवियाई एकता ज़िंदा-वाद!", "जनगण की स्वतंत्रता का समर्थक सोवियत संघ ज़िंदाबाद!"।

ऐसे वातावरण में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने १ जनवरी १९५२ से लीविया को स्वतंत्रता प्रदान करने का प्रस्ताव स्वीकार किया। इस देश को प्रभुसत्तासंपन्न राज्य घोषित किया गया और इसका नाम संयुक्त लीविया वादशाहत रखा गया।*

सूडान की स्थिति पर भी मिस्री क्रांति का प्रवल प्रभाव पड़ा। यहां १९ वीं सदी के अंत से ब्रिटिश-मिस्री सहशासन समझौते के आधार पर अंग्रेज़ उपनिवेशवादियों ने अपना अधिकार जमा रखा था। धनी वर्गों के हितों को व्यक्त करनेवाली अल-अशीग़ा और अल-उम्मत पार्टियों के साथ-साथ मेहनतकशों के संगठन भी देश के राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लेने लगे थे। ट्रेड यूनियनें एक गंभीर शक्ति वन रही थीं। १९५० में देश में सूडानी मज़दूर ट्रेड यूनियन सहासंघ वनाया गया, जिसने डेढ़ लाख लोगों को संगठित किया। १९४६ में स्थापित सूडानी कम्युनिस्ट पार्टी भी गुप्त रूप से काम कर रही थी।

१५ अक्तूवर, १९५१ को मिस्र ने सहशासन संधि रद्द कर दी। ब्रिटिश शासक सांविधानिक चालों से सूडान पर अपना नियंत्रण वनाये रखना चाहते थे। परंतु सूडान में साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष और मिस्री क्रांति की विजय के फलस्वरूप ऐसा करना असंभव हो गया।

---

* १ सितंवर, १९६९ को हुई क्रांति के फलस्वरूप लीविया गणराज्य वन गया, अव यह लीविया अरव गणराज्य कहलाता है।

१२ फ़रवरी, १९५३ को ग्रेट ब्रिटेन और मिस्र ने सूडान संबंधी समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार सहशासन समाप्त हुआ और यह माना गया कि तीन वर्ष के संक्रमणकाल के पश्चात् सूडानी जनता को आत्मनिर्णय का अधिकार होगा। नवंबर, १९५३ में हुए संसदीय चुनावों के फलस्वरूप राष्ट्रीय सरकार सत्तारूढ़ हुई। १९५५ में ब्रिटिश सेना को हटाये जाने का काम संपन्न हुआ और १ जनवरी, १९५६ को सूडान गणराज्य घोषित हो गया।

फ़ांसीसी और स्पेनी उपनिवेशकों ने मोरक्को को दो हिस्सों में बांट रखा था। युद्ध के पश्चात् सारे देश में स्वतंत्रता और एकीकरण के लिए आंदोलन चला। सुल्तान मुहम्मद पंचम ने, जो राष्ट्रीय बूर्जुआ वर्ग की आकांक्षाओं से सहानुभूति रखता था, १९५० के शरद में फ़ांसीसी सरकार से स्वतंत्रता की मांग की। सुल्तान और फ़ांसीसी शासकों के बीच मतभेद जन आंदोलन के उत्थान में सहायक था। मोरक्को की कम्युनिस्ट पार्टी ने इसमें सक्रिय भाग लिया। बूर्जुआ राष्ट्रीय पार्टियों का गुट मोरक्को राष्ट्रीय मोर्चा भी स्वतंत्रता की मांग कर रहा था। देश में इस मोर्चे का काफ़ी प्रभाव था।

फ़ांसीसी उपनिवेशवादियों को उम्मीद थी कि वे हथियारों के बल पर इस आंदोलन को कुचल डालेंगे, साथ ही उन्हें सामंतवादी तत्त्वों के समर्थन का भी भरोसा था। १९५३ में उन्होंने इन तत्त्वों की मदद से मुहम्मद पंचम को गद्दी से उतारकर मडागास्कर में निर्वासित कर दिया और अपने पिट्ठू को गद्दी पर बिठाया। इस बलात् सत्ता-परिवर्तन के साथ-साथ देशभक्तों पर खूनी अत्याचार भी किये गये। लेकिन आतंक के प्रत्याशित परिणाम न निकले। देशभक्त हथियारबंद जत्थे बनाकर फ़ौजी रेलगाड़ियों व भंडारों पर हमला करने लगे। अक्तूबर, १९५५ में रिफ़ और अत्लस के पहाड़ी क़बीलों ने फ़ांसीसियों के खिलाफ़ विद्रोह कर दिया। फ़्रांस सरकार को रिआयतें देने पर मजबूर होना पड़ा। मुहम्मद पंचम निर्वासन से लौट आया और फिर से गद्दी पर बैठा। २ मार्च, १९५६ को मोरक्को की स्वाधीनता के बारे में फ़ांसीसी-मोरक्को घोषणा पर हस्ताक्षर हुए। ५ अप्रैल को स्पेन ने भी देश की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली। भूतपूर्व फ़ांसीसी और स्पेनी क्षेत्र मोरक्को राज्य में एकाकार हो गये।

लगभग इसी समय ट्यूनीशिया की जनता ने भी स्वतंत्रता पायी। युद्धोपरान्त काल में देशभक्तिपूर्ण आंदोलन ज़ोरों पर था। ऐसी परिस्थिति में सरकार ने, जिसमें प्रभावशाली बूर्जुआ-राष्ट्रीय नौ (नया) दस्तूर पार्टी के सदस्य भी शामिल थे, अगस्त, १९५० में फ़्रांस के साथ वार्ता आरंभ की। डेढ़ साल तक वार्ता चली, किंतु इसका कोई नतीजा नहीं निकला। नौ दस्तूर पार्टी, ट्यूनीशियाई कम्युनिस्ट पार्टी, ट्रेड यूनियनों और दूसरे संगठनों के आह्वान

पर दिसंबर, १९५१ में आम हड़ताल हुई। जनवरी, १९५२ में फ़्रांसीसी शासकों ने ट्यूनीशियाई देशभक्तों के जुलूस पर गोलियां चलायीं। नौ दस्तूर पार्टी के हबीब बुर्गिबा और दूसरे नेता तथा कम्युनिस्ट पार्टी के मुहम्मद अन्नाफ़े और दूसरे कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार करके रेगिस्तान में निर्वासित कर दिया गया।

ट्यूनीशियाई देशभक्तों ने हथियार उठा लिये। छापामार दस्ते बने, जो राष्ट्रीय मुक्ति सेना में संगठित हुए। दो वर्ष के सशस्त्र संघर्ष ने यह सिद्ध किया कि फ़्रांस हथियारों के बल पर कुछ नहीं कर पायेगा। सितंबर, १९५४ में फ़्रांस-ट्यूनीशिया वार्ता आरंभ हुई। फ़्रांस हर तरह से इसे लंबा खींचने की कोशिशें करता रहा, पर आखिर उसे ट्यूनीशिया की स्वायत्तता स्वीकार करनी पड़ी और २० मार्च, १९५६ को उसने ट्यूनीशिया की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी।

स्वेज़ संकट

छठे दशक के पूर्वार्ध में अरब देशों की जनता को अपने मुक्ति संग्राम में जो सफलतायें मिलीं, उनसे पश्चिमी एशिया में साम्राज्यवादी ताक़तों की स्थिति के लिए खतरा पैदा हो गया। जुलाई, १९५२ की क्रांति के बाद मिस्र स्वाधीन नीति का अनुसरण करने लगा। उसने बग़दाद संधि मे शामिल होने से इंकार कर दिया। जब ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका ने मिस्र को हथियार बेचने बंद कर दिये, तो नासिर की सरकार समाजवादी देशों से हथियार खरीदने लगी। मिस्री सेना को आधुनिक शस्त्रास्त्र मिले; यह अरब जनगण के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को ठोस सहायता थी।

जुलाई, १९५६ में मिस्र की सरकार ने स्वेज़ नहर के राष्ट्रीयकरण का क़ानून स्वीकृत किया। इसके जवाब में उपनिवेशवादियों ने सशस्त्र आक्रमण का मार्ग अपनाया। ३० अक्तूबर, १९५६ को इज़रायली फ़ौज ने मिस्र पर हमला बोल दिया और अगले दिन ब्रिटेन और फ़्रांस की फ़ौजें भी उससे आ मिलीं। काहिरा, सिकंदरिया, पोर्ट-सईद और दूसरे नगरों पर बमबारी होने लगी।

मिस्र पर ब्रिटेन, फ़्रांस और इज़रायल का संयुक्त हमला औपनिवेशिक प्रणाली को पूर्णतः ध्वस्त होने से बचाने, जवाबी हमला करने और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन पर करारी चोट करने की कोशिशों का ही परिचायक था। परंतु उपनिवेशवादियों ने यह बात ध्यान में नहीं रखी कि दूसरे महायुद्ध के बाद विश्व में शक्ति संतुलन मूलतः बदल चुका था। सोवियत संघ

और समाजवादी देश ऐसी सशक्त ढाल बन गये थे, जो उत्पीड़ित जनगण की न्यायोचित आकांक्षाओं की रक्षा कर सकती थी। ५ नवंबर को सोवियत सरकार ने ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस और इज़रायल को गंभीर चेतावनी दी। ब्रिटिश प्रधानमंत्री को भेजे गये सोवियत संघ की मंत्रिपरिषद के अध्यक्ष के संदेश में कहा गया था: "हम शक्ति का प्रयोग करके आक्रामकों को मुंहतोड़ जवाब देने तथा पूर्व में शांति पुनर्स्थापित करने के लिए कृतसंकल्प हैं।" इस चेतावनी का प्रभाव पड़ा। ६ नवंबर को आक्रामकों ने मिस्र में सैनिक कार्रवाइयां बंद करने की घोषणा कर दी।

ब्रिटेन, फ़्रांस और इज़रायल के हमले का सामना करने में मिस्री जनता ने असाधारण साहस का परिचय दिया था। इस संबंध में पोर्ट-सईद की रक्षा का उदाहरण ख़ासकर उल्लेखनीय है। हज़ारों मज़दूर सेना में भरती हुए; कारख़ानों और सार्वजनिक इमारतों की रक्षा करनेवाले राष्ट्रीय गार्डों का बड़ा भाग ये मज़दूर ही थे। आक्रामकों का सामना करने में व्यापक जन समूह के भाग लेने के कारण मिस्री क्रांति की जड़ें और भी मज़बूत बनीं।

संयुक्त अरब गणराज्य

१९५२ की मिस्री क्रांति के बाद और विशेषतः स्वेज़ युद्ध में उपनिवेशवादियों के मंसूबे नाकाम हो जाने के पश्चात सीरिया में जनवादी ताक़तों के प्रभाव में और भी वृद्धि हुई। १९५७ में साम्राज्यवाद ने इस देश पर ख़ास तौर पर दबाव डाला और इसके लिए अमरीकी सरकार ने तुर्की और इज़रायल को इस्तेमाल किया। साम्राज्यवादी ख़तरे को देखते हुए सीरियाई जनता में मिस्र से क़रीबी संबंध स्थापित करने की इच्छा जागी। सीरियाई ज़मींदार और बड़े पूंजीपति जनवादी शक्तियों के बढ़ते प्रभाव से चिंतित थे, अतः वे सोचते थे कि मिस्र के साथ विलय से उनकी स्थिति सुदृढ़ हो जायेगी। फ़रवरी, १९५८ में मिस्र और सीरिया का विलय हुआ और संयुक्त अरब गणराज्य की स्थापना हुई। बाद में यमन भी स्वाधीन सदस्य के रूप में इसमें शामिल हुआ।

परंतु यह जल्दबाज़ी में किया गया विलय सफल नहीं रहा। सीरियाई सेना में हुए विद्रोह के कारण सितंबर, १९६१ में सीरिया संयुक्त अरब गणराज्य से अलग हो गया, जिसके बाद उसने अपना नाम बदलकर सीरियाई अरब गणराज्य रख लिया। १९६३ में संयुक्त अरब गणराज्य और यमन का संघ भी टूट गया। मिस्र ने संयुक्त अरब गणराज्य नाम बनाये रखा।*

---

* १९७१ से उसका नाम मिस्री अरब गणराज्य है।

इराक़ की जुलाई, १९५८ की क्रांति

मध्य पूर्व में ब्रिटेन, फ्रांस और इज़रायल की सैनिक साज़िश के विफल हो जाने के पश्चात इराक़ में भी क्रांतिकारी स्थिति तेज़ी से परिपक्व हो रही थी। यह अरब राज्य ब्रिटिश संरक्षण में था और इस तरह ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग था। वैसे तो १९२२ में ब्रिटेन का संरक्षण अधिकार वापस ले लिया गया था, परंतु असमान संधियों के बल पर अंग्रेज़ इराक़ को अपने नियंत्रण में बनाये हुए थे। १९३० से ब्रिटेन "मैत्री और संघ की संधि" का इस्तेमाल करता आ रहा था। इराक़ में फैले साम्राज्यवादविरोधी जन आंदोलन के कारण १९५५ में ब्रिटेन को १९३० की संधि रद्द करनी पड़ी; किंतु फिर भी बगदाद संधि के अंतर्गत इराक़ के मित्रराष्ट्र के तौर पर ब्रिटेन इराक़ की सेना, हवाई अड्डों और सामरिक महत्त्व के संचार साधनों को अपनी मर्ज़ी से इस्तेमाल कर रहा था।

ब्रिटिश उपनिवेशवादी इराक़ में बड़े सामंतों और कंप्रेडोर बूर्ज़ुआज़ी के भरोसे प्रतिक्रियावादी शासन बनाये रखे हुए थे। १९३० से इराक़ की सभी सरकारों में अंग्रेज़ों की कठपुतली नूरी अल-सईद प्रमुख भूमिका अदा कर रहा था।

१९४८ और १९५२ में इराक़ में विदेशी उपनिवेशवादियों और स्वदेशी प्रतिगामी शक्तियों के विरुद्ध जन-विद्रोह हुए। मिस्र पर ब्रिटेन-फ़्रांस-इज़रायल के हमले के समय इराक़ में भारी प्रदर्शन हुए, जिन्होंने विद्रोह का रूप धारण कर लिया। यह विद्रोह कुचल तो दिया गया, किंतु देश में क्रांतिकारी स्थिति चरम पर पहुंचती जा रही थी। १९५७ के आरंभ में गुप्त रूप से काम कर रही कम्युनिस्ट पार्टी और बूर्ज़ुआ राष्ट्रीय संगठनों – राष्ट्रीय-जनवादी पार्टी, इस्तिक़लाल पार्टी, अरब समाजवादी पुनरुत्थान पार्टी (बाआथ) ने मिलकर एक राष्ट्रीय एकता मोर्चा गठित किया। मिस्र की मिसाल पर इराक़ी सेना में भी आज़ाद अफ़सर समाज नाम का गुप्त संगठन बना था, वह भी राष्ट्रीय मोर्चे के साथ सहयोग करने लगा।

१४ जुलाई, १९५८ को जनरल अब्देल करीम कासिम के नेतृत्व में आज़ाद अफ़सर समाज के सदस्यों द्वारा संचालित फ़ौजी टुकड़ियां बगदाद में घुस आयीं। उन्होंने सरकारी इमारतों और शाही महल क़ब्ज़े में कर लिया। बादशाह फ़ैज़ल द्वितीय और नूरी अल-सईद मारे गये। जनरल कासिम के नेतृत्व में नयी सरकार सत्ता में आयी।

ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका ने इराक़ी क्रांति के विरुद्ध हस्तक्षेप करने की कोशिश की। १५ जुलाई को अमरीकी फ़ौजी टुकड़ियां पड़ोसी देश लेबनान में

उतरीं, १७ जुलाई को अंग्रेज़ फ़ौजें जोर्डन में घुसीं। किंतु इराक़ी जनता अपनी क्रांति की रक्षा के लिए कृतसंकल्प थी। उसे एशिया और अफ़्रीकी जनगण का पूरा-पूरा समर्थन मिला, सोवियत सरकार ने भी इराक़ी क्रांति के पक्ष में ज़ोरदार बयान दिया। फलस्वरूप साम्राज्यवादियों को पीछे हटना पड़ा।

इराक़ स्वाधीन प्रभुसत्तासंपन्न देश बन गया। मार्च, १९५९ में सरकार ने बग़दाद संधि से अलग होने की घोषणा कर दी। कई महत्त्वपूर्ण जनवादी सुधार लागू किये गये, देश में गणतंत्रीय पद्धति की पुष्टि की गयी और अरबों और कुर्दों की समानता की घोषणा की गयी। मज़दूरों को ट्रेड यूनियनों में संगठित होने, किसानों को किसान संगठन बनाने के अवसर मिले। राजनीतिक पार्टियों के, जिनमें कम्युनिस्ट पार्टी भी थी, समाचारपत्र वैध रूप से प्रकाशित होने लगे। ३० सितंबर, १९५८ को कृषि सुधार क़ानून जारी किया गया, जिससे ज़मींदारों की संपत्ति की सीमा निर्धारित की गयी।

लेकिन १९५९ के मध्य से क़ासिम की सरकार राष्ट्रीय शक्तियों की एकता और जनतापरक नीतियों से हटने लगी। उसने कुर्दों के खिलाफ़ लड़ाई छेड़ दी और उन्हें हर तरह के जातीय अधिकारों से वंचित करने की कोशिश करने लगी। राष्ट्रीय मोर्चा भंग हो गया। क़ासिम अपनी व्यक्तिगत तानाशाही सुदृढ़ करने लगा। इस सबसे सरकार की स्थिति कमज़ोर हुई और ८ फ़रवरी, १९६३ को इराक़ में फ़ौजियों ने सरकार का तख़्ता पलट दिया। सत्ता उग्रपंथी तत्वों के हाथों में आ गयी, जिन्होंने प्रतिक्रियावादी हुकूमत स्थापित की और जनवादी शक्तियों, सर्वप्रथम, कम्युनिस्टों के विरुद्ध ख़ूनी दमनचक्र चलाया। नवंबर, १९६३ में आरिफ़ के नेतृत्व में एक फ़ौजी गुट ने सत्ता हथिया ली और शीघ्र ही आरिफ़ स्वयं इराक़ का राष्ट्रपति बन बैठा। नयी सरकार की नीति, विशेषतः राष्ट्रपति आरिफ़ की मृत्यु और उसके भाई के इस पद पर सत्तारूढ़ होने के पश्चात अधिकाधिक दकियानूसी होती गयी। इस सरकार द्वारा साम्राज्यवादी ताक़तों के साथ निकट संबंध स्थापित किया जाना मात्र संयोग नहीं था। कुर्दों के खिलाफ़ लड़ाई भी रुक-रुककर जारी रही। जनता में फैले असंतोष के कारण जुलाई, १९६८ में यह सरकार गिर गयी और अरब समाजवादी पुनरुत्थान पार्टी सत्ता में आयी। क्रांतिकारी कमान परिषद के अध्यक्ष अल-बक्र ने, जो बाद में राष्ट्रपति बना, नयी सरकार बनायी। यह सरकार सामाजिक सुधारों का एक व्यापक कार्यक्रम लागू करने लगी। इसने, सर्वप्रथम, देश की प्रभुसत्ता सुदृढ़ करने, अर्थव्यवस्था को विकसित करने, कुर्दों के साथ लड़ाई ख़त्म करने की ओर ध्यान दिया। देश में सभी तेल कंपनियों का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया। इराक़ पूर्व में पहला ऐसा बड़ा तेल उत्पादक देश था, जिसने अपने भूगर्भ की इस प्रधान संपदा की

निकासी, परिशोधन और विक्रय को पूरी तरह अपने नियंत्रण में लिया। १९६९ में कम्युनिस्ट भी सरकार में शामिल हुए।

इराक़ ने सभी विदेशी फ़ौजी अड्डे बंद कर दिये और अमरीका तथा ब्रिटेन के साथ हुए बंधक समझौते रद्द कर दिये।

अल्जीरियाई जनता का राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम

महायुद्ध के दिनों में फ़्रांसीसी राष्ट्रीय मुक्ति समिति ने अपना हेडक्वार्टर अल्जीरिया में बना लिया था। यह अल्जीरियाई लोगों में राष्ट्रीय चेतना के जागरण में सहायक बना। युद्ध के समाप्त होते ही अल्जीरियाई नगरों में विशाल जुलूस निकले और देश को स्वतंत्रता दिये जाने की मांग की जाने लगी। सतीफ़ और गुएल्मा ज़िलों में प्रदर्शनकारियों पर गोलियां चलीं। इससे जनता का आक्रोश और भड़का और उसने बढ़कर स्वतःस्फूर्त विद्रोह का रूप ले लिया। लेकिन न तो विद्रोहियों के पास हथियार ही थे और न ही वे सुसंगठित थे, इसलिए मई महीना ख़त्म होते न होते फ़्रांसीसियों ने अल्जीरियाई देशभक्तों के विद्रोह को कुचल डाला। घोर दमनचक्र चला, राष्ट्रीय संगठन भंग कर दिये गये या वे भूमिगत हो गये, बहुत से नेताओं को जेलों में डाल दिया गया। लेकिन फ़्रांसीसी उपनिवेशवादियों के विरुद्ध संघर्ष जारी रहा। स्वतंत्रता-सेनानियों की अग्रिम क़तारों में अल्जीरिया का मज़दूर वर्ग था, जिसमें यूरोपीय मूल के लोगों के साथ-साथ स्वयं अल्जीरियाई भी बड़ी भूमिका अदा करने लगे थे। कम्युनिस्ट पार्टी ने जेलों में बंद विद्रोहियों की रिहाई के वास्ते और पुलिस अत्याचार के ख़िलाफ़ जन आंदोलन चलाया। फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी ने अल्जीरियाई देशभक्तों का सक्रिय समर्थन किया।

१९४७ में जब फ़्रांस के सत्तारूढ़ हल्क़ों ने अमरीका के इशारों पर चलते हुए कम्युनिस्टों को सरकार से निकाल दिया, तब तथाकथित अल्जीरियाई संविधि इस देश पर थोपी गयी, जिसमें कुछ रिआयतों का दिखावा करते हुए देश की उपनिवेशी स्थिति की पुष्टि की गयी थी। इससे अल्जीरियाई जनता के लिए स्पष्ट हो गया कि केवल अथक संघर्ष से ही वह घृणित औपनिवेशिक हुकूमत से, राष्ट्रीय उत्पीड़न से और फ़्रांसीसी शासकों के आतंक से छुटकारा पा सकती है। पुनर्स्थापित राष्ट्रवादी संगठनों के नेता भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे। ये संगठन राष्ट्रीय बूर्जुआ वर्ग और बूर्जुआ बुद्धिजीवियों के हितों तथा छोटे व्यापारियों, दस्तकारों, दफ़्तरी कर्मचारियों और विद्यार्थियों के हितों को व्यक्त करते थे। छठे दशक के आरंभ में जब अल्जीरिया के पड़ोसी फ़्रांसीसी उपनिवेशों – ट्यूनीशिया और मोरक्को – में स्वतंत्रता के लिए सशस्त्र संघर्ष छिड़ा, तो अल्जीरिया के पहाड़ी इलाक़ों में भी सशस्त्र छापामार दल

सक्रिय हो गये। अल्जीरियाई देशभक्तों ने इन बातों को ध्यान में रख लिया था कि एशियाई और अफ़्रीकी जनगण का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन काफ़ी तेज़ हो गया है और फ़्रांसीसी उपनिवेशवादी वियतनामी जनता के ख़िलाफ़ "घिनौने युद्ध" में बरसों से फंसे हुए हैं।

१ नवंबर, १९५४ को एकता और कार्रवाई की क्रांतिकारी समिति ने, जो भूमिगत थी, अल्जीरियाई लोगों का आह्वान किया कि वे स्वाधीनता के लिए सशस्त्र संघर्ष छेड़ें। पहले तो लड़ाई कोन्स्तांतीन नगर के दक्षिण में शुरू हुई और फिर अल्जीयर्स नगर के पूर्व में स्थित विशाल पर्वतीय प्रदेश कावीलिया में और यहां से फिर सशस्त्र संघर्ष सारे ही देश में फैल गया। अल्जीरिया में साम्राज्यवादविरोधी जन क्रांति आरंभ हुई, जिसका संचालन राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा कर रहा था। यह मोर्चा एक जन संगठन था, जिसमें आम जनता और विशेषत: किसान वर्ग से जुड़े क्रांतिकारी बुद्धिजीवी प्रमुख भूमिका अदा करते थे। मोर्चे ने सारे देश को कई इलाक़ों में बांटा, हर इलाक़े में अपनी छापामार फ़ौज सक्रिय थी, जो काफ़ी हद तक स्वावलंबी थी, क्योंकि छापामार युद्ध में केंद्रीय संचालन प्राय: असंभव होता है। फ़्रांसीसी उपनिवेशवादियों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष के ये सभी सेनानी अल्जीरियाई राष्ट्रीय मुक्ति सेना के सदस्य थे; १९५८ के अंत में ही इसमें १,३०,००० से अधिक लोग थे। यह सेना दुश्मन पर अचानक ही ज़बरदस्त हमले करती थी, लड़ाई में हथियार हासिल करती थी, फ़्रांसीसियों की संचार व्यवस्था भंग करती थी, सामरिक महत्त्व के ठिकानों को उड़ाती थी और दुश्मन की ताज़ीरी टुकडियों का सफ़ाया करती थी।

फ़्रांसीसी साम्राज्यवादियों ने अल्जीरिया में पाशविक आतंक फैलाया। किसी पर भी अगर उन्हें यह शक होता कि वह सशस्त्र प्रतिरोध से संबंधित है या उससे सहानुभूति रखता है, तो उस पर ज़ुल्म ढाये जाते। अल्जीरियाई देशभक्तों को निर्ममता से सताया गया और हज़ारों की संख्या में उनकी हत्या की गयी, फिर भी फ़्रांसीसी उपनिवेशवादी जब सशस्त्र संघर्ष को कुचलने में सफल न हो सके, तो वे अल्जीरियाई जनता को मिटा डालने पर उतर आये। लगभग ८ वर्ष तक चले स्वाधीनता संग्राम में १५ लाख अल्जीरियाई देशभक्त मारे गये, जबकि देश की कुल आबादी सिर्फ़ ९० लाख थी। लेकिन इस अश्रुत बर्बरता से भी अल्जीरियाई लोग भयभीत न हुए, बल्कि उनका संकल्प और सुदृढ़ ही बना। अल्जीरियाई देशभक्तों को सारी प्रगतिशील मानवजाति का, अरब देशों का और समाजवादी देशों का समर्थन प्राप्त था।

फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी के प्रयासों से स्वयं फ़्रांस में भी अल्जीरिया के साथ न्यायपूर्ण शांति और उसे स्वाधीनता प्रदान करने के लिए जन-आंदोलन छिड़ा। यह आंदोलन इसलिए विशेष महत्त्व रखता था कि न केवल फ़्रांसीसी

बूर्ज़्आ वर्ग में, वल्कि कुछ दूसरे हल्कों में, सर्वप्रथम फ़ौजी हल्कों में भी अंधराष्ट्रवादी प्रवृत्ति बहुत प्रबल थी। इस अंधराष्ट्रवाद को बड़े-बड़े पूंजीपति भड़का रहे थे, जिनका अल्जीरिया को फ़्रांसीसी उपनिवेश बनाये रखने में आर्थिक स्वार्थ निहित था; अल्जीरियाई युद्ध में विजय वे इसलिए भी चाहते थे कि इससे स्वयं फ़्रांस में प्रतिगामी शक्तियों को बल मिलता। शासक वर्ग के इन तत्वों को "अतिवादी" कहा जाने लगा। मई, १९५८ में फ़्रांसीसी सरकार ने अल्जीरियाई देशभक्तों के साथ बातचीत का नाम ही लिया था कि इन "अतिवादियों" ने, जिनसे अल्जीरिया में फ़्रांसीसी सेना का कमांडर जनरल सलां भी आ मिला था, सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।

सितंबर, १९५८ में राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के सर्वोच्च निकाय – अल्जीरियाई क्रांति की राष्ट्रीय परिषद – ने स्वतंत्र अल्जीरिया गणराज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। एक अस्थायी सरकार का गठन किया गया, जिसका मुख्यालय शुरू में काहिरा में था और बाद में ट्यूनिस स्थानांतरित कर दिया गया। इस सरकार ने फ़्रांस के साथ शांति-वार्ता आरंभ करने की तत्परता प्रकट की, किंतु यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। अल्जीरिया गणराज्य की अस्थायी सरकार का गठन अल्जीरियाई जनता के मुक्ति संघर्ष में नये चरण का सूचक था। कुछ देशों ने इस सरकार को मान्यता प्रदान की। मित्र जनगण ने संघर्षरत अल्जीरिया को सहायता बढ़ा दी। अब देशभक्तों को आधुनिक हथियार भी मिलने लगे, जिनकी उन्हें इतनी सख्त ज़रूरत थी। अल्जीरिया में फ़्रांसीसी सैनिकों और शस्त्रास्त्रों की संख्या बढ़ते जाने के बावजूद राष्ट्रीय मुक्ति सेना उन पर अधिकाधिक करारी चोट करती गयी।

आखिर फ़्रांसीसी सरकार को मानना पड़ा कि वह अल्जीरियाई जनता के विरुद्ध युद्ध में जीत नहीं सकती और इसलिए वह अल्जीरिया के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार करने तथा वार्ता करने पर विवश हुई। इसमें कई दूसरे कारक भी सहायक हुए: अल्जीरिया को आज़ाद करने के लिए स्वयं फ़्रांसीसी मेहनतकशों का संघर्ष तेज़ होता जा रहा था, दूसरे, फ़्रांसीसी इजारेदारियों का एक बड़ा भाग नवउपनिवेशवादी दृष्टिकोण अपनाने लगा था, अर्थात् वह आर्थिक तरीक़ों से अल्पविकसित देशों पर अपना प्रभुत्व बनाये रखने की कोशिश में था। १९६० में वार्ता आरंभ हुई, लेकिन फ़्रांस चूंकि अल्जीरियाई देशभक्तों से एक तरह से आत्मसमर्पण करवाना चाहता था, इसलिए वार्ता शीघ्र ही भंग हो गयी और सैनिक कार्रवाइयां जारी रहीं। स्वतंत्रता पाने का अल्जीरियाई देशभक्तों का संकल्प और भी अधिक सुदृढ़ हुआ। १९६१ के वसंत में फ़्रांस को अल्जीरिया गणराज्य की अस्थायी सरकार के प्रतिनिधियों के साथ वार्ता फिर से आरंभ करनी पड़ी। तब अल्जीरिया में "अतिवादियों" ने फिर से विद्रोह कर दिया। यह विद्रोह १९६१ के

आरंभ में उग्रपंथी फ़ौजियों द्वारा स्थापित गुप्त फ़ौजी संगठन (ओ० ए० एस०) के सदस्यों ने किया। राष्ट्रपति दी गॉल के प्रति वफ़ादार टुकड़ियों ने यह विद्रोह दवा दिया, लेकिन गुप्त संगठन ने राष्ट्रपति के आदेश मानने से इंकार कर दिया और अल्जीरियाई स्वतंत्रता के समर्थकों के ख़िलाफ़ ख़ूनी आतंक चलाया।

फ़ांसीसी नगर एवें में गूढ़ गोपनीयता के वातावरण में फ़्रांस और अल्जीरिया के बीच चल रही वार्ता और दो बार भंग हुई। फ़रवरी, १९६२ में यह अंतिम बार शुरू हुई और १८ मार्च को समझौता हो गया। इसके अनुसार देश का शासन तीन से छह महीने के संक्रमणकाल के दौरान अल्जीरियाइयों और फ़्रांसीसियों के मिले-जुले अस्थायी कार्यकारी निकाय को सौंपा जाना था। इस निकाय को यह स्पष्ट करने के लिए जनमत-संग्रह करवाना था कि अल्जीरियाई लोग राष्ट्रीय स्वतंत्रता और फ़्रांस के साथ सहयोग चाहते हैं या नहीं; स्वीकारात्मक उत्तर प्राप्त होने पर (और इसमें किसी को कोई संदेह नहीं था) फ़्रांस को तुरंत ही अल्जीरिया की (सहारा समेत) स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता को मान्यता प्रदान करनी थी तथा तीन वर्षों के अंदर-अंदर अपनी सारी फ़ौजें वहां से हटा लेनी थीं। इसी अवधि में अल्जीरिया में रह रहे यूरोपीय लोगों को यह फ़ैसला करना था कि वे अल्जीरिया की नागरिकता लेंगे या फ़्रांस की। मुक्ति आंदोलन में भाग लेने के कारण जिन अल्जीरियाइयों को सज़ायें दी गयी थीं, उन्हें सर्वक्षमा प्रदान की गयी।

एवें समझौतों में अल्जीरियाई जनता को यद्यपि कुछ हद तक झुकना पड़ा था, फिर भी यह उसकी एक महान विजय थी, जो उसने असंख्य संघर्ष में, असंख्य बलिदान देकर पायी थी। १ जुलाई, १९६२ के जनमत-संग्रह में जनता ने एकमत से स्वतंत्रता का समर्थन किया और अल्जीरिया अंततः प्रभुसत्तासंपन्न राज्य बन गया। अल्जीरियाई क्रांति का नया सामंतवादविरोधी और साम्राज्यवादविरोधी चरण आरंभ हुआ।

उष्णकटिबंधीय और दक्षिणी अफ़्रीका के जनगण स्वतंत्रता के मार्ग पर

द्वितीय महायुद्ध के दौरान अफ़्रीका में भारी परिवर्तन हुए थे। अफ़्रीकी देशों की अर्थव्यवस्था का कायाकल्प हो गया था। यहां सामरिक महत्त्व के कच्चे मालों और खनिजों के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई थी। दूसरे महाद्वीपों से औद्योगिक माल के आयात में आयी कमी के फलस्वरूप हल्के और खाद्य उद्योग का भी कुछ विकास हो गया था। कई भागों में सड़कों और हवाई

अड्डा का निर्माण किया गया था और बंदरगाह बढ़ाये गये थे। इस सब के लिए काम करनेवालों की आवश्यकता थी, सो प्रायः सभी देशों में उजरती मज़दूरों की संख्या बढ़ी थी।

लगभग दस लाख अफ़्रीकियों को सेना में भरती किया गया था। पहले कभी भी इतनी बड़ी संख्या में अफ़्रीकी सैनिक अपने देश, अपने महाद्वीप से बाहर नहीं गये थे। ये न केवल उत्तरी अफ़्रीका के अरब देशों और इथियोपिया में ही, बल्कि पश्चिमी यूरोप और यहां तक कि बर्मा व मलाया में भी लड़े।

महायुद्ध और उसके परिणामों का अफ़्रीकी लोगों की राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना पर अपार प्रभाव पड़ा। शासक-देश, विशेषतः फ़्रांस, बेल्जियम और इटली पराजय के कारण अपनी प्रतिष्ठा खो चुके थे। उपनिवेशवादी प्रचार स्थानीय लोगों के मन में कई पीढ़ियों से यह विश्वास बिठाता आया था कि ये देश अविजेय हैं, अब यह विश्वास टूट चुका था और इसे दुबारा लोगों के मन में नहीं बिठाया जा सकता था। अनेक अफ़्रीकियों का दृष्टिकोण काफ़ी व्यापक हो गया: उन्होंने काफ़ी बड़ी दुनिया देख ली थी। पहली बार अफ़्रीका में विश्व घटनाओं का ऐसा सीधा प्रभाव पड़ा। समाजवादी प्रणाली का आविर्भाव और फिर एशियाई देशों में उपनिवेशवादी हुकूमतों का पतन — इस सबकी अफ़्रीकी देशों पर गहरी छाप पड़ी और इससे स्वतंत्रता संग्राम के लिए अनुकूल परिस्थितियां बनीं। युद्धोत्तरीय पहले वर्षों की घटनायें ही इस बात की साक्षी थीं कि यहां कितने गहरे परिवर्तन आये थे।

पांचवीं अखिल अफ़्रीकी कांग्रेस

अक्तूबर, १९४५ में मैंचेस्टर (ग्रेट ब्रिटेन) में पांचवीं अखिल अफ़्रीकी कांग्रेस हुई। इसमें भाग लेनेवाले प्रतिनिधियों और यहां स्वीकृत प्रस्तावों की दृष्टि से यह पहले की कांग्रेसों से बिल्कुल भिन्न थी। नीग्रो मुक्ति आंदोलन के तीसरे दशक से ही विख्यात नेताओं के साथ-साथ, जो अमरीका और वेस्ट इंडीज़ से आये थे, अफ़्रीकी देशों में हाल ही में बने राजनीतिक संगठनों और ट्रेड यूनियनों के प्रतिनिधि भी यहां उपस्थित थे। इनका यहां बहुमत था।

इनमें अखिल अफ़्रीकी आंदोलन का प्रवर्तक, सुविख्यात सामाजिक कार्यकर्ता और वैज्ञानिक डा० डब्ल्यू० इ० बी० ड्युबुआ, घाना का भावी राष्ट्रपति क्वामे न्क्रूमा, केनिया का भावी राष्ट्रपति जोमो केन्याटा, सुप्रसिद्ध दक्षिण अफ़्रीकी लेखक पीटर अब्राहम्स तथा अन्य कई ऐसे सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता थे, जिनके नाम कालांतर में सारे संसार ने जाने।

अखिल अफ़्रीकी आंदोलन के इतिहास में पहली बार इस कांग्रेस के प्रस्तावों में स्वतंत्रता की मांग निरूपित की गयी थी। कांग्रेस के घोषणापत्र में कहा गया था:

"उपनिवेशों के जनगण को विदेशी ताक़तों की ओर से किसी तरह के प्रतिबंधों के बिना स्वयं अपनी सरकार चुनने का अधिकार होना चाहिये। हम उपनिवेशों के जनगण का आह्वान करते हैं कि इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सब उपलब्ध साधनों से संघर्ष करें... राजनीतिक सत्ता के लिए औपनिवेशिक और पराश्रित जनगण का संघर्ष उनकी पूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुक्ति की ओर पहला क़दम तथा अनिवार्य पूर्वाधार है... उपनिवेशों के मेहनतकशों को साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में पहली क़तारों में होना चाहिये... संसार भर के औपनिवेशिक और पराश्रित जनगण एक हों।"

कांग्रेस में 'उपनिवेशों के मज़दूरों, किसानों और बुद्धिजीवियों के नाम अपील' भी स्वीकृत की गयी, जिसमें उपनिवेशवाद के विरुद्ध जन-आंदोलन चलाने का आह्वान किया गया था।

इस कांग्रेस ने अफ़्रीका महाद्वीप में हो रही महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओं को, जो अभी इतनी प्रत्यक्ष नहीं थी, प्रतिबिंबित किया।

स्वतंत्र घाना का उदय

उष्णकटिबंधीय अफ़्रीका के देशों में सबसे पहले ब्रिटिश उपनिवेश गोल्ड कोस्ट को मार्च, १९५७ में आज़ादी मिली। इसे प्रभुसत्तासंपन्न राज्य घोषित किये जाने की सारे महाद्वीप में प्रतिध्वनि हुई। अनेक अफ़्रीकी जनगण के लिए यह निकट भविष्य में उनके भी स्वतंत्रता पाने का पूर्वसंकेत था। यह भी महत्त्वपूर्ण बात थी कि उष्णकटिबंधीय अफ़्रीका के पहले स्वतंत्र राज्य ने उपनिवेशवादियों द्वारा दिया गया नाम गोल्ड कोस्ट त्याग दिया और मध्ययुग में पश्चिमी अफ़्रीका में अस्तित्वमान शक्तिशाली राज्य – घाना – का नाम अपनाया।

घाना को स्वतंत्रता के मार्ग में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। १९४५ में गोल्ड कोस्ट में ट्रेड यूनियन कांग्रेस और दिसंबर, १९४७ में पहला राजनीतिक संगठन बना था, जिसने स्वतंत्रता की मांग की। यह संगठन था यूनाइटेड गोल्ड कोस्ट कन्वेंशन, जिसका संचालन बूर्जुआ तत्त्वों और उनसे घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए सामंतवादी तत्त्वों के हाथों में था। इमारती लकड़ी और कोको के निर्यातक डी० ए० ग्रांट ने अध्यक्ष पद, डा० जे० बी० डाक्वा ने उपाध्यक्ष पद तथा क्वामे न्क्रूमा ने महासचिव का पद संभाला था।

क्वामे न्क्रूमा तब अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन में १३ साल रहने के बाद स्वदेश लौटा था।

उन दिनों महंगाई तेजी से बढ़ रही थी, जिसके विरोध में हड़तालें हो रही थीं, जुलूस निकाले जा रहे थे, विदेशी माल का बहिष्कार किया जा रहा था। युद्ध ख़त्म होने पर सेना से जिन अनेक सैनिकों की छुट्टी कर दी गयी थी, उन्हें न कोई भत्ता मिला था, न नौकरी ही। २८ फ़रवरी, १९४८ को ये सैनिक जुलूस बनाकर गवर्नर की कोठी पर अपनी मांगें पेश करने गये। जुलूस पर गोलियां चलायी गयीं।

तथापि ब्रिटिश शासकों ने गोल्ड कोस्ट के लोगों को कुछ रियायतें देना आवश्यक समझा और देश की शासन-प्रणाली में सुधार करने के लिए सांविधानिक समिति गठित की। यूनाइटेड कन्वेंशन के लगभग सभी नेताओं को इसमें शामिल किया गया। इसके बाद इनमें से कुछ नेता यह कहने लगे कि उपनिवेशों के प्रति ब्रिटेन का रुख़ काफ़ी सुधर गया है। इस वजह से यूनाइटेड कन्वेंशन में फूट पड़ गयी। १९४९ के मध्य में क्वामे न्क्रूमा की अध्यक्षता में कन्वेंशन पीपुल्स पार्टी बनी, जिसने उपनिवेशवादी हुकूमत के ख़िलाफ़ जनता के संघर्ष का संचालन करने का संकल्प किया।

पीपुल्स पार्टी और ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने नवंबर, १९४९ में गोल्ड कोस्ट प्रतिनिधि सभा बुलायी। इसमें ट्रेड यूनियनों, सहकारी समितियों, सांस्कृतिक, युवा और महिला संगठनों ने भाग लिया। सभा ने मांग की कि देश को डोमिनियन घोषित किया जाये। जब ब्रिटिश उपनिवेश मंत्रालय ने यह मांग रद्द कर दी, तो ८ जनवरी, १९५० को पीपुल्स पार्टी ने जनता का आह्वान किया कि वह "सक्रिय संघर्ष" अभियान चलाये। इसके अंतर्गत न केवल सभाओं और जुलूसों का आयोजन, बल्कि हड़तालों और ब्रिटिश मालों का बहिष्कार भी किया जाना था। यह अभियान अक्रा में आरंभ हुआ और शीघ्र ही सारे देश में फैल गया। गवर्नर ने मार्शल ला की घोषणा कर दी; पार्टी और ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया। लेकिन इस दमन से स्वतंत्रता संग्राम और भी ज़ोरों से भड़का।

१९५० और १९५१ के संधिकाल में ब्रिटिश सरकार ने गोल्ड कोस्ट की नयी राजनीतिक व्यवस्था की घोषणा की, जिसके अनुसार यहां स्थानीय सरकार बनायी जानी थी। फ़रवरी, १९५१ में विधान सभा के चुनाव हुए; इनमें पीपुल्स पार्टी की जीत हुई, ३८ में से ३४ स्थान उसे मिले। १९५२ में क्वामे न्क्रूमा ने प्रधानमंत्री पद ग्रहण किया।

तथापि देश पहले की भांति उपनिवेश ही था और ब्रिटिश गवर्नर को वीटो का अधिकार था। १९५३ में विधान सभा ने ग्रेट ब्रिटेन की सरकार से अपील की कि वह ब्रिटिश संसद में ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अंतर्गत गोल्ड कोस्ट

की स्वतंत्रता के बारे में विधेयक पेश करे। न केवल शासक देश के प्रतिक्रियावादी हल्कों ने, बल्कि स्वयं गोल्ड कोस्ट के सामंतवादी तत्त्वों ने भी इसका विरोध किया। देश के कई भागों में सामंतों ने पीपुल्स पार्टी के विरुद्ध संघर्ष के लिए सशस्त्र दल गठित किये। न्क्रूमा की सरकार का विरोध करनेवाली कुछ राजनीतिक पार्टियां बनीं।

किंतु जुलाई, १९५६ में हुए विधान सभा चुनावों से यह स्पष्ट हो गया कि अधिकांश आबादी देश की उपनिवेशी स्थिति के विरुद्ध है। इन चुनावों के परिणामों, विश्व शक्ति संतुलन में आये नये परिवर्तनों तथा साथ ही ब्रिटिश शासक वर्गों द्वारा उपनिवेशों के शोषण का रूप बदलने के निश्चय के कारण गोल्ड कोस्ट को स्वतंत्रता प्रदान करने का फ़ैसला किया गया। ब्रिटेन ने उसे डोमिनियन बनाने का निर्णय किया, फिर ६ मार्च, १९५७ को गोल्ड कोस्ट को स्वतंत्र घाना राज्य घोषित कर दिया गया। नये राज्य में ब्रिटेन द्वारा संरक्षित टोगोलैंड का क्षेत्र भी शामिल किया गया। मई, १९५६ में ही टोगोलैंड के इस भाग में इस प्रश्न पर जनमत-संग्रह किया गया था कि क्या उसके निवासी ब्रिटेन के संरक्षण में रहना चाहते हैं या गोल्ड कोस्ट के स्वतंत्र हो जाने पर उसमें मिलना चाहते हैं। आबादी के बड़े भाग ने घाना में शामिल होने की इच्छा ज़ाहिर की थी। टोगो का पूर्वी भाग, जो फ़्रांसीसी संरक्षण में था, १९६० में आज़ाद हुआ।

गिनी – स्वतंत्रता पानेवाला पहला फ़्रांसीसी उपनिवेश

घाना की स्वतंत्रता के डेढ़ वर्ष पश्चात सहारा के दक्षिण में स्थित एक और देश में औपनिवेशिक राज ख़त्म हो गया। यह देश था गिनी। स्वतंत्रता की घोषणा से पहले फ़्रांसीसी गिनी अफ़्रीका के विशाल भूखंड पर फैले फ़्रांस के उस औपनिवेशिक साम्राज्य का एक भाग था, जिसे प्रशासन की दृष्टि से फ़्रांसीसी पश्चिमी अफ़्रीका और फ़्रांसीसी भूमध्यरेखीय अफ़्रीका में बांटा गया था। पहले में गिनी के अलावा मारिटानिया, सेनेगल, आइवरी कोस्ट, डाहोमी, फ़्रांसीसी सूडान, नाइजर और ऊपर वोल्टा शामिल थे। फ़्रांसीसी भूमध्यरेखीय अफ़्रीका में गबोन, मध्य कांगो, उबांगी-शारी और चाड थे। कैमरून और टोगो फ़्रांस के संरक्षणाधीन देश थे।

अक्तूबर, १९४६ में फ़्रांसीसी उपनिवेशों की विभिन्न पार्टियों के प्रतिनिधि बमाको (संप्रति माली गणराज्य की राजधानी) में एकत्रित हुए। उन्होंने संघात्मकता के सिद्धांत पर एक साझे राजनीतिक संगठन – अफ़्रीकी

जनवादी संगठन – की स्थापना का निर्णय किया। इस संगठन ने उपनिवेशवाद के विरोध में अपनी आवाज़ बुलंद की। १९४९ में लगभग १०,००,००० लोग इसके सदस्य थे। यह जनवादी संगठन न केवल साम्राज्यवादविरोधी मत ही व्यक्त करता था, बल्कि इस बात का भी प्रमाण था कि अफ़्रीकी जनगण एकता बनाये रखना चाहते हैं, कि वे स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात "संघ" (जैसा कि फ़्रांसीसी पश्चिमी अफ़्रीका और फ़्रांसीसी भूमध्यरेखीय अफ़्रीका को कहा जाता था) बनाये रखना चाहते हैं। अनेक अफ़्रीकी लोगों को यह आशा थी कि १२ छोटे-छोटे उपनिवेशों के बजाय दो बड़े और इसलिए अधिक जीवनक्षम संघों के लिए स्वतंत्रता पायी जा सकेगी।

शनैः-शनैः ट्रेड यूनियनें भी फ़्रांसीसी उपनिवेशों के मुक्ति आंदोलन में अधिक सक्रिय भूमिका निभाने लगी थीं। वे भी मिलकर काम करने की कोशिश कर रही थीं: १९५७ में वे एक संयुक्त ट्रेड यूनियन केंद्र बनाने में सफल रहीं, जिसका नाम था – काले अफ़्रीका के मज़दूरों की आम यूनियन। फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी और प्रगतिशील ट्रेड यूनियनें सदा अफ़्रीकी मज़दूरों के संघर्ष का समर्थन करती थीं।

राष्ट्रीय मुक्ति शक्तियों की वृद्धि के कारण फ़्रांस को उन्हें नयी-नयी रिआयतें देनी पड़ रही थीं। १९५४ से अल्जीरिया में और १९५५ से फ़्रांस के संरक्षणाधीन देश कैमरून में सशस्त्र संघर्ष आरंभ हो जाने के बाद फ़्रांसीसी शासक वर्ग को चौकन्ना और सावधान होना पड़ा कि कहीं दूसरे उपनिवेशों में भी सशस्त्र संघर्ष न छिड़ जाये। १९५६ के मध्य में फ़्रांस के राष्ट्रपति ने एक क़ानून पर हस्ताक्षर किये, जिसके अनुसार प्रत्येक उपनिवेश को शासन परिषद बनाने का अधिकार मिला, जिसे संबंधित देश का कार्यकारी निकाय बनना था। मगर इन परिषदों के अधिकार अत्यंत सीमित थे, इनकी बैठकें फ़्रांसीसी गवर्नरों की अध्यक्षता में होनी चाहिए थीं और इनके किसी भी निर्णय को फ़्रांस का समुद्रपार क्षेत्रों का मंत्री रद्द कर सकता था। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि यह क़ानून इस तरह बनाया गया था कि कुछ उपनिवेशों को तो अधिक अधिकार मिलें और साथ ही पूरे "संघों" में एकीकृत प्रशासन निकाय न बने रह सकें।

१९५७ में बमाको में अफ़्रीकी जनवादी संगठन की कांग्रेस हुई, जिसमें संघात्मक राज्यों की स्थापना की मांग की गयी। किंतु फ़्रांसीसी सरकार ने इसका सख़्त विरोध किया, क्योंकि उसके लिए तो एक या दो बड़े देशों के बजाय छोटे-छोटे और अशक्त देशों से निबटना कहीं अधिक आसान होता।

साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक प्रणाली के पतन तथा अल्जीरियाई युद्ध के कारण फ़्रांस में उत्पन्न गहरे राजनीतिक संकट की परिस्थितियों में

राष्ट्रपति दी गॉल ने पश्चिमी और भूमध्यरेखीय अफ़्रीका के सभी उपनिवेशों में जनमत-संग्रह करवाने की घोषणा की। लोगों को इस प्रश्न का उत्तर देना था कि वे फ़्रांसीसी समुदाय में बने रहना चाहते हैं या फ़्रांस से पूरी तरह स्वतंत्र होना चाहते हैं। २८ सितंबर, १९५८ को हुए इस जनमत-संग्रह में लोग अपनी राय को आज़ादी से व्यक्त नहीं कर सके। सामंतवादी तत्त्व और दूसरी शक्तियां, जिन्होंने अपना मुकद्दर फ़्रांसीसी साम्राज्यवाद से जोड़ रखा था, शासक देश से संबंध-विच्छेद नहीं होने देना चाहती थीं। प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि कुछ उपनिवेशों में मतदान के परिणामों में भोंडे ढंग से हेरा-फेरी की गयी थी। बहुत से मतदाताओं को यह धमकियां देकर डराया गया था कि जो जनगण फ़्रांसीसी समुदाय में नहीं रहना चाहेंगे, उनकी ओर से फ़्रांस पूरी तरह से मुंह मोड़ लेगा।

एकमात्र देश, जिसने फ़्रांस से पूर्ण स्वतंत्रता पानी चाही, गिनी था। यहां ९५ प्रतिशत मतदाताओं ने फ़्रांसीसी राष्ट्रसमुदाय में बने रहने के विरुद्ध मत व्यक्त किया। यह बहुत हद तक गिनी जनवादी पार्टी के कार्यकलापों का परिणाम था। यह पार्टी अफ़्रीकी जनवादी संगठन की स्थानीय शाखा थी। इसका महासचिव सेकु तूरे उपनिवेश की सरकारी परिषद का अध्यक्ष भी था। जनमत-संग्रह से कुछ समय पहले जनवादी पार्टी की पहलक़दमी पर गिनी में जनता के हित में गंभीर सुधार किये गये थे: किसानों के करों में कटौती की गयी थी, मजदूरों की तनख्वाहें बढ़ायी गयी थीं और क़बीलों के मुखियाओं को प्रशासकीय पदों से हटा दिया गया था।

जनमत-संग्रह से पहले सेकु तूरे ने एक वक्तव्य में कहा था: जैसा कि सर्वविदित है बमाको कांग्रेस में सारे अफ़्रीका के प्रतिनिधियों ने संघों के पक्ष में मत व्यक्त किया था। उनका अभिप्राय यह था कि फ़्रांसीसी पश्चिमी अफ़्रीका और फ़्रांसीसी भूमध्यरेखीय अफ़्रीका को ऐसे राज्यों में परिवर्तित करके बनाया रखा जाये, जो फ़्रांसीसी-अफ़्रीकी समुदाय से संलग्न हों। इस उद्देश्य से पारित प्रस्ताव फ़्रांस की सरकार को भेजे गये थे... मगर फ़्रांसीसी सरकार ने संविधान के अपने मसविदे में इस बात को ध्यान में नहीं रखा। वह अफ़्रीका के टुकड़े करना चाहती है, वह कहती है, 'गिनी अलग राज्य होगा, आइवरी कोस्ट अलग राज्य होगा, हर क्षेत्र स्वाधीन होगा, अपने अलग क़ानून बनायेगा'। पश्चिमी अफ़्रीका की मंडी तो यों ही काफ़ी सीमित है, उसमें तो फ़्रांसीसी भूमध्यरेखीय अफ़्रीका भी शामिल किया जाना चाहिए, ताकि वह मुद्रा और आर्थिक दृष्टि से एक इकाई बन सके। मगर कोशिश यह की जा रही है कि गिनी सेनेगल से अलग राज्य हो, कि सेनेगल के साथ उसकी सीमा पर चुंगी चौकियां हों, कि सूडान के साथ, आइवरी कोस्ट के साथ सीमाओं पर भी ऐसी ही चौकियां हों।

२ अक्तूबर, १६५८ को जनमत-संग्रह के अंतिम परिणामों का पता चल जाने पर गिनी को स्वतंत्र गणराज्य घोषित कर दिया गया। इसके बाद कुछ समय के अंदर-अंदर ही सभी फ़्रांसीसी विशेषज्ञों को गिनी से वापस वुला लिया गया, फ़्रांसीसी पूंजीपतियों ने अपनी पूंजी भी जल्दी ही वहां से हटा ली। फ़्रांसीसी सरकार ने नये राज्य का अंतर्राष्ट्रीय बहिष्कार आयोजित करने की कोशिश की, किंतु गिनी की जनता के दृढ़ संकल्प तथा पड़ोसी देश घाना और समाजवादी देशों के समर्थन के फलस्वरूप गिनी ने घुटने नहीं टेके।

१६६०–अफ़्रीका वर्ष

घाना और गिनी की स्वतंत्रता की घोषणा का अर्थ यह था कि उष्णकटिबंधीय अफ़्रीका में उपनिवेशवादी प्रभुत्व की प्रणाली में पहली दरारें पड़ गयी थीं। आगे चलकर इस प्रणाली के पतन की प्रक्रिया वहुत तेज़ हो गयी।

१६६० को इतिहास में अफ़्रीका का वर्ष कहा जाता है: इस वर्ष महाद्वीप में १७ नये राज्यों की उत्पत्ति हुई। पहली जनवरी को फ़्रांसीसी संरक्षणाधीन कैमरून आज़ाद हुआ, २७ अप्रैल को दूसरा फ़्रांसीसी संरक्षणाधीन देश टोगो, २६ जून को मलागासी गणराज्य और ३० जून को कांगो गणराज्य (बेल्जियम का उपनिवेश) स्वतंत्र हुए। १ जुलाई को ब्रिटिश सोमाली और इटली के संरक्षणाधीन सोमाली ने मिलकर सोमाली गणराज्य की स्थापना की घोषणा की।

अगस्त से नवंबर १६६० के बीच फ़्रांसीसी पश्चिमी और उष्णकटिबंधीय अफ़्रीका के सभी उपनिवेश स्वतंत्र घोषित किये गये। डाहोमी गणराज्य, नाइजर गणराज्य, ऊपरी वोल्टा गणराज्य, आइवरी कोस्ट गणराज्य, चाड गणराज्य, केंद्रीय अफ़्रीकी गणराज्य (१६५६ तक उबांगी-शारी), कांगो गणराज्य (राजधानी ब्राज़ाविले, भूतपूर्व मध्य कांगो), गबोन गणराज्य, सेनेगल गणराज्य, माली गणराज्य (भूतपूर्व फ़्रांसीसी सूडान) और इस्लामी गणराज्य मारिटानिया की स्थापना हुई। १ अक्तूबर, १६६० को जनसंख्या की दृष्टि से अफ़्रीका का सबसे बड़ा देश नाइजीरिया स्वतंत्र हुआ।

परंतु इसी १६६० में ही अफ़्रीका ने यह भी देखा कि कुछ निश्चित परिस्थितियों में स्वतंत्रता की उद्घोषणा कितनी भ्रामक हो सकती है। इसका ज्वलंत उदाहरण भूतपूर्व बेल्जियमी कांगो (वर्तमान ज़ायर) की दुखद घटनाएं थीं। साम्राज्यवाद ने इस देश के "स्वतंत्र" अस्तित्व के पहले महीनों में ही इसकी अर्थव्यवस्था को तहस-नहस कर डाला। उपनिवेशवादियों और उनके एजेंटों ने देश के प्रधानमंत्री पैट्रिस लुमुम्बा की हत्या कर दी, उसके साथियों को सता-सताकर मारा। कांगो की त्रासदी और दूसरे अफ़्रीकी देशों की नाटकीय

घटनायें इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण थी कि स्वतंत्रता की घोषणा के साथ आरंभ होनेवाला राष्ट्रीय मुक्ति क्रांति का दूसरा दौर प्रायः औपनिवेशिक स्थिति से छुटकारा पाने के संघर्ष के दौर से भी अधिक जटिल, अधिक कठिन और कभी-कभी तो अधिक खूनी होता है।

पूर्वी और मध्य अफ़्रीका में नये राज्यों की स्थापना

१९६१-१९६४ के बीच स्वतंत्रता पानेवाले पूर्वी और मध्य अफ़्रीकी देशों में अधिकांश ब्रिटिश उपनिवेश थे। ये थे – केनिया, उगांडा, जंजीबार, न्यासालैंड, उत्तरी रोडेशिया। दो संरक्षणाधीन क्षेत्रों में से एक तांगानीका ब्रिटेन द्वारा प्रशासित था और दूसरा रुआंडा-उरुंडी बेल्जियम द्वारा।

ये देश विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे। उत्तरी रोडेशिया की "ताम्र पट्टी" संसार में तांबे के खनन का सबसे बड़ा क्षेत्र थी। उगांडा, केनिया, तांगानीका के खेतों-बागानों से विशाल मात्रा में काफ़ी, कपास और सीसल मिलती थी। यही कारण था कि ग्रेट ब्रिटेन के शासक वर्ग इन देशों को अपने हाथ से नहीं जाने देना चाहते थे।

उत्तरी रोडेशिया और केनिया जैसे देशों में काफ़ी बड़ी संख्या में यूरोपीय प्रवासी रहते थे। यहां का जलवायु उनके लिए अनुकूल था – वह पश्चिमी अफ़्रीका के अधिकांश इलाक़ों जैसा नहीं था, जिन्हें कभी "गोरों की क़ब्र" का नाम दिया गया था। छठे दशक के मध्य में उत्तरी रोडेशिया और केनिया में ही लगभग १ लाख यूरोपीय रहते थे। इनमें ऐसे लोग कम नहीं थे, जो हाथों में हथियार लेकर उपनिवेशवाद की रक्षा करने को तैयार थे और शासक देशों के सत्ताधारी वर्ग इन्हें अपने प्रभुत्व के लिए बहुत बड़ा सहारा मानते थे।

ब्रिटिश सरकार पूर्वी और मध्य अफ़्रीका में औपनिवेशिक फ़ेडरेशनों की स्थापना को अपना राज बनाये रखने का महत्त्वपूर्ण साधन मानती थी। पूर्वी अफ़्रीकी फ़ेडरेशन में केनिया, उगांडा और तांगानीका को तथा मध्य अफ़्रीकी फ़ेडरेशन में न्यासालैंड, उत्तरी तथा दक्षिणी रोडेशिया को शामिल किया जाना था। इन दोनों फ़ेडरेशनों की स्थापना का विचार पहले और दूसरे महायुद्धों के बीच के काल में पैदा हुआ था, मगर तब इसे कार्यान्वित नहीं किया जा सका। द्वितीय महायुद्ध के बाद ही इनमें से एक – रोडेशिया एवं न्यासालैंड फ़ेडरेशन – का गठन हो पाया।

दक्षिणी रोडेशिया के गोरे प्रवासी ऐसे फ़ेडरेशन को उत्तरी रोडेशिया और न्यासालैंड में भी अपनी सत्ता फैलाने का साधन मानते थे, जबकि इन देशों में रहनेवाले उपनिवेशकों को, जिनका अनुपात यहां की आबादी में

नगण्य ही था, दक्षिणी रोडेशिया की अधिक बड़ी और अधिक अच्छी तरह संगठित गोरी बस्तियों में अपने लिए सहारा पाने की आशा थी। दोनों का यह विचार था कि उनके लिए मिलकर अफ़्रीकियों को अपने क़ब्ज़े में रखना आसान होगा, और इसकी बदौलत यूरोप और अमरीका से पूंजी भी यहां आयेगी। आर्थिक दृष्टि से इस फ़ेडरेशन की स्थापना का उद्देश्य दक्षिणी रोडेशिया के अपेक्षाकृत विकसित उद्योग को उत्तरी रोडेशिया के कच्चे माल के क्षेत्र और सस्ती श्रम शक्ति के अथाह भंडार – न्यासालैंड – से जोड़ना था।

उत्तरी और दक्षिणी रोडेशिया तथा न्यासालैंड को संगठित करने में ग्रेट ब्रिटेन की सरकार का उद्देश्य यह था कि वहां के गोरे निवासी बढ़ते स्वतंत्रता संग्राम से जूझें और इस तरह वहां उसका प्रभुत्व बना रहे। किंतु अफ़्रीकी जनगण ने औपनिवेशिक संघों के गठन का सक्रिय रूप से विरोध किया। रोडेशिया एवं न्यासालैंड फ़ेडरेशन १९५३ से १९६३ तक, यानी दस साल बना रहा। पूर्वी अफ़्रीकी फ़ेडरेशन तो औपनिवेशवादी बना ही नहीं पाये।

पूर्वी और मध्य अफ़्रीका के ब्रिटिश उपनिवेशों में साम्राज्यवादविरोधी जन आंदोलन के फलस्वरूप युद्धोपरांत वर्षों में वहां विशाल राजनीतिक संगठन बने। इनके सदस्यों की संख्या दसियों हज़ार और लाखों तक थी। जोमो केन्याटा का केनियाई अफ़्रीकी राष्ट्रीय संघ (१९६० में स्थापित), जूलियस न्येरेरे की अध्यक्षता में बना तांगानीका अफ़्रीकी राष्ट्रीय संघ (१९५४) और उत्तरी रोडेशिया की संयुक्त राष्ट्रीय स्वतंत्रता पार्टी (अध्यक्ष कैनथ काउंडा) ऐसे ही संगठन थे। दक्षिणी रोडेशिया, न्यासालैंड और ज़ंज़ीवार में भी ऐसे कई संगठन सक्रिय थे। इनकी स्थापना के लिए ज़मीन अनेक राजनीतिक ग्रुपों, ट्रेड यूनियनों और सामाजिक संगठनों के कार्यकलापों से तैयार हुई थी, जिनमें अफ़्रीकी जनगण ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना सीखा था।

प्रत्येक संघर्षरत देश के स्वाधीनता आंदोलन के अपने विशिष्ट लक्षण थे और प्रत्येक देश की अपनी विशिष्ट कठिनाइयां थीं। मगर इनमें बहुत कुछ सामान्य भी था। सभी देशों में उपनिवेशवादी शासकों ने देश की आबादी पर भारी अत्याचार किये। १९५२-१९५५ में केनिया के माऊ-माऊ किसान आंदोलन को कुचलने के लिए अंग्रेज़ उपनिवेशवादियों ने ६२ हज़ार अफ़्रीकियों को जेलों और बंदी शिविरों में ठूंस दिया, जिनमें जोमो केन्याटा और दूसरे नेता भी थे। ११ हज़ार से अधिक केनियाई मारे गये।

उत्तरी और दक्षिणी रोडेशिया में, न्यासालैंड में और पूर्वी अफ़्रीका के दूसरे देशों में भी शासकों ने आपातस्थिति लागू की, बेशुमार गिरफ़्तारियां कीं, राजनीतिक संगठनों पर प्रतिबंध लगाये। पर एक संगठन पर प्रतिबंध लगते ही उसके स्थान पर दूसरा बन जाता, जो नियमतः पहले से भी बड़ा होता।

पूर्वी अफ़्रीका के देशों में से सबसे पहले दिसंबर, १९६१ में तांगानीका को स्वाधीनता मिली। संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णय पर १ जुलाई, १९६२ से रुआंडा-उरूंडी को संरक्षण से मुक्त कर दिया गया और यहां दो राज्य बने: रुआंडा गणराज्य और बुरुंडी बादशाहत*। अक्तूबर, १९६२ में उगांडा स्वतंत्र हुआ, जंजीबार दिसंबर १९६३ में। १९६४ में तंगानीका ने ज़ंज़ीबार के साथ मिलकर तांजानिया राज्य की स्थापना की।

१९६३ के अंत में रोडेशिया और न्यासालैंड का फ़ेडरेशन टूट गया और जुलाई, १९६४ में न्यासालैंड मलावी गणराज्य हो गया (मलावी इस देश में बसनेवाली सबसे अधिक बहुसंख्यक जाति का नाम है)। अक्तूबर, १९६४ में उत्तरी रोडेशिया स्वतंत्र हुआ, इसने भी यह पुराना नाम त्याग दिया, जो इसे किसी ज़माने में अंग्रेज उपनिवेशवादी सेसिल रोड्स के सम्मान में दिया गया था। यह देश अब यहां की नदी ज़ाम्बेज़ी के नाम पर ज़ाम्बिया कहलाने लगा।

दक्षिणी अफ़्रीका की मुक्ति की समस्या

१९६६ के आरम्भ तक अंगोला, दक्षिणी रोडेशिया और मोज़ंबीक से उत्तर की ओर स्थित प्रायः सभी अपेक्षाकृत बड़े उपनिवेश स्वाधीन हो चुके थे। फ़ांसीसी सोमाली, पुर्तगाली गिनी, स्पेनी सहारा जैसे देशों में ही उपनिवेश-वादी शासन बना हुआ था। १९६१ के आरंभ में सियेरा-लिओन ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के अंतर्गत स्वाधीन राज्य बना, गांबिया** १९६५ के आरंभ में। सितंबर-अक्तूबर, १९६६ में बसूटोलैंड लेसोटो राज्य बना तथा बेचुआनालैंड – बोट्सवाना।

महाद्वीप का दक्षिणी भाग ही अब उपनिवेशवाद की ज़ंजीरों से जकड़ा हुआ था। यहां पुर्तगाल के उपनिवेश अंगोला और मोज़ंबीक, ब्रिटेन के संरक्षणा-धीन राज्य स्वाज़ीलैंड*** तथा दक्षिण अफ़्रीका गणराज्य द्वारा वस्तुतः हथिया लिया गया दक्षिण-पश्चिम अफ़्रीका (नमीबिया) थे।

रोडेशिया एवं न्यासालैंड फ़ेडरेशन के टूट जाने के पश्चात दक्षिणी रोडेशिया (अफ़्रीकी लोग इसे ज़िम्बाब्वे कहते हैं) गोरे उपनिवेशकों के उग्र नसलवादी भाग के हाथों में आ गया, जिसने १९६५ में इसकी "स्वतंत्रता"

---

* नवंबर, १९६६ में बुरुंडी गणराज्य।

** २४ अप्रैल, १९७० को गांबिया गणराज्य बना।

*** ६ सितंबर, १९६८ में ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अंतर्गत स्वतंत्र राज्य।

की घोषणा करके यहां अपना प्रभुत्व बनाये रखा। ऐसा अफ़्रीकियों की, जो देश की आबादी का बड़ा भाग हैं, इच्छा के विपरीत किया गया था।

अफ़्रीका के अंतिम उपनिवेश एक तरह से ऐसी बाड़ बने, जिसने आधुनिक विश्व के सबसे उग्र नसलवादी देश दक्षिण अफ़्रीका गणराज्य को इस महाद्वीप के नवस्वाधीन देशों से अलग रखा। उधर दक्षिण अफ़्रीका गणराज्य अपनी उत्तरी सीमा पर इन बचे-खुचे उपनिवेशों के बने रहने में सहायक सिद्ध हुआ।

अफ़्रीका के दक्षिणी भाग की मुक्ति की समस्या अत्यंत जटिल है। यह सारे महाद्वीप का सबसे समृद्ध भाग है। सारे पूंजीवादी विश्व का ७० प्रतिशत सोना और प्लेटिनम यहीं से मिलता है, यूरेनियम, हीरे, वेनेडियम तथा अन्य कई मूल्यवान खनिजों के विशाल भंडार यहां हैं। संसार की बड़ी-बड़ी इजारेदारियां इस क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व बनाये रखना चाहती हैं। दक्षिणी अफ़्रीका में (मुख्यतः दक्षिण अफ़्रीकी गणराज्य में) लगभग ३५ लाख गोरे रहते थे। इनमें से अधिकांश नसलवाद की भावना में पले थे और साम्राज्यवाद की चाकरी करने को तत्पर थे।

महाद्वीप के दूसरे भागों की तुलना में यहां मुक्ति आंदोलन का विरोध कहीं अधिक बड़ी शक्तियां कर रही थीं, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष यहां अत्यंत कठिन था। फिर भी वह फैलता ही जा रहा था, ख़ास तौर पर पुर्तगाली उपनिवेशों में, जहां सातवें दशक के आरंभ से देशभक्तों ने हथियार उठा लिये थे।

अफ़्रीकी एकता के लिए संघर्ष

प्रत्येक अफ़्रीकी देश में राष्ट्रीय मुक्ति की शक्तियां तेज़ी से बढ़ रही थीं, प्रत्येक भूतपूर्व उपनिवेश की सफलताएं सारे महाद्वीप के निवासियों को प्रेरित कर रही थीं। राष्ट्रीय मुक्ति क्रांति के विकास के साथ-साथ अफ़्रीकी जनगण यह भी स्पष्टतः समझने लगे कि उनके सम्मुख एक से कार्यभार हैं और उन्हें पूरे महाद्वीप में अपनी शक्तियों को एकजुट करना चाहिए।

१९५८ से अफ़्रीका के इतिहास में पहली बार अफ़्रीकी देशों के प्रतिनिधि अपने सामान्य कार्यभारों का हल ढूंढ़ने के लिए स्वयं ही सम्मेलन आयोजित करने लगे। यह अपार प्रगति का प्रमाण था। पहले अफ़्रीका के भाग्य का फ़ैसला केवल साम्राज्यवादी ताक़तों के प्रतिनिधियों की सभाओं में ही किया जाता था, जिनमें वे अपनी मनमर्ज़ी से अफ़्रीका के मानचित्र को बदलते थे और हरेक को "काले महाद्वीप" के किसी न किसी देश का शोषण करने का "क़ानूनी अधिकार" देते थे।

अप्रैल, १९५८ में क्वामे न्क्रूमा की पहलक़दमी पर अक्रा में अफ़्रीका के स्वाधीन देशों का पहला, नये ढंग का सम्मेलन हुआ। उन दिनों जो आठ देश आजाद थे, उनके प्रतिनिधियों ने इसमें भाग लिया। ये थे–घाना, गिनी, संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र), मोरक्को, ट्यूनीशिया, इथियोपिया, लाइबीरिया और लीबिया।

सम्मेलन में सारे महाद्वीप पर साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष की समस्याओं पर विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श किया गया। अक्रा सम्मेलन के बाद अदीस-अबाबा (जून, १९६०), लेओपोल्डवील (वर्तमान किंशासा) (अगस्त, १९६०) और कैसाब्लांका (जनवरी, १९६१) में स्वतंत्र अफ़्रीकी राज्यों के सम्मेलन हुए।

सभी समसामयिक अफ़्रीकी राजनीतिक और सामाजिक संगठनों का व्यापकतम प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए समय-समय पर अखिल अफ़्रीकी जनगण सम्मेलन आयोजित करने का निश्चय किया गया। पहला सम्मेलन दिसंबर १९५८ में अक्रा में हुआ, दूसरा जनवरी, १९६० में ट्यूनिस में, तीसरा मार्च १९६१ में काहिरा में। इन सम्मेलनों के बीच की अवधि में इनके निर्वाचित निकाय काम करते थे। नयी व्यवस्था के फलस्वरूप अफ्रेशियाई एकता आंदोलन में भी अफ़्रीकी देशों की भूमिका बहुत बढ़ गयी।

उपनिवेशवाद के विरुद्ध एकजुट होकर संघर्ष करने का विचार अधिकाधिक ठोस रूप ग्रहण करता जा रहा था। अफ़्रीकी जनगण सम्मेलनों में विचारार्थ रखे जानेवाले प्रश्नों का दायरा बढ़ता जा रहा था। दूसरे सम्मेलन में प्रायः प्रत्येक उपनिवेश के बारे में प्रस्ताव स्वीकृत किये गये, जिनमें इन देशों में उपनिवेशवादी हुकूमतें खत्म करने के लिए ठोस कार्रवाइयां इंगित की गयी थी। अफ़्रीका की पूर्ण मुक्ति में मज़दूर वर्ग की भूमिका तथा तटस्थतावादी नीति और सारे संसार में शांति के लिए संघर्ष जैसे प्रश्नों की ओर अधिक ध्यान दिया गया। पहले अफ़्रीकी जनगण सम्मेलन में जहां मुख्यतः राजनीतिक स्वतंत्रता की समस्या पर ही विचार किया गया, वहीं दूसरे सम्मेलन में मुख्य प्रश्न था आर्थिक स्वाधीनता और तीसरे में नवउपनिवेशवाद, जो अफ़्रीकी जनगण के लिए सबसे बड़ा ख़तरा बनता जा रहा था।

हर नये सम्मेलन के साथ यह स्पष्ट हो रहा था कि अफ़्रीकी जनगण संघर्ष की अधिक सक्रिय विधियां अपनाना चाहते हैं। पहले सम्मेलन में अनेक प्रतिनिधियों ने अहिंसा और निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति को ही एकमात्र स्वीकार्य नीति बताया, परंतु दूसरे सम्मेलन में अल्जीरिया और सशस्त्र संघर्ष कर रहे दूसरे देशों की सहायता के लिए स्वयंसेवक दस्ते बनाने का परामर्श दिया गया और तीसरे सम्मेलन में अफ़्रीकी सर्वोच्च कमान गठित करने का आह्वान किया गया।

छठे दशक के अंत में हुए सभी सम्मेलनों में नियमतः यह मांग की जाती थी कि १९६० में अधिकांश अफ़्रीकी देशों को स्वतंत्रता प्रदान की जाये। और अफ़्रीका का प्रत्येक राष्ट्र सारे महाद्वीप के प्रतिनिधियों के सम्मेलन में समर्थन पाकर अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अधिक दृढ़ता से संघर्ष करता था।

स्वतंत्र हुए देश महाद्वीप के दूसरे भागों में बचे उपनिवेशों को अपनी हाल ही में प्राप्त प्रभुसत्ता के लिए खतरा मानते थे। ऐसे दृष्टिकोण की पुष्टि इन तथ्यों से भी होती थी कि दक्षिण अफ़्रीकी गणराज्य से भाड़े के सिपाही कांगो में लड़ने आते थे, वहीं से दक्षिणी रोडेशिया की स्मिथ नसलवादी हुकूमत को मदद मिल रही थी, इत्यादि।

सभी अफ़्रीकी देशों में स्वतंत्रता की अभिलाषा के साथ-साथ उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एकजुट होने, स्वाधीनता संग्राम में भी और नवजीवन के निर्माण में भी एक दूसरे की सहायता करने की इच्छा बल पकड़ रही थी। यह सच है कि सभी अफ़्रीकी नेताओं के लिए इन अवधारणाओं का अर्थ एक जैसा नहीं था। अतः छठे दशक के अंत और सातवें के आरंभ में महाद्वीप में कुछ ऐसे संघ और राजनीतिक गुट बन गये, जिनके उद्देश्य काफ़ी भिन्न-भिन्न थे।

अफ़्रीकी एकता संगठन की स्थापना सच्ची एकता की अभिलाषा रखने-वालों की भारी जीत थी। मई, १९६३ में अफ़्रीकी राज्यों और सरकारों के अध्यक्षों ने अदीस-अबाबा में एकत्रित होकर एक घोषणापत्र स्वीकार किया, जिसके अनुसार इस संगठन की स्थापना हुई। इसके निम्न कार्यभार निर्धारित किये गये: अफ़्रीकी देशों की एकजुटता के विकास में सहयोग प्रदान करना, उनकी कार्रवाइयों में समन्वय लाना तथा सहयोग बढ़ाना, स्वतंत्रता और क्षेत्रीय अखंडता की रक्षा करना, उपनिवेशवाद के सभी रूपों के विरुद्ध संघर्ष करना। इस सम्मेलन में भाग लेनेवाले देशों ने घोषणा की कि वे परस्पर विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से हल करेंगे, किन्हीं गुटों में शामिल नहीं होंगे तथा अभी तक औपनिवेशिक पराधीनता में जकड़े देशों को उनके स्वतंत्रता संग्राम में हर तरह की सहायता प्रदान करेंगे। १९६४ में काहिरा में हुए अफ़्रीकी एकता संगठन के सम्मेलन में अफ़्रीका को परमाणु अस्त्र रहित क्षेत्र घोषित किया गया और इस तरह इसने शांति के हेतु में विशाल योगदान किया।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि अफ़्रीकी एकता संगठन की स्थापना के बाद के पहले वर्षों में इसके विकास में कोई अड़चन न आयी हो। उदाहरणतः १९६६ के अंत में अदीस-अबाबा में हुए शिखर सम्मेलन में यह स्पष्ट था कि सभी अफ़्रीकी देशों के सच्ची साम्राज्यवादविरोधी शक्ति में संगठित होने के मार्ग में गंभीर बाधाएं हैं, जो सर्वप्रथम नवउपनिवेशवादी चालों से खड़ी

गई। ऐसा होते हुए भी संगठन की नींव एकता के जिस विचार पर आधारित थी, वह अफ्रीका के सभी देशों में लोकप्रिय था और उसके समर्थकों की कोई कमी न थी।

एशिया और अफ्रीका के नवस्वतंत्र देशों का आर्थिक और राजनीतिक विकास

एशिया और अफ्रीका में फैली राष्ट्रीय मुक्ति क्रांतियों के फलस्वरूप दसियों उपनिवेशों और पराश्रित देशों ने स्वतंत्रता पायी। १९१४ में यहां संसार के ६३ प्रतिशत क्षेत्रफल पर ऐसे देश थे और उनमें ६० प्रतिशत आबादी बसती थी, मगर १९६५ में उपनिवेशी देशों का क्षेत्रफल और आबादी पूरे संसार के क्षेत्रफल व आबादी के क्रमशः ४.५ प्रतिशत और १.१ प्रतिशत के बराबर ही रह गये। १९६० में हुए कम्युनिस्ट और मज़दूर पार्टियों के सम्मेलन के घोषणा-पत्र में जोर देकर कहा गया था कि "राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के ज़ोर से औपनिवेशिक प्रणाली का पतन अपने महत्त्व की दृष्टि से विश्व समाजवादी प्रणाली की स्थापना के बाद दूसरी सबसे बड़ी परिघटना है"।

स्वतंत्रता के पश्चात्

नवोदित प्रभुसत्तासंपन्न राज्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास के विभिन्न स्तरों पर स्थित थे। कुछ देश लोक-जनवादी क्रांतियों के, जो विकसित होकर समाजवादी क्रांतियों में परिणत हो गयी थीं (चीन, उत्तरी कोरिया, उत्तरी वियतनाम) फलस्वरूप उपनिवेशवादी अथवा अर्द्ध-उपनिवेशवादी अंकुश से मुक्त हुए। कुछ दूसरे विकासशील देश विश्व पूंजी-वादी अर्थव्यवस्था के दायरे में बने रहे, यद्यपि वहां उन्होंने विशिष्ट स्थान ग्रहण किया। कई ऐसे देश भी हैं, जिन्हें औपचारिक रूप से तो राजनीतिक स्वतंत्रता मिल गयी है, परंतु वहां कठपुतली शासन होने या उनके साम्राज्य-वादी फ़ौजी गुटों में शामिल होने के कारण जो वस्तुतः पूर्णतः स्वाधीन नहीं कहे जा सकते हैं।

आधुनिक नवउपनिवेशवाद आर्थिक शोषण पर ही आधारित है। भूतपूर्व उपनिवेश और अर्ध-उपनिवेश पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से अलग न होने पायें, इसके लिए साम्राज्यवाद औपनिवेशिक युद्धों से लेकर आर्थिक "सहायता" तक, सभी तरह के उपायों से काम लेता है। बदली हुई परिस्थितियों में साम्राज्यवादी राष्ट्र, विशेषतः संयुक्त राज्य अमरीका, एशिया और अफ्रीका

के नवोदित राज्यों में बूर्जुआ वर्ग के दक्षिणपंथी हल्क़ों से सांठगांठ का आसरा लेते हैं।

तथापि समसामयिक युग में, ऐसी परिस्थितियों में, जबकि विश्व समाजवादी प्रणाली का मानवजाति के विकास पर निर्णायक प्रभाव रहा है, अधिकांश नवोदित देश सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों तथा अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन के समर्थन की बदौलत आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर होते हुए भी राजनीतिक दृष्टि से वस्तुतः स्वतंत्र हैं।

औपनिवेशिक प्रभुत्व से मुक्त हुए अधिकांश राज्यों की विदेशनीति साम्राज्यवादी सैनिक गुटों से अलग रहने, यानी गुटनिरपेक्षता के सिद्धांत पर आधारित है। गुटनिरपेक्ष देश अंतर्राष्ट्रीय मंच पर महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं, वे साम्राज्यवादी ताक़तों की आक्रामक नीति का, परमाणु अस्त्रों के परीक्षण और संचय का सक्रिय विरोध करते हैं, परमाणु अस्त्र-विहीन क्षेत्रों की स्थापना के लिए संघर्ष करते हैं।

नवोदित राज्यों के आंतरिक विकास की लाक्षणिक विशिष्टता मेहनतकशों और धनी वर्गों के बीच बढ़ता अंतर्विरोध है।

वर्ग संघर्ष के तीव्र होने पर राष्ट्रीय बूर्जुआ वर्ग प्रायः साम्राज्यवाद और घरेलू प्रतिगामी शक्तियों से सांठगांठ करने से भी नहीं हिचकिचाता।

भारत गणराज्य

१९५० में भारत के गणराज्य बन जाने के बाद प्रमुख राजनीतिक प्रश्न यह था कि देश आगे किस रास्ते पर विकास करे। सत्तारूढ़ राष्ट्रीय बूर्जुआ वर्ग स्वतंत्रता को सुदृढ़ करने के साथ-साथ अपना वर्ग प्रभुत्व भी जमाना चाहता था, किंतु मेहनतकश जन समूहों की बढ़ती सक्रियता का वर्ग शक्तियों के संतुलन पर भारी प्रभाव पड़ रहा था।

संसद और विधानसभाओं के पहले चुनावों (१९५१-१९५२) में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को ४४ प्रतिशत मत मिले और इस तरह देश में उसकी स्थिति प्रभावशाली बनी रही। ६०,००,००० (६.७ प्रतिशत) मतदाताओं ने कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवारों को अपने मत दिये। १९५७ के चुनावों में कम्युनिस्ट पार्टी को १ करोड़ २० लाख मत मिले और उसे संसद तथा विधानसभाओं में क्रमशः २९ और २०७ सीटें मिलीं। केरल में कम्युनिस्ट पार्टी को सबसे अधिक मत मिले और वहां उसने अपनी सरकार बनायी। देश की परिस्थिति और जनता में अपना प्रभाव बनाये रखने की अभिलाषा कांग्रेस के नेताओं से तक़ाजा करती थीं कि वे सामंतों और राजघरानों की

स्थिति कमज़ोर करने की ओर लक्षित नीति पर अधिक सुसंगत रूप से चलें। पार्टी के अंदर नेहरू की स्थिति और सुदृढ़ हुई।

भारत सरकार की विदेशनीति कुल जमा साम्राज्यवादविरोधी और प्रगतिशील थी। भारत ने साम्राज्यवादी गुटों से निरपेक्ष रहने की नीति का सक्रिय समर्थन किया, सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित किये।

सरकार की आंतरिक नीति का मूल लक्ष्य था राष्ट्रीय पूंजी के विकास के आधार पर देश की अर्थव्यवस्था के उत्थान के लिए अनुकूल परिस्थितियां बनाना। छठे दशक में किये गये कृषि सुधारों के फलस्वरूप ज़मींदारों की स्थिति कमज़ोर हुई, परंतु ज़मींदाराना भू-स्वामित्व फिर भी बना रहा। लगभग एक तिहाई काश्त-योग्य ज़मीन पहले ही की तरह अर्ध-सामंतवादी बंधक शर्तों पर पट्टे पर दी जाती थी। यह सब होते हुए भी गांवों में पूंजीवादी संबंधों के विकास में तेज़ी आयी, किसान वर्ग के स्तरीकरण की प्रक्रिया तीव्र हुई, ग्रामीण बूर्जुआ वर्ग सुदृढ़ हुआ।

इस बात को ध्यान में रखते हुए कि भारतीय पूंजी क्षीण थी और बड़े पूंजीपति भारी उद्योगों में पूंजी लगाने में ख़ास रुचि नहीं रखते थे, सरकार ने अपेक्षाकृत सशक्त राजकीय क्षेत्र की स्थापना का मार्ग अपनाया। आरंभ में इसमें उस संपत्ति को शामिल किया गया, जिस पर अतीत में अंग्रेज़ उपनिवेशवादी शासन का स्वामित्व था (रेलवे आदि)। फिर ऊर्जा उत्पादन तथा भारी उद्योग की बुनियादी शाखाओं को राजकीय क्षेत्र में शामिल किया गया। १९५१ से १९६१ तक के दशक में राजकीय कंपनियों की पूंजी २० गुनी से भी अधिक बढ़ी। किंतु ये केवल १० प्रतिशत औद्योगिक माल का ही उत्पादन करती थीं।

१९५१ से पंचवर्षीय योजनाएं लागू की जाने लगीं। जनवरी १९५५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के ६० वें अधिवेशन में नेहरू की पहलकदमी पर एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया, जिसमें कहा गया था कि पार्टी का लक्ष्य भारत में "समाजवादी ढंग के समाज" की स्थापना करना है। यह प्रस्ताव भारतीय जनगण में समाजवाद की बढ़ती आकांक्षा को प्रतिबिंबित करता था। वास्तव में भारत के सत्ताधारी वर्गों में समाजवाद के नारे का अर्थ प्रायः शक्तिशाली राजकीय पूंजीवादी क्षेत्र के साथ भारतीय पूंजीवाद का विकास ही समझा जाता था। पहली पंचवर्षीय योजना विषयक सरकारी दस्तावेज़ में कहा गया था कि सरकार निजी क्षेत्र पर प्रभाव तो डाल सकती है, मगर वह पूंजी-निवेश की वास्तविक दिशा निर्धारित नहीं कर सकती; इसलिए प्रस्तावित कार्यक्रम मात्र यह इंगित करते हैं कि क्या संभव है और क्या वांछनीय है। इसके साथ ही साथ राजकीय क्षेत्र का विकास और पंचवर्षीय योजनाओं



रेनो मोटर-कारखाने के हड़ताली मज़दूर

का लागू किया जाना प्रगतिशील भूमिका अदा करते थे। दूसरे विकासशील देशों की भांति भारत में भी राजकीय पूंजीवाद का स्वरूप साम्राज्यवादविरोधी है, यह उपनिवेशवाद की विरासत को ख़त्म करने तथा देश की स्वाधीनता को सुदृढ़ करने में सहायक है।

भारत के औद्योगिक विकास में सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों की सहायता ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की। उदाहरणतः १९५५-१९६५ के दौरान सोवियत संघ ने भारत को ६० करोड़ रूबल से अधिक राशि के दीर्घकालीन ऋण दिये। इसके बड़े भाग का उपयोग लौह धातु उद्योग के प्रतिष्ठानों के निर्माण में किया गया, जो आधुनिक भारी उद्योग का आधार है। सोवियत संघ के सक्रिय सहयोग से बना भिलाई कारख़ाना सोवियत-भारत मैत्री का प्रतीक बन गया है। १९६६ में ही, जबकि इस कारख़ाने में उत्पादन अभी पूरी क्षमता से काफ़ी दूर था, भारत के कुल इस्पात उत्पादन का एक तिहाई यहीं पर हुआ। १९६७ में सोवियत संघ के सहयोग से बोकारो में इससे भी बड़े इस्पात कारख़ाने के निर्माण का काम शुरू हुआ। रांची और दुर्गापुर में भारी मशीन निर्माण कारख़ानों के निर्माण में भी सोवियत संघ ने सहायता दी। सोवियत संघ से तेल की सप्लाई तथा विद्युत उत्पादन में

सहायता भारत के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहीं; सोवियत संघ ने भारत में पूर्णतः अथवा आंशिक तौर पर ११ बिजलीघरों का निर्माण किया, जो देश के कुल बिजली उत्पादन का २० प्रतिशत दे रहे थे। सातवें दशक के अंत तक भारत में सोवियत सहयोग से ६० से अधिक औद्योगिक प्रतिष्ठानों का निर्माण हो चुका था या हो रहा था। सोवियत संघ के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करने की प्रवृत्ति १९७१ में हस्ताक्षरित सोवियत-भारत शांति, मैत्री और सहयोग की संधि में प्रतिबिंबित हुई। इस संधि के फलस्वरूप भारत की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति काफ़ी सुदृढ़ हुई।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दो दशकों में भारत के औद्योगिक उत्पादन में लगभग तीन गुनी वृद्धि हुई। भारत अपने इतिहास में पहली बार औद्योगिक मालों का निर्यात करने लगा। भारी उद्योग, यातायात, संचार, विदेश व्यापार तथा बैंकिंग व्यवस्था को राज्य ने मुख्यतः अपने हाथों में ले लिया। देश में परमाणु ऊर्जा तथा इलेक्ट्रानी उपकरण, विमान-निर्माण, ख़राद-निर्माण आदि उद्योगों की स्थापना हुई। औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की दर ब्रिटिश शासन के दिनों से कहीं अधिक रही।

पंचवर्षीय योजनाओं के अनुसार राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास का समर्थन करने के साथ-साथ भारत की प्रगतिशील शक्तियों ने आम जनता के जीवन-स्तर में सुधार के लिए तथा धनी वर्गों से औद्योगिक उत्पादन में पूंजी लगवाने के लिए संघर्ष किया। भारतीय मेहनतकशों की मांग थी कि राजकीय क्षेत्र को बढ़ाया जाये, उसका जनवादीकरण किया जाये, निजी पूंजी को सीमित किया जाये, किसान समुदाय के हित में मूलभूत कृषि सुधार लागू किये जायें तथा गांवों में सामंतवादी अवशेषों का पूर्णतः उन्मूलन किया जाये।

इसके विपरीत, बड़े पूंजीपति राजकीय क्षेत्र से अपने हितों की पूर्ति करने की चेष्टा कर रहे थे, वे कम दामों पर राजकीय क्षेत्र का माल (धातु, बिजली आदि) पाकर अपना मुनाफ़ा बढ़ाना चाहते थे। विदेशी पूंजी से संबंधित कुछ इजारेदार राजकीय क्षेत्र को सीमित, यहां तक कि उसका उन्मूलन करने की मांग कर रहे थे। प्रतिगामी शक्तियां कांग्रेस के नेतृत्व तथा सरकार पर दबाव डाल रही थीं। १९५९ में संविधान का उल्लंघन करते हुए केरल में कम्युनिस्ट सरकार हटा दी गयी, विधानसभा को भंग किया गया और राष्ट्रपति शासन लागू किया गया।

१९५९ में स्वतंत्र पार्टी की स्थापना प्रतिक्रियावादी शक्तियों के सक्रिय और संगठित होने का प्रमाण था। यह पार्टी बड़े पूंजीपतियों और ज़मींदारों के हितों को व्यक्त करती थी। इसकी मांग थी कि राजकीय क्षेत्र को सीमित किया जाये, योजना आयोग भंग कर दिया जाये, गुटनिरपेक्षता की नीति त्याग कर पश्चिमी देशों के साथ अधिक घनिष्ठ संबंध स्थापित किये जायें।

१६६२ में भारत-चीन सीमा पर युद्ध भड़कने से प्रतिक्रियावादी शक्तियों की गतिविधियां और भी तेज़ हो गयीं। अक्तूबर में लागू किये गये भारत सुरक्षा क़ानूनों का लाभ उठाकर कम्युनिस्टों का दमन किया गया। दक्षिणपंथी तत्त्व अंधराष्ट्रवादी उन्माद फैला रहे थे। उधर पश्चिमी साम्राज्यवादी ताक़तों ने भी नेहरू सरकार पर उसकी तटस्थतावादी नीति वदलवाने के लिए अधिक दवाव डाला।

दक्षिणपंथी शक्तियों की गतिविधियों में आयी तेज़ी का सामना करते हुए भारतीय मेहनतकशों ने अपने आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष जारी रखा। कुछ देर शांत रहने के पश्चात् १६६३ की गर्मियों से जन आंदोलन फिर तेज़ हो गया। जुलाई-अगस्त १६६४ में खाद्य संकट के उग्र होने के कारण देश में भारी प्रदर्शन हुए।

२७ मई, १६६४ को नेहरू के देहांत से भारतीय जनता को गहरा सदमा पहुंचा।

दक्षिणपंथियों को आशा थी कि अव भारत सरकार की राजनीतिक दिशा में परिवर्तन आयेगा, मगर ऐसा नहीं हुआ। नये प्रधानमंत्री लालवहादुर शास्त्री ने घोषणा की कि सरकार नेहरू की नीतियों पर चलती रहेगी। १६६५ में कश्मीर प्रश्न पर पाकिस्तान के साथ विवाद के कारण देश में स्थिति गंभीर हो गयी और विवाद ने युद्ध का रूप ले लिया। सोवियत संघ ने दोनों पक्षों को ताशकंद में वार्ता के लिए निमंत्रित किया। १६६६ की ताशकंद घोषणा प्रधानमंत्री लालवहादुर शास्त्री की अंतिम कार्रवाई थी – इसपर हस्ताक्षर करने के वाद उसी दिन उनकी मृत्यु हो गयी। जवाहरलाल नेहरू की पुत्री इंदिरा गांधी देश की नयी प्रधानमंत्री वनी। नयी सरकार ने आर्थिक स्वाधीनता को, राजकीय क्षेत्र को सुदृढ़ करने के लिए कुछ और क़दम उठाये, गुटनिरपेक्षता तथा समाजवादी देशों के साथ मैत्री और सहयोग की नीति जारी रखी। किंतु सरकार को आरंभ से ही कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जो, सर्वप्रथम, आर्थिक स्थिति बिगड़ने तथा कृषि के अपर्याप्त विकास से संवंधित थीं। अभी तक जो कृषि सुधार हुए थे, वे अधूरे और अधकचरे ही थे। उनसे न तो किसानों की भूमिहीनता दूर हुई थी, न ही वे अमीरों, व्यापारियों, साहूकारों के बंधनों से मुक्त हुए थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के वाद के २० वर्षों में कृषि उत्पादन लगभग दुगना वढ़ गया था, तो भी यह देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काफ़ी नहीं था। खाद्यान्न का आयात वजट पर भारी वोझ वना हुआ था, देश के भुगतान संतुलन पर इसका वुरा असर पड़ रहा था और इसके गंभीर परिणाम निकल रहे थे। १६६६-६७ में १ करोड़ ४ लाख टन अनाज आयात किया गया (भारत के कुल आयात का ३० प्रतिशत)। इस अनाज के लिए जो भुगतान (१ अरव

१४ करोड़ रुपये) करना पड़ा, उसकी वजह से देश के औद्योगीकरण की नीति को जारी रखने के लिए आवश्यक औद्योगिक साज़-सामान के आयात की संभावनाएं सीमित हो गयीं। भारतीय इजारेदारियों ने भारत सरकार पर दवाव डाला कि वह अर्थव्यवस्था के विकास में राजकीय क्षेत्र को प्रमुखता देने की नेहरू की नीति को त्याग दे। ये कोशिशें असफल रहीं, पर इनसे सामाजिक पुनर्गठन की गति धीमी अवश्य पड़ गयी।

१९६७ के आरंभ में हुए संसद तथा विधानसभाओं के चुनावों में वर्गीय अंतर्विरोधों की उग्रता प्रतिबिंबित हुई। राजनीतिक शक्तियों का स्पष्ट ध्रुवीकरण दिखाई देने लगा। एक ओर, भारतीय कम्युनिस्टों की स्थिति सुदृढ़ हुई। पश्चिमी बंगाल, बिहार और पंजाव में संयुक्त मोर्चों की सरकारें बनीं, जिनके गठन में कम्युनिस्टों ने प्रमुख भूमिका अदा की। अनेक भारतीय मेहनतकश यह समझने लगे कि कम्युनिस्ट विचार कितने सही हैं, कि वे भारतीय जनता के सम्मुख सच्चे जनवाद का मार्ग प्रशस्त करते हैं, ऐसा मार्ग जो गहन सामाजिक परिवर्तनों की ओर, शोषणरहित समाज की ओर ले जाता है।

दूसरी ओर, चुनावों से दक्षिणपंथी राजनीतिक शक्तियों के सुदृढ़ीकरण का भी प्रमाण मिला। कुल मतों की संख्या की दृष्टि से वे दूसरे स्थान पर थीं। स्वतंत्र और दूसरी दक्षिणपंथी पार्टियां इस बात का भरसक प्रयत्न करने लगीं कि जनवादी संगठनों और नेताओं के विरुद्ध दमनकारी क़दम उठाये जायें। इस सबका नतीजा यह हुआ कि केंद्रीय सरकार ने १९६७ के चुनावों के वाद पश्चिमी बंगाल, विहार और पंजाव में वनी सरकारें भंग कर दीं, जबकि उड़ीसा में उग्र दक्षिणपंथियों द्वारा गठित सरकार बनी रही।

शक्तियों के ध्रुवीकरण का प्रभाव भारतीय बूर्जुआ वर्ग की प्रमुख पार्टी पर भी पड़ा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में मतभेद बढ़े, जो अन्य बातों के अलावा उसकी लोकप्रियता में कमी की वजह से भी पैदा हुए थे। अव सत्ता पर उसका एकाधिकार नहीं रहा और कई राज्यों में तो सत्ता इसके हाथ से विल्कुल ही निकल गयी। पार्टी का केंद्रीय नेतृत्व "जनवादी समाजवादी समाज" के निर्माण के कार्यक्रम का समर्थन कर रहा था, परंतु पार्टी के अंदर कुछ प्रभावशाली तत्त्व इसका विरोध कर रहे थे। ये तत्त्व प्रगतिशील सुधारों के क्रियान्वयन में असंगति तथा कांग्रेस एवं सरकार में अल्पतंत्रवादी प्रवृत्तियों से पैदा हुए असंतोष का अपने हितों में उपयोग कर रहे थे। सातवें दशक के उत्तरार्ध में ये कारक केवल वीजरूप में ही विद्यमान थे, किंतु कालांतर में इनका प्रभाव स्पष्टतः प्रकट हो गया।

ग़ैर-पूंजीवादी विकास के पथ पर संक्रमण के लिए संघर्ष

एशिया और अफ़्रीका के नवोदित राज्यों का अनुभव, अतीत के सबक़, सब कुछ इस बात का साक्षी था कि पूंजीवादी मार्ग पर चलते हुए विकासशील देश उपनिवेशवाद से विरासत में मिले आर्थिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन से छुटकारा नहीं पा सकते। पूंजीवादी विकास नवउपनिवेशवाद के लिए द्वार खोलता है।

किंतु आज की परिस्थितियों में, जबकि विश्व समाजवादी प्रणाली विकासशील देशों को कारगर राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सहायता दे रही है, एशिया और अफ़्रीका के भूतपूर्व पिछड़े देशों के लिए ग़ैर-पूंजीवादी विकास के पथ पर अग्रसरण के लिए महत्त्वपूर्ण पूर्वाधार विद्यमान हैं। मज़दूर वर्ग और उसकी पार्टियां इस मार्ग को अपनाये जाने के लिए ही सक्रिय संघर्ष कर रही हैं। इन देशों के जन साधारण भी इस विचार का समर्थन करते हैं कि जिस सामाजिक व्यवस्था ने उपनिवेशवाद को जन्म दिया है, उसे ख़त्म कर देना चाहिए। अपनी स्वतंत्रता को सुदृढ़ करने के लिए संघर्ष का ही यह तर्कसंगत परिणाम है कि कई विकासमान देशों में क्रांतिकारी जनवादी विचारों-वाले राष्ट्रीय तत्त्व विकास का ग़ैर-पूंजीवादी पथ अपनाने, दूसरे शब्दों में, समाजवाद के मार्ग पर अग्रसर होने का आह्वान करते हैं; हालांकि ये तत्त्व शहरी निम्न बूर्जूआज़ी, किसानों और राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के ऐसे भागों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिन्हे पहले निजी उपक्रम के पुराने, घिसे-पिटे मार्ग पर ही अपनी अर्थव्यवस्था के पुनरुत्थान की आशा थी। सातवें दशक में संयुक्त अरब गणराज्य, बर्मा, अल्जीरिया, घाना, गिनी, माली, सीरिया, कांगो (ब्राज़ाविले), आदि विकासमान देशों ने ऐसे महत्त्वपूर्ण पुनर्गठन आरंभ किये जो ग़ैर-पूंजीवादी विकास के पथ की ओर संक्रमण में सहायक थे।

अल्जीरियाई लोक जनवादी गणराज्य

एवें समझौतों पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद के काल में देश में आंतरिक स्थिति अत्यंत कठिन और जटिल थी। युद्ध तथा ओ० ए० एस० की आतंक-वादी कार्रवाइयों ने देश को तबाह कर डाला था। फ़्रांसीसी अपने प्रतिष्ठान और फ़ार्म छोड़-छोड़कर जा रहे थे। फ़्रांसीसी कर्मचारी, शिक्षक और विशेषज्ञ भी अल्जीरिया से जा रहे थे। अधिकांश मिलों-कारख़ानों का काम ठप्प हो गया था।

फ़्रांसीसी इस देश में पृथकतावादी तत्वों को प्रोत्साहन देने की जो नीति चलाते आये थे, उसका भी असर पड़ रहा था। फलस्वरूप अल्जीरिया में देश के भावी विकास मार्ग के प्रश्न पर तीव्र संघर्ष छिड़ गया।

राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के दूरदर्शी नेता समझते थे कि इतनी भारी क़ीमत चुकाकर जो आज़ादी हासिल की गयी है, उसे सुदृढ़ करने के लिए क्रांति को आगे बढ़ाना, जनता की आकांक्षाओं को पूरा करना नितांत आवश्यक है। जून १९६२ में त्रिपोली में हुए अल्जीरियाई क्रांति की राष्ट्रीय परिषद के अधिवेशन में स्वीकृत राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे का कार्यक्रम इस मान्यता पर आधारित था कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष के पश्चात् लोक जनवादी क्रांति होगी, जो समाजवादी सिद्धांतों के अनुसार समाज का पुनर्गठन करेगी। त्रिपोली कार्यक्रम के अनुसार यातायात, बैंकों, विदेश व्यापार, खनिज भंडारों, आदि का राष्ट्रीयकरण किया जाना था, कृषि सुधार लागू किये जाने थे। अल्जीरिया गणराज्य की अस्थायी सरकार के नरमपंथी सुधारवादी नेताओं तथा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के जनवादी धड़े के बीच उग्र संघर्ष में जनवादियों की जीत हुई। सितंबर १९६२ में गठित राष्ट्रीय संविधान सभा ने अल्जीरियाई लोक जनवादी गणराज्य की घोषणा की।

इस बीच मेहनतकश अपने आप ही फ़्रांसीसियों द्वारा छोड़े गये कल-कारखानों और फ़ार्मों का संचालन अपने हाथों में लेने और "स्वयंप्रबंध समितियां" बनाने लगे थे। इस तरह राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के उन हल्क़ों पर चोट की गयी, जो यह आस लगाये बैठे थे कि उपनिवेशवादियों द्वारा छोड़ी गयी संपत्ति उन्हें मिल जायेगी। मेहनतकशों के दबाव के कारण आगे चलकर इन स्वयंप्रबंध समितियों को सरकारी मान्यता मिल गयी। मार्च, १९६३ के अध्यादेशों में फ़्रांसीसियों द्वारा छोड़ी गयी या अप्रयुक्त संपत्ति के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की गयी और उन्हें स्वयंप्रबंध समितियों के हाथों सौंप दिया गया।

क्रांति को आगे अधिक गहराई में फैलाने के लिए सभी प्रगतिशील शक्तियों को एकजुट करने तथा ऐसी पार्टी स्थापित करने की आवश्यकता थी, जो मेहनतकशों का हरावल और स्वतंत्र अल्जीरिया की नेतृत्वकारी शक्ति बने। अप्रैल, १९६४ में हुई राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की कांग्रेस इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण क़दम थी। कांग्रेस द्वारा स्वीकृत अल्जीरियाई चार्टर में कहा गया था कि स्वयंप्रबंध की प्रणाली में राष्ट्रीय जनवादी क्रांति का समाजवादी क्रांति में निरंतर विकास मूर्तिमान हो रहा है और आगे भी होता रहेगा। इस विकास में वे सब आर्थिक और राजनीतिक समस्याएं हल होती हैं, जो उपनिवेशवाद से समाजवाद का मार्ग प्रशस्त करनेवाले राज्य की ओर संक्रमण के दौरान उठती हैं।

१९६५ में अल्जीरियाई अर्थव्यवस्था के स्वयंप्रबंधित क्षेत्र में ४० प्रतिशत

काश्त-योग्य ज़मीन थी, जिस पर डेढ़ लाख लोग काम करते थे। उद्योग में यह क्षेत्र २० प्रतिशत उत्पादन देता था।

अल्जीरिया ने देश के औद्योगीकरण की ओर पहले क़दम उठाये, जिसकी बदौलत देश की आर्थिक और सामाजिक प्रगति सुनिश्चित की जा सकती थी। भारी उद्योग में सबसे पहले अन्नाबा के पास इस्पात कारख़ाने का निर्माण आरंभ हुआ। इसके पहले भाग की ही वार्षिक उत्पादन क्षमता साढ़े चार लाख टन थी। आर्ज़ेव में एक विशाल रसायन कारख़ाना बनाया गया, जहां अमोनिया और नाइट्रोजन उर्वरकों का उत्पादन होता है। देश में तेल मिला और आर्ज़ेव के पास तेल रसायन समुच्चय के निर्माण का निर्णय किया गया। इसके तेलशोधन कारख़ाने की क्षमता २५ लाख टन प्रति वर्ष निर्धारित की गयी। औद्योगीकरण का एक लक्ष्य यह भी था कि रोज़गार की खोज में देश छोड़कर जानेवालों को देश में ही काम मिले। ज़्यादातर अल्जीरियाई काम की खोज में फ़्रांस ही जाते थे। वहां रह रहे बहुत से विशेषज्ञों से सरकार ने स्वदेश लौटने का आग्रह किया।

सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों के साथ नवोदित गणराज्य के मित्रतापूर्ण संबंधों ने स्वतंत्र अल्जीरिया के नवनिर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। सोवियत संघ ने अल्जीरिया गणराज्य को अधिकाधिक सहायता प्रदान की। दिसंबर, १९६३ में दोनों देशों के बीच आर्थिक और तकनीकी सहयोग के एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। अल्जीरिया को दीर्घकालीन ऋण दिया गया। १९६४ में सोवियत संघ ने अल्जीरिया में तेल एवं गैस संस्थान, टेक्सटाइल तकनीकी विद्यालय तथा दो शिक्षा केंद्रों का निर्माण करके उन्हें अल्जीरियाई जनता को भेंट किया। सोवियत संघ सूखे से ग्रस्त होनेवाले इलाक़ों में २८ बांध बनाने में सहयोग प्रदान करने को भी सहमत हुआ। हज़ारों सोवियत विशेषज्ञों – इंजीनियरों, तकनीशियनों, भूविज्ञानियों, अध्यापकों, डाक्टरों – ने अल्जीरिया में काम किया, स्वाधीन अर्थव्यवस्था के निर्माण में अल्जीरियाइयों की सहायता की, राष्ट्रीय कर्मियों को प्रशिक्षित किया और उन्हें अपने समृद्ध अनुभव से परिचित कराया। अन्नाबा धातु कारख़ाने के निर्माण में भी सोवियत विशेषज्ञों का भारी योगदान रहा; इसके निर्माण के लिए सोवियत संघ ने अल्जीरिया को ११.२ करोड़ रूबल का ऋण दिया। सहारा के कायाकल्प में भी सोवियत लोगों ने बड़ा योग दिया: उन्होंने अनेक सिंचाई प्रणालियों की तथा नख़लिस्तानों के लिए जल व्यवस्था की परियोजनाएं बनायीं। अल्जीरियाई लोग गहरे आभार के साथ सोवियत सफ़र-मैनों को याद करते हैं, जिन्होंने अल्जीरियाई धरती को युद्ध के बाद बची रही लाखों सुरंगों से साफ़ किया और इस तरह हज़ारों हैक्टर उपजाऊ भूमि पर पुनः खेती करने की संभावना दी।

इन वर्षों में अल्जीरिया स्वाधीन विदेशनीति पर चलता रहा है। इज़रायली आक्रामकों के विरुद्ध संघर्ष में अरब जनगण की एकता के लिए वह सुसंगत प्रयास करता आया है। क्रांतिकारी सरकार ने मुक्ति संग्राम के पश्चात् भी अल्जीरिया के क्षेत्र पर अवशिष्ट सभी फ़्रांसीसी फ़ौजी अड्डों को बंद करवाया। ग़ैर-पूंजीवादी मार्ग पर विकास के साथ-साथ देश में वर्ग संघर्ष भी उग्र हुआ ; दक्षिणपंथी तत्त्वों ने कई बार बल-प्रयोग की कोशिशें कीं। किंतु अल्जीरियाई जनता ने राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे द्वारा किये जा रहे प्रगतिशील सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पुनर्गठन का सदा सक्रिय समर्थन किया।

संयुक्त अरब गणराज्य

सातवें दशक में संयुक्त अरब गणराज्य के राजनीतिक जीवन में भी देश के भावी विकास के पथ का प्रश्न एक केंद्रीय प्रश्न था। जुलाई १९५२ की क्रांति के पश्चात् सत्तारूढ़ हुए निम्न बूर्जुआ क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध तथा राजनीतिक स्वतंत्रता के सुदृढ़ीकरण के लिए संघर्ष का नेतृत्व किया। वस्तुगत दृष्टि से यह मिस्र को स्वतंत्र पूंजीवादी राज्य में परिवर्तित करने के लिए संघर्ष था। मेहनतकश जनसमूहों ने क्रांतिकारी सरकार की साम्राज्यवादविरोधी नीति का सक्रिय समर्थन किया, जिसने ब्रिटिश-फ़्रांसीसी साम्राज्यवाद द्वारा स्वेज़ नहर पर किये गये हमले का सामना करने में निर्णायक भूमिका अदा की थी। मगर साम्राज्यवाद पर हुई विजय के सुफलों को बूर्जुआज़ी ने ही हथिया लेना चाहा। स्वेज़ नहर के राष्ट्रीयकरण के बाद बैंक और विदेशी उद्यम राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी को मिले, जिससे बड़े पूंजीपतियों की स्थिति सुदृढ़ हुई। वे साम्राज्यवादी इजारेदारियों के साथ संबंध "सामान्य" करने के यत्न करने लगे और साथ ही नासिर सरकार की कुछ नीतियों की आलोचना भी करने लगे। उधर मेहनतकश अपनी स्थिति सुधारने और सामाजिक पुनर्गठन करने की मांग कर रहे थे।

यह देखकर कि हाल में प्राप्त स्वतंत्रता के लिए अंदर ही ख़तरा पैदा हो गया है, नासिर और उसके साथियों ने ऐसे सुधार लागू करने का निश्चय किया, जिनसे बड़े बूर्जुआज़ी की आर्थिक और राजनीतिक स्थिति कमज़ोर पड़ती। १९६० में देश के सबसे बड़े बैंक – मिस्र बैंक – के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की गयी। जुलाई, १९६१ में सरकार ने अन्य बैंकों, बीमा कंपनियों और कुछ बड़ी-बड़ी निजी व्यापारिक कंपनियों का भी राष्ट्रीयकरण कर लिया तथा विदेशी पूंजी पर भी प्रतिबंध लगा दिये। १९६१-१९६४ के दौरान राष्ट्रीयकरण जारी रहा और इसके परिणामस्वरूप अधिकांश बड़े और मंझोले

औद्योगिक प्रतिष्ठान भी राज्य के हाथों में आ गये। अब देश के कोई ६० प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन तथा प्रायः सारे विदेश व्यापार पर राज्य का नियंत्रण हो गया।

सरकार ने ७ घंटे का कार्य-दिवस लागू करने का क़ानून जारी किया, न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित की, तनख़्वाह समेत छुट्टी तथा सामाजिक बीमे का प्रावधान किया। उद्यमों में गठित प्रबंध-समितियों में मज़दूरों और कर्मचारियों के प्रतिनिधियों को शामिल किया गया।

जुलाई, १९६१ में ऐसे क़ानून बनाये गये, जिनसे कृषि सुधार के पैमाने में और वृद्धि हुई तथा बड़े भूस्वामियों को सख़्त आघात पहुंचा। कुल ४,८०,००० हैक्टर भूमि का राष्ट्रीयकरण किया गया, जबकि देश में काश्त-योग्य ज़मीन का कुल क्षेत्रफल २८ लाख हैक्टर था। १९६४ तक ३,३२,००० परिवार निश्चित रक़म देकर ज़मीन पा चुके थे। मगर फिर भी कृषि में निजी स्वामित्व के संबंधों का ही प्रभुत्व बना रहा। बहुत से मिस्री किसानों के पास फिर भी ज़मीन नहीं थी और लाखों कृषि मज़दूरों के पास कोई काम नहीं था।

उन दिनों किये गये आर्थिक सुधार स्वाधीन राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए मिस्री जनता के संघर्ष में सहायक सिद्ध हुए। संयुक्त अरब गणराज्य एक कृषि-औद्योगिक देश बन गया, जो उपभोक्ता वस्तुओं की अपनी बुनियादी ज़रूरतें अब स्वयं पूरी कर सकता था। १९६० से देश में आर्थिक विकास का दसवर्षीय कार्यक्रम आरंभ किया गया, जिसके अनुसार १९७० तक राष्ट्रीय उत्पाद को दुगना बढ़ाया जाना था। सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध संयुक्त अरब गणराज्य की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास में तथा उसकी राजनीतिक और आर्थिक स्वाधीनता के सुदृढ़ीकरण में सहायक बने। सोवियत संघ द्वारा निर्मित अस्वान बांध ने देश की उत्पादक शक्तियों के विकास में बहुत बड़ी भूमिका अदा की।

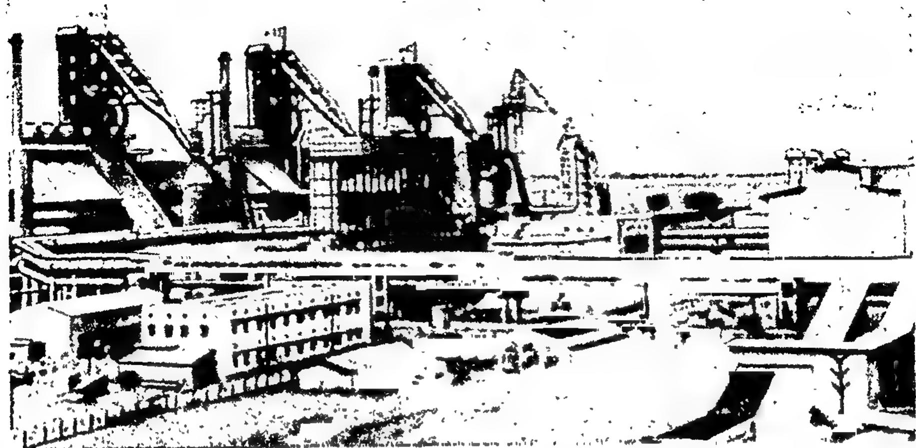
आर्थिक सुधारों के साथ-साथ देश के राजनीतिक जीवन में भी परिवर्तन आये। फ़रवरी १९६२ में जन शक्तियों की राष्ट्रीय कांग्रेस बुलायी गयी, जिसमें "राष्ट्रीय कार्रवाइयों के घोषणापत्र" की अभिपुष्टि की गयी। इसमें कहा गया था कि कोई भी विकासशील देश पूंजीवादी मार्ग पर चलकर प्रगति नहीं कर सकता। घोषणापत्र में सामाजिक पुनर्गठन का कार्यक्रम निरूपित किया गया था और कहा गया था कि देश की सारी संपदा प्रतिगामी शक्तियों के हाथों में केंद्रित होने के कारण उनके हित सारे देश के हितों से टकराते हैं। इसलिए वर्ग विरोध को शांतिपूर्वक केवल तभी हल किया जा सकता है, जबकि प्रतिगामी शक्तियों को उनके सारे हथियारों से वंचित कर दिया जाये।

इस घोषणापत्र के अनुसार मार्च, १९६४ में देश की संसद के चुनाव हुए, जिसमें ५० प्रतिशत स्थान मज़दूरों और किसानों के प्रतिनिधियों के लिए सुरक्षित थे। उसी समय अस्थायी संविधान भी घोषित किया गया, जिसमें कहा गया था कि संयुक्त अरब गणराज्य किसानों, मज़दूरों, बुद्धिजीवियों और राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के सहबंध पर आधारित जनवादी समाजवादी राज्य है। सभी आपातकालीन क़ानूनों को रद्द करने और राजनीतिक बंदियों को रिहा करने के बारे में अध्यादेश जारी किये गये।

यह सब होते हुए भी संयुक्त अरब गणराज्य में सामाजिक-आर्थिक पुनर्गठन का पैमाना और गति राजनीतिक परिवर्तनों की गति से कहीं अधिक तेज़ थी। इसका कारण यह था कि सामाजिक प्रगति के लिए संघर्ष में मिस्र की मेहनतकश जनता का नेतृत्व करने में सक्षम कोई राजनीतिक संगठन न था। नवंबर, १९६२ में राष्ट्रपति के अध्यादेश से अरब समाजवादी संघ नामक एक पार्टी बनायी गयी। यद्यपि १९६५ में इसमें ७०,००,००० लोग शामिल थे, विचारधारा और संगठन की दृष्टि से वह ऐसी सशक्त राष्ट्रीय-जनवादी पार्टी नहीं बन पायी, जो संयुक्त अरब गणराज्य के मेहनतकशों का हरावल हो सकती। ऐसी परिस्थितियों में नौकरशाही बहुत बड़ी भूमिका अदा करती थी और इसमें अभी तक बहुत से ऐसे बूर्जुआ तत्त्व थे, जो ग़ैर-पूंजीवादी विकास की नीति के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख़ रखते थे।

देश के विकास में गंभीर बाहरी कठिनाइयां भी थीं। प्रगतिशील अरब हुकूमतों के खिलाफ़ संघर्ष में साम्राज्यवादी ताक़तें तरह-तरह की चालों, यहां तक कि खुले आक्रमण से भी नहीं हिचकिचाती थीं।

५ जून, १९६७ को संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी और ज़ियोनवादी ताक़तों के समर्थन से इज़रायल ने संयुक्त अरब गणराज्य, सीरिया और जोर्डन की सरकारों को उलटने तथा अरब राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन पर चोट करने के उद्देश्य से इन देशों पर हमला बोल दिया। यह अरब-इजरायली युद्ध केवल छह दिन चला। इतने कम अरसे में ही इज़रायल ने तीनों देशों के विशाल क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा कर लिया। संयुक्त अरब गणराज्य की गाज़ा पट्टी और सिनाई प्रायद्वीप भी इसी में थे। इज़रायली हमले को रोकने में सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों ने निर्णायक भूमिका अदा की, जिन्होंने इज़रायली हमले के शिकार देशों के साथ अपनी एकजुटता की घोषणा की, सुरक्षा परिषद द्वारा हमले की बिलाशर्त निंदा किये जाने की मांग की तथा आक्रामक के साथ राजनयिक संबंध तुरंत ही भंग कर लिये। २२ नवंबर, १९६७ को सुरक्षा परिषद ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया, जिसके अनुसार इज़रायल को अरब देशों के साथ शांतिपूर्ण समाधान संबंधी कोई वार्ता शुरू करने से पहले सभी अरब क्षेत्रों से हटने को कहा गया



भिलाई धातु कारखाना

था। इज़रायल ने यह मांग पूरी करने से साफ़ इंकार कर दिया और युद्धविराम समझौते का उल्लंघन करते हुए अरब राज्यों के ख़िलाफ़ उकसावेभरी कार्रवाइयां जारी रखीं।

जून की घटनाओं के तुरंत बाद ही संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर ने त्यागपत्र दे दिया। किंतु देश के बड़े-बड़े नगरों में प्रदर्शन होने लगे, जिनमें लोगों ने मांग की कि वह अपने पद पर बना रहे। नासिर को जनता के अनुरोध के सामने झुकना पड़ा। इसके बाद के महीनों में संयुक्त अरब गणराज्य के नेतृत्व ने अरब-इज़रायली युद्ध से संबंधित घटनाओं का सभी पहलुओं से विश्लेषण किया और आवश्यक निष्कर्ष निकाले। इस युद्ध में संयुक्त अरब गणराज्य की सैनिक हार से देश की सशस्त्र सेनाओं की अपर्याप्त तैयारी ही प्रतिबिंबित नहीं हुई, बल्कि यह बात भी कि बड़े अफ़सरों का एक भाग देश के नेतृत्व के दृष्टिकोणों से सहमत न था। इन लोगों का एक विशेषाधिकारप्राप्त फ़ौजी-नौकरशाही तबक़ा बन गया था और ये नहीं चाहते थे कि देश ग़ैर-पूंजीवादी विकास के मार्ग पर आगे बढ़े। जून १९६७ की घटनाएं इस बात का प्रमाण थीं कि जुलाई १९५२ की क्रांति मुख्यतः ऊपर से की गयी क्रांति थी और जनसमूहों को उसमें शामिल नहीं किया गया था।

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों को देश से खदेड़ दिये जाने के बाद सत्तारूढ़ हुआ बूर्जुआज़ी १४ वर्ष (१९४८-१९६२) तक छद्म समाजवादी नारों की आड़ में अपनी नीति चला रहा था। इन वर्षों के दौरान बर्मा में कुछ प्रगति तो हुई, जैसे विदेशी पूंजी को कुछ हद तक सीमित किया गया, राजकीय क्षेत्र की स्थापना हुई, तटस्थतावादी विदेश नीति का पालन हुआ, शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में कुछ सफलताएं प्राप्त हुईं। किंतु देश की अर्थव्यवस्था का ढांचा फिर भी औपनिवेशिक ही बना रहा। उसपर विदेशी पूंजी के प्रभुत्व को कोई ख़ास चुनौती नहीं दी गयी थी। मेहनतकशों की आर्थिक दशा बिगड़ती जा रही थी। देश में आर्थिक, राजनीतिक और अंतरजातीय विरोध उग्र हो रहे थे। बर्मी कम्युनिस्ट पार्टी, जिस पर मार्च १९४८ से प्रतिबंध लगा हुआ था, सरकार के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष कर रही थी। दक्षिणपंथी प्रतिगामियों और सामंती-पृथकतावादियों के सशस्त्र दल भी देश में सक्रिय थे।

१ मार्च, १९६२ की रात को जनरल ने विन के नेतृत्व में बर्मी सेना के उच्च अफ़सरों द्वारा गठित एक क्रांतिकारी परिषद ने सत्ता अपने हाथों में ले ली और एक क्रांतिकारी सरकार बनायी, जिसका प्रमुख जनरल ने विन को ही नियुक्त किया गया। जापानी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में बनी बर्मी सेना में साम्राज्यवादविरोधी और जनवादी भावनाएं प्रबल थीं। सैनिक अफ़सरों में अधिकांश निम्न बूर्जुआज़ी, बुद्धिजीवी और किसान वर्गों के प्रतिनिधि थे। ने विन की सरकार देश को नये, प्रगतिशील मार्ग पर बढ़ाने की कोशिश करने लगी। ३० अप्रैल को "समाजवाद की ओर बर्मा का मार्ग" शीर्षक राजनीतिक घोषणापत्र स्वीकार किया गया।

इस दस्तावेज़ में कहा गया था कि क्रांतिकारी परिषद का लक्ष्य बर्मा में समाजवाद का निर्माण करना है। घोषणापत्र में कृषि और उद्योग में उत्पादन साधनों तथा आंतरिक व्यापार, यातायात, संचार, विदेश व्यापार आदि के राष्ट्रीयकरण की बात कही गयी थी। यह भी इंगित किया गया था कि देश में निजी उपक्रम की अनुमति होगी, लेकिन उसपर न्यायोचित और तर्कसंगत प्रतिबंध लगाये जायेंगे।

इस घोषणापत्र के आधार पर महत्त्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन किये गये। तेल निकासी उद्योग में ब्रिटिश संपत्ति का मुआवज़ा देकर राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। विदेशियों और बर्मियों के सभी बैंकों का और विदेश व्यापार का भी राष्ट्रीयकरण हुआ। आंतरिक व्यापार पर राजकीय नियंत्रण स्थापित किया गया। बड़े-बड़े निजी उद्यम भी राज्य ने अपने हाथों में ले लिये। जिन पूंजीपतियों के पास अपने प्रतिष्ठान रहे, उनकी आय पर

ऊंचे कर लगाये जाने लगे। देहातों में सामंतवादी अवशेषों को ख़त्म करने तथा किसानों की स्थिति सुधारने के लिए क़दम उठाये गये। बटाईदार काश्तकारों से ज़मीन वापस लेने पर प्रतिबंध लगाया गया और मार्च १९६५ में एक क़ानून जारी करके लगान प्रथा ख़त्म कर दी गयी।

इन क़दमों के फलस्वरूप देश में स्थिति और भी जटिल बन गयी। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए क्रांतिकारी परिषद ने सभी राजनीतिक पार्टियों को भंग करने का फ़ैसला किया। बर्मी क्रांति का नेतृत्वकारी संगठन — बर्मी समाजवादी कार्यक्रम पार्टी ही बस बनी रही।

१९६२ की बर्मी क्रांति के पश्चात् बर्मा में हुए परिवर्तन इस बात के साक्षी थे कि देश ग़ैर-पूंजीवादी विकास का रास्ता पकड़ रहा है। बर्मी अर्थ-व्यवस्था विदेशी इजारेदाराना पूंजी के नियंत्रण से मुक्त होने लगी, बर्मी बूर्जुआज़ी की स्थिति कमज़ोर हुई। मगर इन बड़ी उपलब्धियों के बावजूद बर्मा के सामाजिक विकास की सभी समस्याओं को संतोषजनक ढंग से हल नहीं किया गया। उदाहरणतः, देश की परिस्थितियों के अनुसार राजकीय और निजी क्षेत्र में उचित अनुपात नहीं बन पाया, अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए आंतरिक प्रयासों तथा इसके लिए सहायक बाहरी कारकों (विशेषतः समाजवादी देशों के साथ सहयोग) में उचित संतुलन पैदा नहीं हुआ। विभिन्न विरोधी शक्तियों के साथ लंबा सशस्त्र संघर्ष भी इस बात का साक्षी था कि देश के राजनीतिक जीवन में जातीय संबंधों जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हल नहीं हुए हैं।

लैटिन अमरीकी जनगण का साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष

द्वितीय महायुद्ध के दिनों में संयुक्त राज्य अमरीका ने लैटिन अमरीकी देशों में अपना आर्थिक और सैनिक विस्तार तेज़ कर दिया था। युद्ध के अंत में यहां अमरीका के ९२ फ़ौजी अड्डे थे। तथाकथित अंतर-अमरीकी सहयोग के नाम पर उत्तरी अमरीका की इजारेदारियों ने लैटिन अमरीकी राज्यों के विदेश व्यापार पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था। उसमें यूरोपीय देशों का भाग युद्ध के आरंभ में जहां ३०-३५ प्रतिशत था, वहां १९४४ में वह घटकर केवल ४ प्रतिशत रह गया, जब कि इसी बीच संयुक्त राज्य अमरीका का भाग ३३ प्रतिशत से बढ़कर ६० प्रतिशत हो गया। उधार-पट्टा और ऋण की व्यवस्था का उपयोग करते हुए संयुक्त राज्य अमरीका लैटिन अमरीका को

वित्तीय निर्भरता की ज़ंजीरों में जकड़ रहा था। अमरीकी इजारेदारियां लैटिन अमरीकी देशों में राष्ट्रीय उद्योग का विकास न होने देने के लिए तरह-तरह के क़दम उठा रही थीं। इसकी सबसे अधिक ज्वलंत अभिव्यक्ति क्लेटन योजना में हुई (सं० रा० अमरीका के तत्कालीन उप विदेश सचिव के नाम पर योजना का यह नाम पड़ा था)। इसमें अमरीका से इन देशों में आयात किये जानेवाले माल पर सीमाशुल्क हटाने, अमरीकी पूंजी-निवेश को प्रोत्साहन देने तथा विदेशी संपत्ति के राष्ट्रीयकरण का सिद्धांत त्यागने का प्रावधान था।

संयुक्त राज्य अमरीका जी-जान से लैटिन अमरीकी देशों की प्रतिगामी शक्तियों – ग्वाटेमाला में उबीको की तानाशाही, डोमिनिकन गणराज्य में त्रुहील्यो के निरंकुश शासन, बोलीविया के जल्लाद पेन्यारांदु आदि – की रक्षा कर रहा था। किंतु युद्ध के दौरान अमरीकी इजारेदारियों के लिए अनुकूल परिस्थितियां बन जाने के बावजूद ये शक्तियां लैटिन अमरीकी जनगण के राष्ट्रीय विकास की प्रक्रिया को तथा जनवादी शक्तियों की वृद्धि को रोकने में असमर्थ थीं।

यूरोपीय पूंजीवादी देशों और जापान की स्थिति कमज़ोर होने तथा औद्योगिक माल का आयात बंद होने या उसमें भारी कमी होने के फलस्वरूप राष्ट्रीय उद्योगों के विकास के लिए अच्छे पूर्वाधार बने थे। अर्जेंटीना, ब्राज़ील, चिली, मैक्सिको, उरुग्वाय, कोलम्बिया, वेनेज़ुएला और पेरू जैसे सामरिक महत्त्व की सामग्रियों, कच्चे माल तथा खाद्यान्न के निर्यातक देशों के पास विदेशी मुद्रा काफ़ी जमा हो गयी थी, जिससे उनके औद्योगिक विकास में तेज़ी आयी। नये औद्योगिक केंद्र बने, ख़ास तौर पर अर्जेंटीना, मैक्सिको, ब्राज़ील, चिली जैसे देशों में, जो कृषिप्रधान देशों के स्थान पर कृषि-औद्योगिक देश बन गये। उद्योगों के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी सुदृढ़ हुआ, मज़दूर वर्ग बढ़ा।

द्वितीय महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों के संघर्ष का फ़ासिस्टविरोधी स्वरूप लैटिन अमरीकी जनगण के जनवादी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के उत्थान में सहायक बना। सल्वाडोर, इक्वाडोर और ग्वाटेमाला की प्रतिगामी हुकूमतों के ख़िलाफ़ संघर्ष दिनोंदिन ज़ोर पकड़ता गया। कई देशों के मेहनतकश जनवादी स्वतंत्रताएं पाने में सफल रहे। कम्युनिस्ट पार्टियां खुले तौर पर काम करने लगीं। लैटिन अमरीका के सबसे बड़े देश ब्राज़ील में राजनीतिक पार्टियों को अपना काम करने की अनुमति मिल गयी। कम्युनिस्ट पार्टी भी वैध हो गयी और १९३६ से जेल में क़ैद कम्युनिस्ट नेता लुइस कार्लोस प्रेस्तेस को रिहा कर दिया गया। लैटिन अमरीकी देशों में राष्ट्रीय, जनवादी शक्तियों में आगे भी वृद्धि के लिए पूर्वाधार बने।

देश के पूंजीवादी विकास में तेज़ी आने का सामाजिक परिणाम यह हुआ कि अर्जेंटीनी बूर्जुआज़ी सशक्त बना। अब ब्रिटेन और अमरीका पर निर्भरता इसके लिए बोझ बन रही थी। इसकी अभिव्यक्ति फ़रवरी १९४६ में राष्ट्रपति पद पर नियुक्त हुआन पेरोन की नीतियों में राष्ट्रवादी प्रवृतियों के सुदृढ़ीकरण के रूप में देखने को मिली।

पेरोन की नीति का ध्येय राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी की स्थिति सुदृढ़ करना था। इसके लिए विदेशी और, सर्वप्रथम, अमरीकी इजारेदारियों की स्थिति कमज़ोर करने तथा ज़मींदारी अल्पतंत्र और चर्च की शक्ति को कुछ सीमित करने की ओर लक्षित कई क़दम उठाये गये। रेलवे तथा कुछ विदेशी कंपनियों को मुआवज़ा देकर ख़रीद लिया गया और केंद्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण किया गया और इस तरह देश की अर्थव्यवस्था में राजकीय क्षेत्र की स्थापना हुई। कुछ श्रेणियों के मेहनतकशों की तनख़्वाहें बढ़ायी गयीं, सवेतन छुट्टियां दी जाने लगीं, क्रिसमस के अवसर पर बोनस दिया जाने लगा; रोज़गार के अवसर बढ़ाने के लिए क़दम उठाये गये और पेंशन व्यवस्था लागू की गयी। मेहनतकशों के लिए मकान भी बनाये जाने लगे।

जनता की राजनीतिक सक्रियता कम करने के उद्देश्य से पेरोन ने राष्ट्रीय क्रांति पार्टी गठित की, जो पेरोनवादी पार्टी के नाम से ही अधिक जानी जाती है। इस पार्टी में पूंजीपति, राजकीय प्रशासनतंत्र के प्रतिनिधि और मज़दूर थे। इस पार्टी का लक्ष्य था विभिन्न वर्गों के हितों में समन्वय लाना।

पेरोन ने बड़ी पूंजी, ज़मींदारी अल्पतंत्र और साम्राज्यवाद से देश को छुटकारा दिलाने तथा "न्यायपूर्ण राज्य" का निर्माण करने का वायदा किया। जून १९४६ में सोवियत संघ के साथ राजनयिक और व्यापारिक संबंधों की स्थापना पेरोन का एक महत्त्वपूर्ण क़दम था, जिससे आम जनता में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी। किंतु उधर कटु यथार्थ पेरोनवादी राज्य की "न्यायपूर्णता" की कलई खोल रहा था। पेरोन की नीति अर्जेंटीनी समाज के बुनियादी अंतर्विरोधों को दूर करने में असमर्थ सिद्ध हुई। राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी की स्थिति मजबूत हो जाने के बावजूद इस समाज में विदेशी साम्राज्यवाद के साथ जुड़ा हुआ बूर्जुआ-ज़मींदार अल्पतंत्र निर्णायक भूमिका अदा कर रहा था। बूर्जुआज़ी और स्वयं पेरोन के हितों और मेहनतकशों के हितों के बीच अनम्य विरोध था। मेहनतकशों का पहले की ही भांति शोषण और उत्पीड़न हो रहा था। १९५५ में निर्वाह-व्यय सूचकांक १९४३ के स्तर की तुलना में ६८५ प्रतिशत अधिक था। प्राय: सारी ज़मीन बड़े-बड़े लातीफ़ुंदिस्तों के ही हाथों में थी।

अर्जेंटीना ग्रेट ब्रिटेन पर तो निर्भर था ही, मगर अब संयुक्त राज्य अमरीका पर भी उसकी निर्भरता बढ़ती जा रही थी। १९५४-१९५५ में अमरीका के साथ कतिपय आर्थिक समझौतों पर हस्ताक्षर हुए, जिन्होंने अमरीकी इजारेदारियों के लिए अर्जेंटीना में असीम विस्तार के द्वार खोल दिये। यह अर्जेंटीनी बूर्जुआज़ी का आत्मसमर्पण था, जो जनवादी शक्तियों के विरुद्ध साम्राज्यवाद का समर्थन पाना चाहता था।

पेरोनवादी नेताओं की वर्ग शांति की अपीलों के बावजूद मेहनतकशों का अपने वर्ग हितों के लिए संघर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। पेरोन ने क्रांतिकारी प्रदर्शनों को निर्ममता से कुचला और देश में संकटकालीन स्थिति की घोषणा की। कम्युनिस्ट पार्टी पर, जो मुक्ति संघर्ष का हरावल दस्ता थी, ख़ास तौर पर अत्याचार किये जाने लगे। परंतु पेरोन सरकार अब जनता के बढ़ते दबाव का सामना करने में असमर्थ थी। ऐसी स्थिति में ज़मींदार अल्पतंत्र और कैथोलिक चर्च ने पेरोन से पिंड छुड़ाने का निश्चय किया, जिसकी लफ़्फ़ाज़ी उन्हें कभी भी पसंद नहीं आयी थी। १६ सितंबर, १९५५ को अर्जेंटीना में सरकार का तख़्ता पलट दिया गया। पेरोन देश से भाग गया और सत्ता उग्र प्रतिक्रियावादियों के प्रतिनिधियों के हाथों में आ गयी। लेकिन वे अपनी तानाशाही स्थापित नहीं कर सके। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जनवादी शक्तियों ने इसके बाद के वर्षों में एक के बाद एक सत्ता हथियानेवाले साम्राज्य-वाद समर्थक गुटों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा। इस संघर्ष के कारण प्रतिक्रिया-वादियों को ज़रा से भी लंबे अरसे के लिए अपनी स्थिति सुदृढ़ कर सकने का मौक़ा नहीं मिल पाया। उधर सच्ची स्वतंत्रता और जनवाद के समर्थक अधिक सक्रिय होते जा रहे थे। जुलाई, १९६३ में जन नागरिक परिवर्तनवादी संघ पार्टी का प्रतिनिधि अर्तूरो इलिया राष्ट्रपति बना। नये राष्ट्रपति ने लोगों को संविधान में प्रत्याभूत स्वतंत्रताएं दिलाने तथा स्वाधीन विदेशनीति और प्रगति-शील आंतरिक नीति पर चलने का वायदा किया।

परंतु राष्ट्रपति इलिया ने तदनुकूल व्यावहारिक क़दम नहीं उठाये। तीन वर्ष तक सत्तारूढ़ रहने के बावजूद उसने मेहनतकश जनता की स्थिति सुधारने के लिए कोई ख़ास काम न किया। इसकी वजह से प्रतिक्रियावादियों के लिए जवाबी हमला करना आसान हो गया। जून १९६६ में फ़ौजी गिरोह ने राष्ट्रपति को पदच्युत कर दिया, उस पर यह आरोप लगाया गया कि उसने कम्युनिस्ट पार्टी के विरुद्ध "दृढ़तापूर्वक" संघर्ष नहीं किया है। जनरल ओंगानिया को राज्याध्यक्ष और सरकार का अध्यक्ष बनाया गया। संविधान को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया, संसद भंग कर दी गयी, राजनीतिक पार्टियों पर पूर्ण प्रतिबंध लगा दिया गया। अर्जेंटीना की प्रतिगामी शक्तियों ने कम्युनिस्ट पार्टी पर ही सबसे बड़ा वार किया, उसे फिर से भूमिगत हो जाना

पड़ा। अगस्त, १९६७ में एक कम्युनिस्टविरोधी क़ानून जारी किया गया, जिसके अनुसार कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य होने या उससे सहानुभूति रखने पर भी ८ साल तक की क़ैद की सज़ा दी जा सकती थी। घोर अत्याचार के बावजूद अर्जेंटीना में मुक्ति संग्राम रुका नहीं। दिसंबर, १९६६ में हुई एक आम हड़ताल ने देश को झकझोर डाला। इसमें ४० लाख मज़दूरों – देश के सर्वहारा वर्ग के अधिकांश भाग – ने भाग लिया। मेहनकशों की बिगड़ती दशा के कारण मार्च, १९६७ में फिर से सारे देश में आम हड़ताल हुई। इन हड़तालों में कम्युनिस्ट पार्टी ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की। वह जनवादी शक्तियों का संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए भी सक्रिय काम कर रही थी।

ब्राज़ील

राष्ट्रपति जेतुलियो वर्गास द्वारा जनवादियों को दी गयी रिआयतों से प्रतिक्रियावादी आग-बबूला हो उठे थे और अक्तूबर, १९४५ में बलात् सत्ता-परिवर्तन के बाद जनरल एनरीक गस्पार दुत्रा की सरकार बनी, जिसने कम्युनिस्ट पार्टी पर भारी चोट की और १९४७ में इसे एक बार फिर अवैध घोषित कर दिया गया। कम्युनिस्ट संसद-सदस्यों को ग़ैरक़ानूनी ढंग से उनकी सदस्यता से वंचित कर दिया गया। लुइस कार्लोस प्रेस्तेस को फिर से गिरफ़्तार करने का हुक्म दिया गया। इसके बाद दुत्रा सरकार ने सोवियत संघ के साथ राजनयिक संबंध भी तोड़ लिये।

१९५० के राष्ट्रपति चुनावों में जेतुलियो वर्गास की फिर से जीत हुई। वर्गास ने अमरीकी साम्राज्यवाद की निंदा की और सामाजिक-आर्थिक सुधारों का वायदा किया। लेकिन वर्गास ऐसे दृढ़ क़दम उठाने में असमर्थ था, जिनसे आंतरिक अल्पतंत्र और साम्राज्यवाद की स्थिति कमज़ोर की जा सकती। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि वह जनसामान्य का अवलंब लेने से डरता था, जनवादी संगठनों का दमन करता था और इसलिए अलगाव में पड़ गया। आंतरिक प्रतिक्रियावादियों और अमरीकी साम्राज्यवादियों ने इससे लाभ उठाने का मौक़ा हाथ से नहीं जाने दिया। अगस्त, १९५४ में वर्गास को फिर से राष्ट्रपति पद से हटा दिया गया और एक सरकारी सूचना के अनुसार उसने आत्महत्या कर ली। किंतु उसकी मृत्यु की परिस्थितियां आज भी रहस्य-पूर्ण बनी हुई हैं।

इन नाटकीय घटनाओं के बाद के वर्षों में सुदृढ़ हो रही राष्ट्रीय शक्तियों का विदेशी साम्राज्यवाद द्वारा समर्थित आंतरिक अल्पतंत्र के साथ संघर्ष तेज़ हुआ। वर्गास को पदच्युत करने के पश्चात् बनी कास्ती फ़िल्हो की प्रतिगामी

सरकार केवल एक वर्ष तक टिकी रह सकी। तत्पश्चात् एक के बाद एक सरकारें बदलीं: १९५५-१९६० में कूबीचेक, अक्तूबर १९६०-अगस्त १९६१ में कुआद्रोस और अंततः १९६१-१९६४ में गूलार्त की सरकार आयीं। यह सब इस बात का प्रमाण था कि जनवाद और स्वाधीन नीति के समर्थकों की तादाद बढ़ रही है, हालांकि यह वृद्धि सदा एक जैसी नहीं थी।

कुआद्रोस को प्रतिगामी फ़ौजियों ने पदच्युत किया था। यह इस बात का साक्षी था कि स्थानीय अल्पतंत्र और अमरीकी साम्राज्यवाद ऐसी सरकार नहीं बने रहने देना चाहते थे, जो ब्राज़ील के राष्ट्रीय हितों की रक्षा करे। प्रतिगामी शक्तियां इस बात का भरसक प्रयत्न कर रही थीं कि सत्ता उप राष्ट्रपति गूलार्त के हाथों में न आ जाये। गूलार्त मज़दूरों की पार्टी का लोकप्रिय नेता था और अपने वामपंथी विचारों के लिए विख्यात था। देश की सभी जनवादी शक्तियों ने, जिनमें कम्युनिस्ट और समाजवादी पार्टियां, निम्न बूर्जुआ हल्क़े और राष्ट्रवादी बूर्जुआ भी थे, गूलार्त का समर्थन किया। मज़दूर वर्ग ने प्रतिक्रियावादियों द्वारा संभावित बल प्रयोग का जवाब देने के लिए हथियारबंद दस्ते बनाने आरंभ किये। रेल मज़दूरों की हड़ताल की वजह से राजधानी में नयी फ़ौजी टुकड़िया नहीं आ सकीं। सेना में भी गूलार्त के बहुत से समर्थक थे। इस तरह व्यापक राष्ट्रीय मोर्चा बना और प्रतिक्रियावादियों को पीछे हटना पडा। मगर गूलार्त की सत्ता को सीमित करने में वे अवश्य सफल रहे – संसद ने संविधान में संशोधन करके अब प्रधानमंत्री पद की भी व्यवस्था कर दी थी।

प्रतिगामी शक्तियों और अमरीकी एजेंटों के भीतरघात के बावजूद गूलार्त के कार्यकलापों से प्रगतिवादी प्रवृत्तियों को बल मिला। राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा संगठित हुआ, जिसमें अल्पतंत्र और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के आधार पर मेहनतकश जनसमूह और राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी एकजुट हुए। राष्ट्रपति पद ग्रहण करने के कुछ समय बाद ही गूलार्त ने सोवियत संघ के साथ राजनयिक संबंध पुनर्स्थापित किये, क्रांतिकारी क्यूबा के प्रति मित्रतापूर्ण रुख़ की घोषणा की। गूलार्त ने ब्राज़ील में विदेशी इजारेदारियों के कार्यकलापों को थोड़ा-बहुत सीमित करने की भी कोशिश की।

राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे में और कुल जमा सभी जनवादी शक्तियों में पर्याप्त एकता नहीं थी, साथ ही स्वयं गूलार्त प्रगतिशील क़दम उठाने में ढुलमुलपन दिखा रहा था। इस सबका लाभ उठाते हुए प्रतिगामी फ़ौजियों ने १ अप्रैल, १९६४ को उसका तख़्ता पलट दिया। मार्शल कस्तेल्लो ब्रांको देश का राष्ट्रपति बना, जिसने फ़ौजी तानाशाही क़ायम की। जनवादियों पर घोर अत्याचार होने लगे। १९६५ में सभी राजनीतिक पार्टियां भंग कर दी गयीं और उनके स्थान पर दो संगठन बनाये गये: सरकार-समर्थित राष्ट्रीय पुनरुत्थान

संघ, जिसने संसद के दोनों सदनों में अधिकांश स्थान हथिया लिये, और विपक्ष का ब्राज़ील जनवादी आंदोलन, जिसमें भूतपूर्व वामपंथी बूर्जुआ और समाजवादी संगठनों के बचे-खुचे अंश शामिल हुए। १९६७ के आरंभ में नया संविधान लागू किया गया, जिसने १९६४ के फ़ौजी सत्ता-परिवर्तन को क़ानूनी बना दिया और राष्ट्रपति के अधिकारों को बहुत व्यापक बनाया। उसी वर्ष मार्शल कोस्ता ए सिल्वा ने यह पद संभाला। देश के शासकों ने कम्युनिस्टों पर ज़बर्दस्त दमन-चक्र चलाया और साथ ही वैध विपक्ष के कार्यकलापों को भी यथासंभव सीमित करने की कोशिशें कीं। लेकिन ऐसी परिस्थितियों में भी ब्राज़ील की जनता ने साम्राज्यवाद और आंतरिक प्रतिगामियों के विरुद्ध संघर्ष बंद नहीं किया।

मेक्सिको

द्वितीय महायुद्ध के दिनों में मेक्सिको में जो आर्थिक उत्थान आरंभ हुआ था, वह युद्धोत्तर काल में भी जारी रहा। राष्ट्रपति कार्देनास के ज़माने में जो सुधार किये गये थे, उनका सुप्रभाव पड़ रहा था। १९४०-१९६० के दौरान देश का औद्योगिक उत्पादन तीन गुना बढ़ा। इसी अवधि में औद्योगिक मज़दूरों की संख्या ८,५६,००० से बढ़कर १९,८०,०००, देश की आबादी २,००,००,००० से बढ़कर ३,५०,००,००० और उत्पादन क्षेत्र में लगे लोगों की संख्या ६०,००,००० से बढ़कर १,२०,००,००० हो गयी। पूंजीवाद का भारी विकास हुआ। राजकीय क्षेत्र की भी नींव पड़ी, जो अर्थ-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगा। विदेशी और आंतरिक मंडी के लिए कृषि कच्चे मालों तथा उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा।

मगर विदेशी साम्राज्यवादी इस राष्ट्रीय विकास का प्रतिरोध कर रहे थे। १९६० में मेक्सिको में उनका पूंजी-निवेश १,०८,१०,००,००० डालर था, जिसमें ७३.७ प्रतिशत पूंजी उत्तरी अमरीकी इजारेदारियों की थी। १९६३ में मेक्सिको के निर्यात और आयात में संयुक्त राज्य अमरीका का भाग ७० प्रतिशत था।

क्रांतिकारी क्यूबा के अलावा मेक्सिको ही ऐसा एकमात्र लैटिन अमरीकी देश था, जहां सबसे अधिक बुनियादी कृषि सुधार हुए थे। तो भी १९६४ में यहां ५२१ ऐसी लातीफ़ुंदियां थीं, जिनके पास ५०,००० से १,००,००० हैक्टर तक ज़मीन थी। १००० से १०,००० हैक्टरवाली १००० लातीफ़ुंदियां थीं। इनके अलावा ९,६०० ज़मींदारों के पास ८,००,००,००० हैक्टर ज़मीन थी, जबकि २५,००,००० किसानों के पास चप्पा भर भी ज़मीन

नहीं थी। यही प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के उग्र संघर्ष का एक मुख्य कारण था।

युद्धोपरांत काल की पहली सरकार, मिगेल अलेमान की सरकार (१९४६-१९५२) ने बैंकरों, बड़े व्यापारियों और ज़मींदारों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हुए अमरीकासमर्थक विदेशनीति का अनुसरण किया और विदेशी, सर्वप्रथम, उत्तरी अमरीकी पूंजी को संरक्षण प्रदान किया। राष्ट्रपति रुईस कोर्तिनेस (१९५२-१९५८) ने अधिक स्वाधीन विदेशनीति चलाने का यत्न किया, जिससे मेक्सिको और संयुक्त राज्य अमरीका के संबंध बिगड़े, हालांकि मेक्सिको मे अमरीकी इजारेदारियों पर कोई विशेष प्रतिबंध नहीं लगाये गये थे। १९५८ के राष्ट्रपति चुनावों में सत्ताधारी सांविधानिक-क्रांतिकारी पार्टी के उम्मीदवार लोपेस मतेओस ने जो कार्यक्रम पेश किया, उसमें जनता का जीवन-स्तर सुधारने तथा स्वाधीन शांतिप्रिय विदेशनीति का पालन करने का वायदा किया गया था। सरकारी प्रचारतंत्र लोपेस मतेओस की सरकार (१९५८-१९६४) को आम जनता की सरकार बताता था। परंतु यह सरकार भी देश की बुनियादी समस्याओं को हल नहीं कर सकी।

मेक्सिको में वर्ग संघर्ष तीव्र होता गया। देश में साम्राज्यवादविरोधी जनवादी आंदोलन पर विश्व समाजवादी प्रणाली, मुख्यत: सोवियत संघ की तथा लैटिन अमरीकी जनगण के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की सफलताओं का गहरा प्रभाव पड़ रहा था। १९५७ में कोलंबिया में रोहास पिनीला की तथा १९५८ में वेनेज़ुएला में पेरेस हिमेनेस की तानाशाहियों के पतन तथा क्यूबा में जन क्रांति की विजय से मेक्सिको के जनवादी आंदोलन में और तेज़ी आयी।

१९५८ में मेक्सिको की कपड़ा मिलों के मज़दूरों, तेलकर्मियों तथा कुछ दूसरे उद्योगों के मज़दूरों ने हड़तालें कीं। १,००,००० रेल कर्मचारियों की हड़ताल खास तौर पर ज़ोरदार रही। लोपेस मतेओस की सरकार ने हड़ताल कुचल दी। उसके नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया। कम्युनिस्ट पार्टी और किसान-मज़दूर पार्टी के नेताओं को जेलों में बंद कर दिया गया।

लोपेस मतेओस सरकार की नीतियों से आम जनता में असंतोष फैला। राष्ट्रीय नवीकरण आंदोलन चला, जिसका नेतृत्व मेक्सिको के सुविख्यात राजनीतिक नेता लासारो कार्देनास ने किया। राष्ट्रीय किसान केंद्र सक्रिय हुआ। मई, १९६० और दिसंबर, १९६३ में कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी कांग्रेसों में विदेशी पूंजी के अंकुश से देश की मुक्ति तथा जनवाद के लिए संघर्ष का ठोस कार्यक्रम पेश किया। इस सबका प्रभाव १९६४ के राष्ट्रपति चुनावों पर पड़ा, जब कम्युनिस्ट पार्टी ने जनता चुनाव मोर्चे के गठन की पहलक़दमी की। मेक्सिको के किसान वर्ग के अत्यंत लोकप्रिय नेता रमोन दांमोस पलोमिनो को मोर्चे ने अपना उम्मीदवार बनाया। मगर वामपंथी

शक्तियों की फूट तथा सत्तारूढ़ सांविधानिक-क्रांतिकारी पार्टी की एकाधिकारी स्थिति के फलस्वरूप लोपेस मतेओस का मंत्री दिआस ओर्दास राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ।

विदेशनीति के क्षेत्र में मेक्सिको ने शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का तथा लैटिन अमरीका को परमाणु अस्त्र रहित क्षेत्र घोषित करने का समर्थन किया। मेक्सिको उन दिनों एकमात्र लैटिन अमरीकी देश था, जिसने क्रांतिकारी क्यूबा के साथ संबंध बनाये रखे। यह नीति व्यापक जनसमूहों की मांगों के अनुकूल थी।

चिली

द्वितीय महायुद्ध के अंत के साथ ही चिली में मज़दूर आंदोलन तेज़ हुआ और कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव वहुत बढ़ा। सितंबर, १९४६ के राष्ट्रपति चुनावों में कम्युनिस्ट पार्टी के सुझाव पर सभी जनवादी संगठनों ने मिलकर रेडिकल पार्टी के गोंसालेस विदेला को अपना उम्मीदवार खड़ा किया।

चिली के अल्पतंत्र की परंपरागत पार्टियों की हार हुई। गोंसालेस विदेला द्वारा बनायी गयी सरकार में कम्युनिस्ट भी शामिल किये गये।

यह न केवल चिली, बल्कि सारे लैटिन अमरीका के इतिहास में एक विलक्षण घटना थी। द्वितीय महायुद्ध में फ़ासिज़्म और प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर सोवियत संघ की विजय के फलस्वरूप संसार में आये परिवर्तनों तथा चिली की यशस्वी कम्युनिस्ट पार्टी की प्रतिष्ठा में वृद्धि के फलस्वरूप ही यह विजय संभव हुई थी। परंतु घटनाओं का यह विकास देखकर अमरीकी और दूसरे साम्राज्यवादी बौखला उठे। १९४७ में संयुक्त राज्य अमरीका ने दूसरे साम्राज्यवादी देशों के साथ मिलकर चिली के जनवाद पर हमला बोल दिया। चिली के धनी वर्ग यही चाहते भी थे, क्योंकि कम्युनिस्ट मंत्री सरकार से प्रतिक्रियावादियों की स्थिति कमज़ोर करने की ओर लक्षित क़दम उठवाने के यत्न कर रहे थे।

अप्रैल १९४७ में गोंसालेस विदेला ने मज़दूर वर्ग की बढ़ती सक्रियता से भयभीत होकर कम्युनिस्टों से सहयोग के संबंध तोड़ लिये। क़म्युनिस्टों को सरकार में से निकाल दिया गया, देश में संकटकालीन स्थिति की घोषणा की गयी। अक्तूबर में सरकार ने कम्युनिस्ट पार्टी के सभी नेताओं को गिरफ़्तार करने का आदेश जारी किया। बड़े पैमाने पर दमन होने लगा। वाशिंगटन की मांग पर गोंसालेस विदेला ने सोवियत संघ के साथ राजनयिक संबंध भी तोड़ लिये।



सांतयागो (चिली) में अमरीकाविरोधी प्रदर्शन (१९६१)

१९४८ में चिली के अल्पतंत्र और विदेशी साम्राज्यवाद के हितों में "जनवाद की रक्षा" के बारे में एक आज्ञप्ति जारी की गयी, जो सभी प्रगतिशील संगठनों के विरुद्ध लक्षित थी। हज़ारों मज़दूरों और किसानों को बंदी-शिविरों में डाल दिया गया, दसियों हज़ार नागरिकों से उनका मतदान अधिकार छीन लिया गया। बाद में गोंसालेस विदेला की सरकार ने एक फ़ौजी समझौता किया, जिसके द्वारा देश की सशस्त्र सेनाएं पेंटागन के नियंत्रण में आ गयीं।

विदेला के बाद राष्ट्रपति बने कार्लोस इवानेस (१९५२-१९५८) ने भी प्रतिक्रियावादी नीति जारी रखी। वह गोंसालेस विदेला की नीतियों की आलोचना की ओट में सत्तारूढ़ हुआ था, लेकिन खुद उसने चिली के अल्पतंत्र और विदेशी साम्राज्यवाद को और भी ज़्यादा रिआयतें दीं।

प्रतिक्रियावादियों की सक्रियता और देश की अर्थव्यवस्था पर विदेशी इजारेदारियों के प्रभुत्व का न केवल मेहनतकश जनता ने विरोध किया, बल्कि मध्यम वर्ग और राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी में भी इससे असंतोष फैला। साम्राज्यवादविरोधी और जनवादी आंदोलन का नेतृत्व मज़दूर वर्ग कर रहा था। सरकार द्वारा फैलाये गये आतंक के बावजूद चिली के कम्युनिस्ट मज़दूर वर्ग

और सभी जनवादियों की एकता के लिए वीरतापूर्वक संघर्ष कर रहे थे। १६५३ में कम्युनिस्ट पार्टी की पहलक़दमी पर देश में एकीकृत ट्रेड यूनियन केंद्र बना, जो सर्वहारा वर्ग में फूट ख़त्म करने के लिए बहुत महत्त्व रखता था। मज़दूर वर्ग जनवादी अधिकारों को पुनर्स्थापित करने तथा राष्ट्रीय प्रभुसत्ता सुनिश्चित करने की मांग कर रहा था। मई, १६५४ में इन्हीं नारों को लेकर आम हड़ताल हुई। इसके बाद के वर्ष में और भी ज़्यादा हड़तालें हुईं। फ़रवरी, १६५६ में कम्युनिस्ट, समाजवादी, जनवादी और लोक पार्टियों, उग्र मतवादी पार्टी, श्रम पार्टी तथा उग्र साम्राज्यवादविरोधी पार्टी ने मिलकर लोक कार्रवाई मोर्चा बनाया, जिसमें सभी प्रगतिशील शक्तियां एकजुट हुईं। मोर्चे ने एक कार्यक्रम स्वीकार किया, जिसमें गहन सामाजिक-आर्थिक सुधार लागू करने, जनवादी शासन स्थापित करने तथा प्रभुसत्ता सुदृढ़ करने की बात कही गयी थी।

आम जनता ने तो इस कार्यक्रम का पूर्ण समर्थन तो किया ही, कुछ बूर्जुआ हल्क़ों, विशेषत: संसद सदस्यों ने भी इसका स्वागत किया। "जनवाद की रक्षा" संबंधी क़ानून को रद्द किया जाना मोर्चे की पहली बड़ी जीत थी। कम्युनिस्ट पार्टी अब खुलकर काम कर सकती थी। मोर्चे को १६५८ के राष्ट्रपति चुनावों में भाग लेने का अवसर मिला। दक्षिणपंथी संगठन होर्हे अलेस्सांद्री को राष्ट्रपति निर्वाचित कराने के लिए काम कर रहे थे, उधर मोर्चे ने समाजवादी पार्टी के नेता सल्वादोर अल्येंदे को अपना उम्मीदवार बनाया। ४ सितंबर को हुए चुनावों में अल्येंदे को ३,५४,००० मत मिले। ३,८६,००० मत पाकर अलेस्सांद्री राष्ट्रपति बना। उसकी सरकार ने जनता-विरोधी नीतियां चलायीं, जिनसे साम्राज्यवाद से संबंधित स्थानीय अल्पतंत्र और भी समृद्ध हुआ।

१६६४ के राष्ट्रपति चुनाव उग्र वर्ग संघर्ष की परिस्थितियों में हुए। जनवादी शक्तियों ने प्रतिक्रियावादियों को नयी चुनौती दी। यह अकारण ही नहीं था कि चिली के अल्पतंत्र की परंपरागत पार्टियों – कंसर्वेटिव और लिबरल पार्टियों – ने तब अपने उम्मीदवार नहीं खड़े किये।

शासक वर्गों की ओर से प्रमुख उम्मीदवार थे: क्रिश्चियन-डेमोक्रेटिक पार्टी के नेता एदुआर्दो फ़्रे तथा रेडिकल पार्टी के दक्षिणपंथी धड़े का नेता जुलियो दुरान। जनवादी शक्तियों ने मोर्चे की ओर से सल्वादोर अल्येंदे को खड़ा किया। तीव्र संघर्ष में एदुआर्दो फ़्रे विजयी रहा, जिसे शासक वर्ग के ऐसे तबक़ों का समर्थन प्राप्त था, जो किसी भी क़ीमत पर सल्वादोर अल्येंदे को सत्ता में नहीं आने देना चाहते थे।

फ़्रे को २५,५०,००० में से १४,१८,००० मत प्राप्त हुए। फिर भी अल्येंदे को मिले ६,८२,००० मत जनवादी शक्तियों के सुदृढ़ीकरण का प्रचुर प्रमाण प्रस्तुत करते थे।

बोलीविया और ग्वाटेमाला में क्रांतिकारी घटनाएं

लैटिन अमरीकी देशों का युद्धोपरांत काल का इतिहास नाटकीय घटनाओं से भरपूर है। इन देशों के जनसमूहों ने आंतरिक अल्पतंत्र और विदेशी साम्राज्यवाद के घोर प्रतिरोध का सामना करते हुए प्रगति के लिए संघर्ष किया। इस काल में लैटिन अमरीकी जनगण को बोलीविया और ग्वाटेमाला में क्रांतियों की पराजय की कटुता अनुभव करनी पड़ी, पर साथ ही उन्होंने क्यूबा में क्रांति की विजय के खुशीभरे दिन भी देखे। इस क्रांति के साथ अमरीका महाद्वीप के जनगण के मुक्ति संग्राम में एक नये चरण का शुभारंभ हुआ।

विश्व स्तर पर पूंजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण के काल में लैटिन अमरीका के विकास का प्रमुख कार्यभार है लातीफ़ुंदी प्रणाली को और विदेशी प्रभुत्व को समाप्त करना, जो कि समाजवादी क्रांति के कार्यभार को पूरा करने के लिए अनिवार्य पूर्वाधार है। यह बात मध्य अमरीका के अल्पविकसित देशों तथा ब्राज़ील, अर्जेंटीना, मेक्सिको जैसे अपेक्षाकृत उन्नत देशों, सभी पर लागू होती है। १९५२ की बोलीवियाई क्रांति ज़मींदारों और विदेशी साम्राज्यवाद के प्रभुत्व को समाप्त करने का ही प्रयास थी। इस क्रांति में निर्णायक भूमिका आम जनता ने अदा की, जबकि नेतृत्व राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के हाथों में था। इस क्रांति ने खान मालिकों और भूस्वामियों की साम्राज्यवाद समर्थक तानाशाही ख़त्म की और राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी को सत्तारूढ़ बनाया।

१९५२-१९६४ के दौरान वीक्तोर पास एस्तेंसोरो तथा ऐर्नान सिलेस सुआसो की सरकारों ने विदेशी इजारेदारियों और बड़े ज़मींदारों की स्थिति कमज़ोर करने की ओर लक्षित कुछ सुधार किये। टिन की खानों के राष्ट्रीयकरण तथा कृषि सुधार के बारे में अध्यादेश जारी किये गये। परंतु ज्यों-ज्यों अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार की मांग करनेवाले मेहनतकशों की सक्रियता तथा कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव बढ़ते गये, ट्रेड यूनियन आंदोलन विकसित होता गया, त्यों-त्यों बोलीवियाई बूर्जुआज़ी की क्रांतिकारिता कम होती गयी। उधर साम्राज्यवाद ने भी बोलीविया पर आर्थिक दबाव बढ़ा दिया, वह अर्थ-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने और देश की जनता को भूखों मार डालने पर उतर आया था। बूर्जुआज़ी बजाय इसके कि जनता का सहारा लेकर बुनियादी साम्राज्यवादविरोधी और सामंतवादविरोधी सुधार करता, प्रतिक्रियावादियों को ही रिआयतें देने लगा।

मेहनतकश जनगण अपनी क्रांति को विजयी अंत तक ले जाने के लिए कृतसंकल्प थे। १९६४ के शरद में देश में राजनीतिक स्थिति विशेषत: गंभीर हो गयी। राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी और जनता के बीच मतभेदों का लाभ उठाते हुए प्रतिक्रियावादियों और जनरल वर्रेन्तोस के नेतृत्व में फ़ौजी गुट ने नवंबर

में पास एस्तेंसोरो सरकार का तख़्ता पलट दिया। बरेंन्तोस के फ़ौजी गुट ने सत्ता हथिया ली। जनता ने प्रतिक्रिया के इस हमले का डटकर मुक़ाबला किया। १९६५ के वसंत में तो मज़दूरों की मिलीशिया, खान मज़दूरों और फ़ौजियों के बीच सशस्त्र मुठभेड़ें भी हुईं। जीत फ़ौजियों की हुई, लेकिन बोलीवियाई जनता ने जनवादी, स्वाधीन बोलीविया के लिए अपना संघर्ष जारी रखा।

लैटिन अमरीकी जनगण के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी ग्वाटेमाला की क्रांति। एक छोटे से देश में होने के बावजूद यह सारे महाद्वीप के लिए महत्त्व रखती थी। अक्तूबर, १९४४ में अमरीका समर्थक तानाशाह उबीको के पतन के साथ आरंभ हुई इस क्रांति ने सामंतवादी अवशेषों और साम्राज्यवाद की स्थिति पर भारी चोट की। ग्वाटेमाला में कृषि सुधार किया गया, जो देश के सबसे बड़े भूस्वामी अमरीका की यूनाइटेड फ्रूट कम्पनी के विरुद्ध लक्षित था। देश की आर्थिक स्वाधीनता सुनिश्चित करने के लिए एक कार्यक्रम बनाया गया और महत्त्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक सुधार लागू किये गये। अप्रैल, १९४५ में ग्वाटेमाला ने सोवियत संघ के साथ राजनयिक संबंध स्थापित कर लिये। उसी वर्ष नया संविधान भी स्वीकृत हुआ, जिसमें ग्वाटेमाला की जनता की आकांक्षाएं प्रतिबिंबित की गयी थीं।

जनवादी शासन की स्थापना के फलस्वरूप सर्वहारा और किसान वर्ग और आम मेहनतकश जनसमूह की संगठनबद्धता बढ़ी। १९४९ में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई, फिर एक ट्रेड यूनियन केंद्र और किसान संघ की भी।

दूसरे लैटिन अमरीकी देशों में ग्वाटेमाला की क्रांति का प्रभाव न फैलने देने के उद्देश्य से संयुक्त राज्य अमरीका ने ग्वाटेमाला के विरुद्ध ज़ोरदार अभियान चलाया और अंततः जुलाई, १९५४ में खुले आम सशस्त्र हस्तक्षेप करके ग्वाटेमाला की क्रांति का गला घोंट दिया। लेकिन इस क्रांति के अनुभव को नष्ट नहीं किया जा सकता था; सभी लैटिन अमरीकी देशों के जनवादियों ने इससे आवश्यक सबक़ सीखा। ग्वाटेमाला की क्रांति ने एक बार फिर यह साफ़-साफ़ सिद्ध कर दिया कि सामंतवाद और साम्राज्यवाद की शक्तियों पर पूर्ण विजय पाये बिना पराश्रित देश प्रगति और स्वावलंबी अस्तित्व के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकते, कि मूलभूत आर्थिक पुनर्गठन के बिना जनता का जीवन-स्तर नहीं सुधारा जा सकता।

ग्वाटेमाला की क्रांति ने एक बार फिर यह दिखा दिया कि सर्वहारा और किसान वर्गों का सहबंध कितना आवश्यक है। उसने राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी के दोहरे ढुलमुल स्वरूप को भी उघाड़ा। क्रांति के पहले चरण में, जब अरेवालो राष्ट्रपति था (१९४५-१९५०), बूर्जुआज़ी ने मज़दूर वर्ग और कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति कई बार शत्रुता दिखायी, प्रतिगामी शक्तियों को तोड़-फोड़

की कार्रवाइयां करने दीं। दूसरे चरण में, जब अर्बेन्स राष्ट्रपति था (१९५०-१९५४), तब क्रांति ने खासी प्रगति की, लेकिन इस चरण में भी बूर्जुआज़ी की असंगति प्रकट हुई: उसके कुछ तत्त्वों में आत्मसमर्पण की प्रवृत्ति बल पकड़ रही थी। इस तरह राष्ट्रीय बूर्जुआज़ी सामंतवादविरोधी, साम्राज्यवादविरोधी क्रांति को विजयी अंत तक ले जाने में असमर्थ सिद्ध हुआ। ग्वाटेमाला के अनुभव ने एक बार फिर नये ढंग की, जन-क्रांति का प्रश्न उठाया, जिसमें निर्णायक भूमिका मजदूर वर्ग को अदा करनी चाहिए। केवल ऐसी क्रांति ही सामंतवादविरोधी, साम्राज्यवादविरोधी क्रांति के कार्यभारों को निभा सकती है। क्यूबा की क्रांति इस बात का ज्वलंत प्रमाण प्रस्तुत करती है।

ग्यारहवां अध्याय

शांति और युद्ध शक्तियों का संग्राम

परमाणु अस्त्र के आविर्भाव ने मानवजाति के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया था। हिरोशिमा की त्रासदी और अमरीका के शासक हल्क़ों द्वारा अनुसृत डराने-धमकाने की "आणविक कूटनीति" ने लाखों-करोड़ों लोगों को बुरी तरह झकझोर डाला था। कम्युनिस्टों, वामपंथी समाजवादियों, समस्त प्रगतिमना जनवादी संगठनों के प्रचारात्मक कार्य से लोगों को उनके सर पर मंडराते ख़तरे की गंभीरता को भांपने और यह समझने में भी सहायता मिली कि उसका स्रोत कहां है तथा किस तरह उसे दूर किया जा सकता है। १९४८-१९४९ में, जब शीतयुद्ध अपनी पराकाष्ठा पर था, शांति के संग्राम में एक हो जाने का विचार लोगों में उत्तरोत्तर बल पकड़ता गया था।

शांतिसमर्थक आंदोलन

अगस्त, १९४८ में पोलैंड के व्रोत्सलाव नगर में एक विश्व कांग्रेस हुई, जिसमें ४५ देशों से आये ५०० से अधिक वैज्ञानिकों, लेखकों और कलाकारों ने भाग लिया। इन प्रगतिशील बुद्धिजीवियों ने शांति के समर्थन में एक घोषणापत्र स्वीकार किया और शांति, जातियों के निर्बाध सांस्कृतिक विकास, राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा सौहर्दपूर्ण सहयोग के पक्ष में आवाज़ बुलंद करने के लिए संसार भर की जनता का आह्वान किया। १९४९ के आरंभ में व्रोत्सलाव में गठित अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक संपर्क समिति ने अंतर्राष्ट्रीय जनवादी महिला फ़ेडरेशन के साथ मिलकर शांति की रक्षा हेतु सभी राष्ट्रों की समस्त सक्रिय शक्तियों को एकजुट करने के प्रयोजन से शांतिसमर्थकों की

विश्व कांग्रेस बुलाने का सुझाव दिया। विश्व ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशन, विश्व जनवादी युवा फ़ेडरेशन और भूतपूर्व राजनीतिक बंदियों के विश्व संघ ने भी सुझाव का समर्थन किया।

विश्व घटनाक्रम कुछ ऐसा रहा कि व्रोत्सलाव कांग्रेस के बाद वाले चंद महीनों में अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति और भी बिगड़ गयी। अप्रैल, १९४९ में क़ायम उत्तरी अटलांटिक सैन्य गुट एक प्रकार का "पवित्र गठबंधन" बन गया था, जो भावी क्रांतियों के ही नहीं, बल्कि विद्यमान समाजवादी राज्यों के विरुद्ध भी लक्षित था। फिर "बर्लिन संकट" के कारण भी एक निहायत तनावपूर्ण, युद्धपूर्व जैसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। ऐसी परिस्थिति में २० अप्रैल, १९४९ को पेरिस में शांतिसमर्थकों की प्रथम विश्व कांग्रेस का काम शुरू हुआ। कांग्रेस में उपस्थित ७२ देशों के २००० से अधिक प्रतिनिधियों, अर्थात् ६०,००,००,००० लोगों को एकताबद्ध करनेवाले संगठनों के प्रतिनिधियों ने जनगण की शांति बनाये रखने और युद्धविरोधी कारगर उपाय निरूपित करने की आकांक्षा को अभिव्यक्ति दी। बूर्जुआ देशों की सरकारों ने फ़ौरन भांप लिया कि उनकी आक्रामक योजनाओं के लिए यह नया आंदोलन कितना घातक है। इसलिए उन्होंने कांग्रेस के आयोजन में हर संभव अड़ंगे डाले और प्रतिनिधियों को जाने के लिए वीसा देने में आनाकानी की। फ़्रांसीसी सरकार ने तो समाजवादी देशों के लोगों के लिए नियत वीसा कोटा भी सीमित कर दिया। इन्हीं सब कठिनाइयों के कारण कांग्रेस की कई बैठकें प्राग में करनी पड़ीं।

नये आंदोलन के प्रवर्तक सामान्य ध्येय के हेतु विभिन्न पार्टियों तथा वर्गों, राजनीतिक तथा धार्मिक विश्वास वाले लोगों को एक करने में कामयाब रहे। कांग्रेस का उद्घाटन करते हुए प्रख्यात फ़्रांसीसी वैज्ञानिक फ़ेडरिक जूलियो क्यूरी ने सूचित किया कि बहुत से राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन, किसान, युवक, महिला तथा धार्मिक संगठनों के प्रतिनिधि शांति-आंदोलन का साथ देने का निर्णय कर चुके हैं। जूलियो क्यूरी ने संयुक्त राज्य अमरीका तथा कई अन्य साम्राज्यवादी देशों के युद्धपिपासु हल्क़ों के मंसूबों, यानी सोवियत संघ पर हमले करने के मंसूबों का पर्दाफ़ाश किया। उसने कहा, "वे हम लोगों से व्रांगेल, देनीकिन, वैगन और हिटलर जैसे अभियान जारी रखवाना चाहते हैं; वे हमें इसका कायल करना चाहते हैं (कैसी विडंबना है!) कि 'जनवाद तथा स्वातंत्र्य के नाम पर' और सर्वशक्तिमान परमाणु बम की छत्रछाया में हमको उस व्यवस्था का अंत कर देना चाहिए, जिसने मानव-द्वारा-मानव के शोषण को समाप्त करने का 'अक्षम्य अपराध' किया है।"

कांग्रेस में उपस्थित प्रतिनिधियों ने युद्ध की तैयारी और "बड़े" बूर्जुआ देशों की उपनिवेशवादी नीति के आपसी संबंध और साथ ही साथ इन देशों में जनवादी, युद्धविरोधी आंदोलन के उभार और उपनिवेशों के जनगण के

मुक्ति संग्राम के बीच अभिन्न संबंध को भी प्रकट किया। कांग्रेस ने उस समय वियतनाम में फ़्रांसीसी उपनिवेशवादियों द्वारा चलाये जानेवाले पाशविक युद्ध तथा इंडोनेशिया में डच सरकार के सशस्त्र हस्तक्षेप की सख्त भर्त्सना की।

विश्व कांग्रेस ने एक स्थायी समिति और उसका ब्यूरो क़ायम किया। अनेक देशों के जाने-माने सार्वजनिक कार्यकर्ता उनके सदस्य बने। कांग्रेस के घोषणापत्र ने समस्त विश्व की जनता से शांति की रक्षार्थ एक होने की अपील की। "हम परमाणु अस्त्र और व्यापक नरसंहार के अन्य सभी साधनों पर प्रतिबंध लगाने पर ज़ोर देते हैं," घोषणापत्र में कहा गया था। "हम बड़े राष्ट्रों की सशस्त्र सेनाओं में कमी करने और ऐसा कारगर अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण लागू करने की मांग करते हैं, जिससे कि परमाणु ऊर्जा का उपयोग मानवजाति की भलाई के नाते शांतिमय उद्देश्यों के लिए ही हो सके ... हम समस्त राष्ट्रों की स्वाधीनता तथा उनके बीच शांतिपूर्ण सहयोग के लिए संघर्षरत हैं ... हम वर्णभेद और जनगण के बीच वैमनस्य को जन्म देनेवाले सैन्य उन्माद की निंदा करते हैं ... शांति समर्थकों की विश्व कांग्रेस खुलेआम उद्घोषित करती है कि आज से शांति की रक्षा सभी जनगण का सामान्य ध्येय होगा।"

कांग्रेस दसियों देशों में शांति आंदोलन के व्यापक बनने में सहायक सिद्ध हुई। सर्वत्र शांति की रक्षार्थ राष्ट्रीय समितियां जन्म लेने लगीं। इसके प्रत्युत्तर में प्रायः सभी बूर्जुआ देशों की सरकारों ने आंदोलनकर्ताओं के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख अपनाया। अमरीकी सरकार ने तो स्थायी समिति के शिष्टमंडल को अमरीका में प्रवेश की भी इजाज़त नहीं दी और ब्रिटिश संसद ने उससे मिलने तक इन्कार कर दिया। हालैंड में उसके सदस्यों को गिरफ़्तार कर लिया गया और चौबीस घंटे हिरासत में रखने के बाद देश से निष्कासित कर दिया गया। शांति-योद्धाओं को, जिनमें अक्सर अनुदारवादी अथवा बूर्जुआ-उदारवादी विचारोंवाले लोग भी होते थे, "कम्युनिस्ट" और शांति की मांग को "तोड़-फोड़" की कार्रवाइयां, देश के राष्ट्रीय हितों के प्रति ग़द्दारी ठहराया जाता था।

मार्च, १९५० में विश्व कांग्रेस की स्थायी समिति ने अपने स्टॉकहोम अधिवेशन में एक अपील अंगीकार की, जिसे शांति शक्तियों को गोलबंद करने में प्रमुख भूमिका अदा करनी थी। इसमें कहा गया था :

"हम भयभीत करने और व्यापक जनसंहार के हथियार के रूप में परमाणु बम पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने की मांग करते हैं।

"हम मांगते हैं कि इस प्रकार के निर्णय के क्रियान्वयन पर सख्त अंतर्राष्ट्रीय निगरानी रखी जाये।

"हम मानते हैं कि जो सरकार किसी दूसरे देश के खिलाफ़ पहले परमाणु अस्त्र का प्रयोग करेगी, वह मानवजाति के विरुद्ध अपराध

की दोषी होगी और ऐसी सरकार को युद्ध-अपराधी घोषित करना चाहिए।

"हम संसार भर के समस्त सद्भावनाशील लोगों का इस अपील पर हस्ताक्षर करने के लिए आह्वान करते हैं।"

स्टॉकहोम अपील पर हस्ताक्षर करनेवाले पहले लोगों में एक सौ से अधिक विश्वविख्यात राजनेता तथा वैज्ञानिक थे। अपील पर हस्ताक्षर संग्रह के अभियान ने परमाणु बम के विरुद्ध व्यापक अंतर्राष्ट्रीय जनमत-संग्रह का रूप धारण कर लिया। ७५ देशों में १,५०,००० शांति समर्थक समितियां क़ायम हो गयीं। आंदोलन के पुरजोश कार्यकर्ताओं ने जन सभाएं आयोजित कीं और घर-घर जाकर लोगों को अपने लक्ष्यों से अवगत कराया।

अपील पर हस्ताक्षर-संग्रह ने मज़दूर वर्ग को भी व्यावहारिक कार्रवाइयों के लिए प्रोत्साहित किया, जिसने शस्त्रास्त्रों की होड़, अमरीकी हथियारों की ख़रीद व यूरोप में उनके पहुंचाये जाने और उन इलाक़ों को सेनाएं व सैनिक साज़सामान भेजे जाने का विरोध किया, जहां औपनिवेशिक युद्ध चल रहे थे। १९५० के आरंभ में फ़्रांसीसी नगर नीस के २००० मज़दूरों ने पुलिस के घेरे को तोड़कर हिंदचीन भेजने के लिए तैयार रखी हुई सैन्य-सामग्री को समुद्र में फेंक दिया। इसी वर्ष के मार्च महीने में नेपल्स के गोदी-मज़दूरों ने इतालवी सेना के लिए हथियार लानेवाले अमरीकी जहाज़ से माल उतारने से इन्कार कर दिया। एक महीने बाद एंटवर्प बंदरगाह के १६,००० मज़दूरों ने अमरीकी सैन्य-सामग्री के उतारे जाने के विरोध में एक हड़ताल शुरू कर दी। अप्रैल में जापान के १०६ सुविख्यात वैज्ञानिकों ने 'वैज्ञानिकों के नाम संदेश' जारी किया, जिसमें कहा गया था, "शांति ही हमारे जीवन एवं वैज्ञानिक कार्य की बुनियाद है... इसलिए हमने हर सूरत में युद्ध का विरोध करने का निश्चय किया है।" पश्चिमी यूरोप में कई बार ऐसा हुआ, जब फ़ौजी रेलगाड़ियों और सैन्य-सामग्री से लदी मालगाड़ियों को रोकने के लिए लोग पटरियों पर लेट गये। हस्ताक्षर-संग्रह अभियान सफल रहा और यह इतिहास की सर्वाधिक लोकप्रिय अंतर्राष्ट्रीय परिघटना सिद्ध हुई। परमाणु बम को निषिद्ध करने की मांग पर ५०,००,००,००० से अधिक लोगों ने हस्ताक्षर किये थे।

१९५० के ग्रीष्म में संयुक्त राज्य अमरीका और दक्षिणी कोरिया की प्रतिगामी ताक़तों ने कोरिया में गृहयुद्ध छेड़ दिया। साथ ही अमरीकी सेना ने चीनी द्वीप ताइवान पर क़ब्ज़ा कर लिया। अतः अब अमरीकी हस्तक्षेप को ख़त्म करने व कोरिया में शांति के लिए संघर्ष शांति आंदोलन का एक प्रमुख कार्यभार बन गया। नवंबर, १९५० में वार्सा में शांतिसमर्थकों की दूसरी कांग्रेस हुई। उसने संयुक्त राष्ट्र संघ से कोरिया की लड़ाई बंद करवाने, वहां से विदेशी फ़ौजों को निकलवाने, ताइवान में अमरीकी दख़लंदाज़ी व वियतनामी जनतंत्र के विरुद्ध सैनिक कार्रवाइयां बंद करवाने की

अपील की। कांग्रेस ने पश्चिमी जर्मनी और जापान के पुनःसैन्यीकरण की सख़्त भर्त्सना की। कांग्रेस में उपस्थित ८१ देशों के १७५० से अधिक प्रतिनिधियों ने अपने आंदोलन का एक संगठनात्मक केंद्र – विश्व शांति परिषद – स्थापित करने का निर्णय किया। फ़रवरी, १६५१ में हुई अपनी पहली बैठक में परिषद ने पांच महाशक्तियों – संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ, चीन, ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस – की सरकारों का एक शांति संविदा (समझौता) संपन्न करने के लिए आह्वान किया। ६०,००,००,००० व्यक्तियों, अर्थात् धरती की लगभग आधी वयस्क जनसंख्या ने इस आह्वान पर हस्ताक्षर किये।

१६५२ के अंत में वियेना में शांति के समर्थन में एक विश्व कांग्रेस का आयोजन हुआ था। उसमें उपस्थित १५०० से अधिक प्रतिनिधियों में विभिन्न देशों के संसद-सदस्य, ट्रेड यूनियन और कृषि कार्यकर्ता, लेखक, कलाकार, पादरी, इत्यादि शामिल थे।

विश्व शांति परिषद ने शांति के पक्ष में जनमत बनाया, करोड़ों लोगों में चेतना जागृत की और उन सब ख़तरनाक संकटों का सामना करने का आवाहन किया, जो साम्राज्यवादी राज्यों की जोख़िमभरी नीतियों के मारे छठे और सातवें दशकों में कहीं न कहीं पैदा होते रहते थे। शांति आंदोलन के हिमायतियों के सोद्देश्य और पुरजोश कार्यकलाप की बदौलत एक ऐसा राजनीतिक वातावरण पैदा हो गया, जो "शक्ति की धौंस" की नीति, डराने-धमकाने की कूटनीति एवं आणविक दहशत के पक्षपातियों के एकदम प्रतिकूल था। तिस पर भी पश्चिम के राजनयज्ञ और प्रचारतंत्र रट लगाये रहे कि युद्ध अवश्यंभावी है, कि "युद्ध के कगार पर" संतुलन बनाये रखना ही राजनेता की सच्ची कला है। बात एक ऐसे नयी क़िस्म के युद्ध की चल रही थी, जिसके फलस्वरूप सारे के सारे देशों और महाद्वीपों के जनगण भस्म हो सकते थे। यह मान्यता काफ़ी प्रचलित थी कि युद्ध अनिवार्य है, कि वह एक ऐसी विपत्ति है जो मानवजाति के भाग्य में लिखी है और समय-समय पर उसे झेलना ही पड़ जाता है।

क्या महायुद्ध वास्तव में अनिवार्य है?

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की २० वीं कांग्रेस (फ़रवरी, १६५६) ने छठे दशक के मध्य की विश्व स्थिति का गहन विश्लेषण किया। तब तक सोवियत संघ ने न सिर्फ़ अपने युद्धजनित घावों को पूरी तरह भर लिया था, बल्कि उद्योग, विज्ञान तथा तकनीक के विकास में बड़ी-बड़ी सफलताएं भी हासिल कर ली थीं। अन्य समाजवादी देश भी तेज़ी से उन्नति कर रहे थे। परमाणु अस्त्र पर अमरीका का एकाधिकार १६४६ में ही समाप्त

हो गया था, जब सोवियत संघ ने भी परमाणु बम का परीक्षण कर दिखाया था। १९५३ में सोवियत संघ में सबसे पहले हाइड्रोजन बम का परीक्षण हुआ था, जो हिरोशिमा पर गिराये अमरीकी बम से कहीं ज़्यादा शक्तिशाली था। सोवियत रूपांकनकारों ने बलशाली राकेटों के ऐसे कई नमूने तैयार किये थे, जो बेजोड़ रफ़्तार से बड़े-बड़े फ़ासिले तय कर सकते थे। इस प्रकार सारी समाजवादी प्रणाली को आक्रामक के विरुद्ध एक अभेद्य ढाल मिल गयी थी। उपनिवेशों और पराधीन देशों में मुक्ति आंदोलन का ज्वार भी बढ़ गया था, जिससे साम्राज्यवाद राजनीतिक व आर्थिक दोनों दृष्टि से शिथिल हो रहा था। इस बीच स्वयं बूर्जुआ देशों में भी वर्ग संघर्ष उत्थान पर था। शहरी और देहाती सर्वहारा श्रम की दशा सुधारने की ही नहीं, वरन शांति की नीति बरतने, नया महायुद्ध न होने देने की भी ज़ोरदार मांग कर रहे थे। संसार में शक्ति संतुलन का पलड़ा समाजवाद की तरफ़ झुकने लग गया था।

सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की २० वीं कांग्रेस इस निष्कर्ष पर पहुंची: महायुद्ध अवश्यंभावी या अपरिहार्य नहीं है और उसे रोकना सर्वथा संभव है। यह निष्कर्ष अपार सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक महत्त्व रखता था। इससे दुनिया भर के शांतिसमर्थक नयी आशाओं से भर गये, क्योंकि अब से संघर्ष न्यूनाधिक लंबे विराम के लिए नहीं, अपितु महायुद्ध की संभावना का मानव समाज के जीवन से सदा-सदा के लिए उन्मूलन करने के लिए चलना था। २० वीं कांग्रेस की प्रस्थापनाओं को १९५७ व १९६० में हुए कम्युनिस्ट तथा मज़दूर पार्टियों के सम्मेलनों और सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की आगामी कांग्रेसों ने एकमत से संपुष्ट किया।

सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का कार्यक्रम स्वीकृत किये जाने तक (अक्तूबर, १९६१) विश्व शक्ति संतुलन में समाजवाद का पलड़ा और भारी हो गया। सकल विश्व औद्योगिक उत्पादन में उनका भाग लगभग ३७ प्रतिशत (१९५५ के २७ प्रतिशत के मुक़ाबले) तक पहुंच गया था। यूरी गगारिन और गेर्मान तितोव ने विश्व में प्रथम अंतरिक्ष यात्राएं पूरी करके सोवियत विज्ञान तथा तकनीक की विलक्षण उपलब्धियों का प्रदर्शन किया था। सोवियत सेना पूरी तरह राकेटों और परमाणु अस्त्रों से पुनर्सज्जित कर दी गयी थी। उपनिवेशों में क्रांतिकारी उफान ज़ोरों पर था। १९६१ के वसंत में क्यूबा ने अमरीका द्वारा भेजे हुए प्रतिक्रांतिकारी भाड़े के टट्टुओं के हमले को नाकाम कर दिया था। हस्तक्षेपकारियों से जूझते समय ही स्वतंत्रता द्वीप क्यूबा की सरकार ने ऐलान किया था कि क्यूबाई जनता समाजवादी निर्माण करने जा रही है। इस तरह अमरीकी महाद्वीप में, साम्राज्यवाद के दुर्ग—संयुक्त राज्य अमरीका—से १५० किलोमीटर की दूरी पर ही समाजवादी क्रांति विजयी हो गयी थी।

समुन्नत बूर्जुआ देशों के मज़दूर तथा युद्धविरोधी आंदोलन जीत पर जीत हासिल करते जा रहे थे।

इन सब बातों को देखते हुए सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की २२ वीं कांग्रेस ने युद्ध के अवश्यंभावी न होने की प्रस्थापना की संपुष्टि की और उसे अपने कार्यक्रम में दर्ज किया। निस्संदेह, साम्राज्यवादी और प्रतिगामी ताक़तों ने युद्ध छेड़ने के अपने प्रयास त्यागे नहीं हैं और न आगे ही त्यागेंगी, इसलिए इस ख़तरे को कम करके आंकना भारी भूल होगी। फिर भी इस प्रसंग में समाजवादी राष्ट्रमंडल और सर्वोपरि सोवियत संघ – संसार भर में शांति के दुर्ग तथा अलमबरदार – का संकल्पपूर्ण रवैया अत्यंत महत्त्व रखता है।

मार्च-अप्रैल, १९६६ में होनेवाली सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की २३ वीं कांग्रेस ने शांति सुनिश्चित करने के प्रश्न पर बड़ा ध्यान दिया। कांग्रेस ने आग्रह किया कि शांति बनाये रखने का एक आवश्यक पूर्वाधार है समस्त शांतिसमर्थकों की बढ़ती सरगर्मी, शांति आंदोलन के सभी तत्वों, ट्रेड यूनियनों, महिला, युवक तथा अन्य आम जनवादी संगठनों की सक्रिय गतिविधियां।

युद्ध के विपक्ष में समाजवादी देशों की एकता तथा अपनी रक्षा करने की उनकी स्थायी तत्परता और विश्व मज़दूर तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का सहबंध सर्वव्यापी शांति बनाये रखने की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शर्तें हैं। २३ वीं पार्टी कांग्रेस ने सोवियत सरकार को कर्तव्यबद्ध किया कि वह शांति के सुदृढ़ीकरण की ओर लक्षित अपना कार्य पूर्ववत् जारी रखे।

सार्विक और पूर्ण निरस्त्रीकरण के हेतु

निरस्त्रीकरण आधुनिक काल की सर्वप्रमुख समस्या है। आजकल हथियारों के उत्पादन और सैनिक सेवा में बीसियों करोड़ लोग लगे हुए हैं। सातवें दशक के आरंभ में सैनिक आवश्यकताओं पर प्रतिवर्ष १,२०,००,००,००,००० डालर से भी अधिक खर्च किया जाता था। इतने धन से सारे अफ़्रीका महाद्वीप में मूलगामी आर्थिक-तकनीकी पुनर्निर्माण किया जा सकता है और इसके आधे से भारत के भिलाई इस्पात कारख़ाने जैसे १०० से अधिक धातुकर्म प्रतिष्ठान बनाये जा सकते हैं। आज एक बमवर्षक विमान का ही मूल्य इतना है कि उससे दो बड़े बिजलीघरों का निर्माण किया जा सकता है। शस्त्रास्त्रों की होड़ जारी रखने का अर्थ है मानव श्रम और भौतिक संसाधनों की अनहोनी बरबादी।

पर बात इतनी ही नहीं है। परमाणु और हाइड्रोजन बमों का भंडार जितना बढ़ता जाता है, उन्हें निशाने तक पहुंचानेवाले साधनों – राकेटों व

परास्वनिक बमवर्षकों—का उत्पादन जितना अधिक होता जाता है, युद्ध के भड़क उठने का ख़तरा भी उतना ही बढ़ जाता है। ध्यान रहे कि युद्ध की शुरुआत जैसे बूर्जुआ देशों के जंगबाज़ों की सचेत कार्रवाइयों के परिणाम-स्वरूप हो सकती है, वैसे संयोगवश या ग़लत परिकलन के कारण, उपकरणों की भूल या किसी हवाबाज़ अथवा राकेट-चालक की मानसिक विक्षिप्ति के कारण भी। यदि हथियारों की होड़ नहीं रोकी जायेगी, तो दूसरे देश भी नाभिकीय अस्त्रों पर अधिकार जमायेंगे और फलतः युद्ध का ख़तरा बढ़ता ही जायेगा।

मानवजाति के ऊपर मंडराती विभीषिका को दूर करने का एक ही उपाय है और वह है सार्विक तथा पूर्ण निरस्त्रीकरण। ठीक यही प्रस्ताव सोवियत सरकार ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के १४ वें अधिवेशन (१९५९) में रखा था।

जून, १९६२ में मास्को में हुई विश्व निरस्त्रीकरण तथा शांति कांग्रेस ने सभी शांतिप्रेमी लोगों को एक करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

सितंबर, १९६३ में हुए संयुक्त राष्ट्र महासभा के १८ वें अधिवेशन में सोवियत प्रतिनिधिमंडल ने निरस्त्रीकरण के संबंध में कुछ नये प्रस्ताव रखे।

१९५६ से सोवियत सरकार नाभिकीय अस्त्र के परीक्षणों पर प्रतिबंध लगाने के लिए प्रयत्न करती आ रही थी। किंतु मसला जहां का तहां रुका रहा, क्योंकि संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन नियंत्रण की ऐसी प्रणाली लागू करने पर आग्रह कर रहे थे, जो जासूसी के अलावा और कुछ न थी। यद्यपि तकनीक के वर्तमान स्तर को देखते हुए सभी प्रकार के परीक्षणों का पता लगाने के लिए हर देश में उपलब्ध उपकरण और निरीक्षण चौकियां पर्याप्त थे, तथापि पश्चिमी देशों ने परीक्षण के स्थल पर, खास तौर पर भूमिगत परीक्षणों के स्थल पर विविध जांचें किये जाने की ज़िद्द पकड़ ली थी।

जुलाई, १९६२ के प्रारंभ में सोवियत सरकार ने एक नया प्रस्ताव रखा, जिसमें उसने वायुमंडल तथा अंतरिक्ष में और जल के तले परीक्षण बंद करने से संबंधित समझौता करने की अपनी तत्परता प्रकट की। ५ अगस्त, १९६३ को मास्को में सोवियत संघ, अमरीका और इंग्लैंड ने जल, थल और नभ में आणविक परीक्षण रोकने की एक संधि पर हस्ताक्षर किये। बाद में १०० से अधिक अन्य देशों ने भी उनका अनुकरण किया और इस संधि पर हस्ताक्षर किये।

सोवियत संघ के विचार में नाभिकीय अस्त्रों के परीक्षण पर आंशिक प्रतिबंध सर्वव्यापी और पूर्ण निरस्त्रीकरण तथा शांति के सुदृढ़ीकरण की ओर उठाया जानेवाला प्रथम पग ही है। और तो और, सोवियत सरकार ने नाटो गुट और वार्सा संधि के सदस्य राज्यों के बीच अनाक्रमण करार पर, संबंधित देशों में सैनिक व्यय न बढ़ाने अथवा घटाने का प्रस्ताव भी विचारार्थ रखा था।

सोवियत संघ की शांतिकामी नीति संयुक्त राज्य अमरीका के घोर प्रतिरोध से टकराती रही, जिसके शासक हल्के सैन्य-सामग्री उद्यमों के भारी मुनाफ़े खोना नहीं चाहते थे। निरस्त्रीकरण के मामले में बार-बार अड़ंगे डालने के साथ-साथ वे ख़तरनाक साजिशें रचते रहे और विश्व को सर्वनाश के कगार पर खड़ा करते रहे। १९६१ में अमरीका द्वारा क्यूबा के ख़िलाफ़ छेड़ी गयी कार्रवाइयां ऐसी जोखिमबाज़ी का ही एक उदाहरण हैं।

सोवियत संघ के सब प्रयासों के बावजूद अंतर्राष्ट्रीय तनाव, जो मास्को में संपन्न संधि के पश्चात् कुछ शिथिल हो गया था, फिर से संगीन होने लगा। इसका सबसे बड़ा कारण वियतनाम में अमरीकी आक्रमण का बढ़ना था, जहां अमरीकी साम्राज्यवाद ने अपनी स्वतंत्रता तथा जनवादी राज्य-व्यवस्था क़ायम करने के अपने सहज अधिकार की रक्षार्थ संघर्षरत वियतनामी जनता के ख़िलाफ़ रक्तपातपूर्ण युद्ध छेड़ा हुआ था।

१९६४ में वियतनामविरोधी अमरीकी आक्रमण का नया दौर शुरू हुआ। इस बार अमरीकी सरकार ने दक्षिण वियतनाम की प्रतिगामी सरकार की मदद के लिए सैनिक सलाहकारों के बजाय अपनी सैनिक टुकड़ियां भी रवाना कर दीं। १९६७ में वियतनाम में उसके सैनिकों की संख्या ७,००,००० तक पहुंच गयी। अमरीकी डिविजनों ने राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के विरुद्ध प्रत्यक्ष और अधिकाधिक सक्रिय कार्रवाइयां करनी शुरू कर दीं। हस्तक्षेपकारी पूरे के पूरे गांवों को स्वाहा और हज़ारों निवासियों की हत्या करने लगे। अगस्त, १९६४ में अमरीकी हुक्मरानों ने लड़ाई का पैमाना बढ़ाकर वियतनामी जनवादी जनतंत्र को भी उसकी लपेट में ले लिया। अमरीकी वायुसेना ने जनवादी वियतनाम के शहरों और गांवों पर बाक़ायदा बमबारी शुरू कर दी और हज़ारों बच्चों-बूढ़ों को भून डाला।

सारी दुनिया के प्रगतिशील लोगों ने जनवादी वियतनाम के पराक्रमपूर्ण संग्राम का समर्थन किया। इनमें सबसे आगे समाजवादी देश ही थे। अमरीकी आक्रमण समाप्त करने की मांगें देश-देश में गूंजती रहीं। कई विश्वव्यापी क़दम उठाये गये। उदाहरण के लिए, जुलाई, १९६७ में वियतनाम के मसले को लेकर स्टॉकहोम में एक विश्व सम्मेलन हुआ, जिसकी तैयारी तथा आयोजन में विश्व शांति परिषद के अलावा २२ अंतर्राष्ट्रीय और ६० राष्ट्रीय संगठनों ने हिस्सा लिया था। सम्मेलन में शरीक लोगों ने अमरीकी आक्रमण की भर्त्सना की और दक्षिणी वियतनाम के राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को मान्यता देने, जनवादी वियतनाम पर बमबारी बंद करने और क़ब्ज़ावर फ़ौजें वापस बुलाने की मांग की। वियतनामी देशभक्तों को दी जानेवाली माली सहायता बढ़ाने

का निर्णय किया गया। सम्मेलन में गठित स्थायी समिति ने मार्च, १९६८ में अमरीकी आक्रमण का विरोध करनेवाले अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय संगठनों की एक असाधारण बैठक बुलायी। बैठक ने सभी संसदों, सरकारों, राजनीतिक पार्टियों, ट्रेड यूनियनों और धार्मिक संप्रदायों का आह्वान किया कि वे अमरीकी सरकार से जनवादी वियतनाम में सभी सामरिक कार्रवाइयां वंद करने का तक़ाज़ा करें। मार्च और दिसंबर, १९६७ में वहुत से देशों में वियतनामी जनता के साथ सहानुभूति सप्ताह मनाये गये, जिनके दौरान अमरीकी साम्राज्यवाद के ख़ूनी आक्रमण के विरुद्ध सशक्त प्रदर्शन निकले। इस युद्धविरोधी संग्राम ने, जिसमें स्वयं संयुक्त राज्य अमरीका के भी बीसियों हज़ार शांति-समर्थकों ने भाग लिया था, अमरीका के शासक हल्क़ों को जनवादी वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम के राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के प्रतिनिधियों के साथ शांति वार्ता शुरू करने के लिए विवश करने में उल्लेखनीय भूमिका अदा की।

उपसंहार

प्रस्तुत दो पुस्तकों में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल (ठीक-ठीक कहें, तो १९६८) तक के मानव इतिहास की आधारभूत प्रक्रियाओं तथा प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। सब घटनाओं का समान रूप से ब्योरेवार विवरण न दिया जा सका और कुछ बातों का छूट जाना अपरिहार्य ही था। लेखकों का लक्ष्य मानव इतिहास की ऐसी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना था, जो सुबोध होने के साथ-साथ सामाजिक विकास की बुनियादी दिशाओं का भी परिचय दे सकती।

मानव द्वारा तय किया गया सहस्राब्दियों लंबा मार्ग सरल और आसान न था। मानव ने जब उसपर चलना आरंभ किया था, तब वह निर्बल, निस्सहाय और प्रकृति की बलशाली शक्तियों के आगे लगभग निहत्था ही था। बाद में भी उसे एक के बाद दूसरी, अनगिनत विपत्तियां और अवनतियां झेलनी पड़ीं। श्रमिक जनता और प्रगतिकामी शक्तियों को प्रतिक्रिया के विरुद्ध प्राय: कभी न रुकनेवाले भीषण संघर्ष में न जाने कितनी बार पराजयों का मुंह देखना पड़ा। किंतु इन सभी पराजयों और विकट परीक्षणों के बावजूद मानवजाति उत्तरोत्तर आगे की ओर ही अग्रसर होती गयी।

आदिमकालीन समाज का परिचय पाकर ही हम मानव की आज तक की प्रगति के महत्व को सही तौर पर आंक सकते हैं। यह प्रगति सर्वोपरि रूप से मानव की अपार सामर्थ्य में प्रकट होती है, जो प्राकृतिक परिघटनाओं के समक्ष अंध भय और प्रकृति के संदर्भ में अपनी पूर्ण निस्सहायता की चेतना से शुरू करके उसके नियमों का संज्ञान करने और उसके अंतरंग रहस्यों पर क़ाबू पाने तक पहुंच गया है। एक नग्न अथवा खाल पहने, पत्थर के औज़ारों से लैस गुहा-मानव की २० वीं सदी के उत्तरार्ध के ानव से तुलना कीजिये,

जो आरामदेह हवाई लाइनर में बैठकर प्रतिघंटा १००० किलोमीटर की रफ़्तार से लंबे-लंबे फ़ासले तय करता है, और आप जान जायेंगे कि जो परिवर्तन आये हैं, वे कितने असामान्य, कितने हैरतंगेज़ हैं। फिर भी प्रगति का मुख्य फल यही नहीं है। मुख्य बात यह है कि इस दीर्घकालिक पथ ने, जब कई सहस्राब्दियों तक मेहनतकश जनता के शोषण के एक के बाद दूसरे, भिन्न-भिन्न रूपों का प्रभुत्व रहा था, मानवजाति को आख़िर पहले एक ही देश में और फिर विस्तृत भूभाग में शोषकों पर शोषितों की विजय तक पहुंचा दिया है और अंतिम शोषक प्रणाली के उन्मूलन के युग का सूत्रपात कर दिया है।

मानवजाति का इतिहास श्रम औज़ारों और यंत्रों का इतिवृत्त इतना नहीं, जितना कि लोगों के संबंधों में आनेवाले प्रगतिशील रूपांतरणों का इतिवृत्त है। का० मार्क्स और फ़्रे० एंगेल्स को उस चीज़ की खोज का अमर श्रेय प्राप्त है, जो विभिन्न कालों में राजनीतिक घटनाओं, विचारधारात्मक प्रक्रियाओं और सामाजिक जीवन का निर्धारण करती रहती है। यह चीज़ वे संबंध हैं, जो भौतिक उत्पादन-क्रम में लोगों के बीच क़ायम होते हैं। मार्क्सवादी विश्लेषण-विधि की बदौलत अनगिनत अस्पष्ट ऐतिहासिक परि-घटनाओं को समझना और प्रसिद्ध ऐतिहासिक विभूतियों के कार्यकलाप के अंतर्य में पैठना संभव बना। हमें मालूम हुआ कि उनके कार्य किन्हीं आदर्शवादी मनोकामनाओं से नहीं, जैसा कि बूर्जुआ एवं अभिजात वर्गीय इति-हासकार मानते आ रहे थे और जैसा कि आज भी अधिकांश बूर्जुआ वैज्ञानिकों का विचार है, बल्कि कुछ निश्चित वर्गीय स्वार्थों से प्रेरित थे। इस विश्लेषण विधि की उपयोगिता हमें अनेक उदाहरणों में देखने को मिली है, चाहे उनका संबंध प्राचीन जगत के राजनीतिक उतार-चढ़ावों से रहा हो अथवा मध्ययुगीन पौर्वात्य शासकों के विजय अभियानों से, अथवा आरंभिक बूर्जुआ क्रांतियों से या आज की उग्रतम समस्याओं से। सामाजिक जीवन की इन सब घटनाओं का आधार वर्ग संघर्ष है और इसका मेरु-दंड है पददलित तथा शोषित जनसमु-दाय का मुक्ति आंदोलन। इस कारण प्रस्तुत पुस्तक में शोषकों के विरुद्ध जनसाधारण के विद्रोहों के विवरण को इतना अधिक स्थान दिया गया है, क्योंकि ये ही इतिहास में जनसाधारण की सृजनात्मक भूमिका को स्पष्टतया दिखाते हैं। विश्व इतिहास अकाट्य रूप से प्रमाणित करता है कि मानवजाति ज्यों-ज्यों विकास करती जाती है, इस भूमिका का महत्त्व उतना ही बढ़ता जाता है। अनेक शताब्दियों तक शोषणविरोधी संग्राम स्वतःस्फूर्त था। उसका लक्ष्य विद्यमान समाज-व्यवस्था का उन्मूलन नहीं, वरन उसका "सुधार", उसके सबसे ज़ालिम वाहकों का निराकरण करना होता था। ३-४ शताब्दियां पहले तक ही इस संग्राम को धार्मिक रूप धारण करना और राजतंत्र की अक्षुण्णता में आस्था का प्रदर्शन करना पड़ता था।

पर शताब्दियां बीतती गयीं और जनसमूहों का संघर्ष अधिक बलशाली तथा उद्देश्यपूर्ण, अप्रच्छन्न और, जो मुख्य है, सचेत बनता गया। आधुनिक काल की देहरी पर पहुंचते-पहुंचते विश्व में प्रथम बार अपार महत्त्व की घटनाएं होने लगीं। ये थीं सामाजिक क्रांतियां, जो जनगण की क्षमता एवं अद्भुत सृजनात्मक शक्ति की परिचायक थीं। यह सच है कि इन क्रांतियों के फलस्वरूप सामाजिक न्याय की मेहनतकशों की चाह पूरी न हो पायी और न हो ही सकती थी। १७ वीं शती तो दूर रही, जब अंग्रेज़ बूर्जुआ क्रांति हुई थी, १६ वीं शती में भी समाजवादी क्रांति के लिए आवश्यक पूर्वावस्थाएं पैदा नहीं हुई थीं। जनसाधारण ने अपने क्रांतिकारी सृजन-कार्य, अपने नि:स्वार्थ शौर्य और जान हथेली पर लिये रहने की तत्परता को प्रदर्शित करके सत्ता हथियाने में बूर्जुआ वर्ग की सहायता की थी, अर्थात् शोषण के रूप बदलवाने में हाथ बंटाया था। तिस पर भी ये क्रांतियां ऐसे संग्राम का विद्यालय सिद्ध हुईं, जिसने इतिहास के समूचे भावी क्रम पर अमिट छाप डाली।

बूर्जुआ क्रांतियां केवल पूंजीवादी राज्य-प्रणाली की स्थापना की ही उद्‌घोषणा नहीं करती थीं, अपितु अपने सामाजिक परिणामों के माध्यम से ऐतिहासिक प्रक्रिया पर निर्णायक प्रभाव भी डालती थीं। यहां आशय मज़दूर वर्ग के आविर्भाव से है, जिसने इतिहास के अखाड़े में एक ऐसी सामाजिक शक्ति के रूप में पदार्पण किया, जिसे आगे चलकर मानवजाति को शोषण से मुक्ति प्रदान करनेवाले संग्राम की अगुआई करनी थी। किंतु मज़दूर वर्ग में अपने मुक्तिदायी ध्येय की समझ अपने आप नहीं उत्पन्न हुई। यह बुनियादी समझ पैदा करने तथा उसे सैद्धांतिक रूप से प्रमाणित करने का श्रेय लब्धप्रतिष्ठ सर्वहारा क्रांतिकारी का० मार्क्स और फ़्रे० एंगेल्स को है। बाद में, नयी ऐतिहासिक परिस्थितियों में व्ला० इ० लेनिन ने इस समझ को और भी ठोस बनाया और उसे साकार बनाकर भी दिखाया। मज़दूर वर्ग की उत्पत्ति और उसके प्रबल शक्ति बन जाने के फलस्वरूप मुक्ति आंदोलन के स्वरूप तथा संभावनाओं में मौलिक परिवर्तन आये। अक्तूबर क्रांति की विजय, जिसने विजयी समाजवादी क्रांतियों के युग का सूत्रपात किया था, का अर्थ यह था कि विश्व क्रांतिकारी प्रक्रिया ने एक ऐसे दौर में प्रवेश किया है, जब उसका आकार अपरिमित रूप में बढ़ जाता है और उन समस्त शक्तियों तथा धाराओं को अपने में समा लेता है, जो बड़ी साम्राज्यवादी ताक़तों के बूर्जुआज़ी का जुआ उतार फेंकने के लिए उतावली हैं।

समाजवादी प्रणाली की उत्पत्ति तथा प्रगति ने विश्व क्रांतिकारी प्रक्रिया को और सबल बनाया और उसकी परिधि का अपार विस्तार किया। पहले जब श्रमिक जनता एक ही देश — सोवियत रूस — में विजयी हुई थी, तो यह

भी मुक्ति आंदोलन की एक महानतम उपलब्धि थी। सोवियत संघ ने विश्व क्रांति की प्रगति का मुख्य अवलंब बनकर सभी महाद्वीपों के लाखों-करोड़ों दलित जनों को प्रेरणा दी और समाजवाद निर्माण में प्राप्त अपनी सफलताओं से पूंजीवादी और औपनिवेशिक गुलामी के खिलाफ़ उनके संग्राम को नया बल प्रदान किया। मगर फिर जब यूरोप और एशिया के कतिपय अन्य देशों में भी समाजवादी विचारों की विजय हो गयी, तो नये, स्वतंत्र जीवन के निर्माण की आकर्षण शक्ति में और भी वृद्धि हुई। समाजवादी राष्ट्रमंडल, जो विश्व क्रांतिकारी प्रक्रिया की महान देन है, आजकल इस प्रक्रिया की प्रगति का प्रमुख कारक बना हुआ है।

आज समाजवादी देशों का क्षेत्रफल विश्व के कुल क्षेत्रफल के २६ प्रतिशत के बराबर है और उनमें पृथ्वी की ३५ प्रतिशत आबादी रहती है। अपने अस्तित्व के अत्यल्प काल में ही उन्होंने विपुल सफलताएं अर्जित कर ली हैं। ये सफलताएं आर्थिक क्षेत्र में विशेषतः दृष्टिगोचर होती हैं और पूंजीवाद की निस्बत समाजवाद की श्रेष्ठता का ज्वलंत प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। १९७० में विश्व औद्योगिक उत्पादन में समाजवादी राष्ट्रमंडल का भाग ३९ प्रतिशत था। सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों में उत्पादन की विकास-दरें निरंतर स्थिर और ऊंची रहती हैं, जोकि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के लिए कतई अप्राप्य हैं। केवल समाजवाद ही व्यक्ति और उत्पादक शक्तियों की द्रुत उन्नति सुनिश्चित कर सकता है। समाजवादी राष्ट्रमंडल के हर सदस्य देश की तेज़ आर्थिक प्रगति में परस्पर चहुंमुखी सहयोग का योग कम नहीं है, जो समानाधिकार तथा बिरादराना मदद के उच्चादर्शों पर आधारित है। बंधु राज्यों के बीच नये प्रकार के संबंधों के क़ायम होने के फलस्वरूप उत्पादन का सहकारीकरण तथा विशिष्टीकरण और समाजवादी श्रम-विभाजन जैसे सूत्र पनप उठे हैं।

समाजवादी देश अपनी भव्य आर्थिक सिद्धियों के माध्यम से ही विश्व क्रांतिकारी प्रक्रिया पर सर्वाधिक प्रभाव डालते हैं। उनकी अर्थव्यवस्था के अद्भुत उत्कर्ष ने, जो पहले बहुधा पिछड़ी हुई समझी जाती थी, जनता के जीवन-मान को निरंतर ऊंचा उठाना संभव बना दिया है। उत्पादक शक्तियों का द्रुत विकास उनकी प्रतिरक्षात्मक क्षमता के दृढ़ीकरण का ठोस आधार भी बना है। इस सबसे विश्व मंच पर समाजवाद और पूंजीवाद के बीच शक्ति-संतुलन का समाजवाद के पक्ष में बदल जाना भी संभव हुआ है।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की २४ वीं तथा २५ वीं कांग्रेसें विश्व समाजवादी प्रणाली की प्रगति की दीप्यमान सूचक सिद्ध हुई हैं। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के महासचिव ले० इ० ब्रेज्नेव द्वारा २४ वीं पार्टी कांग्रेस (मार्च-अप्रैल, १९७२) में प्रस्तुत केंद्रीय समिति

की रिपोर्ट में २३ वीं कांग्रेस के बाद वाले वर्षों में सोवियत जनता के बहुविध सृजन-कार्य का गहन विश्लेषण किया गया था, अर्थतंत्र की आठवीं विकास-योजना की सफल पूर्ति का जोड़ लगाया गया था, कम्युनिज़्म निर्माण की शांतिपूर्ण परिस्थितियां सुनिश्चित करने और सोवियत संघ तथा बंधु समाजवादी राज्यों की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ाने के हेतु महान प्रयासों पर प्रकाश डाला गया था। कांग्रेस ने नयी, नौवीं पंचवर्षीय योजना के कार्यभार निर्धारित किये। नयी योजना में सोवियत लोगों के भौतिक तथा सांस्कृतिक जीवन-मान में उल्लेखनीय वृद्धि का प्रावधान रखा गया। इन कार्यभारों की पूर्ति समाजवादी उत्पादन की द्रुत गति से, वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति की सिद्धियों से, समाजवादी अर्थतंत्र की श्रेष्ठताओं के नैसर्गिक योग से प्रत्याभूत होती थी। कांग्रेस ने अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर भी बड़ा ध्यान दिया। उसने साम्राज्यवाद की आक्रामक नीति के मुक़ाबले शांति का एक सर्वांगीण कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसे दुनिया के श्रमिक जनों का भरपूर समर्थन मिला।

२५ वीं पार्टी कांग्रेस ने, जो फ़रवरी के अंत और मार्च, १९७६ के आरंभ में हुई, सोवियत समाज के विकासार्थ एक सर्वांगीण कार्यक्रम तैयार किया, जिसे कम्युनिज़्म की तरफ़ उसकी अग्रगति को एक प्रमुख देन बन जाना था। कांग्रेस के निर्णयों ने परिलक्षित किया कि जनकल्याण में निरंतर वृद्धि, जोकि पार्टी की आर्थिक नीति का प्रधान लक्ष्य है, का मुख्य स्रोत सामाजिक उत्पादन की कारगरता तथा श्रम की गुणवत्ता को बढ़ाया जाना है। कांग्रेस ने दसवीं पंचवर्षीय योजना – कारगरता तथा गुणवत्ता की योजना (१९७६-१९८०) की मुख्य दिशाएं निर्धारित कीं। वर्तमान विकास संबंधी समस्याओं की गहन छान-बीन करने के बाद कांग्रेस ने, ले० इ० ब्रेज्नेव के सुझाव पर, शांति तथा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए, जनगण के स्वातंत्र्य एवं स्वाधीनता के लिए संग्राम का एक कार्यक्रम स्वीकृत किया, जो २४ वीं कांग्रेस द्वारा अंगीकृत शांति कार्यक्रम की अगली कड़ी था। कांग्रेस के निर्णयों में व्यापक जनसमुदाय द्वारा आधारभूत सार्वजनिक तथा राजकीय प्रश्नों को हल करने में सक्रिय रूप से भाग लिये जाने की व्यवस्था की गयी थी।

अक्तूबर, १९७७ में सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ ने अपना संविधान अंगीकार किया, जिसपर पहले राष्ट्रव्यापी विचार-विमर्श हुआ था और जिसमें कम्युनिज़्म के मार्ग पर अग्रसर सोवियत देश की युगांतरकारी उपलब्धियों को अभिव्यक्त किया गया था। नये संविधान में प्रत्याभूत समाजवादी सिद्धियां उन सभी देशों के, जहां अभी तक बूर्जुआजी का प्रभुत्व क़ायम है, अपनी मुक्ति के लिए संघर्षरत लोगों के लिए प्रेरणामय आदर्श हैं। विश्व समाजवादी राष्ट्रमंडल की आगे चहुंमुखी प्रगति विश्व क्रांतिकारी प्रक्रिया के तीव्रीकरण का प्रमुख पूर्वाधार है।

किंतु विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन के अंदर ऐसे जड़सूत्रवादियों तथा फ़िरकापरस्त लोगों की अभी कमी नहीं है, जो इस महत्वपूर्ण विचार का खंडन करने की कोशिश करते रहते हैं। वे उपनिवेशवादविरोधी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन जैसे एक कारक को विश्व क्रांतिकारी प्रक्रिया के अन्य सभी कारकों के मुक़ाबले में रखते हैं। पर ऐसी सारी कोशिशें बेबुनियाद हैं, क्योंकि इतिहास-सिद्ध अनुभव और आधुनिक क्रांतिकारी प्रक्रिया के मार्क्सवादी विश्लेषण ने स्पष्टतया दिखा दिया है कि इसमें प्रमुख भूमिका विश्व समाजवादी प्रणाली ही निभा रही है। किंतु इससे उन जनगण के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की गरिमा पर तनिक भी आंच नहीं आती, जो अभी भी साम्राज्यवाद के जुए तले पिस रहे हैं या जिन्होंने अभी हाल ही में उसे उतार फेंका है। उल्टे, विश्व क्रांतिकारी प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग होने के नाते यह आंदोलन एशिया, अफ़्रीका और लैटिन अमरीका के विशाल जनसमूहों को इस प्रक्रिया की ओर ही आकृष्ट कर रहा है।

वर्तमान चरण में साम्राज्यवाद के जुए से मुक्त हुए नये राज्य आर्थिक गुलामी के ख़िलाफ़, हर प्रकार के नवउपनिवेशवाद के ख़िलाफ़, सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमरीका की घुसपैठ के ख़िलाफ़ डटकर संघर्ष कर रहे हैं। यह संग्राम साम्राज्यवाद के मूलाधार को हिला देता है और उपनिवेशवाद के अवशेषों को धराशायी कर देता है। अधिकांश नवोदित राज्यों द्वारा अनुसृत गुटनिरपेक्षता नीति भी साम्राज्यवाद के विरुद्ध लक्षित है। विश्व प्रक्रिया के लिए वे मूलगामी सामाजिक परिवर्तन भी कम महत्त्वपूर्ण नही हैं, जो इन देशो में हो रहे हैं और उन्हें विकास के ग़ैर-पूंजीवादी पथ पर चलने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। समाजवादी शिविर इन राज्यों का विश्वसनीय मित्र है।

पूंजीवादी देशों का मज़दूर वर्ग भी आधुनिक विश्व क्रांतिकारी प्रक्रिया का संघटक अंग है। इन देशों में मज़दूरों को कठिनतम परिस्थितियों में रहना और एक अनुभवी शत्रु का सामना करना पड़ रहा है जो मज़दूर आंदोलन को सुधारवादी पथ पर भटकाने की ख़ातिर राजनीतिक, आर्थिक और विचार-धारात्मक, सब प्रकार के साधनों का उपयोग कर रहा है। मज़दूर वर्ग में फूट, उसकी कतारों में नानारूपी पार्टियों, ट्रेड यूनियनों आदि के विद्यमान होने के कारण स्थिति और भी अधिक विषम बन जाती है। क्रांतिकारी संघर्ष का विस्तार इस बात से भी अवरुद्ध होता है कि समुन्नत पूंजीवादी देशों के ऊंचे आर्थिक स्तर से लाभ उठाकर इजारेदारियां बहुत से मज़दूरों को, जिन्होंने वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति के कारण उत्पादनशीलता में तेज़ी से वृद्धि की है, अच्छी-ख़ासी तनख़्वाहें देने लगी हैं। किंतु बूर्जुआ विचारकों और उनके पिछलग्गुओं – संकीर्णतावादियों एवं जड़सूत्रवादियों – के ये दावे सरासर निराधार हैं कि पूंजीवादी देशों के मज़दूर वर्ग ने "उपलब्ध स्तर से

संतुष्ट होकर" बूर्जुआ व्यवस्था से लोहा लेने से इन्कार कर दिया है। युद्धोत्तरकालीन हड़ताल आंदोलन के पैमाने भी वर्ग संघर्ष के उभार के सबूत हैं। आर्थिक संघर्ष प्रायः राजनीतिक स्वरूप ग्रहण कर लेता है। शांति के लिए और नाभिकीय युद्ध के ख़तरे के विरुद्ध मज़दूर वर्ग की कार्रवाइयां सशक्त होती जा रही हैं। यद्यपि शांति संग्राम समाजवाद के लिए संग्राम नहीं है, पर वह अन्य सभी जनवादी आंदोलनों की भांति सामाजिक पुनर्गठन के लक्ष्य की प्राप्ति में योग अवश्य देता है।

हमारा युग मानवजाति के मरणासन्न बूर्जुआ प्रणाली से समाजवाद तथा कम्युनिज़्म में पूर्ण संक्रमण का युग है। यह वह युग है जब यह सूत्र साकार हुआ है कि जनसमूह ही इतिहास के सच्चे स्रष्टा हैं। मुट्ठीभर "धनिकों" द्वारा श्रमिक जनों के युगों से किये जा रहे शोषण के अवसान की घंटी – और इस बार संसारव्यापी पैमाने पर – बजने लग गयी है और "सभ्य" उपनिवेशस्वामियों द्वारा एशिया, अफ़्रीका तथा लैटिन अमरीका के करोड़ों निवासियों को लूटने पर आधारित प्रणाली का भी अंत निकट आ गया है। निस्संदेह, ऐतिहासिक प्रगति का मार्ग सीधा और समतल मार्ग नहीं है। इतिहास का अनुभव इसका प्रमाण है कि प्रतिक्रिया के प्रतिरोध को कुचल देने के लिए जनगण से बड़े-भारी प्रयास अपेक्षित हैं, पर साथ ही यह अनुभव सिद्ध करता है कि जो मार्ग चुन लिया गया है वह मार्ग सही है। कम्युनिज़्म के विचार, जो उस क्षेत्र पर विजयी हो चुके हैं जहां धरती के एक तिहाई से अधिक लोग रहते हैं, पृथ्वी के कोने-कोने तक पहुंचकर नित नये समर्थकों को आकर्षित कर रहे हैं। पूंजी और उसके विचारकों के भीषण प्रतिरोध के बावजूद संसार अविचल रूप से प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है और हमारे दिनों में प्रगति का पर्याय कम्युनिज़्म है।

कालानुक्रमणिका

१९१७ ७ नवंबर (जूलियन पंचांग के अनुसार : २५ अक्तूबर)	– महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति
७-८ नवंबर (२५-२६ अक्तूबर)	– सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस द्वारा शांति तथा भूमि संबंधी आज्ञप्तियां जारी। सोवियत सरकार का गठन
१५ नवंबर (२ नवंबर)	– जन कमिस्सार परिषद द्वारा रूस की जनता के अधिकारों का घोषणापत्र पारित
दिसंबर	– वेस्सराबिया पर रूमानिया का क़ब्ज़ा
३१ दिसंबर (१८ दिसंबर)	– फ़िनलैंड की स्वाधीनता को सोवियत सरकार की मान्यता
१९१८ जनवरी-मार्च	– फ़िनिश मज़दूर गणराज्य
२८ जनवरी	– मज़दूरों तथा किसानों की लाल सेना के निर्माण के बारे में सोवियत सरकार की आज्ञप्ति
२८ जनवरी- ३ फ़रवरी	– वर्लिन तथा अन्य जर्मन नगरों में राजनीतिक हड़तालें
३ मार्च	– ब्रेस्त-लितोव्स्क में सोवियत रूस तथा मध्य यूरोपीय शक्तियों के बीच शांति संधि पर हस्ताक्षर
६-८ मार्च	– रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की सातवीं कांग्रेस

६ मार्च	—रूस के उत्तरी भागों में मित्रराष्ट्रों के सैनिक हस्तक्षेप का आरंभ
५ अप्रैल	—व्लादीवोस्तोक में जापानी तथा ब्रिटिश सैनिकों का उतरना
२५ मई	—रूस में चेकोस्लोवाक कोर की सोवियतविरोधी बग़ावत
जून	—आस्ट्रिया-हंगरी में व्यापक हड़तालें और प्रदर्शन
१० जुलाई	—सोवियतों की पांचवीं अखिल रूसी कांग्रेस में रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी जनतंत्र के संविधान का अंगीकरण
अगस्त	—बाकू और मध्य एशिया में ब्रिटिश सैनिकों का उतरना
१६ अगस्त	—व्लादीवोस्तोक में अमरीकी सैनिकों का उतरना
३० अगस्त	—व्ला० इ० लेनिन की हत्या का प्रयास
ग्रीष्म, १६१८	—ईरान से रूसी सैनिकों की पूर्ण वापसी
अगस्त-सितंबर	—जापान में चावल दंगे
२६ सितंबर	—बुल्गारिया और मित्रराष्ट्रों के बीच युद्धविराम संधि पर हस्ताक्षर
२८ अक्तूबर	—स्वतंत्र चेकोस्लोवाक राज्य की स्थापना
३० अक्तूबर	—मुद्रोस में तुर्की तथा मित्रराष्ट्रों के बीच युद्ध-विराम संधि पर हस्ताक्षर
३ नवंबर	—आस्ट्रिया-हंगरी और मित्रराष्ट्रों के बीच युद्ध-विराम संधि
३ नवंबर	—कील में जर्मन नाविकों का विद्रोह। जर्मनी में बूर्जुआ-जनवादी क्रांति की शुरुआत
७ नवंबर	—पोलिश गणराज्य की स्थापना
६ नवंबर	—जर्मनी में बूर्जुआ-जनवादी क्रांति की विजय
११ नवंबर	—कोंपियेन में जर्मनी और मित्रराष्ट्रों के बीच युद्धविराम संधि पर हस्ताक्षर। पहले महायुद्ध की समाप्ति

१२ नवंबर	– आस्ट्रिया गणराज्य घोषित
१६ नवंबर	– हंगरी में गणराज्य घोषित
नवंबर	– रियो दे जानीरों में आम हड़ताल
दिसंबर १९१८-जनवरी, १९१९	– बंबई में कपड़ा मिल मज़दूरों की हड़ताल
१९१८	– भारत में मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार
१९१८-१९१९	– चिली में क्रांतिकारी हलचलें
१९१८-१९१९	– पेरू में हड़ताल आंदोलन का उभार
१९१८-१९२०	– ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस तथा संयुक्त राज्य अमरीका में "सोवियत रूस से हाथ दरकिनार!" आंदोलन
१९१९ : ५-१२ जनवरी	– बर्लिन के मज़दूरों की आम राजनीतिक हड़ताल। सरकारी सैनिकों से सशस्त्र मुठभेड़ें
९ जनवरी	– ब्यूनोस आयर्स में आम हड़ताल
१५ जनवरी	– कार्ल लीब्कनेख़्त और रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग की हत्या
१८ जनवरी, १९१९-२१ जनवरी, १९२०	– पेरिस शांति सम्मेलन
२८ फ़रवरी	– अफ़ग़ानिस्तान की स्वाधीनता की घोषणा
मार्च	– कोरिया में जापानविरोधी विप्लव
२-६ मार्च	– कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की स्थापना और पहली कांग्रेस
मार्च	– मिस्र में साम्राज्यवादविरोधी सशस्त्र विद्रोह
१८-२३ मार्च	– रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की आठवीं कांग्रेस
मार्च-जुलाई	– सोवियत रूस के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों का पहला अभियान
२१ मार्च	– हंगरी की सर्वहारा क्रांति। हंगेरियाई सोवियत जनतंत्र की स्थापना (१ अगस्त तक बना रहा)
१३ अप्रैल	– बवारियाई सोवियत जनतंत्र की स्थापना (१ मई तक बना रहा)
१६-२७ अप्रैल	– काला सागर में फ़्रांसीसी बेड़े के नौसैनिकों का विद्रोह

अप्रैल	– भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सक्रिय राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की शुरुआत
मई	– चीन में साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन में तेज़ी
मई-जून	– अफ़ग़ान स्वाधीनता युद्ध
२८ जून	– वर्साई में मित्रराष्ट्रों तथा जर्मनी के बीच शांति संधि पर हस्ताक्षर
जुलाई, १९१९-मार्च, १९२०	– सोवियत संघ के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों का दूसरा अभियान
१० सितंबर	– आस्ट्रिया द्वारा सेंट जरमेन शांति संधि पर हस्ताक्षर
सितंबर	– तुर्की की बूर्जुआ क्रांति का आरंभ
सितंबर, १९१९-जनवरी, १९२०	– संयुक्त राज्य अमरीका में इस्पात मज़दूरों की ज़बर्दस्त हड़ताल
अक्तूबर	– पेत्रोग्राद के निकट युदेनिच की फ़ौजों की पराजय
२७ नवंबर	– बुल्गारिया द्वारा नेई शांति संधि पर हस्ताक्षर
१९२० : २३ जनवरी	– तुर्क संसद द्वारा राष्ट्रीय क़रार का अनुमोदन
फ़रवरी	– सोवियत रूस के उत्तरी इलाक़ों से मित्रराष्ट्रों और सफ़ेद गार्डों की फ़ौजों का सफ़ाया
२९ मार्च-५ अप्रैल	– रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की नौवीं कांग्रेस
मार्च	– जर्मन मज़दूरों की आम हड़ताल। राजतंत्रवादी विद्रोह विफल
६ अप्रैल	– सुदूर पूर्वी जनतंत्र की स्थापना
अप्रैल-नवंबर	– मित्रराष्ट्रों का तीसरा सोवियतविरोधी अभियान
४ जून	– हंगरी द्वारा त्रियानों शांति संधि पर हस्ताक्षर
जून	– रश्त (ईरान) में गिलान प्रदेश की क्रांतिकारी सरकार की स्थापना
१९ जुलाई-७ अगस्त	– कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस
१० अगस्त	– सेव्र में तुर्की तथा मित्रराष्ट्रों के बीच शांति संधि संपन्न
ग्रीष्म	– मध्य एशिया में गृहयुद्ध समाप्त

सितंबर	–इटली में मज़दूरों द्वारा कल-कारख़ानों पर क़ब्ज़ा
२ सितंबर	–बुख़ारा लोक सोवियत जनतंत्र की स्थापना
२६ नवंबर	–आरमीनियाई सोवियत जनतंत्र की स्थापना
दिसंबर	–सोवियतों की आठवीं अखिल रूसी कांग्रेस द्वारा रूस के बिजलीकरण की योजना (गोएलरो योजना) का अनुमोदन
१६२०	–दक्षिणी अफ़्रीका संघ में अफ़्रीकी खान मज़दूरों की पहली व्यापक हड़तालें
१६२०-१६२१	–मेक्सिको में क्रांतिकारी आंदोलन का उत्थान
१६२०-१६२१	–पतागोनिया (अर्जेंटीना) के कृषि मज़दूरों के दंगे
१६२०-१६२२	–भारत में एका संगठन के नेतृत्व में किसानों का संघर्ष
१६२१ २५ फ़रवरी	–जार्जियाई सोवियत समाजवादी जनतंत्र की स्थापना
२६ फ़रवरी	–रूसी संघ और ईरान द्वारा मैत्री संबंधों की स्थापना विषयक संधि पर हस्ताक्षर
२८ फ़रवरी	–रूस-अफ़ग़ान मैत्री संधि
२८ फ़रवरी	–क्रोनश्ताद्त में प्रतिक्रांतिकारी विद्रोह
८-१६ मार्च	–रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की दसवीं कांग्रेस
१६ मार्च	–रूसी संघ तथा तुर्की के बीच मैत्री तथा बंधुत्व संधि संपन्न
१६ मार्च	–आंग्ल-सोवियत व्यापार समझौता
७ अप्रैल	–सुन यात-सेन दक्षिणी चीन गणराज्य के राष्ट्रपति निर्वाचित
२२ जून-१२ जुलाई	–कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की तीसरी कांग्रेस
जुलाई	–मंगोलिया में लोक क्रांति की विजय
१६ सितंबर	–मोरक्को में स्वतंत्र रिफ़ गणराज्य की स्थापना
१२ नवंबर-६ फ़रवरी, १६२२	–सुदूर पूर्व तथा प्रशांत क्षेत्र संबंधी वाशिंगटन सम्मेलन
१६२१-१६२६	–रिफ़ गणराज्य के विरुद्ध फ़्रांसीसी-स्पेनी युद्ध

१९२२ : फ़रवरी — मिस्र को स्वाधीनता दिये जाने के बारे में ब्रिटिश सरकार की घोषणा

२७ मार्च-२ अप्रैल — रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की ग्यारहवीं कांग्रेस

मार्च — समाजवादी सोवियत जनतंत्रों के ट्रांस-काकेशियाई फ़ेडरेशन की स्थापना

१० अप्रैल-१९ मई — जेनोआ का अंतर्राष्ट्रीय अर्थ तथा वित्त सम्मेलन

१६ अप्रैल — रपैलो में सोवियत-जर्मन संधि पर हस्ताक्षर

अक्तूबर — इटली में फ़ासिस्ट तानाशाही की स्थापना

२५ अक्तूबर — व्लादीवोस्तोक से जापानी सैनिकों की वापसी। सुदूर पूर्व में गृहयुद्ध का अंत

५ नवंबर-५ दिसंबर — कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की चौथी कांग्रेस

१५ नवंबर — सुदूर पूर्वी जनतंत्र का रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी जनतंत्र में विलयन

२० नवंबर, १९२२-२४ जुलाई, १९२३ — लोज़ान का मध्यपूर्व संबंधी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन

३० दिसंबर — सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ की सोवियतों की पहली कांग्रेस द्वारा सोवियत संघ की स्थापना से संबंधित घोषणापत्र और संधि की संपुष्टि

१९२३ : जनवरी — रुहर प्रदेश (जर्मनी) पर फ़्रांसीसी सेनाओं का क़ब्ज़ा

१७-२५ अप्रैल — रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की बारहवीं कांग्रेस

८-९ जून — बुल्गारिया में फ़ासिस्ट सत्ता-परिवर्तन

अक्तूबर-नवंबर — सैक्सोनिया तथा टूरिंगिया (जर्मनी) में मज़दूर सरकारें

२३-२५ अक्तूबर — हैम्बर्ग में एर्न्स्ट थेलमान के नेतृत्व में मज़दूरों का सशस्त्र विप्लव

२९ अक्तूबर — तुर्की गणराज्य की स्थापना

शरद, १९२३ — ख़्वारज़्म समाजवादी जनतंत्र की स्थापना

१९२३ — इंडोनेशिया में रेलवे मज़दूरों की आम हड़ताल

१९२४ : २० जनवरी-

१ फ़रवरी	– कुओमिंतांग की पहली कांग्रेस
२१ जनवरी	– व्ला० इ० लेनिन का निधन
जनवरी	– सोवियतों की दूसरी अखिल-संघीय कांग्रेस द्वारा सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ के संविधान का अंगीकरण
फ़रवरी-अक्तूबर	– ग्रेट ब्रिटेन, नार्वे, इटली, आस्ट्रिया, यूनान, स्वीडन, चीन, मेक्सिको तथा फ़्रांस द्वारा सोवियत संघ के साथ राजनयिक संबंधों की स्थापना
२३-३१ मई	– रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की तेरहवीं कांग्रेस
१७ जून-८ जुलाई	– कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की पांचवीं कांग्रेस
१६ जुलाई-१६ अगस्त	– मित्रराष्ट्रों का लंदन सम्मेलन। डॉएज़ योजना स्वीकृत
सितंबर	– बुख़ारा समाजवादी जनतंत्र की स्थापना
अक्तूबर, १९२४-फ़रवरी, १९२७	– ब्राज़ील में प्रेस्तेस दस्ते का अभियान
२८ नवंबर	– मंगोलियाई लोक जनतंत्र की स्थापना
१९२५ : २० जनवरी	– सोवियत संघ तथा जापान के बीच राजनयिक संबंधों की स्थापना
१९२५	– चीन में साम्राज्यवादविरोधी ३० मई आंदोलन
मई	– उज़्बेक तथा तुर्कमान सोवियत समाजवादी जनतंत्रों का सोवियत संघ में सम्मिलन
१९ जून-१० अक्तूबर	– हांगकांग तथा कैंटन में आम हड़तालें
५-१६ अक्तूबर	– लोकार्नो सम्मेलन
१७ दिसंबर	– सोवियत-तुर्की मैत्री तथा तटस्थता संधि पर हस्ताक्षर
१८-३१ दिसंबर	– रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की चौदहवीं कांग्रेस। पार्टी का नाम बदलकर अखिल संघीय कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) रखने का निर्णय
१९२५-१९२८	– निकारागुआ में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का उभार
१९२६ : २४ अप्रैल	– सोवियत-जर्मन मैत्री व अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर

४-१२ मई	—इंग्लैंड में आम हड़ताल
१२-१३ मई	—पोलैंड में पिल्सूद्स्की के नेतृत्व में फ़ासिस्ट सत्ता-परिवर्तन
जुलाई	—चीनी राष्ट्रीय क्रांतिकारी सेना के उत्तरी कूच की शुरुआत
३१ अगस्त	—सोवियत-अफ़ग़ान मैत्री व तटस्थता संधि पर हस्ताक्षर
नवंबर-दिसंबर	—जावा में डच शासकों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह
१९२७: १२ अप्रैल	—शंघाई में च्यांग काई-शेक के नेतृत्व में प्रतिक्रांतिकारी सत्ता-परिवर्तन
२७ मई	—ग्रेट ब्रिटेन द्वारा सोवियत संघ के साथ राजनयिक संबंधों का विच्छेद
१५-१६ जुलाई	—वियेना में फ़ासिज़्मविरोधी प्रदर्शन पर गोलीकांड। आम हड़ताल की शुरुआत
१ अक्तूबर	—सोवियत संघ तथा ईरान द्वारा गारंटियों तथा तटस्थता विषयक संधि पर हस्ताक्षर
३० नवंबर	—राष्ट्र संघ में सोवियत संघ द्वारा पूर्ण और सार्विक निरस्त्रीकरण का प्रस्ताव
२-१९ दिसंबर	—अखिल संघीय कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की पंद्रहवीं कांग्रेस
११-१३ दिसंबर	—कैंटन विद्रोह (कैंटन कम्यून)
१९२८: १७ जुलाई-१ सितंबर	—कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की छठी कांग्रेस
अगस्त	—अफ़ग़ानिस्तान में नया संविधान
२७ अगस्त	—पेरिस में ब्रियां-कैलोग क़रार संपन्न
नवंबर	—अफ़ग़ानिस्तान में प्रतिक्रियावादी विप्लव
१९२८-१९३२	—सोवियत संघ की पहली पंचवर्षीय योजना
१९२८-१९३०	—मध्य तथा दक्षिणी चीन में मज़दूर, किसान तथा लाल सैनिक प्रतिनिधियों की सोवियतों की स्थापना
१९२९: ३ अक्तूबर	—सोवियत संघ तथा ग्रेट ब्रिटेन के बीच राजनयिक संबंधों की पुनर्स्थापना

१६२६-१६३३	– विश्वव्यापी आर्थिक संकट
१६३०	– भारत में देशव्यापी नागरिक अवज्ञा आंदोलन
मार्च	– गांधीजी के नेतृत्व में नमक यात्रा
२६ जून-२३ जुलाई	– अखिल संघीय कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की सोलहवीं कांग्रेस
१६३०	– पेरू में लेगिया की तानाशाही के विरुद्ध जन संघर्ष
१६३१: अप्रैल	– स्पेन में बूर्जुआ-जनवादी क्रांति का आरंभ। राजतंत्र का उन्मूलन
१६३१-१६३२	– चिली में अमरीकासमर्थक सरकारों के विरुद्ध जन आंदोलन
सितंबर, १६३१-१६३२	– उत्तर-पूर्वी चीन (मंचूरिया) पर जापान का क़ब्ज़ा
१६३२	– तांगानीका की सोना खानों के मज़दूरों का मज़दूरी बढ़वाने के लिए संघर्ष
२ फ़रवरी, १६३२-१६३४	– जेनेवा में अंतर्राष्ट्रीय निरस्त्रीकरण सम्मेलन
१६३३: ३० जनवरी	– जर्मनी में फ़ासिस्ट तानाशाही की स्थापना
२७ फ़रवरी	– नाज़ियों द्वारा राइख़स्ताग को आग लगाना
२७ मार्च	– जापान का राष्ट्र संघ से निष्क्रमण
अगस्त	– क्यूबा में साम्राज्यवादविरोधी क्रांति
सितंबर-दिसंबर	– लाइपज़िग में राइख़स्ताग अग्निकांड का मुक़दमा
अक्तूबर	– जर्मनी का राष्ट्र संघ से निष्क्रमण
१६ नवंबर	– सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमरीका के बीच राजनयिक संबंधों की स्थापना
१६३३	– चीन में सोवियतों के अधिकार में स्थित प्रदेशों के विरुद्ध च्यांग काई-शेक के दंडात्मक अभियान
१६३३-१६३७	– सोवियत संघ की दूसरी पंचवर्षीय योजना
१६३४: २६ जनवरी-१० फ़रवरी	– अखिल संघीय कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की सत्रहवीं कांग्रेस
फ़रवरी	– फ़्रांस में फ़ासिस्ट विद्रोह और फ़ासिज़्मविरोधी आम हड़ताल

फ़रवरी	–आस्ट्रिया में फ़ासिस्टों और मज़दूरों की सशस्त्र मुठभेड़ें
१८ सितंबर	–सोवियत संघ का राष्ट्र संघ में प्रवेश
१९ दिसंबर	–जापान द्वारा १९२२ के वाशिंगटन समझौतों का प्रत्याख्यान
१९३५ :जनवरी	–चीन में क्रांतिकारी सेनाओं का उत्तर-पश्चिमी कूच
मई	–सोवियत-फ़्रांसीसी तथा सोवियत-चेकोस्लोवाक परस्पर सहायता संधियों पर हस्ताक्षर
मई	–फ़्रांस में जन मोर्चे का निर्माण
१८ जून	–आंग्ल-जर्मन नौसैनिक समझौता
२५ जुलाई-२५ अगस्त	–कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की सातवीं कांग्रेस
३ अक्तूबर	–इथियोपिया पर इटली का हमला
नवंबर	–सोवियत संघ में स्तखानोवपंथियों की अखिल संघीय कांग्रेस
१९३५	–भारत में साम्राज्यवादविरोधी क्रांतिकारी आंदोलन का नया उभार
१९३५	–ब्राज़ील में राष्ट्रीय मुक्ति सहबंध का निर्माण
१९३६ : जनवरी	–संयुक्त राज्य अमरीका में कांग्रेस आफ़ इंडस्ट्रियल आर्गेनाइज़ेशंस (सी० आई० ओ०) की स्थापना
१६ फ़रवरी	–स्पेन के संसदीय चुनावों में जन मोर्चे की विजय
७ मार्च	–राइनलैंड में जर्मन सैनिकों का प्रवेश
१२ मार्च	–सोवियत-मंगोलियाई परस्पर सहायता अनुबंध पर हस्ताक्षर
२६ मार्च	–चिली में जन मोर्चे की स्थापना
३ मई	–फ़्रांस के संसदीय चुनावों में जन मोर्चे की विजय
मई-जून	–फ़्रांस में ज़बर्दस्त हड़तालें
१८ जुलाई	–स्पेन में फ़ासिस्ट विद्रोह। फ़ासिस्ट विद्रोहियों तथा इतालवी-जर्मन अतिक्रमणकारियों के विरुद्ध स्पेनी जनता के राष्ट्रीय क्रांतिकारी युद्ध (१९३६-१९३९) की शुरुआत

२५ नवंबर	—जापान तथा जर्मनी का कोमिंटर्नविरोधी क़रार
५ दिसंबर	—सोवियतों की आठवीं (असाधारण) कांग्रेस में सोवियत संघ के नये संविधान का अंगीकरण
१९३६	—संयुक्त राज्य अमरीका में हड़तालों का दौर
१९३७ : ७ जुलाई	—चीन पर जापान का हमला। चीनी जनता के जापानविरोधी युद्ध का आरंभ
२१ अगस्त	—सोवियत संघ तथा चीन द्वारा अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर
६ नवंबर	—इटली द्वारा कोमिंटर्नविरोधी क़रार पर हस्ताक्षर
१९३७	—मेक्सिको में रेलों का राष्ट्रीयकरण
१९३८ : मार्च	—आस्ट्रिया पर जर्मन सेनाओं का अधिकार
मार्च	—मेक्सिको में तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण
१९३८	—चिली के चुनावों में जन मोर्चे की विजय
१९३८	—सोवियत संघ में तीसरी आर्थिक विकास योजना का क्रियान्वयन आरंभ
२९-३० सितंबर	—म्यूनिक में ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस, जर्मनी तथा इटली द्वारा चेकोस्लोवाकिया के विभाजन की संधि पर हस्ताक्षर
३० सितंबर	—आंग्ल-जर्मन अनाक्रमण घोषणापत्र पर हस्ताक्षर
दिसंबर	—फ़्रांसीसी-जर्मन अनाक्रमण घोषणापत्र पर हस्ताक्षर
१९३९ : १०-२१ मार्च	—अखिल संघीय कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की अठारहवीं कांग्रेस
मार्च	—चेक प्रदेशों पर जर्मन सेनाओं का क़ब्ज़ा
अप्रैल	—अल्बानिया पर इटली का अधिकार
२३ अगस्त	—सोवियत-जर्मन अनाक्रमण संधि
२५ अगस्त	—आंग्ल-पोलिश परस्पर सहायता संधि
१ सितंबर	—पोलैंड पर नाज़ी जर्मनी का आक्रमण। दूसरे महायुद्ध का आरंभ
३ सितंबर	—ग्रेट ब्रिटेन तथा फ़्रांस द्वारा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा

सितंबर	–पश्चिमी उक्रइना तथा पश्चिमी बेलोरूस का सोवियत संघ से पुनर्संयोजन
२८ सितंबर	–सोवियत संघ तथा एस्तोनिया द्वारा परस्पर सहायता संधि पर हस्ताक्षर
५ अक्तूबर	–सोवियत संघ तथा लाटविया द्वारा परस्पर सहायता संधि पर हस्ताक्षर
१० अक्तूबर	–सोवियत संघ तथा लिथुआनिया द्वारा परस्पर सहायता संधि पर हस्ताक्षर
३० नवंबर, १९३९- १२ मार्च, १९४०	–सोवियत संघ तथा फ़िनलैंड के बीच सशस्त्र मुठभेड़
०: अप्रैल	–डेन्मार्क तथा नार्वे पर जर्मनी का अधिकार
मई	–बेल्जियम, हालैंड तथा लक्ज़ेमबर्ग पर जर्मनी का अधिकार
२६ मई-३ जून	–डंकर्क से ब्रिटिश सैनिकों की निकासी
१० जून	–इटली द्वारा ब्रिटेन तथा फ़्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा
१७ जून	–लिथुआनिया में जन शासन की स्थापना
२० जून	–लाटविया में फ़ासिस्ट सरकार का उन्मूलन
२१ जून	–एस्तोनिया में फ़ासिस्ट सरकार का उन्मूलन
२२ जून	–कोंपियेन में फ़्रांसीसी-जर्मन युद्धविराम समझौते पर हस्ताक्षर
२४ जून	–रोम में फ़्रांसीसी-इतालवी युद्धविराम समझौते पर हस्ताक्षर
१० जुलाई	–फ़ासिस्ट आक्रामकों का प्रतिरोध करने के लिए फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा फ़्रांस की जनता का आह्वान
जुलाई	–लाटविया, लिथुआनिया और एस्तोनिया सोवियत समाजवादी जनतंत्र घोषित
जुलाई	–बेस्सराबिया के बारे में सोवियत संघ तथा रूमानिया के बीच समझौता

२ अगस्त	—मोल्दावियाई सोवियत समाजवादी जनतंत्र की स्थापना
अगस्त	—लाटवियाई, लिथुआनियाई और एस्तोनियाई सोवियत समाजवादी जनतंत्रों का सोवियत संघ में सम्मिलन
२७ सितंबर	—बर्लिन में जर्मनी, इटली तथा जापान द्वारा त्रिपक्षीय क़रार पर हस्ताक्षर
सितंबर	—वियतनाम पर जापान का हमला और क़ब्ज़ा। वियतनामी जनता के मुक्ति युद्ध का आरंभ
१२ अक्तूबर	—रूमानिया में जर्मन सेनाओं का प्रवेश
२८ अक्तूबर	—यूनान पर इटली का हमला
नवंबर, १९४०-मार्च १९४१	—हंगरी, रूमानिया, बुल्गारिया और स्लोवाकिया का फ़ासिस्ट राज्यों के त्रिपक्षीय क़रार में सम्मिलन
१९४१ : अप्रैल	—यूगोस्लाविया और यूनान पर जर्मन तथा इतालवी सेनाओं का आक्रमण
१३ अप्रैल	—सोवियत संघ तथा जापान द्वारा तटस्थता क़रार पर हस्ताक्षर
२२ जून	—सोवियत संघ पर जर्मनी का आक्रमण। सोवियत जनता के महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध का आरंभ
१२ जुलाई	—फ़ासिस्ट जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में संयुक्त कार्रवाइयों के बारे में मास्को में सोवियत संघ तथा ग्रेट ब्रिटेन के बीच समझौते पर हस्ताक्षर
जुलाई	—यूगोस्लाविया में जर्मन आक्रमणकारियों के विरुद्ध छापामार युद्ध की शुरुआत
दिसंबर	—मास्को के निकट जर्मन सेनाओं की पराजय
७ दिसंबर	—पर्ल हार्बर पर और प्रशांत महासागर में संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन तथा हालैंड के अधिकार में स्थित अन्य क्षेत्रों पर जापानी हवाई और समुद्री हमले। प्रशांत महासागर में युद्ध का आरंभ
दिसंबर	—जर्मनी तथा इटली द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका के विरुद्ध युद्ध-घोषणा

दिसंबर, १९४१- मई, १९४२	–जापान का मलाया, बर्मा, फ़िलीपीन, इंडोनेशिया और सिंगापुर पर अधिकार
२ : १ जनवरी	–वाशिंगटन में २६ देशों द्वारा फ़ासिस्ट गुट के विरुद्ध विजयपर्यंत युद्ध चलाने से संबंधित घोषणा (संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा) पर हस्ताक्षर
२९ जनवरी	–तेहरान में सोवियत संघ, ग्रेट ब्रिटेन तथा ईरान द्वारा सहबंध संधि पर हस्ताक्षर
२६ मई	–युद्धकालीन सहबंध तथा युद्धोत्तरकालीन सहयोग विषयक आंग्ल-सोवियत संधि
११ जून	–आक्रामकविरोधी सामरिक कार्रवाइयों में परस्पर सहायता से संबंधित सिद्धांतों के बारे में सोवियत-अमरीकी समझौता
१२-१५ अगस्त	–मास्को में सोवियत तथा ब्रिटिश शासनाध्यक्षों का सम्मेलन
सितंबर, १९४२- फ़रवरी, १९४३	–स्तालिनग्राद की लड़ाई
८ नवंबर	–उत्तरी अफ़्रीका में आंग्ल-अमरीकी सैनिकों का उतरना
१९४२	–ब्राज़ील तथा मेक्सिको का जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में शामिल होना
३ : १८ जनवरी	–सोवियत सैनिकों द्वारा लेनिनग्राद की नाकेबंदी का भेदन
मई	–अफ़्रीका में जर्मन तथा इतालवी फ़ौजों का आत्म-समर्पण
जून	–कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का विघटन
जुलाई	–सिसिली में आंग्ल-अमरीकी सैनिकों का उतरना
२४-२५ जुलाई	–इटली में फ़ासिस्ट सरकार का उन्मूलन और मुसोलिनी की गिरफ़्तारी
जुलाई-अगस्त	–कूर्स्क की लड़ाई
८ सितंबर	–इटली का आत्मसमर्पण

१३ अक्तूबर	– इटली द्वारा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा
२८ नवंबर- १ दिसंबर	– सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन के शासनाध्यक्षों का तेहरान सम्मेलन
१९४४ : ६ जून	– उत्तरी फ़्रांस में मित्रराष्ट्र सैनिकों की उतराई। दूसरे मोर्चे का खुलना
२२ जुलाई	– फ़ासिस्ट क़ब्ज़ावरों से पोलैंड की मुक्ति का आरंभ। पोलैंड का पुनरुत्थान दिवस
१८-२५ अगस्त	– पेरिस में सफल जन विद्रोह
२३-२४ अगस्त	– रूमानिया में फ़ासिज़्मविरोधी जन विद्रोह की विजय
९ सितंबर	– वुल्गारिया में जन विद्रोह की विजय
सितंबर	– फ़िनलैंड का फ़ासिस्ट गुट से निष्क्रमण
२० अक्तूबर	– नाज़ी जर्मन क़ब्ज़ावरों से बेल्ग्रेड की मुक्ति
अक्तूबर	– ग्वाटेमाला में प्रतिक्रियावादी तानाशाही का उन्मूलन
२९ नवंबर	– जर्मन क़ब्ज़ावरों के चंगुल से अल्बानिया की मुक्ति
दिसंबर	– हंगरी में अस्थायी राष्ट्रीय सरकार का गठन
१९४४-१९४९	– अल्बानिया, हंगरी. पोलैंड, रूमानिया और यूगोस्लाविया में कृषि-भूमि सुधार
१९४५ : ४-११ फ़रवरी	– सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन के शासनाध्यक्षों का क्रीमिया (याल्ता) सम्मेलन
४ अप्रैल	– फ़ासिस्ट क़ब्ज़ावरों से हंगरी की मुक्ति। ४ अप्रैल हंगरी का राष्ट्रीय दिवस घोषित
२५ अप्रैल-२६ जून	– सैन फ़्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रों का सम्मेलन। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना
२ मई	– वर्लिन पर सोवियत सेनाओं का अधिकार
५ मई	– प्राग का जन विद्रोह
८ मई	– जर्मनी की सशस्त्र सेनाओं के विलाशर्त आत्म-समर्पण विषयक दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर
९ मई	– विजय दिवस

१७ जुलाई-२ अगस्त – सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन के शासनाध्यक्षों का बर्लिन (पोट्सडाम) सम्मेलन

६-९ अगस्त – अमरीकी परमाणु बमों द्वारा जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों का बर्बर विनाश

९ अगस्त – सोवियत संघ द्वारा जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा

१४ अगस्त – सोवियत-चीन मैत्री व सहवंध संधि

१७ अगस्त – इंडोनेशियाई गणराज्य की स्थापना

२ सितंबर – वियतनामी जनवादी जनतंत्र की स्थापना

२ सितंबर – जापान द्वारा बिलाशर्त आत्मसमर्पण। दूसरे महायुद्ध का अंत

३ अक्तूबर – विश्व ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशन की स्थापना

अक्तूबर – पांचवां सर्व-अफ़्रीकी सम्मेलन

२० नवंबर-१ अक्तूबर, १९४६ – न्यूरेम्बर्ग में प्रमुख नाज़ी युद्धापराधियों पर मुक़दमा

२९ नवंबर – यूगोस्लावियाई संघात्मक लोक जनतंत्र की स्थापना (१९६३ से – यूगोस्लावियाई संघात्मक समाजवादी जनतंत्र)

दिसंबर – अंतर्राष्ट्रीय जनवादी महिला फ़ेडरेशन की स्थापना

१९४५ – विश्व जनवादी युवा फ़ेडरेशन की स्थापना

१९४५ – जर्मनी के पूर्वी भाग में ज़मींदारी भू-स्वामित्व का उन्मूलन

१९४५ – मिस्र के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का उभार

१९४५-१९४६ – भारत के साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन का उत्कर्ष

१९४६ : ११ जनवरी – अल्बानियाई लोक जनतंत्र की स्थापना

मार्च – उत्तरी कोरिया की अस्थायी जनसमिति द्वारा भूमि सुधार क़ानून पास

मार्च – ट्रांस-जोर्डन की आज़ादी की घोषणा

मार्च	–बुल्गारिया में कृषि-भूमि सुधार
अप्रैल	–सीरिया की स्वतंत्रता की उद्घोषणा
१८ जून	–इटली गणराज्य की स्थापना
जुलाई	फ़िलीपीन की स्वाधीनता की उद्घोषणा
सितंबर	–बुल्गारिया में राजतंत्र का उन्मूलन
सितंबर	–बर्मा में आम राजनीतिक हड़ताल
अक्तूबर	–फ़्रांस का नया संविधान
अक्तूबर	–अफ़्रीकी जनवादी संघ की स्थापना
नवंबर	–इंडोनेशिया तथा हालैंड द्वारा लिंगजाति समझौते पर हस्ताक्षर
दिसंबर	–वियतनामी जनता के विरुद्ध फ़्रांसीसी साम्राज्य-वादियों के "गंदे युद्ध" का आरंभ
२ दिसम्बर	–जर्मनी में ब्रिटिश तथा अमरीकी अध्यासित क्षेत्रों का एकीकरण (बाइज़ोनिया की स्थापना)
१९४६-१९४९	–चीन में क्रांतिकारी गृहयुद्ध
१९४६-१९५०	–सोवियत संघ की चौथी पंचवर्षीय योजना
१९४७ : जनवरी-मई	–हंगरी में जनतंत्रविरोधी साज़िश
१० फ़रवरी	–मित्रराष्ट्रों द्वारा इटली, बुल्गारिया, हंगरी, रूमानिया और फ़िनलैंड के साथ शांति संधियां संपन्न
मार्च	–संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा ट्रूमैन सिद्धांत की घोषणा
जून	–संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा मार्शल योजना पारित
जून-अगस्त	–भारतीय उपमहाद्वीप का दो स्वतंत्र राज्यों–भारत और पाकिस्तान में विभाजन
जून	–अमरीकी कांग्रेस द्वारा प्रतिक्रियावादी, मज़दूर-विरोधी टफ़्ट-हार्टले क़ानून पारित
नवंबर	–संयुक्त राष्ट्र संघ में फ़िलिस्तीन के विभाजन का प्रस्ताव पारित
३० दिसंबर	–रूमानिया में लोक जनतंत्र की स्थापना

दिसंबर	— इटली में नया संविधान स्वीकृत
१९४८ : ४ जनवरी	— बर्मा संघ गणराज्य उद्घोषित
१७ जनवरी	— इंडोनेशियाई गणराज्य और हालैंड के बीच रेनवील समझौता संपन्न
३० जनवरी	— महात्मा गांधी की हत्या
फ़रवरी	— चेकोस्लोवाकिया में प्रतिक्रियावादी विद्रोह विफल
फ़रवरी	— लंका को डोमिनियन का दर्जा प्रदत्त
वसंत	— चेकोस्लोवाकिया में कृषि-भूमि सुधार लागू
१४ मई	— इज़रायल की स्थापना
२० जून	— पश्चिमी जर्मनी में पृथक् मुद्रा सुधार लागू
९ सितंबर	— कोरियाई लोक जनवादी जनतंत्र की स्थापना
१९४८	— संयुक्त राज्य अमरीका में कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं पर मुक़दमे
१९४९ : जनवरी	— सोवियत संघ तथा यूरोपीय लोक जनवादी राज्यों द्वारा पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद की स्थापना
अप्रैल	— उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) का निर्माण
२०-२५ अप्रैल	— पहला विश्व शांति सम्मेलन
अगस्त	— हंगेरियाई लोक जनतंत्र के संविधान का अंगीकरण
सितंबर	— जर्मन संघात्मक गणराज्य की स्थापना
१ अक्तूबर	— चीनी लोक गणराज्य की उद्घोषणा
७ अक्तूबर	— जर्मन जनवादी जनतंत्र की उद्घोषणा
नवंबर	— हेग में इंडोनेशियाई-डच गोलमेज़ सम्मेलन
९५० : २६ जनवरी	— भारत गणराज्य की स्थापना
१४ फ़रवरी	— सोवियत संघ और चीनी लोक गणराज्य द्वारा मैत्री, सहबंध तथा परस्पर सहायता संधि पर हस्ताक्षर
अक्तूबर, १९५०-जुलाई, १९५३	— अमरीकी आक्रामकों के विरुद्ध कोरियाई जनता का राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध

१९५०	–जोर्डन राज्य का निर्माण
१९५०	–नेपाल की स्वाधीनता घोषित
१९५१ : अक्तूबर	–मिस्र द्वारा १८९९ और १९३६ के आंग्ल-मिस्री समझौतों का प्रत्याख्यान
१९५१-१९५५	–सोवियत संघ की पांचवीं पंचवर्षीय आर्थिक विकास योजना
छठा दशक	–अमरीकी कांग्रेस द्वारा जनवादविरोधी मैक्कैरन और हंफ़्री-बटलर क़ानून पारित
१९५२ : जुलाई	–मिस्र की राष्ट्रीय क्रांति
५-१४ अक्तूबर	–अखिल संघीय कम्युनिस्ट पार्टी (बो०) की उन्नीसवीं कांग्रेस। पार्टी का नाम बदलकर सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी रखने का निर्णय।
१९५२	–बोलीविया में क्रांति
१९५२	–संयुक्त लीबिया बादशाहत नामक नये राज्य का निर्माण
१९५२	–चीन में कृषि-भूमि सुधारों का क्रियान्वयन पूर्ण
१९५३ : १८ जून	–मिस्री गणराज्य की स्थापना
१९५४ : २७ जून	–सोवियत संघ में पहला परमाणु बिजलीघर चालू
जुलाई	–वियतनाम में युद्धविराम से संबंधित जेनेवा समझौता
१९ अक्तूबर	–स्वेज़ नहर क्षेत्र से ब्रिटिश सैनिक हटाने के बारे में मिस्र और ग्रेट ब्रिटेन के बीच समझौता
नवंबर	–अल्जीरिया में राष्ट्रीय साम्राज्यवादविरोधी क्रांति की शुरुआत
१९५५ : अप्रैल	–बांदुंग में अफ़्रेशियाई देशों का प्रथम सम्मेलन
मई	–वारसा में यूरोपीय समाजवादी देशों के बीच मैत्री, सहयोग और परस्पर सहायता संधि संपन्न
जुलाई	–चिली में आम हड़ताल
१८-२३ जुलाई	–सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रांस के शासनाध्यक्षों का जेनेवा सम्मेलन

१९५५	—अमरीकी ट्रेड यूनियन संगठनों—ए० एफ़० एल० और सी० आई० ओ०—का एकीकरण
१९५६ : १ जनवरी	—सूडान में गणराज्य की स्थापना
१४-२५ फ़रवरी	—सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस
२० मार्च	—ट्यूनीशिया की स्वाधीनता की उद्घोषणा
मार्च-अप्रैल	—फ़्रांस और स्पेन द्वारा मोरक्को की स्वाधीनता को मान्यता
मई	—डच-इंडोनेशियाई संघ का अंतिम तौर पर विघटन
जुलाई	—मिस्र सरकार द्वारा स्वेज़ नहर का राष्ट्रीयकरण
अक्तूबर-नवंबर	—मिस्र पर आंग्ल-फ़्रांसीसी-इज़रायली आक्रमण
अक्तूबर-नवंबर	—हंगरी में प्रतिक्रांतिकारी विद्रोह
१८ दिसंबर	—ब्रिटिश उपनिवेश गोल्ड कोस्ट को डोमीनियन का दर्जा प्रदत्त
१९५६	—चिली में जन संघर्ष मोर्चा स्थापित
१९५६	—सोवियत संघ में छठी पंचवर्षीय योजना का क्रियान्वयन आरंभ
१९५७ : मार्च	—रोम संधि और पश्चिमी यूरोपीय देशों द्वारा यूरोपीय आर्थिक समुदाय—साझा मंडी—की स्थापना
६ मार्च	—घाना की स्वतंत्रता की घोषणा
१० मई	—कोलंबिया में रोहास पिनिल्या तानाशाही का तख़्ता-पलट
१४-१६ मई	—मास्को में कम्युनिस्ट तथा मज़दूर पार्टियों के प्रतिनिधियों की गोष्ठी
अगस्त	—मलाया की स्वतंत्रता की घोषणा
४ अक्तूबर	—सोवियत संघ द्वारा विश्व के प्रथम कृत्रिम भू-उपग्रह का छोड़ा जाना
१९५८ : २३ जनवरी	—वेनेजुएला में पेरेस हिमेनेस तानाशाही का पतन
फ़रवरी	—संयुक्त अरब गणराज्य की स्थापना
१४ जुलाई	—इराक़ में सफल लोक क्रांति। इराक़ी गणराज्य की स्थापना

३० सितंबर	– इराक़ में कृषि-भूमि सुधार क़ानून पारित
२ अक्तूबर	– गिनी गणराज्य की स्थापना
१९५८	– फ़्रांस में पांचवें गणराज्य की स्थापना
१९५९ : जनवरी	– क्यूबा में सफल जनवादी, साम्राज्यवादविरोधी क्रांति
२७ जनवरी-५ फ़रवरी	– सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की असाधारण इक्कीसवीं कांग्रेस
मई	– क्यूबा में कृषि-भूमि सुधार क़ानून पारित
१९५९-१९६५	– सोवियत संघ की सातवर्षीय आर्थिक विकास योजना
१९६० : ११ जुलाई	– चेकोस्लोवाकिया में नया संविधान लागू
नवंबर	– मास्को में कम्युनिस्ट और मज़दूर पार्टियों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन
१९६०	– संयुक्त राज्य अमरीका में नसली भेदभाव के विरुद्ध प्रबल आंदोलन का आरंभ
१९६०-१९६४	– मिस्र में राष्ट्रीयकरण संबंधी आज्ञप्तियां
१९६१ : १२ अप्रैल	– सोवियत नागरिक यूरी गगारिन द्वारा मानव इतिहास में पहली बार अंतरिक्ष में उड़ान
१ जुलाई	– राज्य के भावी रूप के बारे में अल्जीरिया में जनमतसंग्रह
१७-३१ अक्तूबर	– सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बाईसवीं कांग्रेस
१९६१	– सीरिया का संयुक्त अरब गणराज्य से निष्क्रमण
१९६२ : मार्च	– फ़्रांस तथा अल्जीरिया द्वारा एवें समझौतों पर हस्ताक्षर
३० अप्रैल	– बर्मा द्वारा "समाजवाद का बर्मी मार्ग" शीर्षक राजनीतिक घोषणापत्र स्वीकृत
जून	– मास्को में विश्व निरस्त्रीकरण तथा शांति सम्मेलन का आयोजन
अक्तूबर-नवंबर	– कैरीबियाई संकट

१६६२	– अमरीकी आक्रामकों के विरुद्ध दक्षिण वियतनामी जनता के राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध का आरंभ
१६६२	– अल्जीरियाई लोक जनवादी गणराज्य की स्थापना
१६६३ : ७ अप्रैल	– यूगोस्लाविया के नये संविधान का अंगीकरण
मई	– अफ़्रीकी एकता संगठन की स्थापना
५ अगस्त	– मास्को में परमाणु अस्त्रों के परीक्षण पर आंशिक प्रतिबंध से संबंधित संधि पर हस्ताक्षर
२२ नवंबर	– संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति जॉन केनेडी की हत्या
१६६३	– संयुक्त अरब गणराज्य और यमन के बीच स्थापित संघ का निराकरण
१६६४ : मार्च	– संयुक्त अरब गणराज्य जनवादी समाजवादी राज्य घोषित
१२ जून	– सोवियत संघ तथा जर्मन जनवादी जनतंत्र द्वारा मैत्री, परस्पर सहायता व सहयोग संधि पर हस्ताक्षर
अक्तूबर	– सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति का प्लेनम
१६६६ : जनवरी	– भारत तथा पाकिस्तान द्वारा ताशकंद घोषणापत्र पर हस्ताक्षर
फ़रवरी	– सोवियत स्वचालित स्टेशन का चंद्रमा पर सहज अवतरण
२६ मार्च-८ अप्रैल	– सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की तेईसवीं कांग्रेस
जुलाई	– यूरोपीय शांति तथा सुरक्षा के सुदृढ़ीकरण के उपायों के बारे में वारसा संधि के सदस्य देशों की बुख़ारेस्ट घोषणा
१६६६	– नाटो संधि संगठन से फ़्रांस का निष्क्रमण
१६६७ : अप्रैल	– कार्लोवी वारी में यूरोपीय कम्युनिस्ट तथा मज़दूर पार्टियों का शांति तथा सुरक्षा से संबंधित सम्मेलन

	जून	– संयुक्त अरब गणराज्य, 'सीरिया और जोर्डन पर इज़रायल का सशस्त्र आक्रमण
	जुलाई	– स्टॉकहोम में वियतनाम संबंधी विश्व सम्मेलन
	ग्रीष्म	– संयुक्त राज्य अमरीका में नसली भेदभाव के विरुद्ध व्यापक प्रदर्शन
	अक्तूबर	– विश्व में पहली बार अंतरिक्ष में दो कृत्रिम भू-उपग्रहों – 'कोस्मोस-१६६' और 'कोस्मोस-१६८'– का स्वचालित संयोजन और वियोजन
	नवंबर	– महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति की पचासवीं जयंती
१९६८:	अप्रैल	– जर्मन जनवादी जनतंत्र में नये, समाजवादी संविधान का अंगीकरण
	मई	– फ्रांस में आम हड़ताल और जनव्यापी संघर्ष का उभार
	जुलाई	– सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन द्वारा परमाणु अस्त्र अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन

इस पुस्तक की विषयवस्तु,
अनुवाद और डिज़ाइन के बारे में
आपके विचार जानकर
आपका अनुगृहीत होगा।
आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी
हमें बड़ी प्रसन्नता होगी।
कृपया हमें इस पते पर लिखिये:

प्रगति प्रकाशन

१७, ज़ूबोव्स्की बुल्वार, मास्को,
सोवियत संघ